भारतेन्दु का नाट्य साहित्य

लेखक
डा० वीरेन्द्र कुमार शुक्ल, एम० ए०, पी-यच० डी०

प्रकाशक
रामनारायन लाल
प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता
प्रयाग

प्रथम संस्करण] १९५५ [मूल्य ५)

प्रकाशक
रामनारायण लाल
प्रयाग

मुद्रक—
प्रकाश प्रिंटिंग वर्क्स,
३, क्लाइव रोड, इलाहाबाद

त्वदीय वस्तु गोविंद तुभ्यमेव समर्पयेत्

प्रस्तावना

'भारतेन्दु का नाट्य-साहित्य' विषय पर सागर विश्वविद्यालय में दो वर्ष से अधिक अनुशीलन करने के पश्चात् श्री वीरेन्द्रकुमार शुक्ल ने अपना प्रबंध प्रस्तुत किया और उस पर पी० एच० डी० की उपाधि प्राप्त की। उनका वही प्रबंध कुछ आवश्यक परिवर्तन और काट-छाँट के साथ इस पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया जा रहा है। मुझे इस बात की बड़ी प्रसन्नता है कि श्री वीरेन्द्रकुमार इस अनुशीलन के पश्चात् हिन्दी नाट्य-साहित्य के सिद्धान्त और प्रयोग-पक्ष पर व्यापक शोध आरम्भ कर रहे हैं। इस प्रकार भारतेन्दु के नाटकों पर किया गया उनका यह कार्य उनके आगामी प्रयास की भूमिका या प्रथम चरण ही समझा जायगा। प्रस्तुत परिशीलन में वीरेन्द्रकुमार जी ने उपलब्ध समस्त सामग्री का परिपूर्ण उपयोग किया है और इस पुस्तक के रूप में हिन्दी साहित्य के विद्यार्थियों के सम्मुख एक अद्यतन और प्रामाणिक कृति उपस्थित की है। श्री शुक्ल ने अपने विवेचन में शास्त्रीय मापदंडों को प्रमुखता दी है और नाटकों की कलात्मक विशेषताओं और साहित्यिक सौन्दर्य को उन्हीं प्रतिमानों से आंका है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि उनके इस प्रयास में त्रुटियाँ भी होंगी, परंतु साहित्यिक अनुशीलन में अंतिम वाक्य तो कभी कहा ही नहीं जाता। पुस्तक की परीक्षा इस दृष्टि से की जानी चाहिये कि उसमें शोधकर्ता ने कितना परिश्रम किया है और उसकी समीक्षात्मक आकलनात्मक शक्ति किस कोटि की है। इस दृष्टि से की गई परीक्षा में प्रस्तुत प्रबंध-लेखक अवश्य उत्तीर्ण होंगे, इस विश्वास के साथ मैं श्री वीरेन्द्रकुमार की प्रशंसा और उनकी इस कृति का स्वागत करता हूँ। आशा है, हिन्दी का पठित समाज इसका समुचित समादर करेगा।

अध्यक्ष, हिन्दी विभाग,
सागर विश्वविद्यालय

नन्ददुलारे वाजपेयी

भूमिका

प्रस्तुत निबन्ध का वर्ण्य विषय 'भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र का नाट्य साहित्य' है। आरम्भ में नाटककार की साम-सामयिक परिस्थितियों का उल्लेख है। नाटककार के जीवनकाल (१८५० से १८८५ ई० तक) में देश का राजनीतिक, सामाजिक, तथा सांस्कृतिक वातावरण किस प्रकार का था, इसका सूक्ष्म परिचय दिया गया है। सम-सामयिक वातावरण से ग्राह्य प्रेरणाओं द्वारा ही युग-पुरुष के चरित्र का निर्माण सम्भव है। समीचीन विचारधारायें व्यक्तित्व पर अपना यथेष्ट प्रभाव डालती हैं। युग-पुरुष के साहित्यिक तथा सामाजिक व्यक्तित्व का आकलन राजनीतिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर आधारित समसामयिक विचारधारा तथा उसके प्रभाव के आधार पर ही दिया जा सकता है। यथातथ्य प्रमाणों से उपर्युक्त कथन की पुष्टि की गई है। जीवन परिचय तथा नाटककार के संपूर्ण ग्रंथों का उल्लेख भी किया गया है।

भारतेन्दु युग के नाटकों की पूर्व-पीठिका के रूप में हिन्दी नाट्य साहित्य का संक्षिप्त परिचय दे देना नितान्त आवश्यक है। हिन्दी रङ्गमञ्च का उद्भव तथा विकास और रंगमंच के विकास की सामान्य स्थिति नाटकीय प्रयोजन की नवीन योजना भी प्रस्तुत की गई है। रंगमंच के विकास तथा सम-सामयिक रंगमंच की मूल प्रवृत्ति नाट्यकार की रचना शैली पर यथेष्ट प्रभाव डालती है। पारसी रंगमंच से अलग हिन्दी रंगमंच का निर्माण भारतेन्दु जी के ही द्वारा प्रचलित आन्दोलन की प्रेरणा का फल कहा जा सकता है। व्यावसायिक रंचमंच के विपरीति लोक-जीवन से अपना सम्बन्ध स्थापित करने वाली नाट्य रुचि का प्रचार भारतेन्दु की ही प्रेरणा तथा उद्योग का फल है। उपर्युक्त कथन का मैंने विवेचन करने का प्रयत्न किया है।

प्रस्तुत निबन्ध में भारतेन्दु का नाट्य-विधान प्रमुख अंग है। उनके नाटकों में आई हुई विभिन्न नाट्य परम्पराओं तथा समाहित विचारों का उल्लेख इस अध्याय में दिया गया है। प्राच्य तथा पश्चिमी नाट्य विधानों में नाट्यकार की मौलिक रुचि किस ओर प्रतीत होती है, तथा अपने समन्वयवादी दृष्टिकोण को सम्मुख रखकर उनका किन अवस्थाओं में उपयोग किया है यह नाट्य विधान सम्बन्धी नाट्यकार के विचारों से ज्ञात होता है। यहाँ नाट्यकार के समसामयिक नाट्यकारों तथा नाटकों की शैली तथा विचारधारा का भी रेखाचित्र उपस्थित किया गया है। युग के नाट्य-साहित्य की गतिविधि में युग-नायक की कहाँ तक

छाप थी, इस तथ्य का मूल्यांकन करना आवश्यक कार्य था, जो मैंने निबन्ध के इस अंश में दिया है।

भारतेन्दु जी के नाटकों का सामान्य परिचय देते हुये उनका तिथि-क्रमानुसार विकास प्रस्तुत किया गया है। इन नाटकों का सामान्य वर्गीकरण अनूदित, रूपांरित तथा मौलिक नाटकों में विभक्त किया गया है। इन्हीं विभागों के अन्तर्गत रचनाओं की विवेचनात्मक समीक्षा प्रस्तुत की गई है।

अनुवादों के वस्तुचयन में नाट्यकार की व्यक्तिगत अभिरुचि का विनिवेश तथा अनूदित रचनाओं की आधार-शिला का खोज-पूर्ण निरूपण कथन का उद्देश्य है। अनुवादों में नाट्यकार की मौलिक-प्रतिभा का समावेश तथा अनुवादों के गद्यांशों तथा पद्यांशों के अनुवाद में सफलता का विवेचन किया गया। अनुवादों की रचना-शैली तथा भावधारा का मौलिक रचनाओं पर कहाँ तक प्रभाव पड़ता है, मुख्य रूप से प्रकाश में लाने का प्रयत्न किया गया है। संस्कृत तथा अंग्रेजी के अनुवादों का सफल निर्वाह तथा उनकी प्रेरणा का मौलिक कृतियों पर क्या व्यापक प्रभाव पड़ा है—अनूदित नाटकों के विवेचन में प्रस्तुत किया गया है।

रूपान्तरित रूपकों में कथावस्तु के मुख्य उद्गम का खोजपूर्ण उल्लेख है। कथावस्तु का मूल श्रोत तथा कथानक के मूलरूप में परिवर्तन और मौलिक प्रतिभा का विनिवेश कलाकार की कृतियों की विशेषतायें हैं। मौलिक नाटकों पर छायानुवादों का प्रभाव तथा कथा-वस्तु चयन में व्यक्तिगत अभिरुचि का प्रकाशन कलाकार की कृतियों के विषय में नवीन अन्वेषण है। नाट्य विवेचन में नाट्यकार की मूल प्रवृत्ति का यथेष्ट परिचय देने का प्रयास किया गया है।

मौलिक नाटकों में नाट्यकार की कला को मुख्य रूप से विवेचित किया गया है। मौलिक नाटकों का क्रमशः कलात्मक दृष्टि से विकास दिखाया गया है। नाटकों के कलात्मक विकास का विवरण वस्तु-निरूपण चरित्र-चित्रण, संवाद, अभिनय तथा रस की स्थिति पर आश्रित है। कलात्मक विकास में नाटकों को विभिन्न कोटि (अविकसित, अर्द्ध-विकसित, तथा पूर्ण) में विभक्त किया गया है। कलात्मक दृष्टि से सारे नाटकीय अंगों का उपस्थित होना नितान्त आवश्यक है। प्रमाणित आधारों पर विवेचनात्मक दृष्टिकोण लेकर सम्पूर्ण मौलिक नाटकों में कलात्मकता की प्रगति का अनुशीलन किया गया है। मौलिक नाटकों में कलात्मक सत्ता का विकास तथा कला का अभाव यथास्थान इंगित करना प्रतिपाद्य विषय का उद्देश्य रहा है। मौलिक नाटकों को विशद् विवेचन के प्रयोजन से ही उन्हें चार वर्गों में रखकर विवेचना की गई है। सम्पूर्ण मौलिक कृतियों को चार विभिन्न

धाराओं में विभक्त कर नाट्यकार की युग-प्रतिनिधि विचारधारा तथा नाटकों में कलात्मक स्वरूप और विकास का परिचय कराया गया है।

मौलिक नाटकों का वर्गीय विभाजन चार विभिन्न रूपों में प्रस्तुत है। प्रथम कोटि में प्रहसन नाटकों की विस्तृत व्याख्या है, प्रहसन का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण तथा प्राचीन नाट्य-परम्परा में प्रहसन का स्थान और भारतेन्दु के नाटकों की प्रहसन-मूलक प्रवृत्ति का चिन्तन कलाकार के नाट्यानुशीलन की नवीन वस्तु है। प्रहसनों का विकास कलात्मक विकास को दृष्टकोण में रखते हुये प्रस्तुत किया है। भारतेन्दु के प्रहसनों का कलात्मक विवेचन तथा उनकी विचारधारा का प्रदर्शन इस अध्याय का मुख्य अंग है।

यथार्थवादी सामाजिक चित्रण "प्रेम-योगिनी" की चर्चा में नाट्यकार द्वारा व्यंजित यथार्थ चित्रण तथा उनकी अनुभूतिपूर्ण घटनाओं का उल्लेख है। विवेचन के रूप में मैंने नाट्यकार का मूल-मन्तव्य इंगित किया है। काशी के चित्रों में नाट्यकार की निज की अनुभूति की व्यंजना निहित है। प्रेम-प्रधान नाटिका 'चन्द्रावली' में नाट्यकार की प्रेम मूलक भावनाओं का निदर्शन तथा प्रेम तत्व के रूप में नाट्यकार द्वारा प्रेम की व्यापक परिभाषा का यथेष्ट विवेचन है। प्रेम-प्रधान नाटिका में नाटककार के भक्ति और प्रेम मूलक आदर्शों का दिग्दर्शन भी है। भक्ति परम्परा में नाटककार ने वैष्णवों के किस सम्प्रदाय का अनुसरण किया है, इस सम्बन्ध का मौलिक विवेचन यहाँ उपस्थित है।

सती प्रताप तथा नील देवी नाटकों में पौराणिक तथा ऐतिहासिक तत्वों का समावेश है। इन नाटकों में नाट्यकार की व्यक्तिगत अभिरुचि का स्पष्ट मूल्यांकन करने का प्रयास किया गया है।

राजनीतिक तथा सामाजिक नाटकों के रूप में भारतेन्दु जी की निज की गंभीर अनुभूति और प्रतिभा का सन्निवेश हुआ है। अतएव इन नाटकों में भारतेन्दु की नाट्यकला अपनी चरम सीमा पर पहुँच गई है, नाटकों की छाया में नाट्यकार के सामाजिक तथा राजनीतिक व्यक्तित्व के मूल्यांकन का अवसर प्राप्त होता है। समसामयिक स्थिति का देशव्यापी प्रभाव तथा देश के नागरिक जीवन को नवीन-चेतना देने के लिये देश में राष्ट्रीयता का शंखनाद नाट्यकार की रचनाओं में समाहित तथ्य है। मैंने उक्त संदेश के उद्घाटन के प्रति अपने कुछ मौलिक विचार देकर भारतेन्दु की सम्पूर्ण सामाजिक विचारधारा को स्पष्ट रूप से रखने का प्रयास किया है।

मौलिक नाटकों की भाषा, संवाद और गीतों का समीक्षात्मक अध्ययन अनुशीलन का महत्वपूर्ण विषय है। भारतेन्दु जी की भाषा का ऐतिहासिक महत्व है।

भाषा के स्वरूप का निर्धारण तथा भाषागत शैली का विवेचन महत्वपूर्ण विषय है। सामान्य भाषा के रूप से अलग नाट्य भाषा में नवीनता होती है भाषा की लोक-प्रियता में नाटकों की व्यापकता तथा लोकप्रियता आधारित है। हिन्दी नाट्य-साहित्य के विकास में नाटकों की भाषा का महत्वपूर्ण योग रहा है। भारतेन्दु हिन्दी गद्य साहित्य के निर्माता थे। भाषा के स्वरूप निर्माण में नाट्यकार का सहयोग प्रस्तुत अंश का विवेचित विषय है। भाषा की दृष्टि से नाटकों का मूल्यांकन तथा लोक-प्रियता का विवेचन मैंने दिया है।

संवाद नाटकों के मेरुदण्ड होते हैं, संवादों में ही नाटकों की रंगमंचीय प्रतिभा निहित रहती है। संवादों का निर्माण नाट्यकार की रचना की कुशलता का परिचायक है। संवादों को समीक्षात्मक दृष्टि से देखते हुये उनकी अभिनेय उप-योगिता तथा अनुपयोगिता का अत्यधिक ध्यान रखा गया है। संवादों के निर्माण में किन किन नाट्य तत्वों का सहयोग रहता है, तथा प्राचीन और अर्वाचीन दृष्टि से संवादों की व्याख्या का उल्लेख प्रस्तुत किया गया है। नाट्य-निर्माण में संवादों का सहयोग तथा स्थानीयमान महत्वपूर्ण विवेचित प्रसंग है।

गीत नाटकों में रस का संचार करते हैं, नाटकों में संगीत कथावस्तु को गति प्रदान करता है, भारतेन्दु के गीतों के विवेचन में विभिन्न दृष्टिकोण का प्रयोग मिलता है। यथास्थान गीतों के प्रयोग में कथावस्तु से कोई सम्पर्क स्थापित है अथवा नहीं, और गीत गेय हैं अथवा अप्रासंगिक काव्य चमत्कार प्रदर्शन ही के हेतु नाट्य कलेवर बढ़ाने के लिए प्रस्तुत किए गए हैं, अथवा गीतों में अभिनेय गरिमा का समावेश तथा संवाद प्रणाली का प्रयोग जो कि रंगमञ्च पर दर्शकों की रुचि के अनुकूल दृष्टिगोचर होते हैं, इन पर विचार विनिमय किया गया है। गीतों में भाव प्रधानता तथा कला का समावेश और संगीत की दृष्टि से विभिन्न राग-रागिनियों में वर्णित किया गया है। गीतों में छन्द योजना का विवेचन तथा उनमें लोक-गीतों की छाप का उद्घाटन मुख्य रूप से दिखाई पड़ता है। गीतों का सम्पूर्ण व्यक्तित्व नाटकों को लोक-प्रिय बनाने में कहाँ तक सहयोग प्रदान करता है, विवेचित विषय की चर्चा का मुख्य प्रसंग है।

सामान्यतः भारतेन्दु के समस्त कृतित्व का मूल्यांकन तथा विशेषतयः नाट्य साहित्य का हिन्दी साहित्य में स्थान और युग-पुरुष की रचनाओं की युग-साहित्य पर छाप की चर्चा यहाँ की गई है। भारतेन्दु के नाटकों का साहित्यिक मूल्यांकन निबन्ध के प्रस्तुत अंश में वर्णित है। भारतेन्दु का समय युग-सन्धि-काल था। भारतीय नव-युग के वैतालिकों तथा विश्व के विभिन्न युग-सन्धि कालीन कलाकारों से इनकी समता करते हुये इनका महत्त्व प्रदर्शित किया गया है। सम्पूर्ण व्यक्तित्व के आलकन

में नाट्य रचनायें उनकी विचारधारा का अंग बन जाती हैं। मौलिक प्रतिभा से प्रभावित जन-समाज की व्यापक विचारधारा को लोकप्रिय स्थान देने का प्रयास कलाकार की कलात्मकता का उत्कृष्ट उदाहरण है और कला कलाकार के जीवन में अमूल्य परिवर्तन कर देती है, तथा जीवन के हर्ष-विषाद मानव भावनाओं को सार्वभौमिक सत्ता प्रदान करते हैं। भारतेन्दु जी की अभिव्यक्ति में निज की अनुभूति की छाप है। कलाकार की प्रेरक विचारधारा में मानववादी संदेश समाहित दृष्टिगत होता है कलाकार ने "उदार चरितानाम् वसुधैव कुटुम्बकम्" के जीवन लक्ष्य को लेकर अपने साधना-क्षेत्र का निर्माण किया है।

सम्पूर्ण निबन्ध भारतेन्दु बाबू हरिश्चंद्र के नाट्य-साहित्य के विविध रूपों पर भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से प्रकाश डालता है। निबन्ध का महत्व देखते हुये यथातथ्य मौलिक तथा नवीन खोजपूर्ण तथ्य निरूपण करने का भरसक प्रयत्न किया है।

मेरा मस्तक पूज्य गुरुवर पंडित नन्ददुलारे जी वाजपेयी के श्री चरणों में श्रद्धा और कृतज्ञता से झुक जाता है, जिनके आदेश और निर्देश से यह साधना सत्य हुई है। उन्हीं के चरणों में बैठकर जो कुछ सीखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है, श्रद्धा के तुच्छ पुष्प की भाँति अर्पित कर रहा हूँ। अन्ततोगत्वा प्रस्तुत निबन्ध में सहयोग प्रदान करने वाले समस्त बन्धुओं के प्रति मैं अपना आभार प्रकट करता हूँ। मुद्रण सम्बन्धी अशुद्धियों को दूर करने का यथा संभव प्रयत्न किया गया है फिर भी किसी प्रकार की त्रुटियाँ यदि रह गई हैं तो अपने पाठकों से क्षमा प्रार्थी हूँ।

वीरेन्द्रकुमार शुक्ल

सागर-विश्वविद्यालय,

तिथि १०-६-१९५२ ई०।

विषय-सूची



भारतेन्दु हरिश्चंद

प्रथम अध्याय

•

सामयिक परिस्थितियाँ

भारतेन्दु काल का राजनीतिक, सामाजिक तथा सास्कृतिक वातावरण

राजनीतिक पृष्ठ-भूमि :

सन १८५७ ई० की क्रान्ति वास्तव में भारत के हिन्दू और मुसलमान नरेशों और भारतीय जनता की ओर से देश को विदेशियों की राजनैतिक आधीनता से मुक्त कराने का महान और व्यापक प्रयत्न था। 'लन्दन टाइम्स' के भारत स्थित सवाददाता ने भारतीय उत्तेजना पूर्ण वातावरण का अपनी दयनदनी मे उल्लेख किया है।। जिसके कथनानुसार यह साबित होता है कि वह ऐसा युद्ध था, जिसमे लोग अपने धर्म के नाम पर अपनी कौम के नाम पर बदला लेने के लिये और अपनी आशाओं को पूरा करने के लिये उठे थे। उस युद्ध मे समस्त राष्ट्र ने अपने ऊपर से विदेशियों के जुआ को फेंक कर उसकी जगह देशी नरेशों को पूर्ण सत्ता और देशी धर्म का पूर्ण अधिकार पुन: स्थापित करने का सकल्प कर लिया था।

विप्लव लगभग एक वर्ष तक चलता रहा—क्रान्ति का नेतृत्व नानाराव पेशवा, तात्या टोपे, रानी लक्ष्मीबाई आदि कुशल सेनानी कर रहे थे। सघर्ष मे उत्साह और तत्परता सराहनीय तथा चिरस्मरणीय है। परन्तु भारतीय स्वतन्त्रता के सैनिक अपने उद्देश्य में सफल न हो सके, अन्यथा भारतीय इतिहास का मान-चित्र एक भिन्न रूप का हो गया होता, अन्त में विजय श्री विदेशियों के ही हाथ लगी, सम्राट बहादुरशाह तथा बेगम जीनत महल को बन्दी बना कर रगून भेज दिया गया, विद्रोह-दमन में बड़ी ही निर्दयता के साथ व्यवहार किया गया। कत्ले आम तथा राज-मार्गों पर फांसी देने आदि की लोम-हर्षक घटनाओं का अनेक स्थलों पर उल्लेख इतिहासकारों ने किया है।

विप्लव के पूरी तरह शान्त होने से पहले ही भारत का शासन कम्पनी के हाथों से लेकर इंगलैण्ड की सरकार के हाथों में दे दिया गया। मलका विक्टोरिया उस समय इगलैण्ड के राज-सिंहासन पर थीं। भारतवर्ष की समस्त प्रजा के नाम सम्राज्ञी की एक विज्ञप्ति निकाली गई, जिसमें घोषित किया गया कि भारत का शासन ब्रिटिश साम्राज्य का एक अङ्ग हो गया है, समस्त प्रजा की सुरक्षा तथा धार्मिक और सामाजिक स्वतन्त्रता का विशेष ध्यान रक्खा जायगा, साथ ही विप्लव शान्त करने में

जनता के सहयोग की प्रार्थना की गई थी । सन् १८५८ में ब्रिटिश शासन की ओर से लार्ड कैनिंग प्रथम वाइसराय घोषित किये गये ।

सन् १८५८ ई० में भारतीय शासन की बागडोर ब्रिटिश सरकार के हाथ में होगई थी, और उसी के निरीक्षण में गवर्नर जनरल इस देश का शासन करते थे। ब्रिटिश साम्राज्य में सम्मिलित होने पर भी भारतीय प्रजा का कष्ट निवारण न हो सका। सिपाही विद्रोह के बाद ब्रिटिश शासक भारतीय जनता को अविश्वास की दृष्टि से देखने लगे थे । जनता में विश्वास तथा सद्भावना की घोषणा केवल ढोंग मात्र थी, यद्यपि ब्रिटिश सरकार जनता का सहयोग अपने शासन सम्बन्धी कार्यों में प्राप्त करना चाहती थी, परन्तु वह भी बड़ी सतर्कता के साथ ।

विद्रोह के समय में भारतीयों ने जिस भयंकरता और निष्ठुरता का परिचय दिया था, उससे भी अधिक भयकरता से अंग्रेज सैनिकों तथा सेनानायकों ने दमन-नीति का अनुसरण किया । अत्याचार की स्मृतियां अधिक समय तक भारतीय समाज को दुखी करती रहीं । सन् १८६१ ई० में ब्रिटिश सरकार ने भारतीय सेना का पुनः संगठन किया । भारतीय सैनिकों को महत्वपूर्ण स्थानों से हटाकर उनकी जगह पर अंग्रेज सैनिकों को स्थान दिया गया । भारतीय सैनिक संख्या के साथ साथ अंग्रेजी सेना की भी संख्या बढ़ा दी गई । दिखावे में तो पारस्परिक सद्भावना का सिद्धान्त प्रयोग में लाया जाता था, परन्तु भारतीय सैनिकों को कोई अधिकार पूर्ण पद न देकर अविश्वास और द्वेष की ज्वाला भड़काई जा रही थी ।

इसी संक्रान्तिकाल में ही भारतीयों को निःशस्त्रीकरण कर दिया गया । 'इंडियन आर्मस् एक्ट' के अनुसार कोई भी भारतीय नागरिक अस्त्र शस्त्र बिना आज्ञा न तो क्रय विक्रय कर सकता था न उसे अपने पास रखने का अधिकार प्राप्त था । आज्ञा के उल्लंघन में कठोर दण्ड का विधान था । इसी समय भारत सरकार ने भारतीय पत्रों तथा पत्रकारों की स्वतन्त्रता का अपहरण किया । सन् १८७० ई० में 'इन्डियन पेनल कोड' में १२४ ए धारा बढ़ा दी गई । उस समय भारतवर्ष में लगभग छः सौ पत्र-पत्रिकायें छापी जारही थीं, अधिकांश देशी-भाषाओं की थीं । पत्र और पत्रिकाओं के प्रभाव से भारतीय समाज में चेतना का प्रादुर्भाव हो रहा था। १८७८ ई० में लार्ड लिटन ने वर्नाक्यूलर प्रेस एक्ट भारतीय लेजिस्लेटिव कौंसिल में पास करवाया । सरकार के उक्त एक्ट से भारतीय पत्रकारों, मुद्रकों तथा प्रकाशकों को काफी असंतोष हुआ, इसके विरुद्ध देश व्यापी आन्दोलन उठ खड़ा हुआ । जिसके परिणामस्वरूप १८८२ ई० में उक्त बिल पुनः रद्द कर दिया गया । इसी बीच जातीय पक्षपात तथा भेदभाव को प्रमुखता दी जाने लगी, और सन् १८८३ ई० में इल्वर्ट बिल नाम से भारतीय लेजिस्लेटिव कौंसिल में पास किया गया, जिसका उद्देश्य भारतीय तथा अभारतीय अधिकारियों के अधिकारों में समता तथा एक सा बर्ताव करना था, इस बिल ने भारत

में बसने वाले योरोपीय अधिकारियों तथा एंग्लो-इण्डियन वर्ग में एक प्रकार की अशान्ति फैला दी, जो इस समता को किसी प्रकार सहन करने के लिये तैयार न थे, और भारतीय समाज तथा अधिकारियों से सब प्रकार अपने को उच्च समझते थे। विरोध के परिणामस्वरूप उक्त बिल में संशोधन किया गया। भारतीय जनता को उक्त जातीयता के पक्ष की नीति अरुचिकर प्रतीत हुई। सन् १८३३ ई० के चार्टर एक्ट के अनुसार वचन दिया गया था कि भविष्य में भारतीयों को योग्यतानुसार सरकारी पदों पर नियुक्त किया जायेगा। जन्म-स्थान, धर्म, वंश, वर्ण आदि के कारणों से कोई भी नागरिक अधिकार से वंचित न किया जा सकेगा। महारानी विक्टोरिया के शासन के आधीन आने पर भी उपर्युक्त घोषणा को दोहराया गया। सिविल सर्विस की भर्ती इंगलैण्ड में ली जाने वाली प्रतियोगी परीक्षाओं के आधार पर होती थी। १८६० ई० में परीक्षार्थियों की परीक्षा की अवधि घटाकर २१ वर्ष कर दी गई थी। गवर्नर जनरल किन्हीं दशाओं में बिना प्रतियोगी परीक्षा में बैठे नियुक्तियाँ कर देता था। ऐसी अवस्था में भारतीय विद्यार्थियों को उक्त स्थानों पर नियुक्ति की कम आशा थी। भारतीय नागरिकों को उच्च पदों पर योग्यता होते हुये भी वंचित रहना असंतोष का कारण था। भारतीय अधिकारियों की नियुक्ति अनुपात १।५ घटाकर १।६ कर दिया गया, और सिविल सर्विस की अवस्था दो वर्ष और कम कर दी गई, जो कि और भी असतोष का कारण थी*।

इण्डियन एसोसियेशन की संरक्षता में सिविल सर्विस की अवस्था घटाने पर देश-व्यापी आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। श्री सुरेन्द्र बनर्जी ने इसके विरोध में देश-व्यापी चेतना की लहर उठाई। श्री लालमोहन घोष द्वारा पार्लियामेंट में तत्सबन्धी आवेदन-पत्र एसोसियेशन की ओर से भेजा गया और इस बात पर ध्यान आकर्षित कराया गया कि १८३३ ई० के चार्टर तथा सम्राज्ञी की १८५८ ई० की घोषणा की अवहेलना की गई है, अतः भारतीय जनता का विरोध स्वाभाविक है।

लंका शायर के वस्त्रों की भारतवर्ष में अधिक खपत थी। १८७४ ई० में भारतीय व्यापारियों ने भी अमेरिका तथा मिश्र से कपास मँगाकर देश में कपड़ा बनवाने का विचार प्रकट किया। सरकार ने विदेशी माल की खपत में कमी के भय से आयत-कर लगा दिया। ताकि देशी कपड़ा विदेशी वस्त्र के आगे व्यावसायिक स्थान न पासके। भारतीय सरकार की पक्षपात पूर्ण नीति से देश-हितैषी जनता को बड़ा ही क्षोभ हुआ। आर्थिक शोषण तथा देश का धन विदेश जाते देख महान् कष्ट होता था।

---

* लैण्ड मार्कस इन दी इण्डियन कान्स्टीट्यूशनल एण्ड नेशनल डेवलपमेंट (जी० यन० सिंह) पृष्ठ संख्या १४७

इधर ब्रिटिश साम्राज्य के सगठन की ओर सरकार का ध्यान आकृष्ट हुआ। विद्रोह के पूर्व देशी राज्यो का विभिन्न सन्धियों द्वारा अग्रेजी सरकार से मैत्री सम्बन्ध था, देशी रियासते अपने को अग्रेजी राज्य के आधीन समझती थीं, बल्कि अग्रेजों के सरक्षण मे वे अपने को स्वतन्त्र समझती थी। सन् १८७६ मे महारानी विक्टोरिया ने 'रॉयल (Royal) टाइटिल्स एक्ट' के अनुसार कैसरे-हिन्द की उपाधि धारण की उक्त घोषणा से समस्त भारत जिनमें देशी रियासते भी सम्मिलित थी ब्रिटिश साम्राज्य का अग मानी जाने लगीं। क्रमश ब्रिटिश सरकार साम्राज्य को सुसगठित करने का उद्योग कर रही थी। स्वतन्त्रता प्रेमी भारतीय शासकों को ब्रिटिश सरकार की उपर्युक्त नीति अरुचिकर प्रतीत होती थी, परन्तु इतने सुसगठित साम्राज्य का खुलकर विरोध नही कर सकते थे।

अग्रेजी साम्राज्य के प्रति देशव्यापी असन्तोष की मनोवृत्ति उपर्युक्त सभी कारणों से अन्दर ही अन्दर अपना स्थान बना रही थी। इस अप्रत्यक्ष और सुप्तावस्था मे पल्लवित देश प्रेम की भावधारा को सार्थक बनाने के लिये कुशल पथ-प्रदर्शक की आवश्यकता थी। एक वर्ग सामूहिक सगठन के रूप में देश की अधोगति का सुधार करने में प्रयत्नशील हुआ, उक्त कार्य मे कुछ उदार प्रवृत्ति के यूरोपियनों ने भी सहयोग दिया। राष्ट्रीय उत्थान का इसे इस युग का प्रथम उद्योग कहा जा सकता है। बगाल मे इण्डियन एसोसियेशन की स्थापना सन् १८७५ ई० से हो चुकी थी, श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी इसके अग्रणी थे।

सामाजिक तथा सांस्कृतिक पृष्ठ-भूमि :

भारतीय जीवन में धर्म का सर्वदा महत्वपूर्ण स्थान रहा है। अतएव भारतवर्ष के राष्ट्रीय उत्थान के प्रथम पथ-प्रदर्शक धर्म-सुधारक के रूप में अवतीर्ण हुये। नवीन राष्ट्रीय आन्दोलन सर्व प्रथम सामाजिक कुरीतियों के परिष्कार से प्रारम्भ किया गया। राजा राममोहन राय (१७७२ से १८३३ तक) ने ब्रह्म-समाज (१८२८ ई०) की स्थापना कर समाज और भारतीय संस्कृति को नवीन पथ-प्रदर्शित किया। राममोहन राय पाश्चात्य शिक्षा तथा विचारधारा से प्रभावित थे। हिन्दू धर्म, इस्लाम तथा ईसाई मत के अध्ययन के बाद इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि मध्य-कालीन मनोवृत्ति, सामाजिक व्यवस्था और विचार तथा कार्य प्रणाली भारतवर्ष को एकता के सूत्र मे बांधने तथा सामाजिक अस्तित्व की रक्षा करने में असफल रहा है, अतएव अपने व्यक्तित्व, विचारों तथा विशिष्ट आन्दोलन द्वारा भारतीय मस्तिष्क से पुरातनवादी अन्ध-विश्वास दूर करने का भरसक प्रयत्न किया। मानव की सेवा के साथ-साथ भारतीय समाज के पुनरुत्थान की भावना उनका उद्देश्य था। अंग्रेजी राज्य की छत्रछाया में अविचल विश्वास बनाये रखना उस युग के उन्नायकों की

सर्व-साधारण नीति थी। वे भारतीय नागरिकों को यूरोपीय उन्मुक्त नागरिकों की भाँति नागरिक सुरक्षा के अधिकार दिलाने में प्रयत्नशील रहे। यह आन्दोलन धार्मिक तथा नागरिक स्वतन्त्रता का ही आन्दोलन समझा जाना चाहिये। सन् १८३३ ई० में ब्रह्म-समाज के संस्थापक राजा राममोहन राय की मृत्यु के पश्चात् समाज-सेवा तथा उक्त आन्दोलन का कार्य-भार उनके पद-चिन्हों का अनुगमन करने वाले श्री रामनाथ ठाकुर, श्री प्रसन्नकुमार ठाकुर, श्री द्वारिकानाथ टैगोर तथा श्री देवेन्द्र टैगोर पर पड़ा।

श्री केशवचन्द्र सेन उग्रवादी समाज-सुधारक के रूप में अवतीर्ण हुये। १८६६ ई० में भारतीय ब्रह्म-समाज की स्थापना की, जिनकी सेवाओं ने भारतीय-समाज को नवीन पथ प्रदर्शित किया। अब तक के समाज सुधारकों में राष्ट्रीय चेतना तथा भारतीय स्वतन्त्रता की विचारधारा का उदय नहीं हुआ था। केवल सुधारवादी विचारों द्वारा देश और समाज का भला चाहते थे। पाश्चात्य सभ्यता तथा अंग्रेजों के उदार शासन की प्रशंसा तथा उनकी छत्र छाया में सांस्कृतिक तथा सामाजिक उत्थान की नीति प्रयोग में लाई जा रही थी। ब्रह्म-समाज और उसके प्रवर्तकों के प्रभाव के कारण पाश्चात्य सभ्यता एवं विद्याओं का भारतीय समाज पर उत्तरोत्तर प्रभाव बढ़ता गया। इतिहास, साहित्य, न्याय, दर्शन, विज्ञान, कला, धर्म आदि में नवीन जीवन का संचार हुआ। वे नये आवरण धारण करके नयी दिशा में विकसित होने लगे। किन्तु परिवर्तन की गति बड़ी ही वेगवती थी, जिससे उसमें गुणों की अपेक्षा अवगुणों का अनुकरण अधिकता से किया गया। पाश्चात्य सम्पर्क का परिणाम स्वतन्त्रता प्राप्ति की प्रबल इच्छा का होना समझा जाता है, अतएव लोग खान पान, विचार-विनिमय तथा काम करने की स्वतन्त्रता पर अधिकता से बल देने लगे। पाश्चात्य वैभव की वस्तुओं और रहन-सहन की प्रथाओं में परिवर्तन के कारण सामाजिक अनुशासन भंग करने का फैशन सा प्रचलित हो गया। अंग्रेजी शिष्टाचार से प्रभावित मद्य-पान तथा नारी-स्वातंत्र्य की विचारधार ने जोर पकड़ा। शिक्षित वर्ग में चरित्र-हीनता, धार्मिक विरोध, भौतिकवादी रहन-सहन का अधिकता से प्रचार हुआ। ऐसा प्रतीत होता था कि प्राचीन सभ्यता के स्तम्भस्वरूप धार्मिक ग्रन्थों और जीवन आदर्शों की तिलांजलि देकर लोग पाश्चात्य सभ्यता को अंगीकार करने लगे थे। और भारतीय सस्कृति तथा सभ्यता सर्वदा के लिये परित्यक्त होती दिखाई देती थी। ऐसी अवस्था में प्रतिक्रिया का होना स्वाभाविक था। अधिक काल से हिन्दू सभ्यता और संस्कृत को अपनाने तथा उसका पुनुरुत्थान करने वाला कोई महा-पुरुष भारतीय रंगमंच पर न आया था, किन्तु कालान्तर में श्री बंकिम चन्द्र चटर्जी ने 'बंग-दर्शन' में हिन्दू-धर्म और नीति की एक विवेचनात्मक लेख-माला निकाली। इसी समय उत्तरी भारत में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने आर्य

समाज की स्थापना करके हिन्दू धर्म और सभ्यता की ओर लोगों के विचारों को प्रभावशाली ढंग से आकृष्ट किया। स्वामी दयानन्द जी ने आर्य-समाज के प्रचारार्थ देशव्यापी भ्रमण किया। सन् १८७२ ई० में केशवचन्द्र सेन से इनकी भेंट हुई। सन् १८७४ ई० में बम्बई की प्रार्थना-समाज से इनका सम्पर्क स्थापित हुआ, और सन् १८७५ ई० में स्वयम् आर्य-समाज की स्थापना की, स्वामी जी अधिक दिन तक प्रचार कार्य सम्पादित न कर सके, और सन् १८८३ ई० में उनका देहावसान हो गया। स्वामी दयानन्द जी हिन्दू-धर्म के मार्टिन लूथर थे, आर्य-समाज की नवीन चेतन विचारधारा ने देश को अभूतपूर्व स्फूर्ति प्रदान की।

स्वामी दयानन्द के सम-कालीन ही बंगाल में रामकृष्ण परमहंस तथा स्वामी विवेकानन्द की उद्भूत विचारधारा से प्रेरित नवीन संप्रदाय उठ खड़ा हुआ। आर्य-समाज की भाँति ही रामकृष्ण सेवाश्रमों ने जनता के उत्थान के अनेक कार्य किये। हिन्दू सभ्यता की सर्व-श्रेष्ठता पर जोर देने के साथ-साथ इन्होंने धार्मिक सहिष्णुता के आधार पर पद दलित समाज को ऊपर उठाने का सराहनीय प्रयत्न किया। भारतीय समाज और धर्म को अखिल विश्व की दृष्टि में गौरवान्वित करने का श्रेय इन्हीं की देन समझनी चाहिये।

उपर्युक्त तीन प्रकार के विभिन्न धार्मिक तथा सामाजिक आंदोलन भारतीय महापुरुषों द्वारा संचालित किये गये थे, परन्तु चतुर्थ प्रकार का नवीन सुधारवादी सम्प्रदाय विदेशियों द्वारा संचालित किया गया। थियोसोफिकल सोसाइटी की स्थापना कर्नल अलकाट तथा मैडम ब्लेका डर्स्की द्वारा सन् १८७५ में अमरीका की राजधानी न्यूयार्क में की गई थी। सन् १८७६ में इसके प्रचारकों ने बम्बई में पदार्पण किया। तथा चार ही वर्षों के अन्तर्गत मद्रास में इसका स्थाई केन्द्र बनाया। मिसेज एनींबिसेंट को इस सम्प्रदाय ने अत्यधिक आकर्षित किया, और वह इस सोसाइटी की प्रमुख प्रचारक के रूप में काम करने लगीं। थियोसोफिकल सोसाइटी का देशव्यापी आन्दोलन हो गया, मानव-समाज की सेवा का सार्वभौमिक दृष्टिकोण को सम्मुख रखकर बिना जाति पाँति और रंग का भेद भाव रखे समस्त मानव-समाज की सेवा का सराहनीय कार्य उक्त संस्था द्वारा सम्पादित किया गया। शिक्षा प्रचार तथा देश की राजनीतिक चेतना तथा सामाजिक उत्थान में प्रगतिशील परिवर्तन दृष्टिगत होने लगा।

उपर्युक्त वर्णित आन्दोलन धार्मिक और सामाजिक थे। परन्तु इनसे राष्ट्रीय तथा राजनीतिक उत्थान में यथेष्ट सहयोग प्राप्त हुआ। देश-हितैषियों का देश की सामाजिक कुरीतियों का परिष्कार करने की ओर ध्यान आकृष्ट हुआ। देश में शिक्षा-प्रचार, स्त्रियों की हीनावस्था का सुधार, बाल-विवाह, वहिष्कार विधवा-विवाह को प्रोत्साहन, जाति-पांति की कट्टरता का विरोध, विदेश-गमन प्रचलन आदि कार्य इन सुधारवादी

नेताओं का ध्येय था। इसके अतिरिक्त इनमें से कुछ आन्दोलनों ने धार्मिक सहिष्णुता का प्रचार किया, और उक्त वर्ग के कुछ लोगों ने धार्मिक सत्यता पर विश्वास की प्रतिष्ठा करके मानव-समाज की सेवा प्रमुख साम्प्रदायिक उद्देश्य बताया। भारतीय समाज में प्रचलित अन्ध-विश्वास मिटाने के लिये, पाश्चात्य विवेचनात्मक अध्ययन प्रणाली का अनुसरण किया गया। भारतीय सांस्कृतिक परम्परा तथा आदर्श के पोषक लोगों ने देश में भारतीयता का नारा लगाया, राष्ट्रीय भावना का सूत्रपात्र कहा जाना चाहिये। राष्ट्र के उत्थान के लिए भिन्न-भिन्न दिशाओं में राजा राममोहन राय, श्री केशवचन्द्र सेन, स्वामी दयानन्द सरस्वती, श्री रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द तथा मिसेज बेसेंट ने कार्य किये।

धार्मिक तथा सामाजिक सुधारवादी नेताओं ने राष्ट्रीयता की भावना का बीजारोपण कर दिया था। देशव्यापी उत्थान तथा जागृति का संदेश देने वालों में श्री महादेव गोविन्द रानाडे, जी० वी० जोशी, बाल गंगाधर तिलक, सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी तथा गोपाल कृष्ण गोखले प्रमुख हैं। सामाजिक, धार्मिक और शैक्षिक सुधार के पश्चात् अब भारतीय नेता क्रमशः राजनीतिक क्षेत्र में पदार्पण कर रहे थे। देश में राष्ट्रीयता तथा राष्ट्रीय गौरव का भाव जागृत हो रहा था। यद्यपि अभी देशव्यापी कोई सामूहिक संगठन नहीं बन पाया था, परन्तु उन्हें देश की उक्त भावना को एक सूत्र में बांधने की आवश्यकता प्रतीत हो रही थी। यातायात के साधनों की सुगमता ने देश को एक सूत्र में बांधने के लिये प्रेरित किया। सर्व-प्रथम इण्डियन एसोसियेशन की संरक्षता में प्रथम राष्ट्रीय सम्मेलन बुलाया गया; जिसका उद्देश्य देश में बढ़ती हुई राजनीतिक विषमता का निराकरण था। श्री सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी के देशव्यापी दौरों और उनके सम्मान से यह स्पष्ट सिद्ध हो गया कि सारे देश में राष्ट्रीयता की एक नवीन स्फूर्ति विद्यमान है। वस्तुतः राष्ट्रीय आन्दोलन की आवश्यकता की प्रेरक यही मूर्तिमान स्फूर्ति ही कही जा सकती है। दिल्ली-दरबार से इस स्फूर्ति को अधिक बल मिला। राष्ट्रीय सम्मेलन का द्वितीय अधिवेशन होने जा रहा था कि बम्बई में उक्त सम्मेलन के तीन दिन पूर्व दिसम्बर मास, १८८५ ई० में अखिल-भारतीय काँग्रेस की स्थापना की गई, जिसका श्रेय देश के विभिन्न राजनीतिक संस्थाओं को था, जो सामूहिक रूप से संगठित होकर ब्रिटिश सरकार के सामने अपनी दैनिक कठिनाइयों को रखना चाहती थीं। सर्वप्रथम इसका उद्देश्य नागरिक अधिकारों की सुरक्षा ही रहा है।

राजनीतिक चेतना तथा सामाजिक उत्थान को शंखनाद युग प्रतिनिधि सुधारवादी नेता कर ही रहे थे। अपने युगान्तकारी व्यक्तित्व में साहित्य सर्जना की साधना लिये हुये युग प्रवर्तक भारतेन्दु का हिन्दी साहित्य में उदय हुआ था। भारतेन्दु जी ने अपने आस-पास के जटिल राजनीतिक तथा सामाजिक वातावरण को खुली आँखों से देखा था। उनके व्यक्तित्व की तथा विचारधारा की युग साहित्य पर छाप है।

सम-सामयिक वातावरण का प्रभाव साहित्यकार की भावनाओं मे यत्र तत्र दृष्टिगत होता है। युग साहित्य का निर्माण करता है, और साहित्य युग का। साहित्य प्राय. जन-रुचि की अवहेलना नहीं कर सकता यह नितात सत्य तथ्य है। राष्ट्रीय चेतना मे सहयोग देने वाले साहित्य की आवश्यकता थी, जो सामाजिक तथा धार्मिक आदोलनों की उद्भूत प्रेरणा को चिरस्थायी बनाये रखने मे सहायक थी। देश के यथार्थवादी चित्रण का साहित्यिक दिग्दर्शन कराने वाले युग पुरुष साहित्यकार भारतेन्दु जी ही थे। ये साहित्य को युग चेतना का माध्यम बनाकर जन-जागरण को अलख जगाने लगे। उनकी भाव-धारा ने अन्य सम-सामयिक साहित्यकारों का पथ-प्रदर्शन किया।

भारतेन्दु जी को हम हिन्दी साहित्य में जन-चेतना के अग्रदूत की कोटि मे अग्रणी कह सकते हैं। कलाकार ने अपने जीवन को राष्ट्रीयता के साथ आत्मसात् कर दिया था। गद्य, पद्य, नाटक और व्याख्यान में सर्वत्र देश भक्ति का स्वर ऊँचा करते दृष्टिगत होते थे। राष्ट्रीयता के प्रचार के साथ साथ साहित्य-नायक, साहित्य के लिये जन-रुचि के अनुकूल पृष्ठ-भूमि भी तैयार कर रहा था। साहित्य एक नवीन करवट बदलता प्रतीत हो रहा था। युग की भावना तथा मनोवृत्ति ने रस, रीति, अलकार—जाल की सकरी गली मे निकाल कर उन्मुक्त वातावरण मे पदार्पण किया था। भारत और भारती दोनों ही के लिए बड़े ही महत्व का युग था, परम्परागत साहित्यिक मान्यताएँ बदलीं, भाव और विचार बदले, और भाषा ने भी अपना लचीलापन छोड़ कर ओजस्विता का रूप धारण किया। शताब्दियों मे चली आने वाली साहित्यिक परम्परा को बात की बात मे मोड़कर एक नवीन दिशा की ओर उन्मुख करने मे युग पुरुष साहित्यकार की वाणी इतनी प्रभावोत्पादक सिद्ध हुई कि लोग रीतिकालीन वैभव तथा रस-माधुरी को भूल बैठे। साहित्याकाश मे भारतेन्दु जी का आविर्भाव वस्तुत. एक जाज्वल्यमान नक्षत्र की भाँति हुआ, जिसके समक्ष अन्य सभी प्रकाश मन्द पड़ गये।

रीतिकालीन साहित्य जीवन और जगत की समस्या से नितान्त दूर था। युग में ऐसे साहित्य की आवश्यकता थी जो शृङ्गार तथा यौवन की मदिर अलसतन्द्रा से अँगड़ाई लेकर राज-प्रासादों के अन्दर न सीमित रहकर वैभव और विलास के सुनहले काल्पनिक चित्रों को छोड़कर जन-समाज की हित-चिन्ता की बात कहता। ऐसे ही साहित्य की प्रथम रश्मि भारतेन्दु की अदम्य प्रतिभा के आलोक से प्राप्त हुई। राज-प्रासादों का वैभव तथा विलासमय गीत गाने वाला साहित्यकार झोपड़ी की ओर चल पड़ा। आसमान पर उड़ने वाले विचार अब धरा पर आ गये थे, जन-समाज से दूर रहने वाला साहित्यकार निर्धन भारत की आह कसक सस्वर गा रहा था, परन्तु उसमें करुणा का प्राबल्य था। अकाल, महामारी तथा टैक्स के दुष्परिणामों तथा अभाव और शासकों के अत्याचार से त्रस्त करुण-रागिनी ने समाज में क्रान्ति की नवीन

चिनगारी उत्पन्न कर दी। जनता की दीर्घकाल से सुसुप्त भावनाओं को जगाने के लिये भारतेन्दु के उक्त सन्देशों ने अधिक कार्य किया है। युग-पुरुष की विचारधारा यथा समय हिन्दी प्रदीप, कवि-वचन-सुधा, हरिश्चन्द्र चन्द्रिका, सारसुधा निधि, तथा बाला-बोधिनी में प्रकाशित होती रही, और साहित्य के इस निर्माण युग में समाज-सेवी साहित्यिक वर्ग को पथ-निर्देश करती रही। साहित्यकार समयोपयोगी राजनीतिक तथा सामाजिक विचारधारा के अतिरिक्त यथा अवसर शासकों की नीति पर व्यंग्य और उनकी दुर्व्यवहार पूर्ण नीति का उद्घाटन करते रहते थे। सामान्यतः साहित्य की पृष्ठिभूमि देश, समाज, जीवन और जगत बन गई थी।

भारतेन्दु जी ने साहित्य और समाज के मध्य ग्रन्थि-बंधन कर दिया था। हिन्दी साहित्य का सम्बन्ध समाज से छूट गया था। समाज और साहित्य दो अलग-अलग पहलू दृष्टिगत होते थे। यदि एक में करुणा और वेदना जन्य भाव समाहित थे, तो दूसरे में अपनी रंगरेलियों में मस्त ऊँचे मकान वालों की रंगरेलियों का विशद वर्णन था। साहित्य और समाज के आसमान और धरती का मिलन भारतेन्दु-युग रूपी क्षितिज पर होना दृष्टिगत होता है। साहित्य को नई दिशा की ओर मोड़ने का सारा श्रेय युग-प्रवर्तक साहित्यकार को प्राप्त है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने युगान्तकारी साहित्यकार का अभिनन्दन वर्तमान हिन्दी के प्रवर्तक के रूप में किया है।

"नवीन धारा के बीच भारतेन्दु की वाणी का सबसे ऊँचा स्वर देश-भक्ति का है भारतेन्दु का प्रभाव भाषा और साहित्य दोनों ही पर बड़ा गहरा पड़ा है। उन्होंने जिस प्रकार गद्य की भाषा को परिमार्जित करके उसे बहुत ही चलता, मधुर और स्वच्छ रूप दिया, उसी प्रकार हिन्दी साहित्य को भी नये मार्ग पर लाकर खड़ा कर दिया। उनकी भाषा संस्कार की महत्ता को सब लोगों ने मुक्त-कंठ से स्वीकार किया है, और वे वर्तमान हिन्दी प्रवर्तक माने गये हैं। सबसे बड़ा काम उन्होंने यह किया कि साहित्य को नवीन मार्ग दिखलाया, और उसे वे नवीन जनता के साहचर्य में ले गये।"

(हिन्दी साहित्य का इतिहास—रामचन्द्र शुक्ल)

भारतेन्दु के व्यक्तित्व में मानववादी परम्परा का समाहार दृष्टिगत होता है। व्यक्तिगत जीवन का तादात्म् समाज-सेवा में समाहित प्रतीत होता था। व्यक्ति का अस्तित्व समाज के लिये होता है, और समाज व्यक्तित्वों का पूँजीभूत समूह है। भारतेन्दु के जीवन में अपनेपन तथा व्यक्तिगत अस्तित्व का कोई महत्व न था। भारतेन्दु की मानवता उनकी रचनाओं तथा उनके कार्य-कलापों में अभिव्यजित है।

जीवन का समाज से सीधा सम्बन्ध होने के कारण पीड़ित मानवता की

कठिनाइयों को इंगित करने के लिये कलाकार की लेखनी उठी। साहित्य का वर्ण-विषय पद्-दलित मानव-समाज के प्रति संवेदना प्रगट करना था। उसके कष्ट निवारण के लिये सतत् प्रयत्नशील रहना मानवता के पुजारी का परम ध्येय था। विशाल हृदय कलाकार ने बड़ी ही निर्भीकता से अपने व्यक्तिगत जीवन को समाज के सन्मुख रख दिया था, साहस के साथ अपनी कमजोरियों को स्वीकार करने में उन्होंने कभी भी आगा पीछा नहीं किया। वर्ग-विधान की परम्परा तथा रूढ़िवादी विचारों से भारतेन्दु को हमेशा विरोध रहा है, सामाजिक विषमता की शृंखलायें तोड़कर वे एक नवीन समाज की कल्पना करते थे, जिसमें कोई विषमता न हो, तथा उस वर्गविहीन समाज में मानव मानव के प्रति प्रेम, सद्भाव तथा समादर रक्खे। एक सूत्र में बँधा हुआ मानव-समाज बड़ी से बड़ी विपत्ति तथा संघर्ष का डटकर सामना कर सकता है। सामाजिक एकता के सन्देश में भारतेन्दु जी ने सद्भाव तथा एकमत होकर संगठित कार्य करने पर अधिक जोर दिया है।

साहित्यकार के आन्दोलन का उद्योग सामूहिक था। युग के नवीन उत्साही कलाकारों को प्रोत्साहन प्रदान करना और अपनी प्रतिभाशाली सूझ तथा धन से यथा समय उसकी सहायता करना मुख्य कार्य था। भारतेंदु-युग का साहित्यिक परिवार बड़ा ही विस्तृत तथा सुसंगठित था। अपने मण्डल के लोगों को जीवन तथा समाज सम्बन्धी अधिक से अधिक कार्यों के लिये प्रेरित करना तथा उनके कार्यों के लिये समुचित धन देना उनका जीवन-ध्येय था। सामाजिक संस्थाओं के स्थापन से युग के समाज सेवी समुदाय को यथाशक्ति प्रोत्साहित किया करते थे। मुक्तहस्त दानी तथा पददलित समाज के त्राणकर्ता के रूप में कलाकार के उदार चरित्र तथा विशाल हृदयता का परिचय मिलता है। युग-पुरुष के सामने भेद-भाव से परे सेवा का सार्वभौमिक स्वरूप था। वह अपने व्यक्तित्व में युग की सभी प्रवृत्तियों का आकलन समाहित देखते थे और उन्होंने समाज के दुःख को अपनी पीड़ा समझकर भारतीय-समाज की पीड़ाजन्य करुणापूर्ण आह को सस्वर करने वाली वाणी से साहित्य में समाज का सन्देश-वाहन किया है। भारतेन्दु के प्रकाश ने अपनी पूरी शक्ति से जीवन तथा समाज के अधिक से अधिक क्षेत्रों को आलोकित कर उन्हें सम्यक रूप में उगाया, पुष्पित और पल्लवित किया। यह युग-पुरुष के प्रतिभाशाली आलोक का प्रतिफल है।

अन्ततोगत्वा साहित्यिक युग-प्रवर्तन तथा सामाजिक और राजनीतिक चेतन का सूत्र संचालन भारतेन्दु जी के ही हाथ में रहा। राजा राममोहनराय, केशवचन्द्र सेन, स्वामी दयानंद, रामकृष्ण परमहंस आदि ने धार्मिक तथा सम्प्रदायवादी आंदोलनों द्वारा देश में प्रगति और चेतना का मन्त्र फूंका, परन्तु भारतेन्दु ने उक्त विचारधार को विभिन्न सम्प्रदायों से अलग साहित्यक मञ्च से जन-जाग्रति का सन्देश दिया।

सम्प्रदाय की दृष्टि से नहीं वरन् उत्तम विचारधाराओं के नाते युग-पुरुष ने सभी साम्प्रदायिक आन्दोलनकारियों की विचारधाराओं को आदर और श्रद्धा भाव अर्पित किया। समाज हित-चिन्तन के सभी प्रयोग जो सम-कालीन महापुरुषों द्वारा प्रकाशित किये गये थे, उन्हें साहित्य के माध्यम से अपनाया। धार्मिक मत-भिन्नता होते हुए भी लोकोपयोगी ग्राह्य विचारधाराओं को ग्रहण कर स्वस्थ समाज के निर्माण में प्रयत्न-शील रहे।

जन-जागरण की भैरवी गाकर कलाकार ने न केवल समाज को ही चेतना प्रदान की, वरन् साहित्य और युग-साहित्यकारों को नवीन मार्ग निर्देशन किया है, जिसके पद-चिन्हों पर वर्षों तक साहित्यकार बड़े ही चाव से चलते रहे हैं। भारतेन्दु की साहित्य ज्योत्स्ना समस्त युग पर छिटकी और इतना तीव्र आलोक था कि युग के साहित्यकारों पर अपनी अमिट छाप दे गई। युग की सन्देश-वाहिनी साहित्यिक प्रगति युग-प्रवर्तक साहित्यिकार भारतेन्दु की ही प्रेरणा का प्रतिफल है। हिन्दी साहित्य-युग निर्माताओं में भारतेन्दु की अमूल्य सेवाओं के कारण आदिगद्य साहित्य युग-पुरुष का व्यक्तित्व चिर-स्मरणीय रहेगा। भारत तथा भारती दोनों ही परम्परा तक गौरव-मय महापुरुष को श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते रहेंगे।

द्वितीय अध्याय

जीवन परिचय तथा साहित्यिक कृतियाँ

जीवन-परिचय :

काशी में भाद्रपद शु० ५ ऋषि[1] पंचमी सं० १६०७ (६ सितम्बर सन् १८५० ई०) को सोमवार के दिन प्रातःकाल भारतेन्दु बा० हरिश्चन्द्र ने अवतीर्ण होकर हिन्दी साहित्य के गगनांगण को द्वितीया के चन्द्र के समान सुशोभित किया था। ५ वर्ष की अवस्था में इनकी माता का देहान्त हुआ। बाल्य-काल ही में अपनी प्रत्युत्पन्न मति प्रतिभा से परिवार के लोगों को कौतुक दिखाया करते थे। भारतेन्दु जी ने नव वर्ष की वायु में ही नव अंकुरित प्रतिभा संपन्न उदीयमान कवि की सी झलक दिखाई थी। अपने पिता महाकवि बा० गोपाल चन्द्र से आज्ञा लेकर उक्त दोहा बनाया :—

> लै ब्योंड़ा ठाढ़े भए श्री अनिरुद्ध सुजान ।
> बाणासुर की सेन को हतन लगे भगवान ॥

बालक भारतेन्दु का उत्साह-वर्धन के लिये महाकवि गोपाल चन्द्र ने अपने ग्रन्थ बलराम कथामृत में सर्व प्रथम स्थान दिया। बाल-उत्साह तथा बुद्धि की कुशाग्रता के कारण यथा समय आप पिता की बैठकों में भाग लिया करते, वाद-विवाद के समय आपने कच्छप कथामृत के एक दोहे का बड़ा चमत्कार पूर्ण अर्थ बताया जिसे सुनकर बैठे हुये सभी आश्चर्य चकित रह गये। बाल्य-सुलभ जिज्ञासु भाव से वह अपने पिता से तर्पण करने का कारण पूँछ बैठे, वह क्षुब्ध होकर कहने लगे कि तू मेरे वंश का नाम बोरेगा। आगे चलकर भारतेन्दु जी ने अपने अदम्य प्रतिभा का प्रकाश भी किया, और अपने पैतृक धन का अपव्यय भी।

सर्व प्रथम आप का शिक्षा संस्कार पं० ईश्वरीदत ने किया मौलवी ताजअली उर्दू अभ्यास कराते थे, तथा अंग्रेजी की शिक्षा पं० नन्दकिशोर तथा राजा शिवप्रसाद

---

(१) पंचमी के स्थान पर सप्तमी व सितम्बर के स्थान पर दिसम्बर छपाया है। यही जन्म दिन बा० शिवनन्दन सहाय ने इस प्रकार दिया है। मिती भाद्र पद शुक्ल ५ सं० १६०७, (६ सितम्बर १८५० ई०)

बा० राधाकृष्ण दास ने पंचमी के स्थान पर सप्तमी का उल्लेख किया है।

> नमस्ये शुक्ल पंचम्याम पिता ऋषि सप्तमाः ।
> दहन्तु पापं मे सर्व गृहणान्त्वर्घ्यं नमो नमः ॥

जी से प्राप्त की, काशी के क्वीन्स कालेज में अध्ययन करने गये। परन्तु इनकी शिक्षा का क्रम अधिक काल तक न चल सका। छात्रावस्था ही में शृंगार रस की कविताओं से अधिक प्रेम था, और काव्य रचना भी करने लगे थे। इनके शिक्षा क्रम में उनकी जगदीश-यात्रा अधिक बाधक हुई। यों तो भारतेन्दु जी अध्यवसायी तथा चिन्तनशील व्यक्ति थे, फिर भी अध्ययन प्रणाली क्रमवद्ध न चल सकी। सं० १६२० वि० में शिवाले के रईस लाला गुलाबराय की पुत्री मन्नीदेवी से बड़े समारोह के साथ विवाह सम्पन्न हुआ। सं० १६२२[1] वि० में ये सपरिवार जगन्नाथ जी गये। उस समय काशी से पुरी तक बराबर रेल नहीं गई थी। और लम्बी यात्रा के पहिले सभी सम्बन्धी इष्ट मित्र मिलने आया करते थे, जब इन लोगों का डेरा नगर के बाहर पड़ा, तब सभी लोग मिलने आने लगे, इन्हीं में से भारतेन्दु जी के कथित हितैषी इनसे मिलने आये, और विदा होते समय इन्हें दो अशर्फी भेंट कर गये कि अपनी आवश्यकता पर इसका उपयोग करना। भारतेन्दु जी ने उसे अपने समवयस्क ब्राह्मण के पास रखवा दीं। यही उनकी ऋण लेने की आदत का सूत्र-पात समझा जाता है। उक्त यात्रा में अपनी विमाता से रुष्ट होकर रानीगञ्ज[2] तक पुनः लौट आये, अपने छोटे भाई के आग्रह पर वह फिर लौट गये। परन्तु इस यात्रा में वह भेंट में मिली हुई अशर्फियाँ व्यय हो गईं। इस घटना से स्पष्ट है कि भारतेन्दु जी के प्रति परिवार के अन्य लोगों का व्यवहार अच्छा न था। अर्थ कष्ट ने ही उन्हें ऋण की आदत डलवा दी थी। अपने उदार तथा अपव्ययी स्वभाव को वह संयम में न बांध सके, और ऋण का बोझ उत्तरोतर बढ़ता गया। जगन्नाथ यात्रा में स्थापित भैरव मूर्ति के अप्रमाणित आसन को सिद्ध कर उसे यथा उचित रीति से सिंहासनारूढ़ कराया। इसी के परिणामस्वरूप तहकीकातपुरी की रचना हुई। भारतेन्दु जी ने उसके उत्तर में···तहकीकात पुरी की तहक़ीकात···लिख डाला।

भारतेन्दु[3] जी जहाँ जहाँ भी गये, अपनी प्रतिभा से वहाँ के लोगों को आकृष्ट किया। सभी स्थानों से उन्हें साहित्यिक प्रेरणा प्राप्त हुई। और इसी अनुभूति से

---

१ इस संवत् पर कुछ शका इसलिये की जाती है कि भारतेन्दु जी का पन्द्रहवां वर्ष पूर्ण हो चुका था।

२ जीवनपरिचय···भारतेन्दु हरिश्चन्द्र···बा० ब्रजरत्न दास

३ सं० १६२८ वि० में पुनः यात्रा को निकले, अपनी यात्रा का विवरण निम्न पद में दिया है :—

प्रथम गए चरणादि कान्हपुर को पग धारे।
बहुरि लखनऊ होइ सहारनपुर सिधारे॥
तहँ मन्सूरी होइ जाइ हरिद्वार नहाए।
फेर गए लाहौर सु पुनि अम्बरसर आये॥

इन्होंने साहित्य को साकार किया, और लोगों ने इन्हें आदर सम्मान तथा श्रद्धा पुष्पों से सम्मानित किया।

लम्बे तथा इकहरे शरीर वाले कलाकार भारतेन्दु का व्यक्तित्व अति आकर्षक था। श्यामल रंग तथा उन्नत ललाट तथा, घुंघराली लटों में वह कलियुग के कन्हैया[१] प्रतीत होते थे। पान खाने का अधिक व्यसन था। भावुकता से ओत-प्रोत हृदय बहुत ही कोमल था। किसी के कष्ट की कथा सुनकर ही उस पर इनकी सहानुभूति उमड़ पड़ती थी। चाहे वह वस्तुतः झूठी मक्कारी ही क्यों न हो। दुख सुख दोनों ही में अपने भावों को सतुलित तथा संयमित रखते थे। स्वभावतः नम्र थे, पर किसी के अभिमान दिखलाने पर वे उसे सहन नहीं कर सकते थे। वे स्वतः कभी किसी से अपनी अमीरी, दातव्यता, काव्य शक्ति आदि गुणों का अभिमान नहीं दिखलाते थे, और सभी छोटों तथा बड़ों से समान रूप से मिलते थे। भारतेन्दु जी ने अपने अहित करने वालों का कभी विरोध नहीं किया उन्हें स्वयम् अपनी भूल स्वीकार करने के लिये उनकी अवस्था पर छोड़ दिया[१] करते थे।

हृदय में विषाद का बोझिल भार वहन किये हुये भी भारतेन्दु में सहानुभूति की भावना प्रचुर रूप में थी। सन् १८७२ ई० में बम्बई प्रान्त स्थित खान देश के कई ग्रामों में इतनी वृष्टि हुई कि गाँव के गाँव बह गये, और काफी धन-जन की हानि हुई, अनाश्रितों की सहायतार्थ इन्हीं के सदुद्योग से काफी चन्दा एकत्र किया गया। काशी में आई हुई गंगा जी की बाढ़ में भी बड़ा ही सराहनीय कार्य किया। किसी को तनिक भी कष्ट में देख कर द्रवीभूत हो जाने वाले भावुक हृदय भारतेन्दु किसी को कष्ट में नहीं देख सकते थे। एक बार मार्ग पर पड़े हुये एक दरिद्र को शीत से कांपते देख अपना दुशाला ओढ़ाकर गृह लौट आये। परोपकार में रत रहना इनकी प्रकृति हो गई थी। इन्होंने निज के स्वभाव, प्रेम, इच्छा आदि को एक कवित में प्रकट किया है।

दिल्ली से ब्रजवासि आगरा देखत पहुँचे आय घर।
तैतीस दिवस में यातरा यह कीन्हीं हरिचन्द वर।[१]

सं० १९३७ में महाराज काशी के साथ बैद्यनाथ जी की यात्रा की, अपनी यात्रा का बड़ा ही रोचक वर्णन किया है।

सं० १९३९ वि० में उदयपुर की यात्रा की। सं० १९४१ वि० बलिया में व्याख्यान के लिये आमन्त्रित हुए। डुमरांव, पटना, कलकत्ता, प्रयाग, हरिहर क्षेत्र आदि स्थानों में प्रायः जाया करते थे।

(१) दूर से लोग इनकी मधुर कविता सुन आकृष्ट होते थे, और समीप आ मधुरश्याम सुन्दर घुंघरारे बाल वाली मधुर मूर्ति देखकर बलिहारी होते थे, और वार्तालाप में इनके मधुर भाषण, नम्रता और शिष्ट व्यवहार से वश में हो जाते थे।

(बिहारी-बिहार)
पं० अम्बिकादत्त व्यास

सेवक गुनी-जन के, चाकर चतुर के हैं,
कविन के मीत चित हित गुन गानी के।
सीधेन सों सीधे, महा बांके हम बांकेन सों,
हरीचन्द, नगद दमाद अभिमानी के॥
चाहिवे की चाह, काहू की न परवाह नेही,
नेह के दिवाने सदा सूरत निबानी के॥
सरवस रसिक के, सुदास दास प्रेमिन के,
सखा प्यारे कृष्ण के, गुलाम राधा रानी के॥

गुणियों तथा कलाविदों का इन्होंने अपनी शक्ति से कहाँ तक बढ़कर सत्कार किया था, इसका आगे उल्लेख प्रस्तुत है, जिसने अपने स्वभाव और गुणों का यथार्थ विवेचन किया है।

आप में शालीनता भी अधिक थी। भाई से बँटवारे के बाद इनके हिस्से का मिला हुआ बत्तीस सहस्र रुपया इन्होंने अपने एक मुसाहिब के यहाँ धरोहर के रूप में रख दिया, कुछ दिन बाद वह रोता हुआ उनके पास आया और कहने लगा कि सारा रुपया चोरी चला गया और उसके साथ मेरी पूँजी भी चली गई। भारतेन्दु जी के मन में तनिक भी हलचल न हुई, उन्होंने हँसकर कहा "गनीमत हुई कि वह तुम्हें न उठा ले गया"। लोगों के उसके प्रति भड़काने के बावजूद भी उन्होंने उससे वह रुपया न माँगा। हरिश्चन्द्र एण्ड ब्रादर्स नामक कोठी जवाहरात तथा विदेश से मँगाई जाने वाली वस्तुओं के क्रय-विक्रय के लिये खोली गई, परन्तु वह इनके शील और संकोच के ही कारण न चल सकी। एक तो सभी माल उधार खरीदने आते थे, और बाद में उसे उपहार में मिली हुई वस्तु समझकर रुपया नहीं देते थे।

साहित्यिक अभिरुचि का प्रसार करने के लिये तथा समाज में शिक्षा का स्तर ऊँचा उठाने के लिये कम मूल्य की पुस्तकें प्रकाशित कराने लगे, तथा पुरस्कार देकर लोगों को पुस्तकें निर्माण करने में उत्साहित करते थे। अन्य सार्वजनिक कार्यों तथा साहित्य निर्माण करने में उत्साहित करते थे। सार्वजनिक संस्थाओं* को मुक्तहस्त धन

*फ्रान्स के युद्ध को नाटक बध्य लिखे जाने पर ४००) रु० से पुरष्कृत हुए।
*सर विलियम म्योर के जीवन चरित्र पर २५०) रु० का पुरष्कार।
सन् १८७२ ई० में मेयो मेमोरियल सिरीज़ में १५००) रु० का पुरष्कार।
पंजाब विश्वविद्यालय के संस्थापन में २५०) रु० का दान।
होमियोपैथिक डिस्पेन्सरी चलाने के लिये १८६८ से १८७३ ई० तक १२०) रु० प्रति वर्ष देते रहे।
कार माईकेल लाइब्रेरी को आर्थिक सहायता।
भारतेन्दु हरिश्चन्द्र—'जीवन-परिचय' बाबू बृजरत्नदास।

से प्रोत्साहन प्रदान करते थे। जीवन पर्यन्त भारतेन्दु जी ने यथा शक्ति सत्य का प्रति पालन किया। उनकी सत्यप्रियता की निम्न घटना का उल्लेख एक ज्वलन्त उदाहरण है।

एक महाजन मे कुछ रुपये तथा एक कटर नाव लेकर तीन सहस्र की हुण्डी लिख दी थी। उनका इन पर सबसे पहिला दावा हुआ। यह मुकदमा अलीगढ विश्वविद्यालय के संस्थापक सर सैयद अहमद खाँ के न्यायालय मे था। इनके शुभेच्छु न्यायाधीश ने इन्हें कष्ट में देखकर इनसे पूछा कि वास्तव में आपने कितने रुपये लिये थे, उत्तर में भारतेन्दु जी ने पूरे रुपये पाना स्वीकार किया।

भारतेन्दु जी सहृदयता की साक्षात मूर्ति थे। विनोद-प्रिय जीवन ही अवसाद की बोझिल गरिमा को हलका बनाये रखता था। प्रथम अप्रैल अंग्रेजो का विनोदमय पर्व होता है, उसे "फूल्स डे" भी कहते हैं। भारतेन्दु जी इसे बड़े ही मनोयोग से मनाते थे, अपने मित्रो को विलक्षण प्रयोगो द्वारा धोखे में डालकर उनका उपहास करते थे।

काशीराज की सभा मे प्रसिद्ध व्याकरणी से विनोद पूर्ण ढग से उक्त शब्द की व्याख्या करवाना तथा लावनी बाजो के बीच बैठकर अपनी आशु-कवित्व शक्ति का परिचय देना आदि कौतुक प्रसिद्ध हैं। होली का उत्सव भी यह खूब सज-धज से मनाते थे, बिरादरी के महल मे लोग और अपने मुसाहिबो के साथ रग खेलना तथा साज सगीत का आयोजन करते, तत्पश्चात् सब मिलकर चतुरशष्टी देवी के दर्शन को जाते थे।

साहित्यार्चन, दीनों की सहायता, देशोपकार, दान तथा आमोद-प्रमोद मे मुक्त हस्त दोनो हाथो भारतेन्दु अपना धन लुटा रहे थे। घर के हितैषियो तथा उनके अनुज बा० गोकुलचन्द्र को यह तनिक भी न भाता था, यह भारतेन्दु जी से पन्द्रह माह छोटे थे। इनके बालिग होने तक राय नृसिंहदास इनकी सम्पति के प्रबन्ध-कर्ता थे। घर के शुभचिन्तकों ने इन्हें समझाया तथा काशीनरेश तक खबर पहुँचाई, जिस पर इन्होंने भारतेन्दु जी से समझा कर कहा कि समय देखकर काम किया करो। इन्होंने निर्भय चित उत्तर दिया कि इस धन ने मेरे पूर्वजों को खाया है, और मैं इसे खाऊँगा। महाराज चुप रह गये। उन्हीं शुभचिन्तकों की कृपा से २१, मार्च सन् १८७० ई० को दोनो भाइयों में तकसीम नामा लिखा गया। इस समय भारतेन्दु जी की आयु उन्नीस वर्ष छै महीने तथा बा० गोकुलचन्द्र अठारह वर्ष तीन महीने के थे। तक्सीमनामा लिखने के अवश्य कुछ पहिले ही सम्पत्ति का बँटवारा हुआ होगा। परन्तु यह विवाद ग्रस्त प्रश्न है कि कब भारतेन्दु जी ने सारा प्रबन्ध अपने हाथ मे लिया। अठारह वर्ष के पूर्ण होने के पहिले अथवा बाद में सम्भवतः बालिग होने के साल भर तक ही यह सारी पैतृक सम्पत्ति का प्रबन्ध कर रहे होंगे। बा०

गोकुलचन्द्र के बालिग होने तक सारा प्रबन्ध दूसरों के हाथ में था ही, बालिग होने के पश्चात् इन्होंने बँटवारे का सूत्रपात किया। एक दिन आप खजाने के ताले पर जा बैठे, और भारतेन्दु जी से कहने लगे कि आपने अपने भाग की सम्पत्ति खर्च कर डाली है, अब आप जो कुछ इसमें से लेंगे, मेरे हिस्से का लेंगे। भारतेन्दु जी पर अनुज द्वारा इस रुकावट का ऐसा प्रभाव पड़ा कि वे संपूर्ण पैतृक-सम्पत्ति के निज भाग की दस्तवरदारी लिखने को तैयार हो गये, पर राय नृसिंहदास जी ने ऐसा करना अनुचित समझ कर बाजाप्ता* बटवारा नामा कराना उचित समझा। सारी चल तथा अचल सम्पत्ति का बटवारा हुआ।

भारतेन्दु जी के हिस्से में एक मकान, एक दूकान को रौना मौजा का अर्द्धांश, परमिट वाली कोठी, नवावगञ्ज बाजार का आधा स्वत्व, एक मकान मौजा मदरासी व सहारनपुर और मौजा कोरा घरौरा व देवरा का आधा हिस्सा तथा फुटकर खेत जमीन मिली थी। इसके साथ दो शर्तें भी थीं। पहिली यह कि यदि यह अपनी स्थावर सम्पत्ति बेंचना चाहें तो पहले अपने भाई के हाथ ही बेंच सकते हैं, और उनके अस्वीकार करने पर ही दूसरे के हाथ विक्रय करने का उन्हें अधिकार होगा।

इनकी मातामही की सम्पत्ति का भी विभाजन एक दूसरे वसीयतनामे के आधार पर हुआ। कार्तिक सुदी ३ सं० १९३५ वि० को एक बखशीशनामा लिखा गया। भारतेन्दु जी की स्वीकृति के विषय में लिखा है कि···इस वास्ते कि मेरे बायस किसी की हकतलफी न होवे, इस वसीक: की तहरीर में रजामन्दी व इत्तफाक बा० हरिश्चन्द्र व बा० गोकुलचन्द्र दोनों का मैंने हासिल कर लिया है, जिसकी सदाकत पर दोनों की दस्तखत इस वसीक: पर लिखी जाती है। इस वसीक: पर बा० गोकुलचन्द्र का हस्ताक्षर हैं और बा० हरिश्चन्द्र का नहीं हैं, उन्हें इसके अनुसार केवल साढ़े चार हजार रुपये दिये गये थे। इसमें ढाई हजार बा० गोकुलचन्द्र ने उस ऋण के हिसाब में काट लिया जो इन्होंने भारतेन्दु जी को दिये थे। और बचे हुये दो सहस्र रुपये फुटकर ऋण तथा डिगरियों के चुकाने के लिये रखे गये। अस्तु पैतृक

* अशियाए मनकूल: व नकदी व पास हर सेह हिस्सा तहरीर दाद: अलैहद: के हम लोगों ने व इत्तफाक एक दीगर बदस्तखत फरीकेन व वालद: साहब के मुनकसिम कर लिया।

तकसीम-नामा की शब्दावली

अव्वल यह कि तकसीम तीन हिस्सा करके एक हिस्सा वास्ते अमूरात दीनी व पूज: व सेवा की ठाकुर जी की पूजा कदीमी हम लोगों का है, और इस हिस्सा ख्वाह इसके महासिल से पूजा वा सेवा श्री ठाकुर जी व पिंड सराध बुजुर्गान व अदाये रस्म मौहिव: हर शख्स व रस्मात बिरादरी का हमेसा मुतअल्लिक रहेगा। दूसरा हिस्सा हम बाबू हरिश्चन्द्र व तीसरा हिस्सा हम बाबू गोकुलचन्दर का करार पाया।

सम्पत्ति के बाद मातामह का भाग भी भारतेन्दु जी ने इस प्रकार व्यय कर दिया।

घर से अलग होने के कुछ ही काल बाद उसी वर्ष अवैतनिक न्यायाधीशों के नियुक्ति का नियम बनाया गया। काशी के दस सज्जन मैजिस्ट्रेट नियुक्त हुये। भारतेन्दु जी उन सबमें सबसे छोटे थे। कुछ दिन बाद म्युनिस्पल कमिश्नर भी नियुक्त हुये। राज-भक्तों में इनका भी नाम गिना जाने लगा। इनकी प्रकाशित पत्रिकाओं तथा पुस्तकों की सौ सौ प्रतियाँ सरकार में बराबर ली जाने लगीं। पञ्जाब विश्वविद्यालय ने इन्हें संस्कृत का परीक्षक बनाकर सम्मानित किया। सहज ईर्ष्यालु पुरुषगण इतने अल्प-वयस्कपुरुष की यह बढ़ती न देख सके, और उच्चाधिकारियों से चुगली करने लगे। यह स्वभावतः स्पष्टवादी थे, और व्यंगात्मक लेखों में लोगों पर छींटा भी कसते थे। कवि बचन सुधा में इन्होंने "लेवी प्राण लेवी" नामक एक छोटा सा व्यंग विनोद-युक्त लेख निकाला था। लार्ड मेयो के काशी आगमन पर १ नवम्बर सन् १८७० ई० को जो लेवी दरबार हुआ था, उसी का इसमें विनोद पूर्ण वर्णन है। परिणामस्वरूप इन पर अश्रद्धा और उपेक्षा का आरोप लगाया गया। इस प्रकार अकारण ही आप तत्तकालीन सरकार के कोप-भाजन हुये। आपने आनरेरी मैजिस्ट्रेट के पद से त्याग-पत्र दे दिया।

पं० सुधाकर जी द्विवेदी अपनी राम कहानी की भूमिका में लिखते हैं कि "इनकी स्पष्टवादी व्यंगात्मक विचारधारा से नाराज होकर काशी के सुप्रसिद्ध विद्वान पं० रघुनाथ जी ने इन्हें भारतेन्दु की उपाधि दी और इसे उन्होंने इस प्रकार स्पष्ट किया, "आपको कुछ ध्यान नहीं रहता कि कौन आदमी कैसा है, सभी का अपमान किया करते हो। जैसे अपने सुयश से जाहिर हो उसी तरह भोग विलास और बड़ों का अपमान करने से आप कलंकी भी हो, इसलिये आज से मैं आपको भारतेन्दु नाम से पुकारा करूँगा।" यही नामकरण वास्तव में उनकी प्रसिद्धि का द्योतक बन गया।

इसके पहिले राजा शिवप्रसाद को भारत सरकार की ओर से सी० आई० ओ० (भारत-नक्षत्र) की पदवी मिल चुकी थी, और राजा साहब से मनो मालिन्य हो जाने के कारण भारतेन्दु जी सरकार के कोप भाजन हुये। परन्तु ज्यों-ज्यों सरकार के कोप-भाजक होते जाते, इनकी लोक प्रियता बढ़ती जाती थी।

बँटवारे के बाद चार पाँच वर्ष में इनकी अस्थावर सम्पत्ति का बहुत सा अंश उड़ गया, और भारतेन्दु जी को परोपकार, दान-पुण्य, देश सेवा आदि कार्यों के लिये अर्थ कष्ट होने लगा। ऐसे ही समय चाटुकारों की कृपा से भारत सरकार ने भी ऐसे राज-भक्त पर अपनी कोप-दृष्टि की, और इनकी मातृ भाषा की सेवा में बाधा पड़ने

लगी। जीवन में वैषम्य *पूर्ण अध्यायों का उल्लेख भारतेन्दु जी ने अपने नाटकों में कई स्थलों पर दिया है। वास्तव में ऐसे नाटकों में झाँक कर दूर तक देखा जाय, तो इनके जीवन सम्बन्धी प्रतिबिम्ब दिखाई देंगे। "प्रेमयोगिनी" तथा "भारत दुर्दशा" से स्पष्ट है कि भारतेन्दु जी के हृदय को अभाव और वैषम्य कचोट सा रहा है।

हिन्दी तथा देश के लिये तो इनका हृदय चिन्ता दग्ध था ही पर जिनके लिये ये अपना तन-मन-धन अर्पण कर रहे थे, उन सब की उदासीनता इनका हृदय जर्जर कर रही थी। इसी आत्मक्षेत्र का सं० १७३२ वि० में निर्मित 'सत्य हरिश्चन्द्र' तथा 'प्रेम योगिनी' की भूमिका में व्यथित उद्‌गार प्रकट हुआ है।

भारतेन्दु जी का अर्थ संकोच इतना बढ़ा कि जमा गायब हो गई, और भरण का बोझ ऊपर से पड़ गया। एक का दूना लिखाने वालों ने जल्दी कर डिगरियाँ प्राप्त कर लीं, और इनसे रुपया वसूल करने का उपाय करने लगे।

सत्य मार्ग पर डटे रहने वाले हरिश्चन्द्र ने कभी भी इनका प्रतिवाद नहीं किया, तथा अपने परम हितैषी माननीय न्यायाधीश के समझाने* पर भी औचित्य के मार्ग से न डिगे।

इस प्रकार देश, समाज, मातृ-भाषा आदि की उन्नति तथा अपनी कौटुम्बिक और ऋण आदि की चिन्ताओं से ग्रस्त होने के कारण इनका शरीर जर्जर हो रहा था। इसी समय मेवाड़-पति महाराजा सज्जनसिंह के आग्रह तथा श्री नाथ जी के दर्शन की लालसा से सन् १८८२ ई० में यह उदयपुर गये। इतनी लम्बी यात्रा के प्रयास को इनका जीर्ण शरीर नहीं सह सका। दिन प्रति दिन स्वास्थ गिरता ही रहा। हैजे के संघातिक रोग के आक्रमण ने और भी चिंताजनक अवस्था कर दी, परन्तु अभी आयुष्य अवशेष थी, इसी कारण उनका जीवन बच गया। सं० १६४० चैत्र शुक्ल पूर्णिमा को लिखे गये नाटक के समर्पण में इनकी अन्तिम निराशावादी भावनाओं की व्यंजना है। "नाथ † आज एक सप्ताह होता है कि मेरे मनुष्य जीवन का

* हाँ प्यारे हरिश्चन्द्र का संसार ने कुछ भी गुण रूप न समझा क्या हुआ कहेंगे सबै हीं नैन नीर भरि भरि, पीछे प्यारे हरिचंद्र की कहानी रह जायेगी। —प्रेमयोगिनी—

†सं० १६३६ वि० के ज्येष्ठ के "सार सुधा निधि" भाग १ अंक १६ में पृष्ठ २२६,७ पर भारतेन्दु जी के मृत्यु शीर्षक लेख का उद्धरण।

काशी के तत्कालीन न्यायाधीश सैयद अहमद खाँ ने अपनी तजवीज में निम्न विचार प्रगट किए हैं :—

चूँकि बा० हरिश्चन्द्र की सत्यता पर अदालत को पूर्ण विश्वास है इससे उनके स्वीकार और अस्वीकार हा के अनुसार डिगरी दी जाती है। और साक्षी की कोई अपेक्षा नहीं।

संऽस्मत द्विधाना प्रणयैः कृषणी-कृतोन तेन, कश्चित विभवै विभा न
विदाय काले ष्विव वसोद को छन्दो, तृष्णा मय नीय शुष्कवान्।

अंतिम अंक हो चुकता, किन्तु न जाने क्या सोचकर और किस पर अनुग्रह करके उसकी आज्ञा नहीं हुई। नहीं तो यह ग्रंथ प्रकाश भी न होने पाता। यह भी आप ही का खेल है कि आज इसके प्रकाश का दिन आया।"

पूर्ण स्वस्थ न होने पर भी साहित्य साधना में रत रहते थे। दुश्चिंताओं की ज्वाला निरंतर उनके हृदय को दग्ध किया करती थी, भारतेन्दु जी का स्वास्थ न सुधर सका, उत्तरोतर गिरता ही गया। ज्वर ने स्थायी रूप से जड़ जमा ली थी। श्वांस और ज्वर के आवेग को भारतेन्दु जी का दुर्बल शरीर न सह सका, और शनैः शनैः यक्ष्मा से ग्रसित हो गये। २ जनवरी १८८५ से रोग ने भीषणता धारण कर ली। यह रुग्णावस्था उनके महा प्रयाण की अंतिम झांकी थी। उनके हृदय में नैराश्य भावनाओं ने अधिकार कर लिया था। ६ वीं तारीख भारतेन्दु जी के जीवन लीला का अंतिम दिन था। प्रातःकाल ही उनका हाल पूँछने घर की नौकरानी आई, आपने नैराश्यजन्य यथार्थ भावों को व्यक्त कर दिया, और कहला दिया कि "मेरे जीवन के नाटक का प्रोग्राम नित्य नया छप रहा है, पहले दिन ज्वर की दूसरे दिन दर्द की, तीसरे दिन खाँसी की सीन हो चुकी' देखें लास्ट नाइट कब होती है? उसी दिन दोपहर से श्वास वेग से आने लगी, कफ में रुधिर आ गया। औषधि और उपचार के निरतर प्रयास होने पर भी अवस्था चिंताजनक होती गई।

कलाकार की महाप्रयाण बेला निकट समझ आकुल मित्र, सम्बन्धी, और हितैषी इनकी अंतिम झांकी देखने आने लगे निज के मतभेद तथा साहित्यिक विचार विषमता होने पर भी राजा शिवप्रसाद जी इन्हें देखने आये, रोग शय्या पर पड़े हरिश्चन्द्र ने उनके प्रति अपना आदर प्रकट किया। पुराना वात्सल्य उमड़ पड़ा। राजा साहब ने सप्रेम कष्ट का हाल पूँछा तो भारतेन्दु जी ने क्षीण स्वर में कहा—"मुझे बड़ी प्यास लगी है" झट ही राजा साहब ने चाँदी की प्याली भर कर पानी देना चाहा, परन्तु अंतिम क्षण में भी भारतेन्दु साहित्यामृत के प्यासे थे, उन्होंने पानी देने को मना किया, और अपनी प्यास की तुष्टि घनानन्द के सवइये से बुझाने का निवेदन किया। राजा साहब ने अवरुद्ध कंठ घनानन्द के सवइये का निम्न अन्तिम चरण पढ़कर सुनाया।

("तुम कौन सी पाटी पढ़े हौ लला मन लेत हो देत छटाक नहीं"।

अन्ततोगत्वा बात करते ही करते पौने दस बजे रात को वह महाप्रयाण बेला अति ही संनिकट आ गई, अन्त तक इन्हें अपने इष्ट देव का ध्यान बना रहा, धीमें और अस्पष्ट स्वरों में श्रीकृष्ण नाम उच्चरित करते रहे। भारत का इन्दु, माघ कृष्ण ६ सं० १९४१ वि० (६ जनवरी सन् १८८५ ई०) के रात्रि में दस बजे चौंतीस वर्ष तीन महीने सत्ताइस दिन की आयु में सदा के लिये अस्त हो गया।

भारतेन्दु जी के दो पुत्र तथा एक पुत्री हुई थी, पर पुत्र दोनों शैशवावस्था ही

में जाते रहे। उनकी एक मात्र सन्तान श्रीमती विद्यावती थीं। जिनका विवाह संवत् १६२७ बैशाख में स्व० बा० बुलाकीदास जी के भ्रातुष्पुत्र स्व० श्री बलदेवदास जी से भारतेन्दु जी ने स्वयम् किया था। इनके पाँच पुत्र तथा तीन पुत्रियाँ थीं, जिनमें से तीनों पुत्रियाँ अल्पायु ही गत हो गईं। पुत्रों के नाम वयानुक्रम से ब्रजरमणदास, ब्रजरत्नदास, ब्रजमोहनदास, ब्रजजीवनदास, तथा ब्रजभूषणदास हैं जिनमें प्रथम तथा तृतीय का शरीरान्त हो चुका है। श्रीमती विद्यादेवी का सं० १६५७ के अगहन बदी २ को और बा० बलदेवदास का सं० १६४६ में चैत्र बदी २, को स्वर्गवास हो गया। भारतेन्दु जी की धर्म पत्नी श्रीमती मन्नोदेवी बयालीस वर्ष वैधव्य भोग करने के अनन्तर सं० १६८३ के अषाढ़ बदी ७ को गोलोकवासी हुईं।

बा० गोकुलचन्द की सन्तानों के वंश परम्परा अब भी विद्यमान हैं, इनके चार सन्तानों में दो पुत्र तथा दो पुत्रियाँ हुईं, जिनमें से दोनों पुत्र श्रीकृष्ण चन्द्र तथा श्री ब्रजचन्द्र के पांच सन्तानें हुईं, प्रथम के तीन तथा द्वितीय के दो पुत्र वर्तमान हैं, जिनके नाम क्रमशः डा० मोतीचन्द्र, बा० लक्ष्मीचन्द्र, बा० नारायणचन्द्र तथा बा० कुमुदचन्द्र और बा० मोहनचन्द्र हैं।

दिये हुए वंश वृक्ष के आधार पर भारतेन्दु परिवार की वंश-परम्परा का विकास हुआ।

१६ वीं शताब्दी से जड़ता मूर्च्छना तथा अज्ञान अंधकार को चीरकर अपनी सुयश कीर्ति को धवल बनाने वाले भारतेन्दु में कुछ धूमिल धब्बे भी विद्यमान हैं। सम्भवतः चाँद के से कलक उनकी साहित्यिक प्रेरणा की आधार शिला प्रतीत होते हैं। पारिवारिक उपेक्षा की प्रतारणा से पीड़ित क्षुब्ध हृदय शान्ति और प्रतिश्रय चाहता है। प्रेम की प्यास में तड़पता हुआ महामानव जहाँ भी कुछ सहानुभूति पा सका, झुक गया, और अतृप्त स्नेह तृष्णा को मिटाने लगा। अपव्यय, दान तथा धन नाश के लिये शुभ-चिन्तक समाज इनकी भर्त्सना करता रहा था, समाज तिरस्कृत मानव की तरह अवसाद की भीषण ज्वाला अंतर निहित किये हुये रूसी कलाकार डास्टोवस्की की भाँति प्रेम के चिरंतन सत्य की खोज में निकला था। इनके दरबार में समय की प्रसिद्ध बारवनितायें तथा गायिकायें आया करतीं थीं, भारतेन्दु गुण के पारखी थे, वह सौंदर्योपासक थे, उनके गुणों से ग्राह्य प्रेरणा से साहित्य सृजन भी करते थे। इनके लिये विलासिता का आक्षेप जीवन के व्यावहारिक दृष्टि से बिलकुल उपयुक्त है, और लोकनिन्दा की वस्तु हो सकती है, परन्तु पीड़ा के भार से बोझिल उनके हृदय को यदि झांककर देखा जाय, तो इतना अवश्य है कि उनके जीवन में आये हुए प्रेम प्रसंगों ने उन्हें एक प्रबल साहित्यिक प्रेरणा दी है।

इनकी पत्नी अस्वस्थ रहती थीं, सम्भवतः उनके रोग का कारण मानसिक दुश्चिन्ता ही रही होगी, भारतेन्दु जी के परम हितैषी डा० ईश्वरचन्द्र चौधरी जोकि

इनके परिवार के चिकित्सक थे, उन्होंने भारतेन्दु जी को अपनी पत्नी के प्रति उदासीन रहने का कारण जानने के लिये पत्र लिखा, भारतेन्दु ने बंगला में (परन्तु देव नागरी लिपि में) पत्रलिखकर अपनी स्थिति स्पष्ट कर दी। उनके जीवन में आने वाले दो प्रेम पात्र मुख्य हैं, प्रथम तो माधवी और द्वितीय मल्लिका।

उस समय भारतेन्दु जी की अवस्था तेइस चौबीस के लगभग थी, और घर के शुभचिन्तकों के कारण वह बहिष्कृत तथा त्याज्य थे। ऐसी अवस्था में प्रणय ही मानसिक अशान्ति की परितुष्टि का आधार हो सकता है। भारतेन्दु जी ने माधवी के लिये सुरिडया मुहल्ले में एक मकान क्रय कर दिया था, और उसमें एक ठाकुर जी भी स्थापित किये गये थे। प्रायः वह अपनी रात्रि वहीं व्यतीत करते थे। चित्त विनोदार्थ क्रय की गई वस्तुओं का वहाँ अच्छा संग्रह था। भारतेन्दु जी के देहान्त के बाद इनके अनुज बा० गोकुलचन्द जी सारा सामान अपने घर ले आये, और माधवी के लिये दस रुपये मासिक नियत कर दिये गये। पर यह उनकी मृत्यु के बाद बन्द कर दिया गया जिससे वह मकान बेंचकर अन्यत्र कहीं चली गई। यह ज्ञात न हो सका कि कहाँ गई।

मल्लिका नाम की एक बंगदेशीय कुलीन विधवा स्त्री खदेरूमल की गली में आकर बस गई थी, जोकि वर्तमान समय टकसाली गली कहलाती है। चौखम्भा स्थित दीवानखाने वाले मकान के पास पश्चिम ओर सटा हुआ जो इसी परिवार का दूसरा मकान है, उसके ठीक पीछे यह गली स्थित है। यह इतनी सकरी गली है कि आमने सामने के मकान बिलकुल सटे हुए हैं, एकाकी तथा उपेक्षित जीवन व्यतीत करने वाले भारतेन्दु की दृष्टि इस पर पड़ गई, और आकर्षण बढ़ने लगा, जो कि प्रेम के रूप में परिणत हो गया। मल्लिका साहित्यिक अभिरुचि की महिला थी, फिर महान कलाकार भारतेन्दु के सम्पर्क में आकर और भी निखर उठी। चन्द्रिका उपनाम से काव्य रचना करती थी। हिन्दी सीखकर बंगला के तीन उपन्यासों (राधारानी, * सौन्दर्यमयी, तथा चन्द्र-प्रभा), का अनुवाद किया। तथा प्रेम तरंग नाम से ‡ चालीस पदों का काव्य संग्रह भी छपवाया।

---

* राधारानी की लिखी गई भूमिका में मल्लिका के निम्न उद्‌गार हैं :—

'हमारे आर्य सभ्य शिष्ट समाज की रीति के अनुसार मेरे परिचय को सर्वसाधारण में योग्यता नहीं, और न इस क्षुद्र ग्रंथ का अनुवाद कोई ऐसा स्तुत्य कृत्य है, जिसके धन्यवाद संचय करने को मुझे प्रकट होना आवश्यक है। केवल इतना ही कहना होगा—"शुभांगना यत्र गिरो गिरंत आवेदितं मम् अनियित्र गेहम्' जिस पूज्य प्राण प्रिय देव तुल्य स्वामी की आज्ञा से इसका अनुवाद मैंने किया है, उन्हीं के कोमल कर कमलों में यह समर्पित भी है। और उन्हीं की प्रसन्नता मात्र इसका फल है।

‡ राखो हे प्रानेश ए प्रेम करिय जतन, तोमाय करिछि समर्पन।
जतदिन रवे प्रान चरने दियो स्थान हरिश्चन्द्र प्रान-धन एही अकिंचन।
चंद्रिका हृदय-धन नाहिक प्रेमाविहिन, तवक्नरते आपोन करेछि जीवन मन॥

भारतेन्दु जी को स्वयं अर्थ संकोच रहता था। इसलिये इसके काल यापन के लिये इन्होंने अपनी प्रकाशित पुस्तकों का कुछ संग्रह उसे दे दिया था, जिसकी बिक्री से उसका कार्य चलता था। चौक के सिख संगत के सामने के एक मकान में इसका संग्रहालय था, इस कार्यालय का नाम मल्लिका एण्ड कं० रक्खा गया था। भारतेन्दु जी की मृत्यु के बाद बहुत दिनों तक यह कार्यालय रहा। बा० गोकुलचन्द्र जी भी, अपने जीवन भर इसकी सहायता करते रहे।

जिस प्रकार चन्द्र की ज्योत्सना से आकर्षित अगणित नक्षत्र देदिप्यमान राकेश को घेरे रहते हैं, इसी प्रकार महान् साहित्यकार भारतेन्दु के सम्पर्क में साहित्याकाश के अगणित प्रतिभाशील नक्षत्र आये। भारतेन्दु जी का साहित्यिक परिवार तथा मित्रों की संख्या बहुत बड़ी थी। आपका सब पर समान व्यवहार था, राग द्वेष से परे भारतेन्दु को अपने संपर्क में आये हुये की सहानुभूति अर्जन करना कोई दुर्लभ बात न थी। सभी से वह समान रीति से मिलते, चाहे वह मित्र भाव से अथवा द्वेष भाव ही से क्यों न आया हो। उनका मित्र-मण्डल इन्हें अजात-शत्रु कहा करता था।

वस्तुतः भारतेन्दु ही १६ वीं शताब्दी की कला और कलाकारों के आकर्षक बिन्दु थे। सारा युग उनकी मौलिक प्रतिभा से प्रभावित था। स्वयं भी यह साहित्यकों का उत्साह वर्धन करते और गुणी कलाकारों का सम्मान करते थे। गुण ग्राहिता ही के कारण युग के साहित्यकों पर इनकी छाप थी। सभी के लिये इनका दरबार खुला हुआ था। मुक्त हस्त उदारता और हृदय से उमड़ते हुये स्नेह के द्वारा सभी इनके चेरे बने रहते थे। यह अपनी उदारता के नवीन आविष्कारों से दूसरों को उपकृत किया करते थे।

साहित्यिक-कृतियाँ :

भारतेन्दु की बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न साहित्यकार थे। अल्प-आयु में ही उन्होंने अपनी लेखनी से साहित्य का अक्षय भण्डार भरा। नाटक, काव्य, इतिहास, धर्म-ग्रन्थ, तथा अन्य स्फुट गद्य लिखकर साहित्य-भण्डार को अक्षुण्ण बनाया। भारतेन्दु जी आधुनिक हिन्दी गद्य साहित्य के जनक थे। इस हिंदी गद्य निर्माता ने अपनी अभूतपूर्व देन से संपूर्ण हिन्दी साहित्य के इतिहास को बदल दिया है। अठारह वर्ष की ही अल्प-आयु में इस प्रतिभाशील कलाकार ने लेखनी उठाई थी। और अपनी लेखन-प्रभा से साहित्याकाश को आच्छादित कर लिया था। हिन्दी-नाट्य साहित्य का एक प्रकार अभाव देखकर ही भारतेन्दु जी ने इस दिशा की ओर अधिक ध्यान दिया था, और प्रायः इनकी सर्वोत्कृष्ट रचनायें नाटक ही माने जाते हैं। हिन्दी में उस समय तक देव कृते देव माया प्रपन्चै निवाज का शकुन्तला नाटक, हृदयराम का हनुमन् नाटक, बृजवासीदास का प्रबोध चन्द्रोदय नाटक, आदि लिखे जा चुके थे। यथार्थतः इन्हें विकसित नाटकों की श्रेणी में रक्खा जा सकता था। केवल प्रभावती प्रद्युम्न विजय

और आनन्द रघुनन्दन को नाटकों के शास्त्रीय आधार पर नाट्य कोटि में रक्खा जा सकता था। यद्यपि भारतेन्दु जी के पिता का नहुष नाटक नाट्य शास्त्रानुकूल होते हुये भी बिलकुल अधूरा प्राप्त है। जोकि व्रजभाषा मिश्रित है। राजा लक्ष्मणसिंह कृत शकुन्तला सुन्दर अनूदित नाटक है। नाट्य शास्त्रीय दृष्टि से हिन्दी नाट्य साहित्य का युग भारतेन्दु के ही काल से प्रारम्भ होता है। भारतेन्दु जी ने मौलिक तथा अनूदित लगभग डेढ़ दर्जन अभिनय उपयोगी नाटक लिखे जिनका उल्लेख निम्न प्रकार से है :—

सम्वत् १६२५ वि० के आरम्भ में भारतेन्दु जी ने सर्व प्रथम मौलिक नाटक प्रवास की रचना की, जोकि अप्राप्य है। तदुपरांत इसी सवत् में श्री हर्षकृत रत्नावली नाटिका का अनुवाद किया, इस नाटिका की प्रस्तावना तथा विष्कम्भक ही का अनुवाद मात्र मिलता है। इसके बाद का अंश प्राप्त नहीं है। परन्तु भूमिका * से तो विदित होता है कि अनुवाद पूर्ण है।

इसी वर्ष भारतेन्दु जी ने विद्या सुन्दर नाटक की रचना की। इसका मूल संस्कृत का विद्या सुन्दर तथा चौर पञ्चाशिका है। सम्भवतः इसके रचयिता सुन्दर कवि हैं। राजकुमारी विद्या इनकी नायिका हैं, इसी के आधार पर बँगला भाषा में रामप्रसाद सेन तथा चन्द्रराय गुणाकर ने दो काव्य तथा महाराज जोगेन्द्रनाथ ठाकुर ने एक नाटक निर्मित किया था। गुणाकर के काव्य के आधार पर हिन्दी में भारतेन्दु जी ने इस नाटक की रचना की थी। र०-सं० १६२५ वि०।

सं० १६२६ वि० में कृष्ण मिश्र कृत प्रबोध-चन्द्रोदय नाटक के तीसरे अङ्क का 'पाखण्ड विडम्बना' के नाम से अनुवाद हुआ। यह छोटी सी गद्य पद्यमय रचना है। इसमें इन्द्रिय जनित सुख के लोभ से किस प्रकार लोग सात्विक श्रद्धा से विमुख हो जाते हैं, इसका निरूपण किया गया है।

सं० १६३० वि० में "वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति" नामक प्रहसन रचा गया। इसमें चार अङ्क हैं, और शुद्ध कवि कल्पना प्रसूत है। पहिले अङ्क में मांस-भक्षण तथा विधवा-विवाह का समर्थन कराया गया है। दूसरे अङ्क में वेदान्ती, शैव और वैष्णव आते हैं, और पाखण्डियों के तर्क से चुकता कर चले जाते हैं। तीसरे में मांस-भक्षण और मदिरा पीने वालों द्वारा पुनः वैदिकी हिंसा का धर्मानुमोदित होना पुष्ट कराया गया है। इसके लिये शास्त्रों के बहुत से उद्धरण भी दिये गये हैं। चौथे अङ्क में यमराज द्वारा इन हिंसकों को दण्ड दिलाया गया है।

* हिन्दी में राजा लक्ष्मणसिंह द्वारा अनूदित शकुन्तला के अतिरिक्त कोई नाटक नहीं जिनको पढ़कर कुछ आनन्द और इस भाषा का बल प्रगट हो, इस वास्ते मेरी इच्छा है कि रोचक-नाटकों का तर्जुमा हो जाय। इसी उद्देश्य को लेकर इस नाटिका का तर्जुमा किया, जो कि पढ़ने में अच्छी है, यह नाटिका संस्कृत के प्रसिद्ध कवि श्री हर्ष कृत है' (भारतेन्दु जी-भूमिका रत्नावलीनाटिका)।

इसी वर्ष के अन्त में कवि कांचन कृत 'धनंजय विजय' व्यायोग का अनुवाद पूरा हुआ। पाण्डवों के राजा विराट की सभा में अज्ञात-वास करने के अन्तिम दिन कौरवों ने विराट का गो धन हरण कर लिया, और अकेले अर्जुन सबको परास्त कर गायों को लौटा लाये। अनुवाद बहुत सफल हुआ। पद्य में दोहे अधिक हैं। सन् १८३७ ई० यह पहिले पहल हरिश्चन्द्र मैगजीन में प्रकाशित हुआ था। रचनाकाल सम्वत् १९३० वि० है।

सम्वत् १९३२ वि० में भारतेन्दु जी ने "प्रेम योगिनी" नामक नाटिका लिखना आरम्भ किया था, पर इसके केवल चार गर्भांक ही लिखे गये और यह ग्रंथ अपूर्ण रह गया। इन चार दृश्यों में काशी की वास्तविक दशा ही का वर्णन किया गया है। भारतेन्दु जी ने कुछ 'आप बीती' का भी इसमें वर्णन किया है, और यदि यह ग्रंथ पूर्ण हो जाता तो कवि के मानसिक कष्ट तथा सुख पर विशेष प्रकाश पड़ता। यह चार अङ्क ही इनकी निरीक्षण तथा व्यक्तीकरण शक्ति का उत्कृष्ट उदाहरण हैं। इसके प्रथम दो गर्भांक 'काशी के छाया चित्र या दो भले बुरे फोटोग्राफ' के नाम से प्रकाशित हुये थे।

'सत्य हरिश्चन्द्र' भारतेन्दु जी की सर्वोत्कृष्ट रचना कही जाती है। छेमीश्वर का 'चण्ड कौशिक' तथा रामचन्द्र का 'सत्य हरिश्चन्द्रम्' और इस सत्य हरिश्चन्द्र तीनों का ही मूल आधार एक ही पौराणिक कथा है। पर सभी रचनायें एक दूसरे से स्वतन्त्र हैं। चण्ड कौशिक से अवश्य कुछ श्लोक उद्धृत हैं, पर और सब कुछ भारतेन्दु जी की निज की कल्पना है। नाटक सन् १८७५ ई० के अन्त में निर्मित होकर उसके दूसरे वर्ष क्रमशः काशी पत्रिका में प्रकाशित हुआ।

सन् १८७६ ई० में कविराज शेखर-कृत 'कर्पूर मंजरी' सट्टक का अनुवाद हुआ। यह शुद्ध प्राकृत में निर्मित हुआ था और रूपक के सट्टक भेद का यही एक उदाहरण प्राप्त है। सट्टक शृंगार रस से परिपूर्ण है। तथा विदूषक और विचक्षण के विनोदपूर्ण बातों से उसमें हास्य का भी पुट मिला हुआ है। अनुवाद बहुत ही सुन्दर है तथा बहुत सुगम भाषा रक्खी गई है। अनुवाद को पढ़ने से मूल का आनन्द आता है, और यह स्वतः एक मौलिक ग्रन्थ सा ज्ञात होता है। मूल ग्रन्थ से इसमें पद्यों का आधिक्य है, और बहुतेरे स्वतंत्र हैं। पद्माकर आदि के भी पद इसमें उद्धृत हैं।

भारतेन्दु जी ने मल्हार राव की जीवितावस्था में उनके अत्याचार तथा उनकी दुर्दशा को आदर्श बनाकर उपदेशात्मक रूपक रचा। 'विषस्य विषमौषधम्' मौलिक भाषा है। इसका दृष्टिकोण देशी राज्यों की कटु आलोचना ही रहा है। र० का० सं० १९३३ वि०।

सम्वत् १९३३ वि० में श्री चन्द्रावली नाटिका की रचना हुई। यह नाटिका अनन्य प्रेम रस से प्लावित है, और भारतेन्दु जी की उत्कृष्ट रचनाओं में से है। एक शुद्ध

विष्कंभक देकर श्री शुकदेव जी तथा नारद जी से परम भक्तों के वार्तालाप द्वारा ब्रज-भूमि के अनन्य प्रेम की सूचना दिलाकर यह नाटिका आरम्भ की गई है। यह दोनों पात्र केवल 'कथांशानांम् निदर्शिकः संक्षेपार्थः' लाये गये हैं, और इनसे नाटिका की मुख्य कथा वस्तु से कोई सम्बन्ध नहीं है। इस नाटिका का संस्कृत अनुवाद सं० १९३३ वि० की हरिश्चन्द्र चन्द्रिका तथा मोहन चन्द्रिका में क्रमशः छपा है। यह अनुवाद पंडित गोपाल शास्त्री ने किया था जो बहुत सुन्दर है। भरतपुर के राज्य-च्युत महाराज के कुमार राव कृष्णदेवसिंह ने इसका बृज भाषा में रूपान्तर किया है।

'भारत-दुर्दशा' देश की राजनैतिक स्थित का दैन्य पूर्ण चित्रण सा प्रतीत होता है। यह भारतेन्दु जी की कल्पना प्रसूत रूपक है। सम्वत् १९३३ विक्रमी में प्रादुर्भूत हुआ था। प्राचीन गौरव और वर्त्तमान के दैन्य तथा दुरावस्था पर कलाकार की लेखनी ने अश्रुपात किया है। इसमें भारतेन्दु जी का देश प्रेम छलकता है, और नाटक हृदय की विद्रोहात्मक धधकती हुई दाहक ज्वाला का विस्फोटक सा प्रतीत होता है। जिसमें देश प्रेम उत्साह की लहरें लेता दिखाई देता है। राष्ट्र-सेवी कलाकार अपनी अलख से समूचे देश को जगाना चाहता है।

नीलदेवी सन् १८८१ ई० के अन्त में लिखी गई है। यह एक ऐतिहासिक नाटक है, जिसमें क्षत्रिय राजा सूर्यदेव को धोखे से कैद कर मार डाला गया, वीर आर्य ललना नील देवी अपने पति के बध का बदला मुगल सरदार अब्दुलशरीफ को मार कर लेती है फिर स्वयम् सती हो जाती है। इस नाटक में वीर तथा करुण रस के साथ हास्य का भी अच्छा समावेश है।

अन्धेर नगरी प्रहसन को सं० १९३८ वि० में रचना हुई थी। 'नेशनल थियेटर' में अभिनीत किये जाने के लिये इसकी एक ही दिन में रचना हुई थी। नाटक का व्यंगात्मक आधार बिहार प्रान्त के किन्हीं दमन और अत्याचार करने वाले सामन्त पर घटित है।

संस्कृत के सुप्रसिद्ध नाट्यकार विशाख कृत मुद्रा राक्षस का अनुवाद क्रमशः सं० १९३१ वि० के फाल्गुन मास की बाला बोधिनी की संख्या से छपाना आरम्भ हुआ, और प्रायः तीन वर्ष तक निकलता रहा। बाद को यह पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ। इस नाटक की कथावस्तु का आधार मौर्य साम्राज्य के संस्थापन के इतिहास से लिया गया है। इसकी भूमिका लिखने में भी अनुवादक महोदय ने बहुत कुछ अनुसन्धान किया है, तथा देशीय और योरोपीय भाषाओं के ग्रन्थों से सहायता ली है। तात्पर्य यह है कि यह अनुवाद करके भारतेन्दु जी ने इस ग्रंथ की प्रसिद्ध द्विगुणित से भी अधिक कर दी है। और यह चिरस्थायी ग्रन्थ अब अमर हो गया है। इसका एक अनुवाद भारतेन्दु जी के समय ही में श्रद्धेय पन्डित मदनमोहन

मालवीय के पितृव्य पं० गदाधर मालवीय ने भी किया था, पर इस अनुवाद को देखकर उन्होंने अपना अनुवाद नहीं प्रकाशित किया।

अँग्रेजी के सुप्रसिद्ध नाटककार शेक्सपीयर के सुखान्त नाटक 'मर्चेन्ट आफ वेनिस' का भारतेन्दु जी ने 'दुर्लभ बन्धु' अर्थात् 'वंशपुर का महाजन' के नाम से अनुवाद किया था। सं० १९३७ विक्रमी ज्येष्ठ शुक्ल की हरिश्चन्द्र चन्द्रिका और 'मोहन चन्द्रिका' में इसका प्रथम दृश्य छपा था, इसमें केवल इतना लिखा है कि··· निज बन्धु बा० बालेश्वर प्रसाद बी० ए० की सहायता से और बंगला पुस्तक 'सुर-लता' की छाया से हरिश्चन्द्र ने लिखा···।

'सती-प्रताप' गीत रूपक सावित्री-सत्यवान के पौराणिक आख्यान को लेकर लिखा गया है। यह भी अपूर्ण रह गया था, इसे स्व० बा० राधाकृष्णदास जी ने बाद को पूरा किया था। इसमें सात दृश्य हैं, जिनमें चार भारतेन्दु जी के लिखे हैं, अन्तिम तीन बा० राधाकृष्णदास जी के हैं। यह उपाख्यान स्त्रियोपयोगी है। और इसमें सावित्री का चरित्र चित्रित है।

भारत जननी बंगला के भारत-माता के आधार पर लिखी गई है। पहले पहल १८७७ ई० के हरिश्चन्द्र चन्द्रिका में प्रकाशित हुई थी। सन् १८७८ ई० के कवि-वचन-सुधा में इसे विज्ञापित किया गया था जिससे स्पष्ट है कि इसके अनुवादक इनके कोई मित्र थे, और इसे इन्होंने शोध कर प्रकाशित किया है। नाटक में भार-तेन्दु जी ने इसे स्वरचित लिखा है। परन्तु विशिष्ट-प्रमाणों से यह भारतेन्दु जी का ही स्वरचित मालूम होता है। उक्त अनुवादक का नाम ज्ञात नहीं है।

परिशिष्ट रूप में नाट्य शास्त्र पर लिखा गया एक निबन्ध जिसमें नाटक कला का विकाश तथा भारतीय और योरोपीय नाटकों के इतिहास की संक्षिप्त विवेचना है। उक्त निबन्ध की रचना सं० १९४० वि० में हुई थी।

नाटकों के अतिरिक्त भारतेन्दु जी हिन्दी साहित्य की विभिन्न दशाओं की ओर भी अग्रसर हुये। इनकी अन्य रचनाओं को निम्न तालिका में रक्खा जा सकता है।

काव्य

(१ भक्त सर्वस्व-(२) प्रेममालिका, (३) कार्तिक स्नान, (४) वैशाख महात्म, (५) प्रेम सरोवर, (६) प्रेमाश्रु वर्षण, (७) जैन कुतूहल, (८ प्रेममाधुरी, (९) प्रेम तरंग, (१०) उतरार्द्ध भक्त माल, (११) प्रेमप्रलाप, १२) गीत गोविन्दानंद (१३) सत्सई शृंगार, (१४) होली, (१५) मधु मुकुल, (१६) राग संग्रह (१७) वर्षा विनोद, (१८) विनय प्रेम पचासा, (१९) फूलों का गुच्छा, (२०) प्रेम फुलवारी, (२१) कृष्ण चरित्र, (२२) श्रीराजकुमारी शु स्वागत-पत्र, (२३) देवी छद्म लीला, (२४) प्रातः स्मरणीय मंगल पाठ, (२५) दैन्य प्रलाप, (२६) उरहना, (२७) तन्मय लीला, (२८)

रानी छद्म लीला, (२९) दान लीला, (३०) बसन्त होली, (३१) मुंह दिखावनी, (३२) प्रबोधिनी, (३३) प्रात समीरण, (३४) बकरी विलाप, (३५) स्वरूप चिन्तन, (३६) श्री राजकुमार शुभागमन वर्णन (३७) भारत भिक्षा, (३८) सर्वोत्तम स्त्रोत्, (३९) निवेदन पंचक, (४०) मानसोपायन, (४१) प्रातः स्मरण स्त्रोत, (४२) हिन्दी की उन्नति पर व्याख्यान, (४३) अपवर्ग दाष्टक, (४४) मनो मुकुल माला, (४५) वेणु गीति, (४६) श्री नाथ स्तुति, (४७) अपवर्ग पंचक, (४८) पुरुषोत्तम पंचक, (४९) भारत वीरत्व, (५०) श्री सीतावल्लभ स्तोत्र, (५१) श्री राम लीला, (५२) भीष्म स्तव राज्य, (५३) मान-लीला, (५४) फूल बुझौवल, (५५) बन्दर-सभा, (५६) विजय-बल्लरी, (५७) विजयनी विजय पताका, (५८) नये जमाने की मुकरी, (५९) जातीय संगीत, (६०) रिपनाष्टक, तथा अन्य कुछ स्फुट-कवितायें भारतेन्दु ग्रन्थावली द्वितीय भाग में संकलित है।

इतिहास

(१) अग्रवालों की उत्पत्ति, (२) पुरावृत्त संग्रह, (३) चरितावली, (४) अष्टादश पुराणों की उपक्रमाणिका, (५) महाराष्ट्र देश का इतिहास, (६) दिल्ली दरबार दर्पण, (७) उदय पुरोदय, (८) खत्रियों की उत्पत्ति, (९) बूंदी का राजवंश, (१०) काश्मीर कुसुम, (११) बादशाह दर्पण, (१२) काल-चक्र, (१३) रामायण का समय, इत्यादि एतिहासिक विषयों पर खोज पूर्ण निबन्ध आदि हैं।

धर्म-ग्रंथ

(१) कार्तिक कर्म विधि, (२) कार्तिक नैमित्तिक कृत्य (३ मार्ग शीर्ष महिमा, (४) माघ स्नान विधि, (५) पुरुषोत्तम मास विधान, (६) भक्तसूत्र वैजन्ती, (७) वैष्णव सर्वस्व, (८) तदीय सर्वस्व, (९) श्री युगुल सर्वस्व, (१०) उत्सवावली (११) वैष्णवता और भारतवर्ष, (१२) हिन्दी कुरानशरीफ, (१३ ईशू खृष्ट और ईश कृष्ण, (१४) वल्लभीय सर्वस्व, (१५) श्रुति रहस्य, तथा (१६) दूषण मालिका आदि धर्म रचनाएँ हैं।

अन्य स्फुट रचनाएँ

(१) मदालसोपाख्यान, (२) राज्यसिंह, (३) एक कहानी कुछ आप बीती, कुछ जग बीती, (४) हमीरहट, (५) सुलोचना, (६) शीलवती, तथा (७) सावित्री, आदि आख्यान रूप में प्रस्तुत हुये हैं।

निबन्ध के रूप में आपके पाँचवाँ पैगम्बर, "स्वर्ग में विचार-सभा", खुशी आदि उत्कृष्ट रचनायें हैं। बलिया का व्याख्यान आपकी मौलिक प्रतिभा का द्योतक है। इसके अतिरिक्त भारतेन्दु जी के बहुत से लेख, निबन्ध, यात्रा वर्णन, आदि समसामयिक पत्रिकाओं में समय समय पर प्रकाशित होते रहे हैं, जिनमें से कुछ अप्राप्य भी हैं।

तृतीय अध्याय

भारतेन्दु के पूर्ववर्ती हिन्दी नाटक और रंगमंच

भारतेन्दु के पूर्ववर्ती हिन्दी नाटक

हिन्दी नाट्य साहित्य को वास्तविक प्रेरणा संस्कृत नाट्य साहित्य से प्राप्त हुई है। अनूदित तथा मौलिक नाटकों में प्रायः संस्कृत नाट्य प्रणाली का प्रयोग किया गया है। वस्तुतः यह विचार कर लेना आवश्यक है कि हिन्दी में नाट्योद्भव का सामान्य स्वरूप क्या रहा होगा। हिन्दी नाटक साहित्य का उदय नाटकीय काव्य (Dramatic Poetry) से हुआ। प्रारम्भिक रचनाओं में से हनुमन्नाटक तथा समयसार आदि इसी कोटि की रचनायें हैं। रचना क्रम के अनुसार प्रबोध* चन्द्रोदय हिन्दी साहित्य का सर्वप्रथम[१] नाटक है। संस्कृत के प्रबोध चंद्रोदय से स्व० महाराज जसवन्तसिंह जी‡ जोधपुर नरेश द्वारा अनूदित किया गया था। उक्त अनूदित नाटक की भाषा गद्य और पद्य मिश्रित ब्रज भाषा है। मूल नाटक का अक्षरसः अनुवाद उपस्थित किया गया है, और ऐसा प्रतीत होता है कि नाटक सांकेतिक अन्योक्ति शैली की रचना है।

सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में आनन्द रघुनन्दन की रचना की गई इसके रचयिता रीवाँ नरेश महाराज विश्वनाथ सिंह जू (सन् १६६१-१७४० ई० तक) थे। यह हिन्दी साहित्य का सर्वप्रथम मौलिक नाटक माना जाता है। प्रारम्भिक नाटक की भाँति इसकी भी भाषा गद्य और पद्य मिश्रित ब्रज है। गीत रघुनन्दन भी इन्हीं प्रतिभाशील नाट्यकार की रचना है। उपरोक्त नाट्य प्रमाणों से स्पष्ट परिलक्षित होता है कि आदि से ही हिन्दी नाट्य परम्परा दो विशिष्ट वर्गों में विभक्त चली आ रही है। अनूदित तथा मौलिक नाटकों का प्रचलन हिन्दी साहित्य के आदि में अपनाया गया, और अन्त तक विद्यमान रहा है। क्रमशः आगे चलकर राजा लक्ष्मणसिंह (१८२६-१८६६ ई०) तथा भारतेन्दु जी के पिता बा० गोकुलचन्द्र जी ने इस परम्परा का निर्वाह अपनी रचनाओं शकुन्तला (र० का० १८६१) तथा नहुष (र० का० १८४१ ई०) में किया है।

---

* प्रबोध चन्द्रोदय—र० का० लगभग १६४२ ई०—एक हस्तलिखित प्रति जोधपुर के पुस्तक संग्रहालय में सुरक्षित है।

‡ स्व० महाराज जसवतसिंह (१६२६-७८ ई०)

(१) पृथ्वीराज रासो, वीसलदेव रासो, आल्हा खण्ड तथा ढोला, मारुरा दूहा उक्त कथोप कथन पद्धति का काव्य वर्तमान है।

अतः आरम्भ में संस्कृत नाट्य प्रणाली की प्रतिच्छाया लिये हुये नाटकों की रचना हुई, प्रायः उन नाटकों का मूलाधार धार्मिक स्थानों की ही कथा वस्तु रही हैं। हिन्दी साहित्य का आदि युग वीर गाथा काल है। वीर नर पुंगवों की गाथायें पद्यमय वर्ण-चित्रों में उपस्थित की गई हैं। इन्हीं वीर आख्यायिकाओं के काव्यमय वर्णनों में पद्यात्मक कथोपकथन का भी उल्लेख मिलता है, कथोपकथन नाट्य साहित्य का प्रमुख अंग है, वस्तुतः हिन्दी नाट्य साहित्य के लिये यह पद्यात्मक कथोपकथन प्रोत्साहन का कारण रहा है। इसीलिये यह कहना अनुचित न होगा कि हिन्दी नाट्य साहित्य का उदय काव्य में वर्णित वार्तालाप और संवादों का ही पुंजी-भूत साहित्य है।

हिन्दी साहित्य का आदि युग वीर गाथा काल व्यतीत हो चुका था, और पूर्व मध्य भक्ति काल चल रहा था। इस काल के कवियों ने काव्यान्तर्गत कथोप कथन की इस नवीन शैली को स्थान दिया, यही काव्यमय कथोप कथन नाट्य साहित्य की रूप रेखा है।

हिन्दी नाट्य साहित्य की प्रारम्भिक रचनायें १७ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में सर्वप्रथम सं० १६७० के लगभग काव्यात्मक कथोप-कथन के रूप में हुई। नाट्य साहित्य का क्रमिक विकास निम्न प्रकार से निर्धारित किया गया है। आगरे के जैन कवि बनारसीदास ने सं० १६९६ में कुंदकुंदाचार्य के ग्रंथ का भाषान्तर "समय सार" नाटक के रूप में दिया। इसी समय प्राणचन्द चौहान विरचित रामायण महानाटक सं० १६६७ में रचा गया। नाटक के रूप में सम्वाद युक्त यह सुललित काव्य था। १७ वीं विक्रमी शताब्दी के मध्य में "देव माया प्रपंच" नामक छः अंकों में पूर्ण नाटक की रचना की गई। महाकविराम ने संस्कृत के हनुमन्नाटक का अनुवाद सं० १६८० में किया, यह नाटक पद्यमय है, मूल संस्कृत में भी पद्य का अंश विशेष रूप से उपस्थित है।

जोधपुर नरेश महाराज यशवन्तसिंह कृत "प्रबोध चन्द्रोदय" कृष्ण मिश्र कृत इसी नाम के भावात्मक नाटक का सुन्दर अनुवाद है। पद्यात्मक नाट्य के अन्तर्गत आने वाली भाषा में नैसर्गिक अपनापन है। "यह कहिकै चले तितनै सूत्रधार आइ आसी र्वाद दै कै बोल्यो" इसके अनन्तर सं० १७२६ में अनाथदास ने उसका द्वितीय अनुवाद दोहों के रूप में उपस्थित किया है, महाराज छत्रसाल के आश्रित महाकवि नेवाज ने शकुन्तला आख्यान ब्रजभाषा काव्य में सं० १७३७ में लिखा, जिसमें दोहे, चौपाई, सवइयें, आदि अनेक ललित छन्दों का समावेश है। अत्यन्त गठित तथा परिमार्जित भाषा का प्रयोग किया गया है, यद्यपि यह रचना नाटक के रूप में है, फिर भी सुललित काव्य है।

रघुराम नागर ने सभासार की रचना सं० १७५७ वि० में की थी, इस नाटक की प्राप्त प्रतियों से ज्ञात होता है कि इस रचना का मूल उद्देश्य नीति प्रतिपादन था। कथोप कथन के रूप में चुगल आदि के लक्षण पद्य में कहे गये हैं, अतः यह नाटक माना जाता है। कवि के संस्कृत साहित्य से अधिक प्रभावित होने के कारण भाषान्तरगत संस्कृत तथा खड़ी बोली का पुट अच्छी मात्रा में मिलता है।

कृष्ण जीवन लच्छीराम ने करूणा भरण पद्यमय नाटक श्रीकृष्ण लीला के आधार पर रचना की है। विशेषतः चौपाइयों और दोहों का संकलन नाटक के काव्य-मय श्रोत में लालित्य उपस्थित कर देता है, इस काव्यात्मक नाटक का रचना काल सं० १७७२ वि० है।

भरतपुर नरेश बदनसिंह के सुपुत्र प्रतापसिंह के आश्रित पं० सोमनाथ माथुर जिन्हें शशिनाथ नाम से साहित्य में ख्याति प्राप्त हुई है, सं० १८०६ में मालती माधव का अनुवाद हिन्दी नाट्य साहित्य को दिया। इस युग में रीतिकालीन छाप थी, ब्रजभाषा के सरल और शुद्ध प्रयोग का परिचय आप के नाट्यानुवाद में यथेष्ठ रूप से प्राप्त होता है। हिन्दी गद्य साहित्य के आदि निर्माता श्री लल्लूलाल जी के पूर्वजों में से हरिराम जी रचित जानकी-रामचरित नाटक १६ वीं शताब्दी के मध्य में हिन्दी साहित्य के समक्ष उपस्थित किया गया। इस नाटक में सीता स्वयम्बर तथा रामविवाह वर्णित है, विशेषतः पद्य होते हुए भी खड़ी बोली के गद्य का भी काफी अंश है, पद्यान्तर्गत दोहा तथा चौबोला अधिक है। सीता स्वयम्बर की आख्यायिका को लेकर एक अन्य नाटक का "राम लीला बिहार" के नाम से श्री मधुकर जी द्वारा रचे गये नाटक में गद्यात्मक तथा पद्यात्मक खड़ी बोली का बड़ा ही सुन्दर सामंजस्य है, इसका रचना काल १६ वीं शताब्दी के ही अन्तर्गत रहा है।

महराज विश्वनाथसिंह जी के 'आनन्द रघुनन्दन' नाटक को भारतेन्दु जी ने हिन्दी नाट्य साहित्य के सर्व प्रथम नाटक की मान्यता दी है। यह सात अङ्कों का नाटक है। राम जन्म से लेकर राज्याभिषेक तक की पूरी कथा के आधार पर निर्मित हुआ है। इस कारण कथा वस्तु इतनी तीव्र गति से चली है कि दर्शकों का कुल घटनाओं को समझते हुये अनुगमन करना सम्भव नहीं है, और इसी से गर्भांकों या दृश्यों में बांटा भी नहीं गया है। प्रथम अङ्क में रामजन्म से राम विवाह तक की कथा आ गई है। जिसमें अहिल्योद्धार, ताड़का बध, स्वयम्बर आदि का उल्लेख है। नट आदि की कलाओं, गान, विनोद का भी समावेश है, और प्रायः पच्चीस और तीस बार पात्रगण आये गये है, तथा स्थान, दृश्य आदि बदले गये हैं, दूसरे अङ्क से सरस्वती का मति फेरना, कैकयी का वर माँगन राम बन गमन, ऋषियों से मिलन, भरत मिलाप, तथा अत्रि ऋषि से भेंट आदि दिखाया गया है। सातों अङ्कों में सम्पूर्ण राम चरित्र का प्रदर्शन तथा कथा का आद्योपान्त दिग्दर्शन कराया गया है।

हमारे आदर्श, चरित्रनायक बा० भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के पिता बा० गोकुलचन्द्र उपनाम गिरधरदास जी ने कुल मिलाकर चालीस ग्रन्थों की रचना की, इनका नहुष नाटक सं० १८९८, वि० में रचा गया था, जिसकी प्रस्तावना तथा प्रथम अङ्क कवि वचन सुधा के प्रथम वर्षीय अंक में छपा था। एक दोहे में मंगलाचरण तथा एक कवित्त और एक सवइया में नांदी समाप्त कर प्रस्तावना आरम्भ की गई है। सूत्रधार, परि-पार्श्वक तथा नटी के वार्तालाप में नाटक का परिचय दिया जाता है, और सूत्रधार के कथन को लेकर इन्द्रपात्र का प्रवेश होता है, प्रथम अंक में इन्द्र आता है, और वृत्ता-सुर के वध करने के कारण ब्रह्म हत्या कृत्या रूप में उसका पीछा करती हुई आती है। इन्द्र उसे देख कर भागता है। तब इन्द्र पुत्र जयन्त और कार्तिकय आकर कथोप कथन में वृत्तासुर युद्ध, दधीच की अस्थि से बज्र का बनाना तथा वृत्तासुर वध का सारा वृत्तान्त कहते हैं, इसके अनन्तर मातलि आकर ब्रह्म हत्या के कारण इन्द्र के भागने का समाचार कहता है, और सब उन्हें खोजने लगते हैं।

नाटक में संस्कृत नाटकों के समान नाट्य कला के सभी अंग प्रत्यंगों का प्रयोग है, नाटक पद्यमय है। केवल प्राप्त अंश ही में ६१ दोहे, छप्पय, कवित्त तथा सवैये हैं, गद्यांश अत्यधिक न्यून है। भाषा गद्य पद्य मिश्रित ब्रजभाषा है। कविता तथा नाट्या-वतरणों दोनों में ही प्रवाह अत्यन्त मधुर है, जिनका प्रमाण निम्न अवतरणों में समु-न्चित प्राप्त होता है। "कार्तिकेय···" "जब वृत्तासुर के भय सों सुर सब भागे तब धीरनिधि के निकट जाय के सब यह कहन लगे"

छप्पय

जै रमेस परमेस सेस साईं सुरेस हरि,
जै अनन्त भगवंत संत वंदित दानवअरि।
जै दयाल गोपाल प्रतिपाल गुना कर,
जै अनन्य गति धन्य धर्म धुर पंचजन्य धर॥
वृंदारक वृंद अनन्दकर कृपा कंद भवफंद कर,
हर बंग्र मनोहर रूपधर जै मुकंद दुख दंदहर॥"

(नहुष नाटक)

इस युग के लब्ध प्रतिष्ठ साहित्यकार राजा लक्ष्मणसिंह ने संस्कृत नाटकों का भाषानुवाद किया है, मुख्यतः महाकवि कालिदास के अभिज्ञान शाकुन्तल का बड़ी ही कुशलता से अनुवाद किया है। सर्वप्रथम सन् १८६३ ई० में अभिज्ञान शाकुन्तल का गद्यानुवाद हुआ। कुछ काल के अनन्तर राजा साहब ने इसे पुनः प्रकाशित कराया तथा फ्रेडरिक पिनकाट द्वारा सम्पादित संस्करण इङ्गलैंड से प्रकाशिक हुआ। इस अनुवाद का गद्यांश शुद्ध हिन्दी तथा पद्यांश ब्रजभाषा में है, वे स्वयं ब्रजभाषा-भाषी

थे, अतः यह अनुवाद अत्यंत मधुर तथा सरल शुद्ध भाषा में हुआ है। गद्य के उदाहरणों से विदित होता है कि आप शुद्ध भाषा के पक्षपाती थे। स्पष्टतः राजा साहब की भाषा परिमार्जित हिन्दी की ओर उन्मुख प्रतीत होती है, जिसके धरातल पर आज का गद्य साहित्य चल रहा है।

काशिराज ईश्वरी नारायणसिंह के आश्रित कवि गणेश द्वारा रचित प्रद्युम्न विजय नाटक (साहित्य सागर) सात अंक का नाटक है। प्रस्तावना में मङ्गलाचरण के बाद नांदी होने पर सूत्रधार आता है। काशिराज की प्रशंसा के साथ नाटककार नाटक का परिचय देकर प्रस्तावना समाप्त करता है। प्रथम अंक के विष्कंभक में इन्द्र आकर कृष्ण जी से वज्रनाभ दैत्य से त्राण पाने की प्रार्थना करते हैं। इसी अङ्क में कश्यप जी अपनी दोनों स्त्रियों (दिति, अदिति) के साथ आते हैं, दोनों में सापत्न्य की चुटीली वार्ता होती है, इन्द्र तथा वज्रनाभ दोनों आते हैं तथा कश्यप जी उन्हें राज्य बाँटकर रहने की आज्ञा देते हैं। द्वितीय अङ्क के मिश्र विष्कंभक में कंचुकी तथा गोपी बात कर श्रीकृष्ण जी के प्रद्युम्न को बुलाने तथा इन्द्र की सहायता को भद्र नट के साथ भेजने की सूचना देते हैं। इस अङ्क में भद्र नट अपने घूमे हुये स्थानों का वर्णन करते हुये इन्द्र की दशा का वर्णन करता है, और अन्त में प्रद्युम्न आदि को नट के साथ वज्रनाभपुर जाने की आज्ञा मिलती है। तृतीय प्रवेशक में दो परिचारक हंसनियों तथा रुक्मिणी की विनोद वार्ता होती है, तत्पश्चात् प्रवेशक में कंचुकी आकर नटों के आने की सूचना देता है, और नट दरबार में जाकर नाटक राम चरित्र तथा कौबेर रम्भाभिसार दिखलाते हैं, इन नाटकों की कथावस्तु का संक्षेप में उल्लेख है। अन्तिम अङ्क में प्रभावती तथा हंसी आती हैं, चन्द्रोदय का बड़ा ही लालित्य पूर्ण वर्णन उपस्थित किया जाता है, प्रद्युम्न आते हैं, और प्रभावती से गंधर्व विवाह हो जाता है। इस अङ्क में नाट्यकार की भाषा का परिचय निम्न वाक्यांशों से यथेष्ट मिल जाता है।

"प्रद्युम्न चन्द्रमा को प्रयान करि फेरि प्रभावति से बोल्यो"

नाट्यकार ने अलंकृत भाषा का प्रयोग तथा प्रकृति के उपमानों का आश्रय लेकर नाट्यगत छंद लालित्य तथा भाषा के सौन्दर्य को निखार सा दिया है। इस ग्रंथ का रचना काल "गगन पच्छ ग्रह चन्द्रमा शुक्ल अषाढ़ द्वितीय" के आधार पर सं० १६२१ के अषाढ़ शुक्ल द्वितीया गुरुवार को समाप्त हुआ माना गया है। भारतेन्दु जी ने नाटक निबंध में प्रभावती नाटक का उल्लेख किया है, वह सम्भवतः यही नाटक है, जिसका शीर्षक नायिका के नाम पर रखा गया मालूम होता है।

बरेली कालेज के प्रधान पंडित देवदत्त जी ने सन् १८७१ में भवभूति के उत्तर राम चरित के अनुवाद की पूर्ति की है। यथार्थतः वह कवि नहीं, अपितु सफल अनु-

वादक हैं, मूल श्लोकों का गद्यात्मक अनुवाद बड़ी ही सफलता से किया है। रत्नावली नाटिका का भी अनुवाद आपने किया है।

अतः पूर्व भारतेन्दु काल से भारतेन्दु युग तक नाट्यकारों की प्रवृत्ति संस्कृत नाट्य साहित्य तथा पौराणिक आख्यायिकाओं का भाषान्तर रूप देकर हिन्दी नाट्य साहित्य की परम्परा का आविर्भाव करने की ओर ही रही है। मौलिक नाटकों का अभाव सर्वथा इस काल में खटकता सा रहा है। यद्यपि मौलिक नाटकों की रचना कालान्तर में अवश्य हुई है, जिसका इस युग के साहित्य में नगण्य स्थान है पर मूल प्रवृत्ति अनुवादों की ही ओर रही है। इस समय के मौलिक नाटकों में से अधिकांश पद्यमय हैं। प्राणचंद्र चौहान कृत रामायण महा नाटक, रघुराम नागर कृत सभा-सार, लच्छीराम कृत करुणाभरण आदि मौलिक रचनाओं की कोटि में रखे जा सकते हैं। इस युग के नाटकों का निर्माण काल भक्ति और रीतिकाल का मध्य युग है। सम-सामयिक वातावरण के प्रभाव से ये रचनायें अछूती नहीं रह सकी हैं। पौरा-णिक गाथाओं में शृंगार का समावेश इस काल की मूल प्रवृत्ति है। इन नाटकों का विषय प्रधान रूप से प्रेम और उत्साह रहा है। शृंगार के साथ वीर रस की अभिव्यक्ति कथानकों का प्राण है। प्रेम व्यापार तथा वीर रस के निर्वाह में नाट्यकारों ने अपने कौशल का परिचय दिया है। इन क्रिया-कलापों की मूल प्रेरणा संस्कृत नाट्य साहित्य की ही देन समझनी चाहिये। ऐसा प्रतीत होता है कि हिन्दी नाट्य साहित्यकारों ने संस्कृत नाट्य-शास्त्र का पूर्णरूपेण अनुकरण किया है।

आरम्भिक काल में संस्कृत नाट्य साहित्य से प्रभावित पद्यात्मक हिन्दी नाट्य का आविर्भाव हुआ था। आगे चलकर आलोच्यकाल में हिन्दी नाट्यधारा दो प्रमुख भागों में विभक्त हो गई जिन्हें हम साहित्य नाट्य तथा रंगमंचीय नाट्य के रूप में रख सकते हैं। सर्व-प्रथम साहित्यिक नाट्य साहित्य का उदय तथा विकास हुआ, जिसने हिन्दी साहित्य के अक्षय भण्डार की अभिवृद्धि की है। परन्तु युग का साहित्यकार इसी से सन्तुष्ट न रह सका। उसे अपनी इस नाट्यधारा को भावमय संज्ञा देनी थी, नाट्य साहित्य को साकार स्वरूप देने के लिये हिन्दी नाट्य साहित्य में रंगमंच का अभाव खटकने लगा।

अतः ऐसे ही साहित्यिक नाटक पर, जो अधिकांशतः काव्यत्व से ओत-प्रोत थे, तथा जिनमें रंगमञ्चीय उपयोग संभव प्रतीत होता था, रंगमंचीय प्रयोग किया गया। इस सफल प्रयोग ने हिन्दी नाट्य-धारा को दो भागों में विभाजित कर दिया, जो परम्परा आज तक भी आधुनिक हिंदी नाट्य साहित्य को प्लावित करती हुई चली आ रही है। दोनों धाराओं के साहित्य ने द्रुत वेग से बह कर हमारे नाट्य साहित्य के साहित्यिक तथा रंगमंचीय दोनों ही क्षेत्रों को अतीव प्रौढ़ बना दिया

है। अतएव हिन्दी नाट्य साहित्य का इतिहास यथार्थतः इन्हीं दोनों धाराओं का इतिहास है।

यद्यपि यह प्रश्न युक्ति-संगत होगा कि रंगमंचीय नाटक को साहित्य में क्यों स्थान दिया जाय जबकि उनकी एक पृथक् धारा है, परन्तु स्मरण रहे कि नाटक दृश्य काव्य है, और अभिनेय होना उसका आवश्यक लक्षण है। इस दृष्किोण से आदर्श कहे जाने वाले नाटक तो उसी वर्ग के होंगे जिनमें दोनों ही गुण विद्यमान होंगे। परन्तु उपलब्ध साहित्य में यदि नाटक काव्य की दृष्टि से उत्कृष्ट है, और अभिनय की दृष्टि से असफल है, यदि अभिनय की दृष्टि से सफल है और काव्यत्व के अभाव के कारण उच्च कोटि में नहीं आता, तो ऐसा होते हुये भी रंगमंचीय नाटकों को साहित्य से पृथक् नहीं किया जा सकता, क्योंकि वे भी नाट्य सिद्धान्त के एक मुख्य अंश के प्रतिनिधि हैं, और रंगमंच सम्बन्धी उपकरणों का विकास उनमें प्रर्याप्त मात्रा में मिलता है। ये नाटक भविष्य में लिखे जाने वाले नाटकों के लिये प्रेरणा स्वरूप उपस्थित हुये हैं, और अतीत एवं वर्तमान के विकास सम्बन्ध की आवश्यक शृंखलायें बन गये हैं।

पूर्ववर्ती हिन्दी रंगमंच तथा लोक-नाट्य :—

भारतीय नाट्य परम्परा में रंगमंच का स्थान आदि युग से चला आ रहा है। वैदिक काल की नाट्य परम्परा तथा रंगमंच का उल्लेख पूर्व ही दिया जा चुका है, संस्कृत साहित्य में रंगमंचीय नाट्य का यथेष्ठ उल्लेख है। संस्कृत नाट्य साहित्य की शृंखला छिन्न-भिन्न हो चुकी थी। १५वीं शताब्दी के लगभग बंगाल में चैतन्य महाप्रभु का उदय हुआ। चैतन्य प्रभु के कीर्तन संप्रदाय ने रंगमंचीय प्रेरणा उपस्थित की, श्री जयदेव के गीत गोविन्द के गेय पदों को कीर्तन का उपालम्भ बनाकर आत्म-विभोर हाव-भाव प्रदर्शित कर गाया जाने लगा। कीर्तन सम्प्रदाय का प्रचार अधिकता से बढ़ने लगा। मैथिल कोकिल विद्यापति की कोमल कान्त पदावली ने कृष्ण भक्ति धारा में रस प्रवाह उत्पन्न किया। कीर्तन तथा यात्रा का प्रचार बंग देश में अधिकता से बढ़ा। वैष्णव सम्प्रदाय का कृष्ण भक्ति कीर्तन बंग प्रदेश में ही सीमित न रहकर समस्त उत्तरी भारत में शनैः शनैः प्रसारित होता गया। समय-समय तथा स्थान-स्थान पर इन कीर्तनों के स्वरूप में परिवर्तन होता रहा। कीर्तन के भावपूर्ण अभिनय ने रास का रूप धारण किया। रास में भगवत् चर्चा के साथ-साथ अभिनय की भी प्रमुखता रहती थी। कृष्ण भक्ति शाखा के अनुयायियों ने रास लीला को धार्मिक आलम्ब बनाकर जन समाज में इसका प्रसार करना प्रारम्भ किया।

हिन्दी से सम्बन्ध रखने वाले मनोरंजनों में सम्भवत: सबसे प्राचीन रास लीला है। रास-लीला के आरम्भ में महाप्रभु वल्लभाचार्य और उनके पुत्र की स्तुति होती है।

उससे यही अनुमान लगाया जा सकता है, कि इसका प्रारम्भ महाप्रभु वल्लभाचार्य के पश्चात् ही हुआ होगा। सम्भवतः रास लीला का आरम्भ १५३१ ई० के लगभग होना चाहिये। रास-लीला का सम्बन्ध श्रीकृष्ण की लीलाओं के प्रदर्शन से है। आचार्यों और भक्त कवियों द्वारा भगवान की साकार उपासना का जो उपदेश दिया गया है, उसी का यह नाटकीय अभिव्यंजन है। रास-लीला की ही पद्धति का अनुसरण रामलीला के रूप में राम भक्तों ने किया है। रास और रामलीलायें दोनों ही धार्मिक मनोवृत्ति के प्रतीक हैं। इस प्रकार के अभिनय समस्त देश में सांस्कृतिक एकता स्थापित करने में बड़े सहायक रहे हैं। इनका व्यापक प्रभाव गाँवों तथा नगरों दोनों में ही समान रूप से पड़ा। रामलीला के 'धनु-यज्ञ' का रोचक रूप तो इतना व्यापक होगया कि अब तक उसी प्रकार नवीन उत्साह से उस प्रणाली का प्रतिपादन किया जाता है।

रास-लीलाओं में हास्य के मनोरञ्जन का आधार मसखरा के द्वारा तथा राम-लीला में विविध पात्रों में हास्य का अभिनय रखकर रोचकता बढ़ा देने की प्रणाली का प्रयोग किया जाता था। भारत के विभिन्न प्रान्तों में कृष्णोपासक पाये जाते हैं। रासलीला और रामलीला के अभिनय ने भक्ति साधना को एक प्रचारात्मक संज्ञा दी है। मनोरञ्जन के साथ साथ भक्ति के प्रचार और विकास का एक सुलभ वह साधन था।

अभिनय की उपयोगिता के रोचक क्षेत्र में नवीन प्रयोग किये गये। लीलाओं में लोगों ने नक्ल अथवा स्वांग को नाट्य प्रदर्शन का आधार बनाया। संगीत के साथ-साथ अश्लील भाव-भंगिमा के अभिनयों का रोचक ढंग से प्रयोग किया गया। इसके अभिनेय प्रचलन का उल्लेख सम्राट औरंगजेब के समकालीन मौलाना गनीमत की मसनवी 'नौरंगे इश्क' में मिलता है। इस मसनवी की रचना सन् १६८५ ई० में हुई थी। जिसके कुछ अंश निम्न प्रकार के हैं :

"बशहरे मशवर सीदा तुर्फे शाम आ, शरर परवाना हावर गरदे शम आ।
मुकल्ला पेशये वा तर्जो अन्दाज, मुशाविद सीरतां वा नज्मों-साज।
व इल्म रक्स ओ तकलीद ओस्तादां, मुराद खातिर इशरते न जादां।
हमः खुश वहे जजां नज्मा परदाज, व हरफ इस्तलाहेमा 'भगन बाज'।
वफन्ने ख्विश्तन उस्ताद हरयक, गहे मर्दो गहे जन गहे तिफलक।
गहे सन्ना सियाने यूं परीशां, गहे इस्लामियां ने अहले ई यां।
गहे दर गुरबतो गाहे बशंगी, गहे कश्मीरी वो गाहे फिरंगी।
गहे हिन्दू जनान खतना हम दोश, मुसलमां जाद हारा गारते होश।
गहे दहकां जन व गहे पीर दहकां, गहे वि पुतरिश ना मुसलमां।
कजल बाशाना गहे अमरो खरीदार, गुलामी गहे चू तूती चरब गुफ्तार।

गहे रंगे-ज़ने नौ जाहद बर ओ, बद्स्ते दाया गरियां जादये मो।
गहेदीवाना व गहे परी बूद, कलाम शरा शुनी दन बावरी बूद।
ज़हर कौमी कि ख्वादी जलवासाज़िन्द, बहररंगे कि ख्वाही इश्वा बाजिन्द।"

(अर्थात् आज शहर में विभिन्न किस्म के लोग आये हैं, जो विशेष ढंग से नक्लें करते हैं, और संगीत के साथ आश्चर्य जनक खेल दिखाते हैं, नाच और नक्ल में ये उस्ताद हैं, मीठे स्वर वाले हैं, हमारी भाषा में इन्हें 'भगत बाज़' कहते हैं। कभी मर्द, कभी औरत और कभी बच्चे की नक्ल करते हैं। कभी परेशान बाल-संन्यासी बन जाते हैं, कभी मुसलमान, कभी कश्मीरी का वेश बनाते हैं और कभी फिरंगी (अंग्रेज बन जाते हैं। कभी दहकानी (फूहड़) औरत और मर्द की नक्ल करते हैं, कभी दाढ़ी मुंडा कर ग्रिव की सूरत में नज़र आते हैं। कभी मुगलों की शक्ल बना लेते हैं, कभी गुलाम बन जाते हैं, कभी जच्चा का हुलिया बना लेते हैं, जिसका बच्चा परिचारिका की गोद में रोता होता है। कभी देव बन जाते हैं, कभी परी। गरज हर कौम का जलवा दिखाते हैं, और हर तरह के इश्वा जमाने में काम लेते हैं।)

यद्यपि मौलाना गनीमत ने उपरोक्त उल्लेख में 'भगत बाज़ो' की भाषा के सम्बन्ध में कोई संकेत नहीं किया है, किन्तु ये नक्लें हिन्दी भाषा में होतीं तो वे निश्चित ही एक विशिष्ट परम्परा की द्योतक थीं और यदि मुगल दरबार में फारसी का चलन होने के कारण उनकी भाषा फारसी थी तो केवल यही परिणाम निकल सकता है कि उनका १७वीं शताब्दी के मध्य में रंगमंचीय रूप रेखा का यही स्वरूप रहा होगा। इससे भासित होता है कि भगत बाज अपनी कला के प्रदर्शन के लिये एक स्थान से दूसरे स्थान को जाया करते थे। यह रंगमंचीय स्वरूप वर्तमान चलती फिरती नाटक तथा स्वांग मंडलियों जैसा ही रहा होगा। प्रायः इस प्रकार का अभिनय मुगल सम्राटों के प्रतिश्रय में पल्लवित हुआ। वस्तुतः औरङ्गजेब जैसे कट्टर धर्मान्ध मुगल सम्राट के शासन काल में इस प्रकार के अभिनय को प्रोत्साहन मिलना आश्चर्य की बात अवश्य है।

नाट्य को रंगमंचीय अभिनेय स्वरूप देने वाले अवध के नवाब वाजिदअली शाह के समकालीन सैयद आगाहसन 'अमानत' (सन् १८१६-५८ ई०) माने गये हैं। इनका 'इन्दर सभा'[१] (र. का. १८५३ ई०) सर्वप्रथम प्राचीन रङ्गमञ्चीय नाटक है। यह गीत नाट्य (ओपेरा) 'अमानत' ने अपने आश्रय-दाता के मनोविनोद के लिये रचा था, लखनऊ के कैसर बाग में रंगमंच का निर्माण किया गया। और सर्वप्रथम वहीं अभिनीत हुआ।

---

[१] ए हिस्ट्री आफ उर्दू लिट्रेचर, रामबाबू सक्सेना, पृष्ठ ३५१.

यद्यपि इन्दर-सभा शुद्ध हिन्दी भाषा का नाटक न होकर प्रधानतः उर्दू का गीति नाट्य है, परन्तु उसकी भाषा विशुद्ध फारसी मिश्रित उर्दू नहीं कही जा सकती है। साधारण बोल चाल की हिन्दी उर्दू मिश्रित भाषा है, इसी दृष्टि से इसकी गणना हिन्दी रंगमंचीय नाटकों में की जा सकती है। इन्दर-सभा गीति नाट्य होने के कारण अपना विशेष स्थान रखता है। साहित्यिक नाटकों की प्रणाली का अनुकरण इसमें भी पाया जाता है। साहित्यिक नाटकों की प्रणाली में मंगलाचरण और प्रस्तावना का प्रमुख स्थान है, उसी की पूर्ति के लिये इसमें निर्देशक की आवश्यकता होती है। प्राचीन नाट्य-परम्परा के अनुसार नाटक की कथा-वस्तु, कवि-परिचय आदि की सूचना दर्शक मण्डली को सूत्रधार आदि के परस्पर वार्तालाप से मिलती है, परन्तु इस गीति नाट्य में इन सब अंशों की सूचना या तो निर्देशक के द्वारा मिलती है, अथवा किसी पात्र के मुख से स्वयम् ही भावी कार्यक्रम का पता चलता है। इन्दर-सभा के आरम्भ में जो कविता-पाठ होता है, उससे नाटक की प्रकृति, रंगमंच के शिष्टाचार, और कतिपय लक्षणों पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। निर्देशक के द्वारा नाट्य अभिनय के पूर्व ही इन्द्र के आने की सूचना दी जाती है।

'सभा में दोस्तों, इन्दर की आमद आमद है,
परी-जमालों के अफसर की आमद आमद है।
दो जानू बैठा करीने के साथ महफिल में,
परी के देव के लश्कर की आमद आमद है।
गजब का गाना है, और नाच है कयामत का,
बहारे-फितनये मशहर की आमद आमद है।'

यहां निर्देशक अथवा संदेश वाहक का कार्य व्यापार दर्शक मण्डली को पूर्व ही इन्द्र के आने की सूचना देना है, जोकि कौतूहलजन्य वातावरण पैदा कर देता है। इसी सूचना के पश्चात् इन्द्र आकर अपना स्वयम् परिचय देते हैं।

'राजा हूँ मैं कौम का और इन्दर मेरा नाम।
बिन परियों के दीद के मुझे नहीं आराम।
सुनो रे मेरे देवरे दिल को नहीं करार।
जल्दी मेरे वास्ते सभा करो तैयार।
तख्त बिछाओ जगमगा जल्दी से इस आन।
मुझको शब भर बैठना महफिल के दर्मियान।
मेरा सिंघल दीप में मुल्कों मुल्कों राज।
मेरा जी है चाहता जलसा देखूं आज।
लाओ परियों को अभी, जल्दी जाकर हां,
बारी बारी आनकर मुजरा करें यहां।

सभा में आवश्यक सामान, उसके वाहक, नाटक का समय और कार्य-व्यापार के ढंग की सूचना राजा साहब स्वयम् देते हैं। इस प्रकार रंगमंच की वर्तमान जटिलता से निर्देशक बिलकुल बच जाता है और दर्शकों का कौतूहल शमन हो जाता है तथा सारे कार्य-व्यापार का स्पष्टीकरण नाटकीय रोचकता को बढ़ा देता है। पुनः निर्देशक राजा की आज्ञानुसार परियों के आने की सूचना देता है और उनके सौन्दर्य तथा गुणों का संपूर्ण उल्लेख करता है।

मौलाना 'अमानत' का यह नाटक इस युग के लोक-प्रिय नाटकों में से माना जाता है। इसी के आधार पर मदारीलाल ने एक और इन्दर-सभा लिखी जो नाट्य-कला की दृष्टि से अमानत की इन्दर-सभा से अधिक उत्कृष्ट है। भारतेन्दु जी की बन्दरसभा इसी की प्रेरणा का परिणाम है। इन्दर सभा के एक वर्ष पश्चात् ही 'नाटक छैल बटाऊ मोहना रानी' लिखा गया। इस प्रकार हम देखते हैं कि रंग-मंचीय नाटकों का आरम्भ गीति-नाट्य से हुआ।

हिन्दी रंगमच पर प्रथम बार जानकी मंगल[1] अभिनीत हुआ परन्तु जिस रंगमंच पर हिन्दी के नाटकों का अभिनय आरम्भ हुआ वह सीधा संस्कृत रंगमंच से सम्बन्धित नहीं है। अंग्रेजी रंगमंच के प्रभाव से उसका जन्म हुआ है, यद्यपि मूल रूप में संस्कृत और अंग्रेजी रंगमंच में अधिक अंतर नहीं है। हिन्दी रंगमंच के बाह्य कलेवर में पश्चिमीय छाप अधिक जान पड़ती है। निश्चित रूप से रंगमंच का स्थायी विकास अंग्रेजी शासन काल से प्रारम्भ हुआ, इसी कारण पश्चिम की कुछ छाया उन पर प्रतिबिम्बित है।

बंगाल के रंगमंचों पर, जो प्रायः कलकत्ते में थे और जिनका प्रारम्भ घरेलू आमोद प्रमोद के रूप में हुआ था, सब से पहिले अंग्रेज़ी में अंग्रेजों द्वारा आयोजित नाटक खेले गये। शनैः शनैः उनका बंगला रूपान्तर होने लगा और बंगला रंगमंच की स्थापना हुई।

इन रंगमञ्चों से बंगला नाट्य साहित्य को पर्याप्त प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। सब नाटक सुरुचि उत्पन्न करने वाले नाटक ही न थे, इनके द्वारा अराजक विचार-धारा फैलने के भय के कारण सन् १८७६ ई० में भारत सरकार ने "ड्रमेटिक परफार-मेन्सेज एक्ट आफ १८७६" बनाकर अभिनय पर कड़ा प्रतिबन्ध लगा दिया। इतना अवश्य कहना पड़ेगा कि बंगला रंगमञ्च ने परोक्ष रूप में हिन्दी रंगमञ्च को अत्यधिक

---

[1] 'हिन्दी भाषा में जो सबसे पहला नाटक खेला गया, वह जानकी मंगल था। स्वर्गवासी मित्रवर बा० ऐश्वर्यनारायणसिंह के प्रयत्न से चैत्र शुक्ल संवत् १९२५ (सन् १८६८ ई०) में बनारस थियेटर में बड़ी धूम धाम से यह खेला गया है।' ('नाटक' पृ० ६६, भारतेन्दु जी)

प्रभावित किया। अमानत के इन्दर-सभा का तो उल्लेख हो ही चुका है, इसके पश्चात् बनारस में जानकी मंगल का अभिनय हुआ। तत्पश्चात् रंगमञ्च का केन्द्र बम्बई बन गया। हिन्दी रंगमञ्च का आदि रूप स्पष्टतः उस रंगमञ्च में मिलता है, जिसे अभी तक पारसीक रंगमञ्च के नाम से पुकारा जाता है। ये पारसी नाटक मण्डलियाँ व्यावसायिक तथा अव्यावसायिक कम्पनियों के रूप में समाज के सम्मुख उपस्थित हुईं। सर्वप्रथम "ऑरिजनल थियेट्रिकल कम्पनी" के नाम से व्यावसायिक अभिनय मण्डली को जन्म दिया गया। इसका स्थापन काल निश्चित नहीं है। परंतु सन् १८७० ई० में इसके अस्तित्व का प्रमाण मिलता है। इसके संचालक सेठ पेस्टन जी फ्रेम जी थे। नाटक कम्पनी के नाटक लेखकों में इसके सञ्चालक के अतिरिक्त दो और नाटककार थे, जो इसके लिये नाटक लिखा करते थे। इनमें मोहम्मद मियाँ "रौनक" बनारसी और हुसेन मियाँ "जरीफ" उल्लेखनीय हैं। रौनक साहब के नाटकों में से "इन्साफे-महमूद-शाह" बहुत प्रसिद्ध है। सन् १८८२ ई० में बम्बई में गुजराती लिपि में यह छापा गया। इसके अतिरिक्त इन्होंने कम्पनी के लिये अंगरेजी के कई नाटकों के रूपान्तर भी किये, किन्तु वे छप न सके। "जरीफ" साहब ने तो लगभग तीस नाटकों[1] की रचना की थी, पेस्टन जी की मृत्यु के बाद इस कम्पनी का नाम सर्वदा के लिये चला गया तथा उक्त कम्पनी के अभिनेताओं ने स्वतंत्र रूप से अपनी-अपनी अभिनय कम्पनियाँ स्थापित कर ली थीं।

रङ्गमञ्च का विकास

सन् १८७७ ई० में खुरशेद जी बल्ली वाला ने दिल्ली में आकर "विक्टोरिया थियेट्रिकल कम्पनी" की स्थापना की। सञ्चालक स्वयम् कुशल अभिनेता था। इसके अतिरिक्त इसमें प्रसिद्ध नर्तकियाँ तथा एक अंग्रेज महिला मिस मैरी फेरन्टन बड़ी ही प्रशंसनीय अभिनेत्री थीं। काशी के प्रसिद्ध नाटककार मुन्शी विनायक प्रसाद "तालिब" ने इस अभिनय मण्डली को अपनी कुशल कला का सहयोग प्रदान किया, जिसने इस कम्पनी को अधिक ख्याति प्रदान की। इनके जन-प्रिय नाटक लैलो-निहार, दिलेर दिलशेर, निगाहे-गफलत, आदि ने उक्त नाट्य कम्पनी की ख्याति को भारतीय रङ्गमञ्च जगत में व्यापक बना दिया। धार्मिक मनोवृत्ति के नाटक भी

---

[1] "जरीफ" साहब के उल्लेखनीय नाटकों में से निम्न नाटकों को रङ्गमञ्चीय ख्याति अधिक प्राप्त हुई :—

नताजये अस्मत, तौफये-दिलकुशा, खुदा दोस्त, बुलबुले बीमार, चाँद बीबी, तौहफये दिल परीज, शीरी फरहाद, नकशये सुलेमान, अलीबाबा, इशरत-सभा, लैला मजनूं, छैल बटाऊ, गुल बकावली, नैरंगे-इश्क, हवाई-मजलिस, नसीरो-हुमायुं, हातिमताई, लाल गौहर, बदरे मुनीर, खुदा दाद।—हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास, डा० सोमनाथ गुप्त, पृष्ठ १४२

अभिनीत हुये, जिनमें गोपीचन्द, हरिश्चन्द्र, रामायण तथा कनक-तारा आदि ने अधिक ख्याति पाई।

यद्यपि इन नाटकों में नाम मात्र की ही हिन्दी भाषा थी, अधिकांश उर्दवीपन में रंगे हुये थे, फिर भी इन्हें हिन्दी रङ्गमञ्च परम्परा के क्रमिक इतिहास का सूत्र कहना अनुचित न होगा। भारतीय रङ्गमञ्च का उत्कर्ष यहाँ तक हुआ कि उक्त कम्पनी के उत्साही सञ्चालक ने भारतीय रङ्गमञ्चीय प्रदर्शन के हेतु इसे विदेश ले जाकर प्रदर्शित किया। यद्यपि वेग से उक्त नाट्य संस्था का उत्कर्ष हुआ था, परन्तु अधिक काल तक स्थायी न रह सका। वर्ष भर के अल्प जीवन में यह संस्था भारतीय रङ्गमञ्च को अपनी अभूतपूर्व सेवायें अर्पित कर नष्ट हो गई।

इसी काल उपरोक्त नाट्य मण्डली के कलाकारों ने एक अन्य नाटक संस्था को जन्म दिया, जिसका नामकरण एलफ्रेड थियेट्रिकल कम्पनी किया गया। कावस जी खटाऊ[१] इसके सञ्चालक थे। इस कम्पनी के प्रसिद्ध नाट्यकार सैयद मेंहदी हसन "अहसान" साहब और देहली के पण्डित नारायण प्रसाद "बेताब" थे। "अहसान" साहब के कुछ मौलिक नाटक तथा शेक्सपियर के नाटकों के रूपांतर लोकप्रिय रहे, चन्द्रावती, बकावली, दिलफरोश, गुलफरोश, चलता पुर्जा, हेमलेट और भूल भुलैयां, आदि प्रसिद्ध प्राप्त रचनायें हैं। इसी प्रकार कत्ले नज़ीर, ज़हरी साँप, फरेबे-मोहब्बत बेताब जी की ख्याति नाम उर्दू नाट्य रचनायें हैं, परन्तु बेताब जी को हिन्दी नाटक महाभारत, रामायण, गोरख धधा, पत्नि-प्रलाप और कृष्ण सुदामा से अधिक ख्याति प्राप्त हुई है।[२]

इसके कुछ ही काल अनंतर "न्यू एलफ्रेड कम्पनी" के नाम से एक नाट्य संस्था का सस्थापन किया गया। इसके संस्थापक मोहम्मद अली "नाखुदा" तथा सोहराब जी थे। सोहराब जी स्वयम् लब्धप्रतिष्ठ अभिनेता थे, और विशेषतः हास

---

१ "Mr. Khatao captured the imagination of the audience by his performances of *Mahabharata, Ramayan, Bilwa-Mangal, Yuhudi ki Larki, Patni Pratap,* besides playing Shaekspearian pieces in Oriental. Miss Zernia used to appear as *Droupadi, Sita, Chintamony, Harna* respectively in the first four peices. Miss Putly and Aga Mohammod Shah the principal actor as *Acloria* and *Ezra* in *Yuhudi ki Larki.* Miss Savaria was also another artist. Thus the Khatao Co. spared no pains for the Hindi performances to the great pleasure of Hindustani people."—*The Indian Stage Vo. IV* Page 229, By H. N. Das Gupta.

२ हिन्दी नाट्य साहित्य का इतिहास, डा० सोमनाथ गुप्त, पृष्ठ १४३

परिहास का अभिनय करते थे। इनके सहयोगी अभिनेताओं में अब्बास अली और अमृतलाल, केशव आदि प्रतिभाशाली कलाकार थे। आगा मोहम्मद "हश्र" काश्मीरी तथा पं० राधेश्याम कथावाचक के नाटकों ने इस कम्पनी को अधिक ख्याति प्रदान की।

श्री "हश्र" जी ने दर्जनों उर्दू नाटक लिखे, जिनमें शहीदे नाज़, मीठी छुरी, ख्वाबे हस्ती, ठंडी आग, सैदे-हविस, खूब सूरत बला, सिलवर किंग, तुर्की हूर, आदि बहुत ही लोक प्रिय नाटक सिद्ध हुये हैं। हिन्दी में धार्मिक प्रसङ्गों को लेकर इन्होंने नाट्य रचना की, जिनमें प्रमुखतः सूरदास, गङ्गा औतरण, बनदेवी, सीता बनवास, मधुर मुरली, श्रवण कुमार, धर्मी बालक, तथा आँख का नशा आदि ने इन्हें जन-प्रिय बना दिया था। पं० राधेश्याम के वीर अभिमन्यु नाटक से इन्हें अधिक प्रतिष्ठा प्राप्त हुई थी। कालांतर में न्यू एलफ्रेड का अवसान निकट आगया और "हश्र जी" ने उसे छोड़कर "शेक्सपियर थियेट्रिकल कंपनी" से सम्बन्ध स्थापित कर लिया, परन्तु यह नाट्य मण्डली अधिक काल तक न चल सकी। भारतीय रङ्गमञ्चीय जगत में नई-नई व्यावसायिक पारसी नाट्य कम्पनियाँ खुलीं, ऐसा प्रतीत होता था कि रङ्गमञ्च जगत में बाढ़ सी आ गई है। ओल्ड पारसी थियेट्रिकल कम्पनी, लाहौर एलेकजेन्डरिया कम्पनी, जुबली कम्पनी देहली, इम्पीरियल कम्पनी, लाइट आफ इण्डिया कम्पनी तथा कोरिन्थियन स्टेज आदि कई नाट्य कम्पनियों की स्थापना हुई। परन्तु यह पारसीक रङ्गमञ्च अधिक काल तक अपना अस्तित्व स्थापित न रख सका, और अपने अल्प-कालीन जीवन में हिन्दी रङ्गमञ्च को एक गति देकर सर्वदा के लिये विलीन हो गया। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से तो इनका महत्व अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा, किंतु यह समाज तथा साहित्य की उपयोगी देन न सिद्ध हो सका।

ये नाटक तथा नाटक मण्डलियाँ न तो समाज के नैतिक स्तर को ऊँचा कर सकीं न कोई सुधारवादी योजना समाज के सम्मुख उपस्थित कर सकीं। कथोपकथनों तथा प्रहसनों में अश्लील भाषा का प्रयोग तथा निम्न श्रेणी के लोगों की रुचि वाला संगीत इन्हें चिर स्थायी न बना सका। इन्होंने जनता की रुचि में कोई परिष्कार करने के बजाय उसे गलत मार्ग की ओर मोड़ दिया, जिससे कि नैतिक ह्रास अवश्य-भावी था। नाटकों को व्यावसायिक उपयोगिता के आधार पर इतना गलत स्वरूप दे दिया है कि यथार्थ की हत्या सी होती दिखाई देती है। सन् १८८३ ई० में स्व० भारतेन्दु जी ने इनके प्रभाव का वर्णन करते हुये लिखा है "काशी में पारसी नाटक वालों ने नाच घर में जब शकुन्तला नाटक खेला, और उसमें धीरोदात्त नायक दुष्यन्त खेमटे वालियों की तरह कमर पर हाथ रखकर मटक-मटक कर नाचने और "पतरी कमर बल खायहै" यह गाने लगा तो डा० थिबो, बा० प्रमदा दास मित्र,

प्रभृति विद्वान यह कहकर उठ आये कि अब देखा नहीं जाता, ये लोग कालिदास के गले पर छूरी फेर रहे हैं।"[1]

"पारसी थियेटर" शीर्षक देकर सन् १६०३ ई० में पं० बाल कृष्ण जी भट्ट ने एक लेख में उक्त थियेटर कम्पनियों के प्रभाव के विषय में आलोचनात्मक विचार प्रकट किये थे जो निम्न प्रकार के हैं :—

"हिन्दू जाति तथा हिन्दुस्तान को जल्द गिरा देने का सुगम से सुगम लटका पारसी थियेटर है, जो दर्शकों को आशिकी माशूकी का लुत्फ हासिल करने का बड़ा उम्दा ज़रिया है। क्या मजाल जो तमाशबीनों को कहीं से किसी बात में पुरानी हिन्दुआनी की झलक मन में आने पावे। इतना पीर, पैगम्बर, परी, हूर का जहूर कहीं न पाओगे, तीसरे शायस्तगी को नाक उर्दू का जौहर मुफ्त में दस्तयाब होता है। सच कहते तो यही तीन बड़े-बड़े फाइदे नाटकों के अभिनय के हैं—पहिला धर्म सम्बन्धी या राजकीय सम्बन्धी उत्तम उपदेशों का मिलना, दूसरा देश की पुरानी रीति नीति को किसी पुराने इतिहास या घटनाओं का अभिनय कर दरसाना अथवा प्रचलित कुरीति की बुराइयों को दिखाना, तीसरा भाषा का प्रचार। थोड़े से सभ्य लोग यही समझ, जब यहाँ कोई जानता भी न था कि नाटक क्या वस्तु है, इसके अभिनय में प्रवृत्त हुये, और हिन्दी के कई एक नाटकों का उन्होंने अभिनय कर लोगों को इसका शौक दिलाया। पीछे बम्बई के पारसियों का एक दल बम्बई से चला और वे बड़े-बड़े शहरों में इस ढंग का अभिनय करने लगे। अस्तु यहाँ तक बुरा न था क्योंकि उनके अभिनय में भी किसी तमाशे में पुरानी रीति नीति और हिन्दी का विरोध न था। पीछे दिल्ली, लखनऊ, आगरा आदि कई शहरों के बिगड़े नव-जवानों का गिरोह जमा हो अभिनय को जो सभ्यता का प्रधान अङ्ग था, और भलाई के प्रचार तथा सदुपदेश प्राप्त करने का उत्तम द्वार था, इस दुर्गति को पहुँचाकर हमारी पुरानी हिन्दुआनी का सत्यानाश कर डाला, और नई उभार के तरुण-जनों को उनकी नई उमंग के लिये बड़ा सहारा मिल गया। भविष्य में इसका परिणाम यह होने वाला है कि हमारी सृष्टि में आर्यता और हिन्दूपन का चिन्ह भी न बचा रहेगा। बोल-चाल रहन सहन में अर्ध यवन तो हैं ही, अब पूरे आशिक तन यवन बन बैठेंगे।"[2]

उपरोक्त कथन से यह सिद्ध है कि सांस्कृतिक दृष्टिकोण से पारसीक नाटक मण्डलियों ने भारतीय सभ्यता को काफी क्षति पहुँचाई है, परन्तु यह अवश्य कहना पड़ेगा कि पारसी नाटक की ही प्रेरणा से हिन्दी रंगमंचीय साहित्य को प्रतिभाशाली

---

१ नाटक, भारतेन्दु जी पृष्ठ ६४।

२ हिन्दी प्रदीप, भाग २५, संख्या ६-१२।

नाटककार प्राप्त हुये हैं जिसका श्रेय पारसीक नाटक मण्डलियों की प्रेरणा ही को दिया जा सकता है। पंडित राधेश्याम, आगा हश्र काश्मीरी, नारायणप्रसाद बेताब, कृष्णचन्द्र 'जेबा', हरिकृष्ण 'जौहर', और तुलसीदत्त 'शैदा' आदि प्रतिभावान लेखक इन्हीं कम्पनियों के आश्रय में रहकर अपनी प्रतिभा का विकास कर सके, इनके द्वारा प्रचारित बुराइयों पर हम दृष्टिपात न करें तो यथार्थतः इनकी अमूल्य सेवाओं के लिये हिन्दी रंगमंच-जगत आभारी है।

रंगमंच की दो विभिन्न अवस्थायें थीं, प्रथम व्यावसायिक रंगमंच था, जिसका उल्लेख पूर्व ही किया जा चुका है, और दूसरा अव्यावसायिक रङ्गमञ्च जो कि पारसीक रङ्गमञ्च के कुछ दुर्गुणों के प्रतिरोध स्वरूप तथा शिक्षण संस्थाओं और सामाजिक संस्थाओं द्वारा स्थापित किया गया था। समय समय पर अपने उत्कृष्ट अभिनय द्वारा वह परिष्कृत रङ्गमञ्च का स्वरूप प्रस्तुत कर देता था। इनका मूल प्रयोजन केवल अपनी कला से सामाजिक परिष्कार था। उत्तर प्रदेश में हिन्दी के इस काल के मुख्य केन्द्र काशी, प्रयाग और कानपुर थे। भारतेन्दु जी और उनके समकालीन एवं परवर्ती नाटककारों का कार्य क्षेत्र भी यही भूभाग था। अतएव सब से प्राचीन हिन्दी नाटक मण्डलियों की स्थापना और उनके द्वारा अभिनय का आरम्भ भी यहीं से हुआ था। पं० शीतलप्रसाद का जानकी मङ्गल इस प्रकार का पहला हिन्दी नाटक था जिसका-उल्लेख भारतेन्दु जी ने किया है। अन्य नाटकों के विषय में पं० प्रतापनारायण मिश्र (सन् १८८८ ई०) का उल्लेख है। कानपुर के नाटकों के विषय में उनके कुछ विचार उद्धृत हैं।

"अनुमान १२ वर्ष हुये कि यहाँ के हिन्दुस्तानी भाई यह भी न जाते थे कि नाटक किस चिड़िया का नाम है। पहिले पहल श्रीयुत् पंडितवर रामनारायण त्रिपाठी (प्रभाकर महोदय) ने हमारे प्रेमाचार्य का बनाया हुआ सत्य हरिश्चन्द्र और वैदिकी हिंसा खेला था। यह बात कानपुर के इतिहास में स्मरणीय रहेगी कि नाटक अभिनय के मूलारोपक यही प्रभाकर जी हैं। बा० बिहारीलाल जी परोपकारी इनके बड़े भारी सहायक हैं यद्यपि द्वेषियों ने बहुत सिर उठाया और लज्जा के साथ प्रकाश करना पड़ता है कि इस पत्र का सम्पादक भी इन्हीं में से था, पर देशाभिमान रूपी आकाश के प्रभाकर ने परम धीरता के साथ अपना संकल्प न छोड़ा, रामाभिषेकादि कई बड़े बड़े अभिनय ऐसी उत्तमता से किये जो कि किसी से अभिनीत होना सम्भव न थे। पर जब त्रिपाठी महाशय उद्यम-वशात: गोरखपुर चले गये तब से कई वर्ष तक इस विषय में सूनसान रही। केवल अंधेर नगरी खेली गई। फिर लोगों के अनुत्साह से कई वर्ष कुछ न हुआ। हां, ८५ के सन् में भारत दुर्दशा खेली गई और भारत इन्टरटेनमेन्ट क्लब स्थापित हुआ, जिसके उद्योग से दो बार अन्जामे बदी नाटक (फारसी वालों के ढंग का नाटकाभास) खेला गया। कुछ आशा की गई थी कि कुछ

चल निकलेंगे, पर थोड़े ही दिन में मेम्बरों में परस्पर फूट हो जाने से दो क्लब हो गये। फूटी हुई एक शाखा एम० ए० क्लब के नाम से प्रसिद्ध है। और पहिली का नाम दो एक हिन्दी रसिकों के उत्साह से श्री भारत रञ्जनी सभा हो गया है। इसका वृत्तान्त पाठक गण उसके नाम से और प्रताप मिश्र की शराफत से समझ सकते हैं। सिवा इसके श्री बा० पप्पनलाल प्रेसीडेन्ट और श्री राधेलाल मैनेजर भी उत्साही पुरुष हैं। इन दोनों सभाओं की देखा-देखी कई क्लब और भी खड़े हुये पर कई उगते ही ठिठुर गए। जागे भी तो इतना मात्र कि पारसियों की शिष्यता की इति कर्तव्यता समझ के। सो भी न सके वर्ष भर से एक ए० बी० क्लब और हुआ है, जिसने कई बेर उलट फेर खाये, पर अन्त में एक परोत्साही पुरुष रत्न की शरण ले के रक्षित रहा ६६ अगस्त को इस क्लब ने अभिनय किया, पर हम यह मुक्त कण्ठ से कहेंगे कि यदि हमारे मित्र श्री भैरवदास वर्मा तन, मन, धन, से बद्ध परिकर न होते तो यह दिन कठिन था। नाटक पहिले पहल था, और भाषा भी उर्दू थी, पर पात्रगण चतुर थे, इससे अभिनय सराहने योग्य था, इसमें शक नहीं। एम० ए० क्लब के कई सभासद नाराज होके उठ गये, यह अयोग्य किया, और बहुत से अशिक्षित जन कोलाहल की लत भी दिखाते रहे, पर हमारे कोटपाल श्री अलीहुसेन साहब के परिश्रम और प्रबन्ध से शान्ति रही। सदमएइश्क और गोरक्षा निर्विघ्न खेला गया। सुनते हैं कि इस क्लब में उत्तमोत्तम नागरी के नाटक भी खेले जाया करेंगे। परमेश्वर इस किंवदन्ती को सत्य करे।"[1]

उपरोक्त कथन से यह स्पष्ट है कि कानपुर में ऐसी संस्थाओं का उदय हुआ, परन्तु वे स्थायी न रह सकीं। संस्थाओं के संस्थापन की दृष्टि से सर्वप्रथम प्रयाग में एक नाट्य समाज की स्थापना की गई, जिसका नामकरण श्री रामलीला नाटक मण्डली था, कारण यह कि —'रामलीला के अवसर पर ही नाट्यायोजन किया करती थी जो पं० माधव शुक्ल, पं० महादेव भट्ट (प० बालकृष्ण भट्ट के द्वितीय पुत्र) एवं अलमोड़ा निवासी पं० गोपालदत्त त्रिपाठी के उद्योग से स्थापित की गई थी। इस समुदाय का उद्देश्य 'रामलीला' के प्रसंग में वर्तमान राजनीति की भी आलोचना करना था'। सब से पहिला नाटक सीय-स्वयम्बर अभिनीत किया गया। उक्त नाटक के लेखक पं० माधव शुक्ल थे। सन् १६०७ तक यह मण्डली चलती रही, और यदा-कदा नाटकों का अभिनय कर लेती थी। परन्तु सन् १६०७ के लगभग आपस में मन मुटाव के कारण यह छिन्न-भिन्न हो गई। पुनः एक नवीन 'हिन्दी नाट्य समिति' की स्थापना की गई, इसमें स्व० बालकृष्ण भट्ट, स्व० प्रधान चन्द्रप्रसाद, बा० भोलानाथ, बा० मुद्रिकाप्रसाद, पं० लक्ष्मीनारायण नागर और मैत्रेय बाबू ने विशेष रूप से सहयोग दिया, इसमें बा० राधाकृष्ण दास का महाराणा प्रताप खेला गया। अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य

---

१ ब्राह्मण, भाग ५, संख्या १, १५ अगस्त १८८८ पृ० ३-४।

सम्मेलन के छठे अधिवेशन पर जो प्रयाग में स्व० बा० श्यामसुन्दरदास जी की अध्यक्षता में हुआ था, पं० माधव शुक्ल प्रणीत महाभारत (पूर्वार्ध) नाट्य समिति द्वारा अभिनीति हुआ था। बा० शिवपूजन सहाय जी ने उक्त नाट्य के विषय में अपने प्रसंशात्मक विचार व्यक्त किये हैं।"[1]

"प्रत्यक्षदर्शी के नाते मैं जोर देकर कह सकता हूँ कि आज तक मैंने किसी हिन्दी रंगमञ्च पर वैसा सफल एवं प्रभावशाली अभिनय नहीं देखा है।[1]

द्वितीय नाट्य मण्डली काशी की नागरी नाट्य कला प्रवर्तन मण्डली थी। सन् १९०९ में स्थापित हुई थी। भारतेन्दु जी के कुटुम्ब के स्व० बृजचन्द जी, शाह घराने के श्रीकृष्णदास जी तथा काशी के ख्यातिनामः अभिनेता हरिदास जी मणिक इसके संस्थापकों में से थे। कालान्तर में यह अभिनय मण्डली दो पृथक् संस्थाओं में हो गई, एक का नाम भारतेन्दु नाटक कम्पनी पड़ा, और दूसरी का काशी नागरी नाटक कम्पनी पड़ा। आरम्भ में इस मण्डली को बड़े धनी राजों और महाराजों का सहयोग प्राप्त था, जिन्होंने बड़ी उदारता से इसकी सहायता की थी। २७ जुलाई सन् १९२९ ई० को प्रथम नाटक भारतेन्दु जी रचित खेला गया, इसी वर्ष बा० राधाकृष्ण दास जी रचित महाराणा प्रताप का भी अभिनय हुआ। तत्पश्चात् समय पर क्रमशः सम्राट अशोक, महाभारत, भीष्मपितामह, वीर बालक अभिमन्यु, भक्त सूरदास, बिल्व मङ्गल, संसार स्वप्न, कलियुग, पाप-परिणाम, एवं अत्याचार आदि रंगमञ्च पर अभिनीत हुये। भारतेन्दु नाटक मण्डली की काशी में सन् १९०८ ई० में स्थापना हुई थी, इसमें भारतेन्दु के भतीजे कृष्णचन्द्र और ब्रजचन्द्र का सराहनीय सहयोग था। समय-समय पर भारतेन्दु जी तथा बा० राधाकृष्ण दास जी के नाटक अभिनीत होते थे।

एक नाट्य मण्डली कलकत्ते की हिन्दी नाट्य-परिषद् के नाम से स्थापित की गई, जिसके संस्थापक प्रयाग के पं० माधव शुक्ल थे। यह नाट्य परिषद अनेक नाट्यभिनयों द्वारा ख्याति प्राप्त कर चुकी थी। इसके अभिनय मण्डल में श्री शुक्ल जी के अतिरिक्त उनके पुत्र विजय कृष्ण, ईश्वरी प्रसाद भाटिया, भोलानाथ वर्मन, अर्जुनसिंह, परमेश्वरीदास जैन, देवदत्त मिश्र, श्री बच्चू बाबू, श्री कृष्ण पाण्डेय, केशव प्रसाद खत्री एवं अम्बाशङ्कर नागर प्रमुख हैं।

उपरोक्त नाट्य संस्थाओं के अतिरिक्त अन्य अव्यावसायिक नाट्य रंगमञ्च में, विभिन्न शिक्षण संस्थाओं का विद्यार्थी रंगमञ्च रहा है। विभिन्न विश्वविद्यालओं तथा प्रमुख शिक्षा संस्थाओं में विद्यार्थी नाट्य मण्डल खुलने की प्रथा चल पड़ी, उपाधि वितरण सप्ताह तथा अन्य विशिष्ट अवसरों पर उक्त नाटक खेले जाते थे। हिन्दी का रंगमञ्च बंगला रंगमंचीय नाटकों से प्रभावित था। अतः श्री द्विजेन्द्रलाल राय के सभी प्रच-

---

१ माधुरी वर्ष ८, खण्ड १, पृष्ठ ८५३।

लित नाटकों का अभिनय इन नाट्य मंचों पर हुआ। विद्यार्थी रंगमंच को अभिनय क्षेत्र में बड़ी सराहनीय सफलता प्राप्त हुई। उचित रूप में इस कोटि के कलाकारों ने भाषा की शुद्धता और अभिनय की कलात्मक वृत्ति का परिष्कार किया। पारसीक रंगमंच के दोषों को दृष्टिगत रखते हुये उनका मूलोच्छेदन करने का प्रयास किया गया था। अव्यावसायिक अभिनेताओं का यह वर्ग चिरकाल तक हिन्दी नाट्य जगत की परम्परा को स्थायी बनाये रख सका।

प्रयाग विश्व विद्यालय के हिन्दू छात्रावास के विद्यार्थियों ने एक नाट्य मण्डली की स्थापना की, वार्षिक उपाधि वितरण के अवसर पर श्री द्विजेन्द्रलाल राय के नाटकों के सफल अभिनय इस विद्यार्थी रंगमञ्च पर खेले गये, यह परम्परा कुछ काल तक वहाँ स्थापित रही। आधुनिक युगान्तकारी कवि श्री सुमित्रानन्दन पंत भी इसी रंगमञ्च पर स्त्री पात्र का अभिनय कर चुके हैं।

इन नाट्य संस्थाओं तथा पारसीक नाट्य कम्पनियों में मौलिक अन्तर रहा है। पारसीक नाट्य मण्डलियों ने जन-रुचि का अधिक ध्यान रखकर अश्लीलत्व की परम्परा को अपनाया। साहित्य और भाषा की हत्या की थी तथा इन्हीं दोषपूर्ण प्रवृत्तियों के विरोध स्वरूप अव्यावसायिक नाटक कम्पनियों की स्थापना की गई थी। हिन्दी जगत के उत्साही साहित्यिक नाट्यकारों ने यथेष्ट सहयोग देकर हिन्दी नाट्य जगत का उत्थान किया। स्वयं श्री भारतेन्दु, प्रतापनारायण मिश्र, तथा प्रेमघन, और अन्य सहयोगियों ने हिन्दी साहित्य को नाट्यकार के रूप में अपनी सेवायें तो अर्पित कीं, साथ ही साथ एक सफल अभिनेता के रूप में हिन्दी रंगमञ्च पर आये थे। वस्तुतः यह कहना नितान्त युक्तिसङ्गत होगा कि रंगमञ्च की अभिनेय प्रेरणा पारसीक रंगमञ्च की हिन्दी विरोधी नीति का परिणाम था। सामूहिक रूप से स्थान-स्थान पर नाट्य संस्थायें स्थापित कर रंगमञ्चीय कुरीतियों को दूर करने का आन्दोलन सा उठाया गया, इसमें कुछ सीमा तक हिन्दी नाट्य साहित्य को सफलता भी मिली।

रंगमञ्चीय नाटककारों ने समाज और देश की पुकार को ध्यान में रखते हुये अपनी कला कृतियों को जनता के सम्मुख उपस्थित किया। वस्तुतः धार्मिक, सामाजिक एवं राजनीतिक सभी समस्याओं का विचार विनिमय इन नाट्य कृतियों में पाया जाता है। इन नाट्य मण्डलियों की सब से बड़ी देन सुरुचि का प्रसार और हिन्दी भाषा का विकास है। इनका वातावरण सर्वथा मौलिक है, और उर्दू तथा फारसी के उस रूप से जो पारसी नाटकों में पाया जाता है, भिन्न है।

चतुर्थ अध्याय

भारतेन्दु का स्वतन्त्र नाट्य-विधान तथा युग के नाटक और नाट्यकार

भारतेन्दु का स्वतन्त्र नाट्य विधान :—

जिस समय भारतेन्दु जी ने नाट्य निर्माण की ओर ध्यान दिया, उस काल में हिन्दी साहित्य में न तो कोई निज की परम्परा थी और न तत्सम्बन्धी लक्षण ग्रन्थों की रचना की गई थी। उनके सामने केवल प्राचीन नाट्य परम्परा के अनुसार लिखे गये संस्कृत ग्रन्थ थे। किन्तु भारतेन्दु के नाट्य विधान में सम-सामयिक परिस्थितियों की भी छाप दृष्टिगत होती है। भारतीय समाज में पाश्चात्य परम्परा का प्रभाव उत्तरोत्तर बढ़ रहा था। शासकों ने अपना प्रभाव शिक्षा और संस्कृति पर विशेष रूप से डाला। नवीन शिक्षित समाज एलिजबेथ कालीन प्रसिद्ध नाट्यकार शेक्सपियर की नाट्यकला के प्रति अत्यधिक आकृष्ट था। अंग्रेजों ने भारत के प्रमुख नगरों में अंग्रेजी रंगमंचों की स्थापना की थी जन रुचि को अपनी ओर आकृष्ट करने के लिये संस्कृत के प्रतिनिधि नाटक शकुन्तला का अंग्रेजी नाट्यानुवाद भी कलकत्ते की अंग्रेजी रंगशाला में खेला गया। उक्त अवसरों पर अंग्रेज अधिकारियों के अतिरिक्त विशिष्ट भारतीय नागरिक भी आमन्त्रित किये जाते थे। बंगीय नाट्य समाज ने अनुकरण मूलक प्रवृत्ति से पाश्चात्य अभिनय प्रणाली को अंशत: अपनाया। भारतेन्दु जी ने स्वयं स्वीकार किया है कि बंगाल यात्रा के समय उन्होंने जिन नाटकों का प्रचार देखा उनमें पूर्णत: पश्चिमी प्रभाव आ गया था। लोक रुचि को परिवर्तित होते देखकर एक नवीन मार्ग निर्देशन की आवश्यकता प्रतीत हुई। भारतेन्दु जी के सम्मुख दो प्रशस्त मार्ग थे। प्रथम तो नवोत्थान कालीन भावना से प्रेरित होकर केवल प्राचीन आचार्यों के सिद्धान्तों का पालन करते हुये नाट्य परम्परा को बनाये रखना और दूसरी बंग नाट्य साहित्य की भाँति पाश्चिमी नाट्य परम्परा के बराबर पर भारतीय नाट्य विधान में नवीन परिवर्तन का स्वरूप उपस्थित करना।

भारतेन्दु जी समन्वयात्मक बुद्धि लेकर नाट्य क्षेत्र में अवतरित हुये। किसी भी प्रकार का अंधानुकरण उन्हें रुचिकर न प्रतीत हुआ। इसलिये देश, काल और सम सामयिक स्थिति के अनुसार प्राचीन भारतीय नाट्य पद्धति में से आवश्यक और उपयुक्त तत्व ग्रहण कर हिन्दी के नवीन नाट्य विधान की स्थापना की। उनके "नाटक" शीर्षक निबन्ध में नाटकीय रचना शैली पर विचार और विवेचन मिलता है। निम्न अंश नाटककार भारतेन्दु जी की नाट्य विधान सम्बन्धी उसी विचार धारा का परिचय देता है :

"अब नाटकादि दृश्य काव्य में अस्वाभाविक सामग्री-परिपोषक काव्य सहृदय सभ्य मण्डली को नितान्त अरुचिकर है, इसलिये स्वाभाविक रचना ही इस काल के सभ्यगण की हृदय ग्राहिणी है, इससे अब अलौकिक विषय का आश्रय करके नाटकादि दृश्य-काव्य का प्रणयन करना उचित नहीं है। अब नाटकों में कहीं 'आशी' प्रभृति नाट्यालंकार, कहीं 'प्रकरी' कहीं 'विलोभन' कहीं संकट, 'पंच-संधि" वा ऐसे ही अन्य विषयों की कोई आवश्यकता नहीं रही। संस्कृत नाटक की भाँति हिन्दी नाटक में इनका अनुसंधान करना वा किसी नाटकांग में इनको यत्न पूर्वक रखकर आधुनिक नाटकादि की शोभा सम्पादन करने से उल्टा फल होता है, और यत्न व्यर्थ हो जाता है, संस्कृत नाटकादि रचना के निमित्त महा मुनि भरत जी जो सब नियम लिख गये हैं, उनमें जो हिन्दी नाटक रचना के लिये नितान्त उपयोगी हैं, और इस काल के सहृदय सामाजिक लोगों की रुचि के अनुयायी हैं, वे ही नियम यहाँ प्रकाशित होते हैं......।"[१]

महामुनि भरत के लिये हुये नियमों में हिन्दी नाटक रचना के लिये नितांत उपयोगी और तत्कालीन सहृदय लोगों की रुचि के अनुयायी नियमों में भारतेन्दु जी ने प्रतिकृति, जवनिका वा बाह्य पटी, प्रस्तावना (भेदों सहित), चर्चरिका, वृति, उपक्षेप, प्ररोचना, नेपथ्य, उद्देश्य बीज, वस्तु, उद्देश्य, अभिनय, पात्र, अंगांग, भेद, वैषम्य पात दोष, अङ्क, अंकावयव, विरोधक, नायक, परिच्छेद-विवेक, देशकाल प्रवाह, विष्कंभक, नाटक रचना प्रणाली, विदूषक, रस, रस विरोध और नाटक तथा अभिनय सम्बन्धी अन्य स्फुट नियमों का उल्लेख और विवेचन किया है जिनके अन्तर्गत अलंकार शास्त्र, नायिका भेद, पात्रों का स्तर, पात्रों की दृष्टि आदि का उल्लेख है। नाटक शीर्षक लेख के प्रारम्भ में ही रूपक के दस भेदों का उल्लेख मिलता है। भारतेन्दु जी ने अठारह उप रूपकों का वर्णन उक्त लेख में किया है, किन्तु परिभाषा, उदाहरण आदि नाटिका, त्रोटक, गोष्ठी, सट्टक, और नाट्यरासक के ही दिये हैं, शेष अधिक प्रचलित न होने के कारण उनके ऊपर प्रकाश डालना आवश्यक नहीं समझा गया। भारतेन्दु जी ने उपर्युक्त गृहीत नियमों में नांदी (पूर्व रंग) भरत वाक्य, अर्थ प्रकृतियों, कार्यावस्थाओं, संधियों आदि का वर्णन नहीं किया है। नांदी के सम्बन्ध में तो उन्होंने स्पष्ट रूप से कह दिया है कि "नांदी रचनादि विषय के नियम हिन्दी से प्रयोजनीय नहीं हैं"।

भारतेन्दु जी ने दृश्य काव्य के तीन भेद माने हैं, काव्य मिश्र, शुद्ध कौतुक और भ्रष्ट। शुद्ध कौतुक के अन्तर्गत उन्होंने कठपुतली, खिलौने आदि से सभा इत्यादि

१ परिशिष्ट भारतेन्दु नाटकावली भाग द्वितीय "नाटक निबन्ध" पृष्ठ-संख्या ४३१-४३३।

का चित्रांकन करना, मूक नाट्य बाजीगरी के खेलों में सम्वाद आदि का कथन, अमानुषिक अभिनय की क्रियाएँ तथा अन्यान्य प्रहसन अभिनय को रखा है। भ्रष्ट अर्थात् जिनमें नाटकत्व शेष नहीं रह गया था, उनके अन्तर्गत उन्होंने भांड़, इन्द्र-सभा रास, यात्रा, लीला तथा झांकी आदि की गणना की है। पारसीक नाटक तथा महाराष्ट्र नाट्य यद्यपि काव्य मिश्र थे, तथापि काव्यहीन होने के कारण उन्हें भी भ्रष्ट माना है। काव्य मिश्र नाटकों को दो श्रेणियों में विभक्त किया गया है—प्राचीन तथा अर्वाचीन। प्राचीन के प्रति उनके दृष्टिकोण का उल्लेख ऊपर के वक्तव्य में मिलता है, परन्तु नवीन विचारधारा पाश्चात्य नाट्य विधान से प्रभावित प्रतीत होती है। इसका उल्लेख भारतेन्दु जी ने नाटक निबंध में किया है।

निम्न कथन से भारतेन्दु जी की उक्त विचारधारा का स्पष्टीकरण होता है:—

'आज कल यूरोप के नाटकों की छाया पर जो नाटक लिखे जाते हैं, और बंग देश में जिस चाल के बहुत से नाटक बन भी चुके हैं, वह सब नवीन भेद में परिगणित हैं। प्राचीन की अपेक्षा नवीन की परम मुख्यता बारम्बार दृश्य बदलने में है। और इसी हेतु एक एक अंक में अनेक अनेक गर्भांकों की कल्पना की जाती है, क्योंकि इस समय नाटक के लेखों में विचित्र दृश्यों का दिखलाना भी आवश्यक समझा गया है। इन अंक और गर्भांकों की कल्पना यों होनी चाहिये, यथा पाँच वर्ष के आख्यान का एक नाटक है, तो उसमें वर्ष वर्ष के इतिहास के एक एक अङ्क और उस अङ्क के अन्त:पाती विशेष विशेष समयों के वर्णन का एक एक गर्भांक अथवा पांच मुख्य घटना-विशिष्ट कोई नाटक है, तो प्रत्येक घटना सम्पूर्ण वर्णन का एक एक अङ्क भिन्न भिन्न एक एक गर्भांक। ये नवीन नाटक मुख्य दो भेदों में बँटे हैं—एक नाटक दूसरा गीति रूपक। जिनमें कथा भाग की विशेषता तथा गीति तत्व का अभाव है, वह नाटक हैं, तथा जिनमें गीति तत्व की अधिकता है, वह गीति रूपक हैं। यह दोनों कथाओं के स्वभाव से अनेक प्रकार के हो जाते हैं, किन्तु उनके मुख्य भेद निम्न प्रकार के किये जा सकते हैं—(१) संयोगांत अर्थात प्राचीन नाटकों की भाँति जिसकी कथा संयोग पर समाप्त हो। (२) वियोगांत जिसकी कथा अन्त में नायिका वा नायक के मरण वा अन्य किसी आपद घटना पर समाप्त हो (उदाहरणार्थ-रणधीर प्रेम मोहिनी) (३) मिश्र—अर्थात् जिसके अन्त में कुछ लोगों का तो प्राण वियोग हो, और कुछ सुख पावे ...... ।'[1]

इन नवीन नाटकों की रचना के मुख्य उद्देश्य निम्न प्रकार के हैं :—(१) शृंगार (२) हास्य, (३) कौतुक, (४) समाज संस्कार, (५) देश-वत्सलता।

[1] नाटक निबन्ध, भारतेन्दु जी।

शृङ्गार और हास्य के उदाहरण देने की आवश्यकता नहीं है, सर्व विदित हैं। कौतुक विशिष्ट वह है जिसमें लोगों के चित्त विनोदार्थ किसी यन्त्र विशेष द्वारा या और किसी प्रकार अद्भुत घटना दिखाई जायँ। समाज संस्कारक नाटकों में देश की कुरीतियों का दिखलाना मुख्य कर्तव्य है। यथा शिक्षा की उन्नति, विवाह सम्बन्धी कुरीति-निवारण, अथवा धर्म सम्बन्धी अन्यान्य विषयों में संशोधन इत्यादि। किसी प्राचीन कथा भाग का इस बुद्धि से संगठन कि देश की उससे कुछ उन्नति हो, इसी प्रकार के अन्तर्गत हैं (उदाहरणार्थ:—सावित्री-चरित्र, दु:खिनी बाला, बाल्य विवाह विदूषक, जैसा काम वैसा ही परिणाम, जयनारसिंह का चक्षुदान इत्यादि) देश वत्सल नाटकों का उद्देश्य पढ़ने वालों तथा दर्शकों के हृदय में स्वदेशानुराग उत्पन्न करना है, और ये प्राय: करुण और वीर रस के होते हैं। (उदाहरणार्थ :—भारत जननी, नीलदेवी, भारत दुर्दशा इत्यादि।) इन पांच उद्देश्यों को छोड़कर वीर, सख्य इत्यादि अन्य रसों में भी नाट्य निर्माण होता है।'[1]

अस्तु, भारतेन्दु जी ने नवीन प्रवर्तन के साथ परिवर्तित समय और रुचि के अनुसार पाश्चात्य नाट्य-पद्धति का अवलम्बन भी ग्रहण किया। बहुत से अप्रयुक्त प्राचीन नियम छोड़ देने और उस काल में प्राचीन नियमों के अशास्त्रीय प्रचलित अर्थ ग्रहण करने में उन्होंने कोई हानि नहीं समझी। स्वतन्त्र परम्परा में उन्होंने गर्भाङ्क को 'दृश्य' के अर्थ में स्वीकार किया है। परिणाम स्वरूप उक्त परिवर्तन का अनुकरण अन्य समकालीन साहित्यकारों द्वारा किया गया। वस्तुत: प्राचीन नाट्य विधान के साथ-साथ नवीन पश्चात्य नाट्य पद्धति की ओर ध्यान दिया गया। भारतेन्दु जी ने अपने नाट्य विधान में नांदी प्रस्तावना अनिवार्य नहीं रखा है—विषयानुकूल उन्होंने इसके प्रयोग पर अधिक महत्व नहीं दिया है। नाटकों में अनिवार्य रूप से नांदी का प्रयोग दृष्टिगत नहीं होता। नाटकों में रस प्रधानता का भी निर्वाह मिलता है, और कौतूहल जन्य प्रयोगों का भी निर्वाह है। अङ्क संबधी प्राचीन नियमों की शृङ्खला तोड़कर स्वतन्त्र प्रणाली का प्रवर्तन भारतेन्दु जी के नाट्य विधान द्वारा सम्पादित हुआ। दृश्य परिवर्तन बहुत शीघ्र होने लगा, और पाश्चात्य शैली के अनुसार प्रत्येक अङ्क के आरम्भ में संकेत चित्र दिये जाने लगे। विष्कंभक, प्रवेशक, अङ्कावतार, अङ्कमुख आदि की योजना भी बहुत कम हो गई थी। पूर्णत: प्राचीन नियमों के अनुसार लिखे गये ही नाटकों में उनका प्रयोग पाया जाता है। प्राचीन नियमों के विरुद्ध प्रहसनों में भी एक से अधिक अङ्क अथवा दृश्य रखने का प्रचलन भारतेन्दु जी के ही द्वारा प्रतिपादित किया गया। कथोपकथन की दृष्टि से प्राचीन नियम का प्रतिपालन किया गया है, साथ ही पारसीक नाटकों के प्रभावांतर्गत भारतेन्दु जी की कृतियों में पद्यात्मक संवाद भी मिलते हैं। सौन्दर्य

१ नाटक निबन्ध, भारतेन्दु नाटकावली।

पूर्ण कविताओं में रीतिकालीन परम्परा का प्रभाव मिलता है, प्राचीन नाट्य शास्त्र के अनुसार चुम्बन, वध, आलिंगन, स्नान, यात्रा, मृत्यु, युद्ध आदि रंगमंच के लिये वर्जित दृश्य हैं, परन्तु भारतेन्दु के नाट्य विधान में इस अनुशासन की मान्यता दृष्टिगोचर नहीं होती। नवीन शैली का अनुकरण करते हुये भी पश्चिमी नाटकों का सा मनोवैज्ञानिक चित्रण और अंतर्द्वंद भारतेन्दु के नाटकों में नहीं पाया जाता। उनकी नाट्य रचनायें भारतीय शैली के अनुसार 'रस' की ही प्रधानता प्रदर्शित करती हैं। इस सम्बन्ध में यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि यद्यपि तत्कालीन नाटकों की रचना पद्धति में बाह्य दृष्टि से अनेक परिवर्तन हुये, किन्तु आत्मा अनेक अंशों में भारतीय बनी रही।

भारतेन्दु जी ने नाटकों के नवीन विषयों और उद्देश्यों की ओर स्वयम् इंगित किया है, कि नवीन प्रवर्तन नये कलेवर में भी प्राचीन मर्यादा लिये हुये उपस्थित है। विशुद्ध नवीन प्रणाली के अनुसार लिखे गये नाटकों में तो प्राचीन नियमों के पालन का प्रश्न ही नहीं उठता। किन्तु प्राचीन नाट्य-शास्त्र के सिद्धान्तों के अनुसार लिखे गये नाटकों में नवीन प्रणाली और तत्कालीन नाटकीय वातावरण का प्रभाव मिलता है। नवीन वातावरण के प्रभाव से मुक्त शायद ही कोई रचना मिले। इसके अतिरिक्त नाटक-कार ने प्राचीन और नवीन दोनों प्रकार के नियमों के अनुसार पृथक् पृथक् रचनायें प्रस्तुत की हैं। कुछ नाटकों में प्राचीन और नवीन का मिश्रण प्रस्तुत किया गया है। यह सम्मिश्रण केवल बाह्य नाटकीय विधानों की दृष्टि से नहीं प्रस्तुत किया गया है, विषय चयन का भी नवीन प्रयोग उपस्थित है। बाह्य विधान यदि प्राचीन है, तो प्रतिपाद्य विषय में नवीनता का समावेश है, और यदि विषय प्राचीन नियमानुसार है, तो विधानगत नवीनता दृष्टिगत होती है। यथार्थतः भारतेन्दु जी ने हिन्दी नाट्य विधान में स्वतन्त्र परम्परा का प्रवर्तन किया है।

तत्कालीन जन-नाट्य-मंच पारसीक व्यवसायी कम्पनियों द्वारा आक्रान्त था। रंगमंच जन-रुचि को विकृत करने पर तुला हुआ था। हिन्दी रंगमंच की भाषा में उर्दू का बाहुल्य खटकने वाली वस्तु थी। शुद्ध पौराणिक कथानकों में भी वीभत्स अश्लील सम्वाद और गीत जन-समाज के नैतिक स्तर को गिराने का घातक प्रयास कर रहे थे। भारतेन्दु जी उक्त वातावरण से क्षुब्ध हुये, उन्होंने पारसीक रंगमंच के विषाक्त प्रचार की भर्त्सना की है। 'नाटक' निबन्ध में काशी में अभिनीत शकुन्तला के प्रति अपने विचार व्यक्त भी किये हैं। बढ़ती हुई गन्दी मनोवृत्ति के परिष्कार की भावना भारतेन्दु के मस्तिष्क में कार्य कर रही थी, अतः उन्होंने हिंदी रंगमंच की स्थापना की। अपने नाटकों में भी जन-रुचि का निर्वाह करते हुये नैतिकता के दृष्टिकोण पर बड़ी ही सतर्कता का ध्यान रखा है। भारतेन्दु जी स्वयं अच्छे

अभिनेता थे। रंगमंचीय दृष्टि से नाटकों में लोक-प्रिय विधान उपस्थित करने में उन्हें अत्यधिक सफलता प्राप्त हुई थी। पारसीक रंगमंच के दूषित कुरुचिपूर्ण वातावरण के विरुद्ध रंगमंचीय नाट्य का पथ प्रदर्शन भारतेन्दु जी द्वारा सम्पादित हुआ। अश्लीलता प्रधान वातावरण तथा भाषा-गत विकार में परिष्कार प्रस्तुत करना ही इनके नाट्य विधान का उद्देश्य प्रतीत होता था। रंगमंच में गीत तथा नृत्यों की भाव संज्ञा का परिष्करण कर हिन्दी नाट्य के उन्नयन का सतत प्रयास किया। रंगमंचीय प्रयोगों में फूहड़ ग्रामीण प्रयोगों की परम्परा चली आ रही थी। हास्य और कौतुक की प्रणाली में परिष्कार भारतेन्दु ने अपनी नाट्य रचनाओं द्वारा प्रस्तुत किया।

भारतेन्दु जी ने नाटक को लोक जीवन के अति निकट लाकर जन-नाट्य की परम्परा में आमूल परिवर्तन किया, अपनी नाट्य रचना के गीतों का माध्यम प्रायः लावनी तथा अन्य जन गीतों के प्रचलित छंदों को बनाया है, इस तरह नाट्य-कार ने लोक रुचि को नाटक द्वारा क्रमशः साहित्य की ओर आकृष्ट करने का प्रयास किया है। युग प्रवर्तक नाट्यकार ने अपनी नाट्य रचना शैली द्वारा युग के समकालीन नाट्यकारों को अपनी विचार धारा से अत्यधिक प्रभावित किया। भारतेन्दु जी के स्वतन्त्र मार्ग निर्देशन ने अन्य पथानुगामियों को नवीन तथा उन्मुक्त पथ प्रदर्शित किया। अतः स्वच्छंदतावादी नाट्यकारों ने इसी पथ का अनुगमन किया। भारतेन्दु-युग के नाटकों तथा नाट्यकारों पर युग पुरुष की विचारधारा की स्पष्ट छाप दृष्टिगोचर होती है। नाट्य-सिद्धान्तों के अनुसरण के साथ-साथ लोगों ने बड़ी दृढ़ता से विचारधारा को भी अपना कर अपने युग पुरुष का गौरव बढ़ाया।

युग के नाटक तथा नाट्यकार :—

इस युग के नाट्यकारों पर अपने युग पुरुष की सम्पूर्ण छाप है, भारतेन्दु जी द्वारा सम्पादित विचारधारा और शैली का उनके सहयोगी मण्डल ने अनुकरण किया। उक्त विचारधारा के विकास के क्षेत्र में प्रयोग होते रहे हैं। यदि सम्पूर्ण युग की मनोवृत्ति का सिंहावलोकन किया जाय, तो सम्भवतः उस युग के नाट्य साहित्य को तथा उसकी मूल प्रेरणा को निम्न वर्गीकरण में रखा जा सकता है :—

(१) पौराणिक आख्यायिकाओं के आधार पर चलने वाला घटनाक्रम तथा उसका विकास।

(२) ऐतिहासिक व्यक्तित्वों के जीवन तथा घटनाओं का नाटकीय स्वरूप।

(३) राष्ट्रीय भावनाओं से प्रेरित नाट्य साहित्य।

(४) उद्देश्य प्रधान नाटक जिनका धार्मिक तथा सामाजिक उद्धार की भावनाओं को लेकर जन्म हुआ था।

(५) प्रेम प्रधान धारा से ओत-प्रोत प्रेमाख्यान नाट्य-साहित्य।

(६) प्रहसन का उदय और परम्परा।

पौराणिक नाट्य क्षेत्र में भारतेन्दु युग के नाट्यकार अपने युग प्रवर्तक से कहीं अधिक सफल दिखाई देते हैं। इनके नाटकों में पौराणिक आख्यानों के कई स्वरूप स्वतन्त्र रूप से विद्यमान हैं जिनमें विशेषतः रामचरित्र और कृष्ण लीला के आख्यानों को लेकर नाट्य साहित्य को पौराणिक आवरण दिया गया है। रामचरित्र धारा के निम्न उल्लेखनीय नाटक और नाट्यकार माने गये हैं :— पं० शीतल प्रसाद त्रिपाठी कृत 'रामचरितावली', पं० देवकीनन्दन त्रिपाठी कृत 'सीता हरण', (र. का. १८१६ ई०) तथा 'रामलीला' (र. का. १८७६ ई०), राम गोपाल-विद्यान्त कृत 'रामाभिषेक', (र. का. १८७७ ई०) श्री बलदेव जी कृत 'रामलीला विजय" (र. का. १८८७ ई०), श्री दामोदरसप्रे शास्त्री कृत 'रामलीला ७ काण्ड' लगभग (१८८६), श्री शिवांकरलाल कृत "रामायण दर्पण' (र. का. १८६२ ई०), जयगोविन्द कृत 'रामचरित्र' (र. का. १८६४ ई०), श्री बंदीदीन दीक्षित कृत सीता हरण' (१८६५ ई०) और 'सीता स्वयंवर' (१८६६ ई०), पं० ज्वाला प्रसाद मिश्र कृत 'सीता बनवास' (१८६५ ई०) तथा 'रामलीला रामायण' (१६०४ ई०), वामनाचार्य गिरि कृत 'वारिद नाद वध-व्यायोग' (र. का. १६०४ ई०)।[१]

भारतेन्दु युग में इस विषय को लेकर कोई उत्तम नाट्य रचना नहीं उपस्थित की गई। इस परम्परा को लेकर पूर्व की रचनाओं में 'आनन्द रघुनन्दन' उत्कृष्ट रचना है, यद्यपि उसमें नाट्य दोष विद्यमान हैं। यह युग रंगमञ्चीय नाट्य प्रणाली से अधिक -प्रभावित था अतः नाट्यकारों ने साहित्यिक अभिव्यंजना को गौण स्थान देकर रंगमञ्चीय शैली को प्राथमिकता दी, मुख्यतः इन नाटकों में प० देवकी नन्दन त्रिपाठी के नाटक इस कोटि के पाये जाते हैं। दामोदर सप्रे जी ने रामायण को लीला का स्वरूप दिया है, जिसमें नाटकीय उद्भव का क्रम विकसित नहीं प्रतीत होता है। कुछ कृतियां आकार और कलेवर में विस्तृत दश अङ्क के महा नाटक होते हुये भी भाषा और कथा-विस्तार में शिथिल प्रतीत होती हैं, वर्णन की प्रधानता है, और कविता का बाहुल्य है। कथोपकथन के बजाय पात्रों का कार्य केवल वर्णन करना रहता है। इस प्रकार की संगीतों वाली शैली द्वारा कथा-वस्तु का निर्वाह किया जाता है। ऐसी रचनायें उच्चकोटि की नहीं कही जा सकतीं। पद्यात्मक शैली की प्रधानता, वर्णनात्मक ढंग से कथोपकथन विहीन कार्य, शिथिल अभिनय नाटकीय

१ हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास पृष्ठ ७१।

स्तर को निम्न कोटि का बना देता है। उसे नाट्य साहित्य की दृष्टि से अधिक सफल नहीं कहा जा सकता। इस कोटि के लगभग अन्तिम नाटकों में से श्री बन्दीदीन कृत 'सीता स्वयम्बर' तथा श्री ज्वालाप्रसाद कृत 'सीता बनवास' हैं।

कृष्ण भक्ति परम्परा तथा तत्सम्बन्धी आख्यानों के आधार पर नाट्य रचना करने वाले नाट्यकारों की संख्या अपेक्षाकृत अधिक है। इस धारा का प्रतिपादन निम्न नाट्यकारों ने किया और अपने युग के नाट्य साहित्य की अभिवृद्धि की। सर्वप्रथम शिवनन्दन सहाय कृत कृष्ण सुदामा (र. का. १८७० ई०) नाटकीय क्षेत्र में अवतीर्ण हुआ। पंडित देवकीनन्दन त्रिपाठी कृत रुक्मणी हरण (१८७६ ई०), कंस वध (१८७६ ई०) और नन्दोत्सव (१८८०) प्रारम्भिक रंचमञ्चीय नाटकों की श्रेणी में हैं। नाटकीय प्रगति में उत्तरोतर उत्थान हुआ और आगे चलकर आने वाली रचनाओं में अधिक सफलता के चिन्ह दिखाई देने लगे। प्रधान नाटकों में पं० अम्बिकादत्त व्यास कृत 'ललिता' (र. का. १८८४ ई०), हरिहरदत्त दुबे कृत 'महा-रास' (र. का. १८८४ ई०), श्री खड्गबहादुर मल्ल कृत 'महारास' (र. का. १८८५ ई०), और 'कल्प-वृक्ष' (१८८६ ई०), चन्द्र शर्मा कृत 'उषा हरण' (१८८७ ई०), श्री विद्याधर त्रिपाठी रचित उद्धव बशीठ' नाटिका (१८८७ ई०), दामोदर शास्त्री कृत 'ध्रुव चरित्र' (१८८६ ई०), श्री कार्तिक प्रसाद कृत 'ऊषा हरण' (१८८१ ई०), पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय कृत 'प्रद्युम्न विजय' (१८६३ ई०) तथा 'रुक्मणी परिणय' (१८६४ ई०) कृष्णदत्त द्विज कृत 'श्री युगल विहार' (१८६६ ई०), प्रभुलाल कृत 'द्रौपदी वस्त्र हरण' (१८६६ ई०), सूर्यनारायणसिंह कृत 'श्यामानुराग' नाटिका (१८६६ ई०), श्री बलदेव मिश्र कृत नन्दविदा (१६०० ई०) और प्रभात मिलन (१६०३ ई०), बिहारीलाल चटर्जी एवं कालीकृष्ण मुकर्जी कृत, प्रभास मिलन' (१६०० ई०) राधाचरण गोस्वामी कृत 'श्री दामा' (१६०४), श्री वामनाचार्य गिरि कृत 'द्रौपदी चीर हरण' आदि हैं उपरोक्त नाट्यकारों ने कृष्ण चरित्र के वैभवशालीन जीवन तथा तत्सम्बन्धी आख्यानों के महत्वपूर्ण उल्लेखों को निरावृत किया है।

अन्य पौराणिक उल्लेखों में भक्त गोपीचन्द, राजा भर्तृहरि, एवं मोरध्वज जैसे भक्ति प्रधान चरित्रों को नाटकीय कलेवर दिया गया है। ये नाटक चरित्र प्रधान हैं, गोपीचन्द के कथानक को लेकर श्री अन्ना जी ईमानदार (र. का. १८७७ ई०), सखाराम बालकृष्ण सरनायक (र. का. १८८३ ई०) एवं श्रीमती लाली जी ने (१८६६ ई० में) पृथक् पृथक् नाटकों की रचना की है। प्रह्लाद चरित्र पर नाट्य प्रयास श्री मोहनलाल विष्णुलाल पाण्डया (१८७४ ई०), ला० श्री निवासदास (र. का. १८८८ ई०) एवं श्री जगन्नाथशरण आदि ने किया, परन्तु इन्हें पूर्ण-

रूपेण सफलता नहीं प्राप्त हुई। श्यामसुन्दर लाल दीक्षित कृत महाराज भर्तृहरि नाटक, विष्णुगोविन्द शिवदिकर कृत कर्ण पर्व, (१८७६ ई०) देवकीनन्दन त्रिपाठी कृत लखमी सरस्वती मिलन, श्री बालकृष्ण भट्ट कृत 'दमयन्ती स्वयम्वर' (१८८५ ई०), मंसारामकृत 'ध्रुव तपस्या' (१८८५ ई०) श्री जीवानन्द शर्मा कृत 'मङ्गल नाटक, (र. का. १८८७ ई०), श्रीचुन्नीलाल रचित 'श्री हरिश्चन्द्र' (१८८८ ई०), श्री शालिग्राम का 'मोरध्वज' (१८९० ई०) अभिमन्यु वध एवं 'अर्जुन-मद मर्दन' (१८९६ ई०), भवदेव उपाध्याय कृत 'सती सुलोचना' (१८९३ ई०), श्री अम्बाप्रसाद कृत 'वीर कलंक' (१८९६ ई०) श्री कैलाशनाथ बाजपेयी कृत 'विश्वमित्र' (र. का. १८९७ ई०), श्री दुर्गाप्रसाद मिश्र तथा काली प्रसाद मिश्र कृत 'सरस्वती'(१८९८ई०),कन्हैयालाल का 'शील सावित्री' (१८९८ ई०) लाला देवराज का 'सावित्री' (१९००), कन्हैयालाल का 'अन्जना सुन्दरी' (१९०१) तथा सी. यल. सिन्हा का 'विषया-चन्द्र हास' (र. का. १९०२ ई०) आदि हैं।

पौराणिक आधार के समस्त नाटक प्राप्य नहीं हैं। प्राप्त नाटकों में पं० बालकृष्ण भट्ट तथा श्री शालिग्राम जी के नाटक अधिक मौलिक तथा उत्कृष्ट प्रतीत होते हैं। यद्यपि सम्वाद में शैथिल्य तथा नाटकीय गति प्रवाह में वेग नहीं है। भट्ट जी के नल दमयन्ती को उस युग के नाटकों में से अधिक ख्याति मिली।

कालान्तर में रूपकों पर इतिहास का प्रभाव पड़ा, भारतेन्दु जी ने 'नीलदेवी' लिखकर समकालीन नाट्यकारों को नवीन मार्ग और विचार धारा की ओर मोड़ दिया, भारतेन्दु मण्डल के साहित्यकार अपने नायक से अधिक उत्साही रहे हैं, अतः इस मण्डल के निम्न सहयोगियों ने निम्नलिखित नाट्य साहित्य प्रस्तुत कर इस युग के नाट्य साहित्य को आगे,बढ़ाया। श्री राधाकृष्णदास कृत 'पद्मावती' (र. का. १८८२ ई०) और 'महाराणा प्रताप' (र.का. १८९७ ई०) उत्कृष्ट रचनायें हैं। इसके अतिरिक्त श्री काशीनाथ खत्री कृत तीन ऐतिहासिक रूपक वैकुन्ठनाथ दुग्गल कृत 'श्री हर्ष' (र. का. १८८४ ई०), श्री निवासदास कृत 'संयोगिता स्वयवर (र.का. १८८५ ई०), श्री गोपाल राम कृत 'यौवन-योगिनी (र. का. १८९३ ई०), श्री राधाचरण गोस्वामी कृत 'अमरसिंह राठौर' (र. का. १८९५ ई०), श्री बलदेव प्रसाद मिश्र कृत 'मीरा बाई' (र. का. १८९७ ई०), श्री गंगा प्रसाद गुप्त कृत 'वीर जयमल' (र. का. १९०३ ई०), पं० प्रतापनारायण मिश्र कृत 'हठी-हमीर' एवं बालकृष्ण भट्ट कृत 'चन्द्सेन'।

उपरोक्त वर्ग के नाटकों में श्री राधाकृष्णदास जी के नाटक अधिक सफल माने गये हैं। महाराणा प्रताप युग का अधिक मौलिक नाटक रहा है। श्री काशीनाथ खत्री के तीन ऐतिहासिक रूपकों का नाट्य साहित्य में प्रमुख स्थान रहा है, यद्यपि इनमें कलात्मक अभिव्यंजना नहीं है, फिर भी अधिक सफलता प्राप्त हुई। श्री

राधाचरण गोस्वामी कृत अमर सिंह राठौर एकांकीय दृष्टि से उत्तम रचना कही जा सकती है। अधिकांश ऐतिहासिक हिन्दू वीरों के धैर्य और पराक्रम का उल्लेख तथा मुगल-कालीन शासकों का भारतीय समाज पर धार्मिक और सामाजिक विरोध को लेकर अत्याचार तथा चरित्र हीनता के चित्र प्रस्तुत किये गये हैं। कलाकार का मूल प्रयोजन जन समाज को चेतनता प्रदान करने का है। उपरोक्त नाटकों का निहित सन्देश दासता अत्याचार के प्रति एक विद्रोहात्मक विचारधार का विस्फोट करना है। अतीत के आलम्बन पर वर्तमान हीनता, दासता और अत्याचार को खुलकर ललकारा गया है, जिससे भविष्य में पुनः खोई हुई मर्यादा और प्रतिष्ठा प्राप्त हो जाय।

इन्हीं ऐतिहासिक वीर चरित्रों ने राष्ट्रीय चेतना की प्रेरणा दी। अतीत के गौरव ने चिरकाल से खोई हुई राष्ट्रीयता को जगा दिया। साहित्य में राष्ट्रीयता की अभिव्यक्ति का सूत्रपात भारतेन्दु जी की ही रचनाओं द्वारा हुआ। भारत-दुर्दशा में युगद्रष्टा ने देश प्रेम की अलख जगाई। राष्ट्रप्रेम भावनाओं से ओत-प्रोत नाटकों द्वारा भारतीय रंगमंच ने देश को राष्ट्रीय भावनाओं से सानुप्राणित किया। इसी राष्ट्रीय धारा के प्रवाह में भारतेन्दु मण्डल के अन्य साहित्यकार उनका पथानुगमन करते हुये चले। निम्न कलाकारों ने अपनी कृतियों द्वारा हिन्दी साहित्य में राष्ट्रीय नाट्य साहित्य को पोषित किया। शरतकुमार मुकर्जी का 'भारतोद्धार' (१८८३ ई०), श्री खड्गबहादुर मल्ल का 'भारत आरत' (र. का. १८८५ ई०), अम्बिकादत्त व्यास कृत 'भारत सौभाग्य' (र. का. १८८७ ई०), पंडित बद्रीनारायण 'प्रेमघन' का 'भारत सौभाग्य' (१८८८ ई०), श्री गोपाल राम गहमरी कृत 'देश दशा' नाटक (र. का. १८९२ ई०), श्री जगतनारायण का भारत दुर्दिन (१८९५ ई०) पं० देवकीनन्दन त्रिपाठी का 'भारत-हरण' (१८९९ ई०) तथा पण्डित प्रतापनारायण मिश्र कृत 'भारत दुर्दशा' (र. का. १९०२ ई०) प्रमुख नाटक कहे जा सकते हैं।

यद्यपि इन नाटकों में से अधिकांश उच्च कोटि के नाटक नहीं हैं। केवल अङ्कों में विभाजित समस्या विशेष पर सम्वाद बद्ध हृदयोद्गार हैं। कथावस्तु का व्यवस्थित विस्तार और कलात्मक चरित्र-चित्रण इनमें नहीं है। परन्तु फिर भी देश की राजनैतिक, आर्थिक और असंगठित अवस्था का चित्र इनमें अच्छी तरह से चित्रित किया गया हैं। विशेषत: 'प्रेमघन' जी के 'भारत सौभाग्य' को इस विचार धारा की प्रतिनिधि रचना कहा जा सकता है, इस रूपक में प्रतीक पद्धति का आश्रय लेकर राष्ट्रीय भावनाओं का सुन्दर समाहार उपस्थित किया गया है। इसमें भारत नायक है, और सौभाग्यदेवी नायिका के रूप में है और बद इकबाले हिन्द प्रतिनायक के रूप में उपस्थित है। लेखक ने इस प्रतीकवादी रूपक में भारतवर्ष के दुर्दम

अध्यायों का इतिहास दिखाकर अंग्रेजी साम्राज्य की स्थापना में पुनः आशातीत सुव्यवस्था की कल्पना की है। फिर भी हमें राष्ट्रीय रूपकों में अराजकता से असन्तोष तथा राजसत्ता के प्रति विद्वेषात्मक भावनायें झलकती दिखाई देती हैं।

राष्ट्रीय विचारधारा के पश्चात् साहित्यकार की दृष्टि विभिन्न सामाजिक समस्याओं पर पड़ी, उन्होंने अपनी लेखनी से, देश, समाज और धर्म के परिष्कार की समस्या लेकर सामाजिकों के सामने एक नवीन रंगमंचीय विचार धारा उपस्थित की, अव्यवस्थित तथा विशृंखल समाज को नव निर्माण की ओर संकेत किया। इस युग के नाटकों में बाल विवाह, वैवाहिक प्रथा की कुरीतियों, स्त्री समाज की असहायावस्था तत्कालीन आचार, शिष्टाचार का ह्रास आदि मुख्य नाटकीय आलोचना के विषय बन गये। इन परिष्कार की भावनाओं पर राष्ट्रीय जाग्रति आन्दोलन तथा आर्य समाज के विचारों की प्रमुख छाप पड़ी।

इस विचार धारा के नाटकों का सूत्रपात "प्रेमयोगिनी" (१८७५) से आरम्भ हुआ, और तत्पश्चात् युग नायक का समकालीन उदीयमान नाट्यकारों ने पथानुगमन किया। पंडित रुद्रदत्त शर्मा के नाटक 'अबला विलाप' (र० का० १८८४ ई०), 'पाखण्ड मूर्ति' (र०का० १८८८ ई०) तथा 'आर्यमत मार्तण्ड' (र० का० १८९५ ई०) एवं जगन्नाथ भारतीय के 'समुद्र-यात्रा वर्णन' (र० का० १८८७ ई०), 'वर्ण व्यवस्था' (१८८७ ई०) और नवीन वेदान्त नाटक (र० का० १८९० ई०) सामाजिक चेतनता को जागरूक करने वाले नाटक थे। यद्यपि कला की दृष्टि से इनमें कोई विशेषता नहीं है, पर सम्वादों में अपने तर्क को सिद्ध करने की शक्ति पर्याप्त मात्रा में प्रस्तुत है। किशोरी लाल गोस्वामी ने अपने नाटक 'मयंक सुन्दरी' में सनातन धर्मी रूढ़िवादी विचार धारा का विरोध किया है। श्री राधाचरण गोस्वामी जी ने अपने तन, मन, धन गोसाईं जी के अर्पण में, वैष्णवों की कलुषित मनोवृत्ति और उनके अनुयाइयों की मूर्खता का अच्छा व्यंग चित्र दिया है। कुछ नाटक केवल सामाजिक कुरीतियों की समस्या लेकर ही लिखे गये हैं, जिनमें से श्री राधाकृष्णदास कृत 'दुखिनी बाला' (र० का० १८८० ई०), पं० देवकीनन्दन त्रिपाठी कृत 'बाल-विवाह' (र० का० १८८१ ई०), काशीनाथ खत्री कृत विधवा विवाह (र० का० १८८२ ई०), श्री निधिलाल कृत "विवाहिता-विलाप" (र० का० १८८३ ई०), तोताराम कृत 'विवाह-विडम्बन' (र० का० १८८४ ई०), देवी प्रसाद शर्मा कृत 'बाल्य विवाह नाटक' (१८८४ ई०), श्री देवदत्त मिश्र कृत 'बाल विवाह दूषक, (१८८५ ई०) घनश्यामदास कृत 'वृद्धावस्था विवाह नाटक' (१८८८ ई०) और छुट्टनलाल स्वामी कृत बाल-विवाह नाटक (१८९८ ई०) उपरोक्त नाटकों में बालविवाह तथा विवाह सम्बन्धी सामाजिक कुरीतियों की आलोचना की गई है, जो सामाजिक व्यवस्था में अभिशाप स्वरूप उपस्थित हो गई थी।

नारी समस्या को लेकर इस युग के नाट्यकारों ने भारतीय नारी जीवन की सामयिक आलोचना की है। एक ओर अबला की करुण रूपरेखा है, तो दूसरी ओर नारी छलनामयी के रूप में प्रस्तुत है। पं० प्रतापनारायण मिश्र का 'कलि कौतुक' रूपक (र० का० १८८६ ई०) एक पत्नी को उसके वेश्यागामी पति द्वारा दिये गये त्रास की दुःख पूर्ण कथा है। कामताप्रसाद कृत 'कन्या सम्बोधनी' नाटक (१८८८ ई०) और श्री खड्गबहादुर मल्ल की 'भारत ललना' (१८८८ ई०) एवं "हरतालिका" (१८८७ ई०) आदि नाटकों में भारतीय आदर्श परम्परा पर काफी प्रकाश डाला है। श्री बैजनाथ कृत 'वीर-नामा' (१८८३ ई०), छगनलाल कासलीवाल कृत 'सत्यवती' (१८९६ ई०), बालमुकुन्द पाण्डे कृत 'गंगोत्तरी' (१८९७ ई०), बलदेव प्रसाद मिश्र की 'नवीन तपस्वनी' (१९०२ ई०) तथा पतनलाल सारस्वत की 'स्वतन्त्र वाला' (१९०३ ई०) इसी विचार धारा की कृतियां हैं। श्री राम गरीब चौबे के नारी-विलाप (१८८५ ई०) तथा 'गौरीदत्त सर्राफी नाटक' (१८९० ई०) एवं रतनचन्द के 'हिन्दी उर्दू नाटक' (१८९० ई०) में सामाजिक दुराचरण के कुप्रभाव के परिणामों पर प्रकाश डाला गया है।

गोरक्षा की समस्या को लेकर नाटकीय आन्दोलन चला। श्री अम्बिकादत्त व्यास ने गो संकट (१८८२ ई०), श्री देवकीनन्दन त्रिपाठी कृत गोवध-निषेध (१८८१ ई०) तथा प्रचन्ड गोरक्षक (१८८१ ई०), प्रतापनारायण मिश्र कृत गो संकट (१८८६ ई०) और श्री जगतनारायण ने अकबर गोरक्षा न्याय (१८८६ ई०) लिखकर साहित्यिक रंगमंच द्वारा इस आन्दोलन कार्य को आगे बढ़ाया।

प्रेम प्रधान धारा भारतेन्दु युग की प्रमुख धाराओं में से है। यद्यपि भारतेन्दु जी ने "विद्या सुन्दर" के सिवाय अन्य नाटकों में इसका आधिक्य नहीं रखा है, परन्तु इस युग के नाटककारों के लिये यह नवीन विषय नाट्य रचना का प्रधान क्षेत्र बन गया। यद्यपि प्रेम प्रधान नाटकों के विभिन्न रूप इन नाटकों में नहीं दृष्टिगोचर होते फिर भी भारतेन्दु काल ने आधुनिक नाट्य साहित्य को नवीन मार्ग प्रदर्शित किया है। प्रधानतः इस युग के नाटकों में से श्री निवास दास कृत 'रणधीर-प्रेम-मोहिनी' (१८७७ ई०) और तप्ता संवरण (१८८३ ई०), नानकचन्द कृत 'चन्द्रकला' (१८८३ ई०) अमनसिंह गोतिया कृत 'मदन मन्जरी' (१८८४ ई०) जागेश्वर दयाल कृत 'मदन मन्जरी' (१८८४ ई०), महादेव प्रसाद कृत "चन्द्रप्रभा मनस्नी" (१८८४ ई०), श्री कृष्ण टकरू कृत 'विद्या-विलासिनी' (१८८४ ई०) श्री खड्गबहादुर मल्ल कृत' रतिकुसुमायुध (१८८५ ई०) सतीशचन्द्र वसु का 'मैं तुम्हारा ही हूं' (१८८६ ई०) कृष्णदेव शरणसिंह का 'माधुरी रूपक' (१८८८ ई०), विंधेश्वरी प्रसाद का 'मिथिलेश कुमारी' (१८८६ ई०), किशोरी लाल

गोस्वामी कृत 'प्रणयिनी-प्रणय' और 'मयंक-मन्जरी' (१८९१ ई०), शालिग्राम कृत 'लावण्यवती-सुदर्शन' (१८९२ ई०), खिलावनलाल का 'प्रेमसुन्दर' (१८९२ ई०), गोपालराम का 'विद्या-विनोद' (१८९२ ई०), राजेन्द्रसिंह की 'प्रेम वाटिका' (१८९२ ई०), श्री कृष्णानन्द द्विवेदी कृत 'विद्याविनोद' (१८९४ ई०), शालिग्राम का 'इश्क चमन' (१८९० ई०), बालमुकुन्द पाण्डये कृत 'गंगोत्री' (१८९५ ई०), देवीदिनेश की 'प्रेममजरी' (१८९४ ई०), श्री गोकुलचन्द्र औदीच्य कृत पुष्पावती (१८९४ ई०), कालिकाप्रसाद अग्निहोत्री का 'प्रफुल्ल' (१८९५ ई०), श्री जगन्नाथ शर्मा कृत 'कुन्दकली' नाटक (१८९५ ई०), बृजजीवनदास का 'प्रेम-विलास' भाग १ (१८९८ ई०), जवाहरलाल वैद्य का 'कमल-मोहनी—भँवर सिंह (१८९८ ई०), ज्ञानानन्द कृत 'प्रेमकुसुम' (१८९९ ई०), जैनेन्द्रकिशोर का 'सोमसती' (१९०० ई०), सूर्यभान का 'रूप-वसन्त' (१९०१ ई०), हरिहरप्रसाद जिन्जल का 'जया' (१९०३ ई०), शालिग्राम का 'माधवानल काम-कन्दला' (१९०४ ई०), और रायदेवी प्रसाद का 'चन्द्रकला-भानुकुमार' (१९०४ ई०) प्रमुख हैं।

इस विचार धारा के नाटक अधिकांश सुखान्त ही हैं, वियोगान्तक नाटकों की रचना न्यून प्रतीत होती है, दुखान्त नाटकों की कोटि में श्री निवासदास कृत 'रणधीर प्रेम मोहिनी' और शालिग्राम का 'लावण्यवती सुदर्शन' ही उल्लेखनीय हैं। ऐतिहासिक नाटक होते हुये भी भारतेन्दु जी का 'नीलदेवी' हिन्दी नाट्य का प्रथम दुखान्त नाटक है। प्रेम प्रधान नाटकों में रणधीर प्रेम मोहिनी में वियोगांतक प्रेम का निर्वाह बहुत सुन्दर दर्शाया गया है। शालिग्राम जी के नाटकों में कार्य व्यापार का शैथिल्य दृष्टिगोचर होता है। उपरोक्त नाटक उक्त शिथिलता से अछूत न रह सका। अन्य नाटकों में 'रति कुसुमायुध', 'मयंक मन्जरी, 'जया' और चन्द्रकला भानुकुमार सुन्दर, प्रेम प्रधान धारा की उत्तम नाट्य रचनायें हैं। प्रेम प्रधान नाटकों की कथावस्तु के विस्तार के लिये घटनाओं का स्वाभाविक विकास न दिखाकर आकस्मिक हो जाने वाली घटनाओं का आश्रय अधिक लिया गया है। फिर भी अति मानुषिकता के प्रयोग की अपेक्षा इस विधान में भावी विकास का बीजारोपण है।

प्रतीकवादी विचार धारा को लेकर एक नवीन नाट्य भाव की सृष्टि हुई, इसके पूर्व भी प्रबोध-चन्द्रोदय संस्कृत से इसी पद्धति में अनूदित किया गया था। भारतेन्दु जी का 'भारत दुर्दशा' प्रतीकवादी रूपकों में उत्कृष्ट उदाहरण है। तदुपरान्त इस दिशा में कई नाटक लिखे गये, इस भाव धारा के प्रतिनिधि नाटक और नाटयकार निम्न कहे गये हैं।

कमला चरण मिश्र कृत अद्भुत नाटक (१८८५ ई०), श्री रतनचन्द का 'न्यायसभा (१८९२ ई०), श्री दरियाव सिंह कृत मृत्यु सभा (१८९६ ई०), शंकरा-

नन्द का 'विज्ञान' (१८६७ ई०) और किशोरीलाल कृत 'नाट्य-संभव' (१६०४ ई०) इन प्रतिनिधि नाटकों में भावों और विचारों का मानवीकरण किया गया है। नाट्यकारों ने सहेतुक व्यंजना का प्रयोग कर अपने कहे हुये मन्तव्यों का सोपान प्रतीक पात्रों को बनाया है। श्री प्रेमघन जी तथा भारतेन्दु जी के भारत दुर्दशा इसके उत्कृष्ट उदाहरण हैं।

संस्कृत नाट्य साहित्य में विदूषकों की प्रणाली परम्परा से चली आ रही है, नाटक में विनोद और हास्य व्यापार दर्शकों के मनोरंजन तथा रोचकता की परितुष्टि करता है। विदूषकों के अभिनय जनित विनोद बहुधा गम्भीर वातावरण में तरलता और हास्य की तरग उठाने के ही प्रयोजन से उपस्थित किया जाता है जिससे दर्शकों का सुरुचिपूर्ण आकर्षण अभिनय विशेष पर रहता है। परन्तु इस विनोद तथा प्रहसन की प्रणाली में मौलिक अन्तर है। प्रहसन में व्यंगात्मक संज्ञा का आभास मिलता है। हास्य में तीन बातों पर ध्यान दिया गया है: हास्य का विषय ही वस्तु और क्रिया हो सकती है, जिसका विलक्षण, सामान्य अथवा असामान्य स्वरूप उपस्थित करना विदूषक के हाथ में है। प्रहसन किसी रूपक विधान को लेकर खींचा गया व्यग-चित्र है, जिसमें एक से अधिक असाधारण पात्र सम्भव हो सकते हैं। कथोपकथन में उक्ति वैचित्र्य और ध्वन्यार्थ का समावेश रहता है। कहीं-कहीं लक्षणा के प्रयोग के साथ प्रतीक पद्धति का अनुसरण किया जाता है। नाट्य-शास्त्र के अनुसार इसका हास्य रस प्रधान है।

प्रहसन भारतेन्दु युग की विशेष देन है। स्वयमेव भारतेन्दु जी ने उच्च कोटि के प्रहसन लिखे हैं, तथा समकालीन साहित्यकारों ने इस क्षेत्र में सराहनीय कार्य किया है। इस काल के निम्न उल्लेखनीय प्रहसन तथा नाट्यकार हैं। श्री देवकी-नन्दन त्रिपाठी कृत 'जयनरसिंह की' (१८७६ ई०) 'रक्षा बन्धन', 'स्त्री चरित्र', (१८७६ ई०) 'एक एक के तीन तीन' (१८७६ ई०) 'कलयुगी जनेऊ' (१८८६ ई०) 'बेल छै टके को', तथा 'सैकड़ों में दस दस', प० बालकृष्ण भट्ट का 'शिक्षा दान या जैसा काम वैसा परिणाम' (१८७७ ई०) रविदत्त कृत 'देवाक्षर चरित्र' (१८८४ ई०), हरिश्चन्द्र कुलश्रेष्ठ का 'ठगी की चपेट' (१८८४ ई०), श्री प्रताप-नारायण मिश्र का 'कलि-कौतुक रूपक' (१८८६ ई०) राधाचरण गोस्वामी का 'बूढ़े मुँह मुहांसे' (१८८७ ई०), 'तन,मन, धन गोसाई जी के अर्पण' (१८६० ई०) तथा 'भंग तरंग' (१८६२ ई०) माधवप्रसाद का 'हास्यार्णव का एक भाग' (१८६१) श्री किशोरी लाल गोस्वामी का 'चौपट चपेट' (१८६१ ई०) श्री गोपालदास गहमरी का 'दादा और मैं' (१८६३ ई०) तथा 'जैसे को तैसा' नवलसिंह चौधरी का 'वेश्या नाटक' (१८६३ ई०), बचनेश मित्र का 'हास्य' (१८६३ ई०)

विजयानन्द का 'महा अन्धेर नगरी' (१८९२ ई०) देवदत्त शर्मा का 'अति अन्धेर नगरी' (१८९८ ई०), राधाकान्तलाल का 'देशी कुत्ता विलायती बोल' (१८९८ ई०) और बलदेव मिश्र का लज्जा बाबू' (१९०० ई०) ।

इन प्रहसनों के विषय सामान्यत: वेश्या-वृत्ति का परिणाम, वेश्या-गामी का दुखी जीवन और सती पत्नी की असहायता, धार्मिक पाखण्ड, और उसके द्वारा समाज की हानि तथा अनीति पूर्ण आचार का बुरा परिणाम हैं। बालकृष्ण भट्ट का जैसा काम वैसा परिणाम, प्रतापनारायण मिश्र का कलि कौतुक रूपक एवं किशोरीलाल गोस्वामी का चौपट चपेट, तीनों एक ही प्रकार के प्रहसन हैं। इनका विषय प्रतिपादन भी एक ही जैसा है। राधाचरण गोस्वामी के प्रहसनों में अधिक नूतनता झलकती है, मनोरंजक होते हुये भी उच्च कोटि का व्यंग नहीं है। इनसे अधिक उच्चकोटि के प्रहसन भारतेन्दु जी द्वारा लिखे गये हैं। इन प्रहसनों में उस युग की राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक चिन्ता धारा की छाप विद्यमान है। उपरोक्त मौलिक धाराओं के अतिरिक्त भारतेन्दु द्वारा प्रतिपादित, अनुवादित और रूपान्तरित नाटकों की परम्परा इस काल का प्रमुख कार्य बन गई। संस्कृत, अङ्ग्रेजी और बंगला के मूल नाटकों को लेकर अनेक प्रहसन तथा सामान्य नाटक अनूदित हुये।

'संस्कृत के अनूदित नाटकों की परिपाटी आदि काल से ही चली आ रही थी, परन्तु इस युग के नाट्यकारों ने इस कार्य को एक विशेष प्रगति दी। भवभूति के उत्तर राम चरित्र का अनुवाद क्रमश: 'देवदत्त तिवारी' (१८७१ ई०), 'नन्दलाल विश्वनाथ दुबे' (१८८६ ई०) और लाला सीताराम ने (१८९७ ई०) किया, मालती माधव का अनुवाद लाला शालिग्राम ने (१८८१ ई०) और सीताराम ने (१८९८ ई० में) किया। महावीर चरित का अनुवाद केवल लाला सीताराम ने (१८९७ ई०) किया। महाकवि कालिदास का 'शकुन्तला'' ज्वालाप्रसाद मिश्र द्वारा (१९०२ ई०) एक असफल अनुवाद के रूप में उपस्थित किया गया। नन्दलाल विश्वनाथ दुबे का अनुवाद कुछ साहित्यिक और सामान्य स्तर का माना गया है। लाला सीताराम ने (सन् १८९८ ई० में) मालविकाग्निमित्र का सुन्दर अनुवाद प्रस्तुत किया। प्रबोध चन्द्रोदय के इस काल में दो अनुवाद किये गये, प्रथम तो पं० शीतलाप्रसाद द्वारा १८७९ ई० और अयोध्याप्रसाद चौधरी द्वारा १८८५ ई० में।

वेणी संहार का अनुवाद अंबिकाप्रसाद व्यास तथा ज्वालाप्रसाद मिश्र ने (१८९७ ई० में) किया। मृच्छकटिक के कई अनुवाद हुये, सर्वप्रथम (१८८० ई० में) गदाधर भट्ट तथा श्री बालमुकुन्द गुप्त ने (१८९८ ई० में) किया, यह अनुवाद सर्वोत्कृष्ट माने गये हैं। इनके अतिरिक्त लाला सीताराम ने नागानन्द का

अनुवाद (१६०० ई० में) किया। अनुवादकों में नन्दलाल विश्वनाथ दुबे के सम्प्रयत्नों से संस्कृत छन्दों को हिन्दी में भाषान्तरित किया गया। अनुवाद के क्षेत्र में सफल प्रयोग भवभूति के नाटकों पर किये गये हैं।

सबसे पहले हिन्दी प्रदीप में माइकेल मधुसूदन दत्त के पद्मावती और शर्मिष्ठा का अनुवाद क्रमश: १८७८ ई० और १८८० ई० में निकला, अनुमानत: यह भट्ट जी द्वारा अनूदित कहे जाते हैं, धनंजय भट्ट की भूमिकाओं से भी ऐसा ही प्रकट होता है। परन्तु बा० ब्रजरत्नदास[1] जी के कथनानुसार शर्मिष्ठा का अनुवाद पं० रामचरण शुक्ल द्वारा सम्पादित किया गया है। बा० रामकृष्ण वर्मा ने तीन नाटकों के बहुत ही सुन्दर अनुवाद किये—राजकिशोर दे कृत पद्मावती (१८८६ ई०) माईकेल मधुसूदन कृत कृष्णाकुमारी (१८६६ ई०) और द्वारिकानाथ गांगुली कृत वीर नारी (१८६६ ई०) शिवनन्दन त्रिपाठी ने (१८६६ ई०) नवाब सिराजुद्दौला (लक्ष्मी नारायणचक्रवर्ती कृत) का अनुवाद प्रकाशित किया। ज्योतीन्द्र नाथ ठाकुर के सरोजिनी नाटक के भी दो अनुवाद प्रकाशित हुये (१८८१ ई० में चर्च मिशन यंत्रालय प्रयाग से) तथा दूसरा पं० केशवप्रसाद मिश्र का (१६०२ ई० में) भारत जीवन प्रेस से प्रकाशित हुआ। मिश्र जी का अनुवाद मौलिक नाटक का आनन्द देता है। बंगला के दो प्रहसनों के अनुवाद भी इस काल में हुये। गोकुलचन्द ने बूढ़ो शालिकेर वाहन का अनुवाद 'बूढ़े मुंहमुंहासे लोग देखें तमाशे, के नाम से से किया, और ब्रजनाथ शर्मा ने माईकेल मधुसूदन के 'एई किबोले सभ्यता' का अनुवाद 'क्या इसी को सभ्यता कहते हैं' (१८८४ ई० में) भारत जीवन प्रेस से प्रकाशित कराया। राधाचरण गोस्वामी कृत बूढ़े मुंहमुहांसे इसी आधार पर लिखित प्रहसन है। पं० केशवराम भट्ट ने शरत और सरोजिनी के आधार पर सज्जाद संबुल (१८७७ ई०) और सुरेन्द्रविनोदिनी के आधार पर समसाद सौसन (१८८० ई०) की रचना की। इसमें तत्कालीन सामाजिक और राजनैतिक जाग्रति का अच्छा परिचय मिलता है।

रूपान्तरित नाटकों का भारतेन्दु युग में प्रमुख स्थान रहा है, इसका क्रम अधिक व्यापक रहा है।

इसी काल में अंग्रेजी नाटकों के अनुवाद की ओर भी प्रयत्न किये गये। सर्व प्रथम तोताराम जी ने (१८७६ ई० में) जै० एडीशन का केटो वृत्तान्त के नाम से अनुवाद किया जो कि वर्तमान समय में अप्राप्य है। शेक्सपियर का मर्चेन्ट आफ

---

[1] हिन्दी नाटक साहित्य—पृ० सं० १६०।

वेनिस अनुवादकों का प्रिय नाटक रहा है। इसके कई रूपान्तरों का प्रकाशन हुआ, आलेश्वरप्रसाद और दयालसिंह ठाकुर ने वेनिस का सौदागर नाम से अनुवाद किया। सन् १८८८ में आर्या नामक जबलपुर की महिला नाट्यकार ने वेनिस नगर का व्यापारी के नाम करण से अनूदित किया, शेक्सपियर के अन्य नाटकों में से रतनचन्द ने 'कमेडी आफ एरर्स' को भ्रम जालक के नाम से (१८८७ ई० में) अनूदित किया। जयपुर के पुरोहित श्री गोपीनाथ ने 'एज यू लाइक इट' और रोमिओ जूलियट का भी मन भावन (१८९६ ई०) और प्रेम लीला (१८९७ ई०) के नाम से अनुवाद किया। श्री मथुराप्रसाद उपाध्याय ने मैकबेथ का अनुवाद साहसेन्द्र साहस के नाम से अनुवाद (१८९३ ई० में) किया। इन अनुवादों में भारतीय वातावरण का समावेश है। किंग लियर का अनुवाद पं० बद्रीनारायण बी० ए० द्वारा सम्पादित किया गया। यह अनुवाद तो सफल है, परन्तु भावों में दुरूहता अवश्य आ गई है।

भारतेन्दु युग के अनुवादित एवं रूपान्तरित नाट्य साहित्य में से किसी का कोई स्पष्ट प्रभाव नाटकीय सृजन एवं उसके विकास पर नहीं पड़ा। संस्कृत के नाटकों के अनुवादों ने केवल प्राचीन नाटकों को हिन्दी साहित्य का अङ्ग बना दिया। अङ्गरेजी के अनुवादों का प्रचलन मुखरित हुआ, इस क्षेत्र के अनुवादकर्ताओं को अधिक सफलता प्राप्त हुई। यद्यपि बंगला साहित्य के अनेक महत्वपूर्ण नाटकों का अनुवाद किया गया, परन्तु यह नाटक हिन्दी नाट्य साहित्य पर चिरस्थायी छाप न डाल सके। परन्तु सम्पूर्ण युग के नाट्य साहित्य की कथा वस्तु में नये नये विषयों का समावेश और नवीन समस्याओं का आविष्कार जन जाग्रति के लिये अनुकूल वातावरण उपस्थित कर देता है। नाटकों में नूतन प्रेरणाओं को लेकर उनके प्रतिपादन की प्रणाली में भी पर्याप्त विकास हुआ। नाटककारों में से अधिकांश लेखकों ने एक ही समस्या पर पृथक् पृथक् विचार प्रगट किये, मूल अभिप्राय एक होते हुये भी विभिन्न शैली का प्रयोग उनकी प्रतिभा का आदि और अन्तिम उदाहरण है।

प्राचीन मंगलाचरण तथा प्रस्तावना और भरत वाक्य का रूप परिवर्तित हो गया। विशेषतः समस्या प्रधान नाटकों में कुछ को छोड़कर नाट्यकारों ने नांदी और प्रस्तावना की परम्परा को हटा दिया। अङ्कों और दृश्यों में कथावस्तु का विभाजन कर उन्होंने कार्य व्यापार, स्थान और समय के त्रिसमन्वय को दृढ़ रूप दिया। जिनमें संकलनत्रय नहीं हो पाया उन्हीं नाटकों में शिथिलता आ गई, और अरुचिकर प्रतीत होने लगे। पं० बालकृष्ण भट्ट का दमयन्ती स्वयम्वर, श्री निवासदास का संयोगिता स्वयम्वर, खड्गबहादुर मल्ल की हरतालिका, राधाकृष्णदास की दुखनी बाला, ला० शालिग्राम के प्रायः सभी नाटक कथा-वस्तु के विकास की दृष्टि से बहुत शिथिल हैं यद्यपि सम्वाद की दृष्टि से दमयन्ती स्वयम्वर एक अनुपम नाटक है। इसके विपरीत रणधीर प्रेम मोहिनी, महाराणा प्रताप, अमरसिंह राठौर, प्रतापनारायण

का भारत दुर्दशा, नाट्य-सम्भव, नंदविदा आदि नाटकों की कथावस्तु का विकास बहुत कलात्मक है। मयंक मंजरी और चन्द्रकला भानुकुमार में कविता के बाहुल्य और लम्बे भाषणों पर यदि ध्यान न दिया जाय तो वे भी मध्यम कोटि में आ सकते हैं। कथोपकथन में लम्बी वक्तृता पर यदि ध्यान न दिया जाय, तो कन्हैयालाल का अञ्जना सुन्दरी नाटक भी उल्लेखनीय कहा जा सकता है।

पात्रों के चयन में विभिन्न प्रकार के व्यक्तितत्वों को लिया गया है जो श्रेणी-बद्ध प्रतीत होते हैं, पौराणिक नाटक धारा में ऋषि और मुनि, देवी, देवता सभी प्रकार के पात्र नाटकों के नायक, नायिका एवं प्रमुख, गौण पात्र बने हैं। जिनमें मानवीय पात्रों की प्रधानता पाई जाती है। ऐतिहासिक पात्रों के चरित्र अधिक सफलता से अङ्कित हैं। स्त्री पात्रों में अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व का विकास नहीं हो पाया है। युगों से परा-धीन नारी अपने आधीनता के भाव से विद्रोह करने में प्रयत्नशील नहीं हुई। इस अभाव का उसे ज्ञान तक न हो पाया अतएव नारी समाज का वही वातावरण जिसमें प्राचीन परम्पराजन्य कुलीनता और सौम्यता है, या फिर नारी पूर्ण अधोगति तक पहुँच गई है, और उसने निर्लज्जता और फूहड़पन का बाना पहन लिया है। गोकुल-चन्द्र की स्त्री जानकी (तन, मन, धन गोसाईं जी के अर्पण में) जैसी स्त्री केवल अपवाद स्वरूप हैं। परकीया नारी का एक चित्रण "कलि कौतुक," रूपक में प्रस्तुत है। वार्तालाप और भाव विचारों के व्यञ्जित करने की सभी शैलियों का समावेश इन नाटकों में है। नाट्यकारों ने स्वगत का बहुत ही स्वतंत्र रूप से प्रयोग किया है, लम्बे-लम्बे कथोपकथन भाषण का स्वरूप ले बैठे हैं, तर्क पूर्ण वाक्यों की भरमार है। भाषा की सजीवता तथा उसकी शक्ति का निर्देशन इस युग के नाटक-कारों की लेखनी में अधिक देखने को मिलता है। आरम्भ की भाषा प्रायः खड़ी बोली है, परंतु कहीं-कहीं ब्रज मिश्रित भाषा का प्रयोग भी किया गया है। पं० प्रताप-नारायण मिश्र की भाषा में तो ठेठ अवधी का पुट है। उद्धव वशीठ की भाषा में ब्रज का बाहुल्य है, परन्तु प्रवत्ति खड़ी बोली की ओर है।

भारतेन्दु जी ने अपने नाटकों में भावमय गीत और कथोपकथन देकर अपने अनुगामियों का पथ प्रदर्शन किया। परंतु समकालीन साहित्यकारों ने उस निर्देश पर उचित रूप से कार्य नहीं किया। रीतिकाल की प्रतिक्रिया, जिसमें कविता का बाहुल्य चरमसीमा तक पहुँच चुका था, और जिसमें कृत्रिमता का समावेश था, उसी का प्रभाव अब गद्य में दिखाई दे रहा था। ब्रज भाषा का मोह अभी तक न छोड़ा जा सका था। ब्रज भाषा शास्त्रीय बंधन से बंधी थी, अतः स्वच्छंद गीति काव्य की रचना असम्भव थी। १६ वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में रीतिकालीन प्रभाव अब भी अवशेष था, उत्तरार्ध के लेखकों ने विशेष कर जो कवि नहीं थे, संकुचित प्रेम-क्रीड़ा स्थला को छोड़ कर देश और समाज की नवीन समस्याओं को अपनाया। संघर्षपूर्ण संसार के

कठोर सत्य का उन्होंने अनुभव किया अत: उनकी राष्ट्र तथा समाज चेतना की ओर प्रवृत्ति जाग्रत हुई। राष्ट्रीय तथा समस्या प्रधान नाटकों की बहु संख्या इसी नूतन चेतना का प्रमाण है। प्रथम जन क्रांति (१८५७ ई०) के संस्मरण पूर्णत: भारतीय मानस से मिट न पाये थे। वह राष्ट्रीय भावना राख के ढेर में छिपे अंगारे के समान अब भी धधक रहा था। सामाजिक चेतनता द्वारा परिवर्तन कर वे उसे स्वस्थ बनाना चाहते थे, जिससे भावी राष्ट्र की नींव दृढ़ बन सके। नाट्यकार को कला का अधिक ध्यान न रहा। केवल एक संदेशवाहक की तरह वह प्रचारक का सा कार्य करना अपना मुख्य कर्तव्य समझने लगा। प्रश्न हो सकता है कि इतनी अशांति और आन्तरिक असंतोष के वातावरण में भी हिन्दी नाट्य-साहित्य में कोई क्रांतिकारी नाट्य रचना प्रस्तुत न हो सकी। इसके उत्तर में केवल यही कह देना उपयुक्त होगा कि सरकारी दमन नीति और जन नायकों के संयम ने अनुशासन भंग न होने दिया। फिर भी इस युग को हम हिन्दी नाट्य साहित्य का स्वर्ण युग कहें तो अत्युक्ति न होगी।

षष्टम अध्याय

भारतेन्दु के नाटकों का क्रमिक विकास और वर्गीकरण

क्रमिक विकास-तिथि क्रम से :—

भारतेन्दु जी आधुनिक हिन्दी नाट्य साहित्य के जनक थे। आपने अपने अल्प कालीन जीवन में लगभग डेढ़ दर्जन नाटकों की रचना की थी। इन नाटकों को तीन विभागों में विभाजित किया जा सकता है :—(१) अनूदित (२) रूपान्तरित, (३) मौलिक,। अनूदित नाटकों का आधार संस्कृत तथा अंग्रेजी नाट्य साहित्य है। सम्पूर्ण नाटकों में से पाँच [१] संस्कृत के विभिन्न नाटकों के अनुवाद हैं। एक नाटक शेक्सपियर के "मर्चेन्ट आफ वेनिस" का अनुवाद है। रूपान्तरित नाटकों की श्रेणी में केवल दो नाटक (विद्या सुन्दर तथा सत्य हरिश्चन्द्र मान्य ठहराये जाते हैं। उनके मौलिक नाटकों को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। इन वर्गों में आने वाले इनके गम्भीर नाटक तथा प्रहसन हैं।

भारतेन्दु जी ने अपने नाट्य साहित्य का निर्माण १८ वर्ष की अवस्था से प्रारम्भ किया था। आपका प्रथम प्रयास सम्वत् १६२५ वि० में लिखा प्रवास नाटक कहा जाता है। परन्तु यह मौलिक नाट्य ग्रंथ अपूर्ण ही रह गया, तथा इसका अवशेष भी अब लुप्त प्राय हैं। रचना क्रम के अनुसार तदुपरान्त रत्नावली नाटिका (र. का. १६२५ वि०) को संस्कृत साहित्य के ख्यातिनामा नाट्यकार श्री हर्ष रचित रत्नावली नाटिका से अनूदित किया। इसकी भूमिका में आपने स्वयं लिखा है "शकुन्तला के सिवाय और सब नाटकों में रत्नावली नाटिका बहुत अच्छी और पढ़ने वालों को आनंद देने वाली है, इस हेतु मैंने इसी का तर्जुमा किया है"। यद्यपि नाटिका के पूर्ण अनुवाद होने की ध्वनि इस भूमिका से प्राप्त होती है, पर इस नाटिका की प्रस्तावना तथा विष्कंभक का ही अनुवाद प्राप्त हो सका है। इसी वर्ष भारतेन्दु जी ने विद्यासुन्दर नाटक की रचना की। मूल नाटक महाकवि सुन्दर कृत विद्यासुन्दर तथा चौर पंचाशिका काव्य है। इसी के आधार पर बंगला साहित्य में रामप्रसाद सेन तथा भारत चन्द्रराय गुणाकर ने दो काव्य तथा महाराज जोगेन्द्रनाथ ठाकुर ने एक नाटक निर्मित किया था। गुणाकर के काव्य के आधार पर इस नाट्य की कथा वस्तु की

---

१ रत्नावली नाटिका, पाखण्ड विडम्बन, कर्पूर मञ्जरी, धनंजय विजय, मुद्रा राक्षस।

रचना की गई है। वस्तुतः यह पूर्णरूपेण न तो अनूदित नाटक है, और न मौलिक ही। भारतेन्दु जी की कथा वस्तु तथा बंग साहित्य कलाकार के काव्य में वर्णित पात्रों में साम्य पाया जाता है। अतः यह स्पष्ट है कि नाटकीय कथानक या वस्तु व्यापार को पूर्ण रूप से नहीं अपनाया गया है। इस नाटक में उसकी छाया ही ग्रहण की गई है। अतः हम इसे रूपान्तरित अथवा छायानुवाद की संज्ञा दे सकते हैं। यह नाटक तीन अंकों में विभाजित है, जिसमें ४+२+३ गर्भांक हैं।

सं० १९२९ वि० में भारतेन्दु जी ने कृष्ण मिश्र कृत प्रबोध-चन्द्रोदय नाटक के तीसरे अङ्क का "पाखण्ड-विडम्बन" के नाम से अनुवाद किया। यह छोटी सी गद्य पद्य मय रचना है। इसमें इन्द्रिय-जनित सुख के लोभ से किस प्रकार लोग सात्विक श्रद्धा से विमुख हो जाते हैं, इसका आधार लेकर कथानक रचा गया है। यह उसी वर्ष के फाल्गुन शुक्ल १४ को लिखा जा चुका था। यह नाटक आकार में छोटा अवश्य है, परन्तु भाषा और नाट्यगत काव्य की दृष्टि से अधिक प्रौढ़ तथा ललित व्यञ्जना का नाटक है। इसमें सात्विक श्रद्धा का भाव सगोपित है।

सं० १९३० वि० में "वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति" प्रहसन रचा गया। यह चार अङ्कों का मौलिक नाटक है। प्रथम अङ्क में मांस भक्षण, तथा विधवा विवाह का शास्त्रोक्त समर्थन कराया गया है। दूसरे अङ्क में वेदांती, वैष्णव, शैव तथा पाखण्डियों में तर्क विवाद होता है। तीसरे अङ्क में पुन. मांस भक्षण तथा मदिरा पान आदि वैदिक हिंसा का धर्मानुमोदित होना पुष्ट कराया गया है। अन्तिम अङ्क में इन धूर्त धर्माचार्यों को यमराज द्वारा दण्ड देना दिखाया गया है। यह प्रहसन भारतेन्दु जी के व्यक्तिगत जीवन से सबंध रखने वाली कुछ घटनाओं से अनुप्रेरित है। समकालीन कुछ विद्वानों से इस विषय में भारतेन्दु जी की जो मत भिन्नता थी, वही इस व्यंग-नाटक के निर्माण का हेतु बनी है।

इसी वर्ष के अन्त में कवि कांचन कृत "धनंजय विजय" व्यायोग का अनुवाद पूरा हुआ। इसी व्यायोग का एक अनुवाद भारतेन्दु जी के ही समकालीन (काश्मीर नरेश महाराज रणधीरसिंह की आज्ञा से) पं० छन्नूलाल द्वारा किया गया था। यह सं० १९१२ वि० में काश्मीर में मूल पद्यानुवाद तथा शेखर कृत वार्तिक सहित प्रकाशित हुआ था, और भाषा और पद्य में शिथिलता देख कर भारतेन्दु जी का इस ओर ध्यान आकर्षित हुआ। इस व्यायोग में पद्यांश अधिक है। पाण्डवों के अज्ञातवास के अन्तिम दिन राजा विराट के यहाँ व्यतीत हो चुके थे। दुर्योधन ने बलात् राजा विराट का गोधन हरण कर लिया। अर्जुन सभी को अकेले परास्त कर उसे पुनः लौटा लाये। नाटक पाण्डवों के प्रकाश में आने तक समाप्त होता है, इसमें पद्य का आधिक्य है। यह सन् १८७३ ई० में प्रथम बार हरिश्चंद्र मैगजीन में छपा था।

सं० १६३२ वि० में भारतेन्दु जी ने "प्रेम-योगिनी" नामक नाटिका लिखना प्रारम्भ किया। केवल चार ही गर्भांक लिख सकने के कारण वह अपूर्ण रह गया। इन चार दृश्यों में ही काशी का यथार्थ रेखा-चित्र खींचने का प्रयास किया गया है। उक्त चित्र की छाया आज भी काशी के सामाजिक जीवन में विद्यमान दिखाई दे सकती है। भारतेन्दु जी ने परोक्ष रूप में अपने व्यक्तिगत अनुभवों का भी उसमें उल्लेख किया है। सम्पूर्ण नाटक सम्भवत: उनके सामाजिक विचारों का उत्कृष्ट उद्‌गार होता। इसके प्रथम दो गर्भांक "काशी के छाया-चित्र" अथवा "दो भले बुरे फोटो ग्र फ" के नाम से एक बार प्रकाशित हो चुके हैं।

"सत्य हरिचन्द्र"[1] भारतेन्दु जी की सर्वोत्कृष्ट रूपान्तरित रचना है। क्षेमीश्वर का "चण्ड कौशिक" तथा रामचन्द्र का "सत्य हरिश्चन्द्रम्" से कथानक की प्रेरणा प्राप्त की गई है। कथानक की आधार-शिला एक होते हुये भी भारतेन्दु जी का यह नाटक मौलिक तथा नवीन कल्पनायें लिये हुये स्वतन्त्र रूप में खड़ा है, यह पूर्णरूपेण अनुवाद नहीं है। साथ ही इसे सर्वांग मौलिक कहना भी दुष्कर है। इसे हम छायानुवादों की श्रेणी में ले सकते हैं। चण्ड कौशिक से अवश्य कुछ श्लोक इसमें उद्‌धृत हैं, पर अधिकांश कथानक में भारतेन्दु जी ने स्वतन्त्र कल्पना से काम लिया है। इस नाटक में करुण रस का परिपाक बड़ी ही सुन्दरता से किया गया है। नायक सत्य वीर है, अत: उसमें करुण और वीर रस की भावनाओं का सम्मिश्रण मानना उचित होगा। यह नाटक सन् १८७५ ई० के अन्त में निर्मित हुआ और दूसरे वर्ष क्रमशः "काशी पत्रिका" में छपता रहा।

सन् १८७६ ई० में कविराज शेखर कृत कूर्पर मंजरी सट्टक का अनुवाद हुआ। मूल नाटक शुद्ध प्राकृत में निर्मित है, और रूपक में सट्टक भेद का यही एक उपलब्ध उदाहरण है। इसका कथानक प्रेम प्रधान है। यह सट्टक शृंगार रस से परिपूर्ण है, तथा विदूषक और विचक्षणा की विनोद पूर्ण बातों से उसमें हास्य का भी पुट मिला हुआ है। अनुवाद को पढ़ने से मूल का सा आनन्द आता है। और यह स्वतः एक मौलिक नाटक प्रतीत होता है। मूल ग्रन्थ से इसमें पद्यों का आधिक्य है, और उनमें से बहुतेरे स्वतन्त्र हैं। महाकवि पद्‌माकर के कुछ पद भी इसमें उद्‌धृत किये गये हैं। इसकी कथा-वस्तु चार अंकों में विभाजित है। प्रथम अंक में वसन्त का आगमन और राजा-रानी का वार्तालाप तथा वैतालिक गान करता है। दोनों के कथोपकथन में परिहास का समावेश है। इस अंक के अन्तिम दृश्य में सिद्ध भैरवानन्द का आना और मन्त्र बल से राजा के कहने पर कुंतल देश के विदर्भ नगर की राजकुमारी कूर्पर मंजरी का खींच मँगाना दिखाया गया है। राजा उसके

---

१ सत्य हरिश्चन्द्र की मौलिकता तथा रूपान्तर के विषय में विभिन्न मत हैं।

सौंदर्य का वर्णन पद्य में करता है। प्रथम दर्शन में दोनों में अनुराग अंकुरित हो जाता है। रानी को जब ज्ञात होता है कि वह उसकी मौसेरी बहिन है, तब उसे राज महल में ले जाती है। द्वितीय अंक में केवल राजा के विरह का वर्णन है, जो काव्यगत भावधारा से भर दिया गया है। राजा द्वितीय बार कर्पूर-मंजरी का दर्शन करता है। तृतीय अंक में राजा तथा विदूषक स्वप्न कहते हुये आते हैं, और गुप्त मार्ग से राजा कर्पूर-मंजरी के पास पहुँच जाते हैं। रानी को मिलन का समाचार मिलता है, वह खोजने चलती है, और कोलाहल रस-भंग कर देता है। चौथे अंक में राजा अपनी प्रेयसी को प्राप्त करता है। नाट्यगत काव्य सौंदर्य बहुत ही सुन्दर है।

विषस्य विषमौषधम् भारतेन्दु जी की मौलिक रचना है, नाट्य शास्त्रीय वर्गीकरण के अनुसार यह भाण की श्रेणी में आता है। इसमें केवल एक ही अंक है, और इस अंक में एक ही पात्र ने आकर अपना कथोपकथन उपस्थित किया है। यह रूपक बड़ौदा नरेश गायकवाड़ के कुशासन तथा पतन का व्यंगात्मक चित्र है। इसमें भंडाचार्य जी का व्याख्यान पठनीय है। सन् १८७५ ईस्वी में कुप्रबन्ध के कारण गायकवाड़ गद्दी से उतारे गये और उनके स्थान पर सयाजीराव गद्दी पर बिठाये गये। इस रूपक में भारतेन्दु जी ने देशी राज्यों के सामन्तशाही जीवन पर एक चुटीला व्यंग किया है, जहां कि निरीह प्रजा के कथित रक्षक भक्षकों की भाँति आचरण करते दिखाई पड़ते हैं। उनका अभिप्राय ऐसा प्रतीत होता है कि अंग्रेजी राज्य ने अपनी छत्रछाया में सामन्तों के अनाचार से प्रजा को बचा लिया। भारतेन्दु जी ने मल्हारराव के अत्याचार तथा प्रजा की दुर्दशा को आलम्बन बनाकर उपदेश दिया है कि ऐसे स्वदेशी राजों से ईश्वर उनके देशवासियों की रक्षा करे और अन्य राज उससे शिक्षा ग्रहण करें। यह नाटक सर्वप्रथम हरिश्चन्द्र चन्द्रिका में अक्टूबर १८७६ ई० में प्रकाशित हुआ था।

संवत् १९३३ वि० में श्री चन्द्रावली नाटिका की रचना हुई। यह नाटिका प्रेम प्रधान है, और भारतेन्दु जी की सर्वोत्कृष्ट रचनाओं में मानी जाती है। एक शुद्ध विष्कंभक देकर श्री शुकदेव जी तथा नारद जी से परम भक्तों के वार्तालाप द्वारा ब्रजभूमि के अनन्य प्रेम की सूचना दिलाते हुये यह नाटिका प्रारम्भ की गई है। ये दोनों पात्र केवल "कथां शानां निदर्शक: संक्षेपार्थ:" लाये गये हैं। इनसे नाटिका की मुख्य कथावस्तु से कोई सम्बन्ध नहीं है। कथावस्तु इस प्रकार है कि प्रथम अंक में चन्द्रावली तथा सखी के कथोपकथन से उसका श्रीकृष्ण के प्रति प्रेम प्रकट होता है। दूसरे अंक में चन्द्रावली का विरह वर्णन तथा वाटिका में सखियों से वार्तालाप है। विरहोन्माद में प्रिय के अन्वेषणार्थ जो प्रलाप कराया गया है, वह नाटकीय दृष्टि से अधिक लम्बा है, परंतु वह अस्वाभाविक नहीं प्रतीत होता—क्योंकि वातावरण के

अनुकूल है। तीसरे अंक का अंकावतार गुप्त पत्र भेजने का रहस्य बतलाता है। उसके अनंतर कई सखियों के साथ चंद्रावली आती है, और वार्तालाप द्वारा कार्य साधन का उपाय निश्चित किया जाता है। चौथे अंक में पहिले श्रीकृष्ण योगिन बनकर आते हैं, फिर ललिता और चंद्रावली आती हैं। अंत में युगल प्रेमियों का मिलन हो जाता है। यह नाटिका भारतेन्दु जी की उत्कृष्ट रचना कही जाती है। साहित्य समाज में यह अधिक ख्याति प्राप्त हो गई। पं० गोपाल शास्त्री द्वारा इसका संस्कृत अनुवाद किया गया, जो सं० १६३३ वि० में हरिश्चंद्र चंद्रिका तथा मोहन चद्रिका में क्रमशः छपा। राव कृष्णदेव सिंह ने इसका ब्रजभाषा में रूपांतर किया। यह युग की प्रतिनिधि मौलिक रचनाओं में थी।

"भारत-दुर्दशा" भारतेन्दु जी की मौलिक कृति है। सं० १६३३ वि० में नाटककार ने इस छः अंकों के रूपक में अलौलिक देश प्रेम का परिचय दिया है। इसमें भारत के प्राचीन गौरव का ओजस्विनी भाषा में वर्णन है, और वर्तमान दुरवस्था पर व्यथापूर्ण करुणा उद्‌गारों का समावेश है। इसी नैराश्य में भारत की अवनति के मूल कारणों के उच्छेदन करने की ईप्सा का भाव जाग्रत होता है। देश की भावनाओं से व्यंजित उद्‌गार राष्ट्र चेतना के सन्देश की अलख जगाते फिरते हैं। प्रत्येक अंक में नाटककार की उपदेशात्मक व्यंजना की अभिव्यक्ति दिखाई देती है। नाट्यकार ने देश प्रेम की अलख जगाकर एक सन्देश वाहक का सा कार्य किया है। यह मौलिक नाटक देश की दुरवस्था का भावात्मक रेखा-चित्र बन गया है।

"भारत दुर्दशा छः अङ्कों में विभक्त दुखान्त रूपक है, सर्वप्रथम एक योगी लावनी गाता हुआ आता है। वह सत्तेप में प्राचीन गौरव तथा वर्तमान दुर्दशा का उल्लेख करता है। द्वितीय अङ्क में भारत स्वयम् आकर अपनी हीन अवस्था पर अपने उद्‌गार प्रकट करता है। तीसरे अङ्क में भारत दुर्दैव बड़े ही अभिमान से भारत की हीन और विपन्नावस्था का वर्णन करता है। भारत दुर्दैव के फौजदार सत्यानाश अपने साधारण सैनिकों को नादिरशाह, चंगेज, तैमूर आदि बताते हैं। इसके अनन्तर भारत के निजी दोषों का भारत दुर्दैव के सैनिकों के रूप में वर्णन किया गया है। प्रथम स्थान धर्म को दिया गया है, जिसके कारण भारत का पतन हुआ है, अधोगति के अन्य मूल उपादान आपसी मतभेद, वर्ण व्यवस्था, बाल विवाह, विधवा विवाह निषेध, तथा समुद्र यात्रा निषेध, आदि माने गये हैं। चौथे अङ्क में भारत दुर्दैव रोग, आलस्य, मदिरा और अन्धकार को क्रमशः भेजते हैं, इनसे प्रभावित अकर्मण्य भारतीय जनता का दयनीय चित्र उपस्थित किया गया है। पांचवें अङ्क में घर पर बैठकर राजनीति चलाने वाले संभ्रान्त शिक्षित समुदाय के लोगों का चित्रांकन है। सभी वर्ग के लोग सम्पादक, कवि, बंगाली तथा महाराष्ट्रीय महाशय हैं। भारत दुर्दैव पर विजय पाने का यह मौखिक उपाय कितना हास्यपद और छिछला अङ्कित किया गया

है। छठें अङ्क में भारत भाग्य अपने पुरातन वैभव का स्मरण कर अपनी वर्तमान हीन अवस्था पर क्षुब्ध होता है, तथा आत्मघात कर लेता है। यह दुखान्त नाटक है—प्रतीकात्मक शैली पर रचा गया है, फिर भी यह अतिशय प्रभावोत्पादक बन गया है।

नीलदेवी एक ऐतिहासिक नाटक है, जो भारतेन्दु जी द्वारा सं० १९३८ वि० में लिखा गया था। आरम्भ में दुर्गा सप्तशती के कुछ श्लोक उद्धृत कर महाशक्ति का आह्वाहन किया गया है। नाटक में वीर रस प्रधान है, परन्तु करुण और हास्य का भी अच्छा योग है। इस नाटक के नायक "सूर्यदेव" नायिका "नीलदेवी" तथा प्रति नायक "अब्दुश्शरीफ खाँ सूर" हैं। राजा सूर्यदेव को सम्मुख युद्ध में परास्त न कर सकने पर मुगल सेनापति अब्दुश्शरीफ खां सूर रात्रि में आक्रमण कर उन्हें कैद कर लेता है। इस्लाम धर्म स्वीकार न करने के कारण वे मार डाले जाते हैं। रानी नीलदेवी शत्रु से अपने पति की हत्या का बदला लेने को प्रस्तुत होती है। शत्रु को प्रबल समझ कर वह कौशल से काम लेती है। वह गणिका के छद्म वेश में शत्रु सेनापति के पास पहुँचती है, और अवसर पाकर उसे मार डालती है और अंत में पति के शव के साथ सती हो जाती है। नाट्य की भाषा पात्रों के अनुकूल रखी गई है। भारतेन्दु जी के काल ही में इसका सफलतापूर्ण अभिनय किया जा चुका है, जिसमें स्वयम् नाट्यकार पागल की भूमिका में उपस्थित हुआ था।

'अँधेर नगरी चौपट राजा, टके सेर भाजी टके सेर खाजा' भारतेन्दु जी का मौलिक प्रहसन है। सं० १९३८ वि० में इसकी रचना हुई थी। इस प्रहसन की प्रेरणा नाट्यकार को बिहार प्रान्तीय कथित अन्यायी जमींदार से प्राप्त हुई थी। यह प्रहसन उनकी कुचेष्टाओं में परिष्कार करने के हेतु रचा गया था। इसका अभिनय स्थानीय "नेशनल थिएटर" में हुआ था। सम्पूर्ण प्रहसन छः दृश्यों में विभक्त है। प्रथम दृश्य में गुरु जी अपने दो चेलों सहित आते हैं। इस दृश्य में भारतेन्दु जी ने स्थान स्थान पर सधुक्कड़ी भाषा का प्रयोग किया है। गुरु अपने चेलों को 'लोभ पाप का मूल" उपदेश देकर भेजता है, दूसरे दृश्य में एक ऐसी नगरी के बाजार का दृश्य है, जहाँ सभी वस्तु टके सेर है। तीसरे दृश्य में गुरु ने इस अनोखी नगरी का यह विचित्र व्यापार देखकर वहाँ न रुकने का निश्चय किया, पर उनका चेला गोवर्द्धन-दास वहाँ रम गया। चौथे दृश्य में राजदरबार का चित्रण है। बकरी के दबने के कारण कोतवाल को मृत्यु दण्ड देने का निर्णय किया जाता है। पाँचवें दृश्य में टके सेर की मिठाई खाकर मोटे हुये गोवर्द्धनदास उस दण्डवेदी पर बलि देने के लिये पकड़ लिये जाते हैं। छठे दृश्य में गुरु जी की युक्ति से चेले का उद्धार होता है। इस प्रकार उस अँधेर नगरी के चौपट राजा का अन्त हो जाता है। प्रहसन में आदि से अंत तक हास्य रस का ही प्रसार है। व्यंग या कटाक्ष भी हास्य में विलीन हो गये हैं। अतएव इसे विशुद्ध "प्रहसन" कहा जा सकता है।

संस्कृत के सुप्रसिद्ध नाटककार विशाखदत्त कृत मुद्रा राक्षस का अनुवाद क्रमशः सं० १६३१ वि० के फाल्गुन मास की बाला बोधिनी में छपना प्रारम्भ हुआ, और प्रायः तीन वर्ष तक निकलता रहा। बाद में पुस्तकाकार प्रकाशित किया गया। यह नाटक मूल रूप से राजनीतिज्ञों की कूट नीति की चालों का विस्मयपूर्ण उद्घाटन करता है। इसमें प्रधानता वीर रस की है, और कर्मवीरत्व के उपदेश से परिपूर्ण है। नाटक की कथा वस्तु का आधार मौर्य साम्राज्य के संस्थापन के इतिहास से लिया गया है। यह एक सफल नाट्यानुवाद है। इसकी भाषा अतिशय प्रौढ़ और प्रांजल है।

मुद्रा राक्षस भारतेन्दु जी के सफल अनुवादों में गिना जाता है। इसका एक अनुवाद भारतेन्दु जी के ही समय में श्रद्धेय पं० मदनमोहन मालवीय जी के पितृव्य पं० गदाधर मालवीय ने भी किया था, परन्तु वह अप्रकाशित ही रह गया। नाटक की कथा-वस्तु भारतेन्दु जी ने सात अंकों में रखी है। प्रथम अंक में राक्षस की मुहर की अँगूठी का दैवयोग से चाणक्य को मिल जाना, शंकरदास से जाली पत्र लिखवाना, तथा उसको सन्देश सहित सिद्धार्थक को सौंपना, जीवसिद्धि का देश निर्वासन, शकरदास का भागना तथा चन्दनदास का बन्दी होना, आदि है। द्वितीय अंक में शंकरदास का चाणक्य के चर सिद्धार्थक के साथ भागना और सिद्धार्थक का राक्षस की सेवा में नियुक्त होना, मलय केतु के आभूषणों को सिद्धार्थक को देना, और सिद्धार्थक का मुहर लौटाना, पर्वतक के आभूषणों को छल से राक्षस के हाथ बेंच देना आदि है। तृतीय अंक में चन्द्रगुप्त और चाणक्य की झूँठी कलह। चतुर्थ में मलयकेतु पर शंका करना और चाणक्य के चर भागुरायण पर विश्वास करना। पंचम में मलयकेतु की राक्षस से कलह और पाँच सहायक राजाओं को मरवाना तथा मलयकेतु का युद्ध में बन्दी होना। छठे में चन्दनदास के रक्षार्थ चन्द्रगुप्त की अधीनता मानने के लिये चाणक्य के चर का चतुरता से राक्षस को बाध्य करना तथा अन्तिम सातवें अंक में राक्षस का मंत्रित्व ग्रहण करना इत्यादि। नाटक का घटनाक्रम विभिन्न मोड़ों से चलता हुआ भी एक ही सूत्र में बाँधकर उपस्थित किया गया है। अनुवाद में घटना प्रधान कौतूहल की रोचकता प्रस्तुत करना ही नाटककार का नैपुण्य है।

अँग्रेजी के प्रसिद्ध नाटककार शेक्सपियर के सुखान्त नाटक "मर्चेन्ट आफ वेनिस" का दुर्लभ बन्धु (अर्थात् वंशपुर का महाजन) के नाम से अनुवाद किया था। सम्वत् १६३७ वि० ज्येष्ठ शुक्ल की हरिश्चन्द्र चन्द्रिका और मोहन चन्द्रिका में इसका प्रथम दृश्य छपा है जिसमें केवल इतना लिखा है कि :—'निज़ बन्धु बालेश्वर प्रसाद बी० ए० की सहायता से और बंगला पुस्तक "सुर-तला" की छाया से भारतेन्दु जी ने लिखा है।' इस पत्रिका के सम्पादक भारतेन्दु जी के घनिष्ट मित्र

विष्णुलाल मोहनलाल पंड्या थे। सम्भवतः यह अनुवाद अपूर्ण था, जिसे पं० रामशंकर व्यास तथा बाबू राधाकृष्ण दास जी ने पूरा किया था। उक्त कथन में मत-भिन्नता भी है जिसके अनुसार यह अनुवाद मूल रूप से बाबू बालेश्वर प्रसाद कृत है, परन्तु उक्त सज्जन का अनुवाद काशी पत्रिका खण्ड प्रथम में "वेनिस का सौदागर" के नाम से प्रकाशित हो चुका था। भारतेन्दु जी ने 'नाटक' में इसका उल्लेख किया है। भारतेन्दु जी के अनुवाद में अंग्रेजी नामों को भी व्यवस्थित हिन्दी रूप दिया गया है। जिस प्रकार एन्टोनियो का अनन्त, बसेनियो का बसन्त, तथा पोर्शिया का पुरश्री आदि। इस अनुवाद में उक्त दोनों नाटकों से भारतेन्दु जी ने सहायता अवश्य ली है, तथा बंगला के "सुर-लता" से भी सामग्री प्राप्त की होगी। इस अनुवाद में ईसाई को हिन्दू तथा यहूदी को जैन माना गया है जो कि हिन्दू जैन सम्प्रदाय की प्रवृत्ति के अनुकूल मौलिक सी प्रतीत होती है।

सती प्रताप रूपक सावित्री-सत्यवान के पौराणिक आख्यान को लेकर लिखा गया है। यह नाटक अपूर्ण रह गया था, जिसे स्व० बा० राधाकृष्णदास जी ने बाद को पूरा किया। सात दृश्यों में से चार भारतेन्दु द्वारा लिखे गये हैं, और शेषांक की पूर्ति बा० राधाकृष्णदास जी द्वारा की गई है। यह उपाख्यान स्त्रियोपयोगी है, इसमें सती सावित्री का चरित्र प्रधान है। प्रथम दृश्य में अप्सरायें पातिव्रत की प्रशंसा करती हुई दिखाई गई हैं। दूसरे में सावित्री तथा सत्यवान का प्रथम मिलन होता है। तीसरे में सावित्री का प्रेम दिखलाया गया है। चौथे में नारद जी के समझाने पर सत्यवान के पिता द्युमत्सेन अपने पुत्र का विवाह सावित्री से करना स्वीकार करते हैं। इसमें मनसा पति-वरण कर लेने के बाद दूसरे से न विवाह करने का प्रण करके भी माता पिता की आज्ञा पर ही इच्छा पूर्ति को सौंप देने ही ने सावित्री शब्द को सती का पर्यायवाची आज तक बना रक्खा है. दोनों की मर्यादा का निर्वाह यथेष्ट रूप से मिलता है। यह रूपक लाला निवामदास के 'तप्ता संवरण' से प्रेरणा प्राप्त कर लिखा गया कहा जाता है। भारतेन्दु जी को लाला जी की उक्त रचना से सन्तोष न हुआ, अतः उन्होंने संवत् १६४१ वि० के लगभग इस उपाख्यान को एक रूपक में आबद्ध किया। इस उपाख्यान में लौकिक वासना पूर्ण प्रेम के स्थान पर अलौकिक प्रेम का समावेश किया गया है।

भारत जननी बंगला के भारत माता के आधार पर लिखी गई एक मौलिक रचना है। यह सर्वप्रथम सन् १८७७ ई० के हरिश्चन्द्र चन्द्रिका में प्रकाशित हुई थी, परन्तु सन् १८७८ ई० को "कवि-वचन सुधा" प्रकाशित सूचना से यह आभास मिलता है कि यह नाटक भारतेन्दु जी द्वारा शोध कर प्रकाशित किया गया है। इसके मूल लेखक कोई इनके मित्र थे। भारतेन्दु जी ने अपने नाटक शीर्षक लेख में इस भ्रांति को पूर्णरूपेण दूर कर दिया। यह उनकी स्वरचित रचना है, अन्य किसी का

इसमें कोई हाथ नहीं है। सन् १८८१ ई० के १० अक्टूबर के कवि-वचन सुधा की सम्पादकीय टिप्पणी से इसकी स्थिति और भी अधिक स्पष्ट हो जाती है। इसी नाटक के विषय में तथा नाटककार की प्रशंसा में वक्तव्य है। "इस आशय की प्रशंसा करने में कुछ ईश्वरांश हुये बिना किसकी सामर्थ्य है कि यह हिन्दी भाषा परमाचार्य कवि-वर श्री बाबू हरिश्चन्द्र की प्रशंसा करे"। ३१ दिसम्बर सन् १८८१ के "उचित वक्ता" में बा० राधाकृष्णदास ने विज्ञापन देते हुये इसे भारतेन्दु रचित लिखा है। हरिश्चन्द्र चन्द्रिका तथा मोहन चन्द्रिका (कला नं० ६, किरण ८, सं० १९३८ भाद्र-पद) में भी यह भारतेन्दु रचित लिखा गया है। यह भारतेन्दु जी के जीवन-काल में कई बार अभिनीत हुआ था। दुमराव के दीवान राय जयप्रकाशलाल ने इस नाटक के अभिनीत होने की भारतेन्दु जी को सूचना दी, तथा उनकी रचना पर बधाई का सन्देश भेजा।

भारतेन्दु जी ने अपने नाट्य-साहित्य में नाटकों के सभी मुख्य रूपों को विकसित करने की चेष्टा की है, और साथ ही समाज के सभी स्तरों की गति-विधि पर दृष्टिपात किया है। वे नाटकों का शास्त्रीय ज्ञान रखते थे। उन्होंने नाटक शीर्षक निबध में विभिन्न नाट्य शैलियों का विवेचन किया है, उनकी रचनाओं में संस्कृत नाट्य साहित्य की छाप स्पष्ट झलकती है। परन्तु नाट्य-शास्त्र के नियमों का अक्षरशः पालन उन्होंने नहीं किया है। उन्होंने अपने नाटकों को नवीन गति प्रदान की है। भारतेंदु जी पाश्चात्य नाट्य-कला से भी अनभिज्ञ न थे, योरोपीय नाटकों की जो छाया बंगला नाटकों पर पड़ी थी, उसका प्रतिबिम्ब कुछ अंशों में भारतेन्दु जी की रचनाओं में मिलता है। अतः यह स्पष्ट है कि नाटकों की रचना के सम्बन्ध में हम भारतेन्दु जी का प्राचीन और अर्वाचीन दोनों ही शैलियों का अच्छा अध्ययन पाते हैं, और उनकी शैली में दोनों ही का सम्मिश्रण मिलता है। उन्हीं के कथनानुसार "प्राचीन काल में अभिनयादि के सम्बन्ध में तात्कालिक लोगों की और दर्शक मण्डली की जिस प्रकार रुचि थी, वे लोग तदनुसार ही नाटकादि दृश्य-काव्य रचना करके सामाजिक लोगों का चित्त विनोद कर गये हैं। किन्तु वर्तमान समय में इस काल के कवि तथा सामाजिक लोगों की रुचि उस काल की अपेक्षा अनेकांश में विलक्षण है, इससे सम्प्रति प्राचीन मत अवलम्बन करके नाटक आदि दृश्य काव्य लिखना युक्ति संगत नहीं"।[1]

भारतेन्दु जी प्राचीन शैली को सम सामयिक नहीं समझते थे। उसका प्रयोग वहीं तक सीमित है, जहाँ तक देश काल के अनुसार वह उपयोगी प्रतीत होती है। प्राचीन आचार्यों के नियम उन्होंने ग्रहण किये हैं, परन्तु अंध-भक्ति के साथ उनका पालन नहीं किया है। बहुत से अनुपयुक्त प्राचीन नियम छोड़ देने तथा प्राचीन नाट्य नियमों को अशास्त्रीय प्रचलित अर्थ ग्रहण करने में उन्होंने कोई हानि नहीं समझी

[1] नाटक निबन्ध, भारतेन्दु जी।

हैं। नाटकों की मूल प्रेरणा को निम्न धाराओं में विभाजित किया जा सकता है :— सामाजिक, राजनैतिक, पौराणिक तथा प्रेम सम्बन्धी। भारत दुर्दशा, नीलदेवी मुद्राराक्षस तथा भारत जननी राजनैतिक कोटि के नाटक हैं। सत्य हरिश्चद्र, सती प्रताप, पौराणिक गाथाओं के आधार पर रचे गये नाटक हैं। भारतेन्दु जी के प्रेम प्रधान नाटक अधिक उत्कृष्ट हैं। इस कोटि में हम चन्द्रावली नाटिका, कर्पूर मञ्जरी, विद्या सुन्दर, को ले सकते हैं। सामाजिक समस्याओं को लेकर नाट्य रचना का सर्वप्रथम प्रयास भारतेन्दु जी ही ने किया। हिन्दी नाट्य साहित्य में यथार्थवादी पद्धति का श्री गणेश भारतेन्दु जी ही के द्वारा किया गया है। "प्रेम योगिनी" यथार्थवादी शैली पर बहुत ही सुन्दर रेखाचित्र है।

राजनैतिक तथा सामाजिक कोटि के नाटक देश तथा समाज की समसामयिक स्थिति पर प्रकाश डालते हैं। भारतेन्दु जी सुधारवादी देश हितैषी थे, उन्होंने उक्त नाटकों को राजनैतिक और समाज के परिष्कार के हेतु ही लिखा था। भारतेन्दु जी को अपनी कला कुशलता उनमें दिखाने का अवसर कम मिला है। प्रेम सम्बन्धी कृतियों में नाटककार ने रस और अलंकार आदि साहित्यिक तत्वों का समावेश अधिक किया है। नाटकों में सामाजिक उन्नयन का व्यापक दृष्टिकोण प्रस्तुत है जो कि भारतेन्दु जी के समाज-सुधार की संदेश-वाहनी का उद्घाटन करता है। नाट्य विधान में सर्वथा स्वतंत्र परम्परा का अनुसरण किया गया है। प्राचीन तथा अर्वाचीन नाट्य शैलियों का पूर्णरूपेण अनुसरण न कर स्वच्छन्दता वादी विचार धारा का प्रवर्तन किया है।

भारतेन्दु जी ने नाटकों में काव्य को प्रमुख स्थान दिया है। इनकी ललित छंदों पूर्ण नाटकावली अंग्रेजी नाट्य के लिरिकल एण्ड पोइटिक ड्रामाज् (Lyrical and Poetic Dramas) काव्यमय गीति नाटकों की कोटि में रखी जा सकती है। इनके सर्वप्रिय नाटकों में से सत्य हरिश्चन्द्र, चन्द्रावली और भारत दुर्दशा में शृंगार के वियोग पक्ष की प्रधानता दी गई है। चन्द्रावली नाटिका विप्रलंभ शृंगार की अनूठी कृति है, श्रीकृष्ण की बाल सुलभ, चपलता, सौंदर्य और गुण देखने से पूर्व राग उत्पन्न होता है। देखा देखी के पश्चात् यह पूर्व राग प्रेम में परिणत हो जाता है। प्रेम का आधिक्य हो जाने पर उसे छिपाना कठिन हो जाता है। जिस प्रकार के क्रमिक विकास को चन्द्रावली नाटिका में दिखाया गया है वह विरह की शास्त्रीय दसों दशाओं के अनुकूल है। नाटिका में चन्द्रावली के विरह में नियोजित अभिलाषा, चिन्ता, स्मृति, उद्वेग तथा उन्माद आदि की अवस्थाओं का विकास शास्त्रीय आधार पर ही ग्रहण किया गया है।

चरित्र चित्रण और रस की दृष्टि से सत्य हरिश्चन्द्र और नील देवी में भार-

तेन्दु जी अधिक सफल हुये हैं। हरिश्चन्द्र धीरोदात्त नायक हैं, और अपने आदर्श वाक्य का अक्षरशः प्रतिपालन किया है :—

> "…चन्द्र टरै सूरज टरै, टरै जगत व्यवहार,
> पै दृढ़ श्री हरिश्चन्द को, टरै न सत्य विचार।…"

नीलदेवी में सूर्यदेव सच्चा राजपूत चित्रित किया गया है। प्रतिनायक अब्दुश्शरीफ खां का खलनायक के आधार पर सफल चित्रण है। नीलदेवी के चरित्र में वीर भारतीय ललना के द्वारा "शठं प्रति शाठ्यम् कुर्यात्" का सन्देश दिलाया गया है। कथावस्तु की दृष्टि से अधिकांश नाटक सुगठित हैं। पात्रों के चित्रण में तथा उनके विकास को प्रदर्शित करने में किन्हीं स्थलों में भारतेन्दु जी की कला का यथेष्ट परिचय मिलता है। भारतेन्दु जी के प्रतीकवादी रूपकों में चरित्र को विशेष स्थान नहीं प्राप्त है।

"भारत दुर्दशा" रूपक प्रतीक पद्धति (Allegory) का नाटक है। अतः उसमें चरित्र चित्रण का विशेष स्थान नहीं है। प्रेम योगिनी के अध्ययन से ज्ञात होता है कि कथावस्तु समसामयिक समाज का व्यंग चित्रण है, और यथार्थ के धरातल पर उसका निर्माण किया गया है। काशी के सामाजिक जीवन का चित्रण बड़ा ही सजीव है।

संक्षेप में यह कहना उपयुक्त होगा कि भारतेन्दु जी ने नाटक के विभिन्न अंगों में अच्छा नैपुण्य दिखलाया है, उस युग के श्रेष्ठ बंगला नाटकों से तुलना करने पर भारतेन्दु जी की नाटकीय प्रतिभा का परिचय और हिन्दी की मौलिक शक्ति सामर्थ्य का आभास मिलता है।

रंगमंचीय भाषा का सूक्ष्म विवेचन :—

पारसीक रंगमंच की चर्चा पूर्व ही की जा चुकी है। रंगमंचीय व्यावसायिक मनोवृत्ति ने भाषा को दूषित कर दिया था। "इन्दर-सभा" को आदर्श मानकर उसी शैली में रंगमंचीय नाटक लिखे जाने लगे। प्रायः इन नाटकों की भाषा फारसी मिश्रित उर्दू होती थी। इन पारसीक रंगमंचीय नाटकों का हिन्दी रंगमंच पर घातक प्रभाव पड़ा। शैदा जौहर, आगा हश्र काश्मीरी, जेबा, बेताब तथा नजीर के नाटकों का पारसीक रंगमंच में अधिकांश प्रयोग होता था। भारतेन्दु जी के समकालीन "नजीर" साहब ने अपने रामलीला नाटक में राम और सीता के कथोपकथन के दृश्य को अश्लील और भद्दा कर दिया है।[1]

> परमेश्वर ने क्या सूरत है सवांरी,
> सीता ने जिगर पै नैन कटारी मारी।

---

१ आधुनिक हिंदी साहित्य, श्री लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय—पृ० १२१

अलबेली बाकी बरछी तिरछी चितवन,
चलते में लचके कमर हिचकती कमान।

भाषागत आये हुये फूहड़ तथा अश्लील शब्दों में जानो, दिल जानी, जोबन उभारना आदि समाज के नैतिक स्तर को द्रुतगति से गिरा रहे थे। भारतेन्दु जी ने इनसे मर्माहत होकर 'नाटक' शीर्षक निबन्ध में पारसीक रङ्गमंच की निराशापूर्ण स्थिति पर अपने विचार व्यक्त किये हैं :--

"काशी में पारसी नाटक वालों ने नाच घर में जब शकुन्तला नाटक खेला, और उसमें धीरोदात्त नायक दुष्यन्त खेमटे वालियों की तरह कमर पर हाथ रखकर मटक मटक कर नाचने और "पतरी कमर बल खाय" यह गाने लगा तो डा० थिबो, बा० प्रमदादास मित्र प्रभृति यह कहकर उठ आये कि अब देखा नहीं जाता। ये लोग कालिदास के गले पर छूरी फेर रहे हैं।"[1]

पारसी रङ्गमञ्च में दूषित वातावरण के परिष्कार के ही प्रयोजन से भारतेन्दु जी ने हिन्दी नाटक क्षेत्र में अपनी लेखनी उठाई। सम्भवतः उनके मस्तिष्क में पारसीक रङ्गमञ्च के विरोध की भावना काम कर रही थी। भारतेन्दु जी के अधिकांश नाटकों में एक अनोखी रङ्गमंचीय भाषा का प्रयोग है। वस्तुतः हिंदी नाटक में रंगमंचीय भाषा का प्रयोग भारतेन्दु जी का ही अविष्कार है। अधिकाश नाटक रङ्गमंचीय उपयोगिता की दृष्टि से लिखे गये हैं, इसीलिये एक विशिष्ट प्रकार का भाषा प्रवाह कथोपकथनों में दृष्टिगत होता है। भाषा में यथाशक्ति विशुद्ध हिन्दी के प्रयोग का प्रयास किया गया है, जिसे समकालीन नाट्यकारों ने आश्चर्य माना है।

भारतेन्दु जी युग संधि पर खड़े थे। कवि के नाते उनमें रीति कालीन छाया अवशेष थी। इनके पूर्व के नाटकों में अधिकाश ब्रज भाषा का प्रयोग था। यद्यपि भारतेन्दु जी खड़ी बोली के प्रतिनिधि उन्नायकों में से थे फिर भी इनकी भाषा में कहीं-कहीं ब्रज का प्रयोग मिलता है। यह ब्रजभाषा साहित्य तथा खड़ी बोली का संधि-युग था, इसीलिये नाट्यांतर्गत ब्रजभाषा[2] का प्रयोग अस्वाभाविक नहीं प्रतीत होता है। भारतेन्दु जी ने भाषागत अनेक रूपता प्रस्तुत की है। कहीं कहीं ब्रज और खड़ी का तथा

[1] नाटक निबन्ध—भारतेन्दु बा० हरिश्चंद्र (र. का. १८८३ ई०), पृष्ठ ६४

[2] बन :- (हाथ पकड़ कर) कहां चली सजि के ?
चंद्रा :- पियारे सों मिलन काज—
बन :- कहा तू सखी है—
चंद्रा :- प्यारे ही का यह धाम है।
बन :- कहा कहै मुख सों ?
चंद्रा :- पियारे प्रान प्यार— (चन्द्रावली नाटिका अंक, द्वितीय, पृष्ठ २१२

बनारसी [1] भोजपुरी का प्रयोग दिखाई देता है। प्रेमयोगिनी नाटक में एक साथ ही कई भाषाओं का सम्मिश्रण पाया जाता है. दक्षिणी पात्रों में मराठी [2] का प्रयोग भी विद्यमान है। भाषा के आधार पर कथोपकथनों में स्वाभाविकता लाने के लिये विभिन्न [3] प्रान्तीय भाषाओं का प्रयोग किया गया है। भारतेन्दु जी ने भाषा को पात्रों के अनुकूल रखने का सतत प्रयत्न किया है। नाटकों की भाषा एक विशेष रंग-मंचीय स्थान स्थापित करती हुई दिखाई देती है।

नाटकीय प्रयोगों में शब्द चयन का भी विशिष्ट स्थान है, भारतेन्दु जी अपने शब्द विन्यास के लिये अधिक सजग रहे। भारतेन्दु जी के नाटकों में विशेष रंगमचीय शब्द प्रस्तुत हैं। सखियाँ बार बार "बलिहारी सखी" का प्रयोग करती हैं। विशेष प्रकार के शब्दों का प्रचलन पारसी रंगमच में प्रचलित था। नाटकीय कथोपकथन में प्रयुक्त रंगमचीय शब्द पारसीक रंगमच की छाया का प्रभाव मात्र प्रतीत होते हैं, जिससे उन विशिष्ट प्रकार के शब्दों से अभिनय की रोचकता बढ़ जाती है। भारतेन्दु जी ने अपने इन प्रयोगों को सत्य हरिश्चन्द्र में सार्थक कर दिखाया है। चतुर्थ अंक में श्मशान दृश्य में पिशाचों का क्रीड़ाकौतुक [3] विभत्स चित्रण-भाषा तथा दृश्य दोनों ही दृष्टिकोण से रंगमंचीय उत्कृष्टता का उदाहरण है।

---

१ अरे! हरजनवां। मोहर का संदूक ले आया है न?
सत्यः–क चौधरी। मोहर लैके का करबो?
धर्म :–तोह से का काम पूछै से? (सत्य हरिश्चंद्र तृतीय अंक पृष्ठ ८६)

२ बुभुक्षित :–खरें, काय मारा मार झाली? अच्छा ये तर बैठ केल पण आखेरीस आमचे तड़ाचीकाय व्यवस्था? ब्राह्मण बाणलेस की नाहीं? कां हात हलवीतच आलास? प्रेम जोगिनी चौथा अङ्क अ ६९१)

३ बगाली :—(खड़े होकर) सभापति साहब जो बात बोला बहुत ठीक है। इसका पेश्तर कि भारत दुर्दैव हम लोगों का शिर पर आ पड़े कोई उसके परिहार का उपाय शोचना अत्यंत आवश्यक है। किंतु प्रश्न एई है जे हम लोग उसका दमन करने शकता कि हमारा वोर्ज्जोबल के बाइर की बात है। क्यों नहीं शाकता? अलबत्ता शकैगा, परतु जो शब लोग एक मत होगा (करतल ध्वनि)।
(भारत दुर्दशा, पांचवाँ अंक, पृष्ठ ४८२)

३ (पिशाच और डाकिनी गण परस्पर आमोद करते और गाते बजाते हुये आते हैं)
पि० औ० डा०–हैं भूत प्रेत हम, डाइन हैं छमा छम,
हैं सेवें मसान शिव को भजें बोले बम बम बम।
पि०–हम कड़ कड़ कड़ कड़ कड़ कड़ हड्डी को तोड़ेंगे,
हम भड़ भड़ धड़ धड़ पड़ पड़ सिर सबका फोड़ेंगे।
डा०–हम घुट घुट घुट घुट घुट घुट लोहू पिलावेंगी,
हम चट चट चट चट चट चट ताली बजावेंगी।
सब–नीचे मिलकर थई थई थई कूदें धम् धम् धम्,
हैं भूत–(सत्य हरिश्चंद्र पृ० ६८)

नाटकीय कथोपकथनों में अहा वाह वाह, अरे क्यों नहीं आदि विस्मयादि बोधक, आकाश भाषित तथा नेपथ्य संकेतों का बाहुल्य है जिनकी रंगमंचीय अभिनेय उपयोगिता चाहे अवश्य हो, परन्तु भाषा प्रवाह के आधार से दोषयुक्त प्रतीत होते हैं। शब्द चयन में निरकुंशता का आभास है, भारतेन्दु जी पात्रों के अनुकूल शब्दों[१] का निर्माण करते चले हैं।

यद्यपि भारतेन्दु जी के सम्पूर्ण गद्य की भाषा का प्रवाह एक ही तरल गति के साथ चलता है, भाषा भाव प्रधान है, वर्णनात्मक शैली का प्रयोग किया गया है, नाटकों में वर्णनात्मक मनोवृत्ति का उल्लेख पद्यांशों में हैं, गद्यात्मक कथोपकथनों में भावात्मक प्रश्न का प्रयोग यथेष्ट रूप में मिलता है। नाटकों तथा निबन्धों की भाषा में अधिक मौलिक अन्तर नहीं प्रतीत होता। जैसी वर्णनात्मक शैली का अनुसरण किया गया है, दोनों में समान रूप से विद्यमान है। भारतेन्दु जी के निबन्धों का महत्व नाटकों से कम नहीं है।

नाटकों में काव्य का बाहुल्य है, भावों की अभिव्यंजना जहाँ गद्य में संयत रूप से नाटककार नहीं दे सका है, वहाँ काव्यगत भावों में स्पष्ट और सुलझी हुई विचारधारा देखने में आती है, भारतेन्दु भी सर्वप्रथम कवि थे फिर नाट्यकार। नाटको के कथोपकथन के साथ आये हुये काव्य का भावुक प्रवाह जैसा चन्द्रावली नाटिका में उपस्थित है, वैसा अन्यत्र नहीं है। धनंजय विजय व्यायोग में कथोपकथन की भाषा पद्यमयी रखी गई है, रंगमञ्च के दृष्टिकोण से अभिनय के साथ कथोपकथनों में गायन का समावेश होना आवश्यक है। पारसीक रंगमञ्च के अभिनयों में जनता अब तक अश्लील गजलें तथा दादरा आदि सुनती आई थी, भारतेन्दु जी ने अपने नाटकों में बीच बीच में ठुमरी, कजरी तथा लावनी आदि छंदों को देकर जन साधारण के रुचि परिवर्तन का सतत प्रयत्न किया। हिन्दी के समस्त छंदों में भी उन्होंने पद शैली, मात्रिक छंद, वर्णिक छंद और जन गीतों की शैलिया अपनाई हैं। कहीं कहीं सूर के पदों से साम्य स्थिर किया जा सकता है। पदों के छन्दों के विविध टेकों के साथ विष्णु पद (१६, १० मात्रायें) नरसी (१६, ११ मात्रायें अन्त में ऽ।), सार (१६, १२ अन्त में सम), मरहठा, माधवी (१६, १३ अन्त में) ताटंक (१६, १४ अन्त में सम), वीर (१६, १५ अन्त में ऽ।) और सवाई (१६, १६ मात्रा अन्त में सम) का प्रयोग हुआ है। वर्णिक छन्दों में कवित और

१-(अ) जमाने, नाराज, हफ्ता, मसाला, खुरमा, चासनी खुरमा, चावनी खबणी, जादे बरखास्त।

और सवैयों का प्रयोग हुआ है, जिस शैली के कारण रीतिकालीन परम्परा का प्रभाव उनके छन्दों में दिखाई देता है। ब्रज भाषा के साथ परिपक्व और सफल, सवैया और घनाक्षरी ही को उन्होने अपनाया है। सवैया में दुर्मिल (८ सगण), किरीट (८ भगण), अरसात (७ भगण, १ रगण) और मत्त गयंद (७ भगण + ऽऽ) का प्रयोग किया गया है, घनाक्षरी छन्द में मनहरण और रूप घनाक्षरी के अतिरिक्त कुछ नवीन प्रयोग भी दृष्टिगत होते हैं।

रङ्गमञ्चीय दृष्टि से सङ्गीत का ध्यान विशेष रूप से रखा गया है। सूर और तुलसी की भाँति भारतेन्दु सङ्गीत कलाविद् थे। सङ्गीत में आये हुये राग भैरव, ध्रुपद, चौताला, ठुमरी, कजली, लावनी, कालिंगड़ा, विहाग, ठुमरी, गजल आदि का समावेश नाटकों के अन्तर्गत आये हुये गीतों में उपस्थित है। हिन्दी रङ्गमञ्च के नवीन प्रयोगों में पारसीक रङ्गमञ्च के जोड़ की रोचक सामग्री प्रस्तुत करना अति आवश्यक था। अतः उस प्रभाव से हिन्दी भाषी जनता को मुक्त करने के हेतु तथा नाटकों की अभिनेय उपयोगिता बढ़ाने के लिये भारतेन्दु जी ने नाटकीय काव्य में सङ्गीत की योजना की थी।

भारतेन्दु युग के पूर्व के नाटकों में सम्पूर्ण रङ्गमञ्चीय अभिनेय अवयव विद्यमान नहीं हैं। इस युग के उन्नायक ने नाट्य लेखन शैली में नवीन प्रयोग किये तथा सफलता प्राप्त की। इन प्रयोगों द्वारा पारसीक रङ्गमञ्च द्वारा प्रस्तुत विषाक्त वातावरण को दूर करने से सराहनीय सफलता मिली तथा हिन्दी नाट्य साहित्य में एक नवीन पटपरिवर्तन हुआ। निश्चय ही भारतेन्दु जी के सम्पूर्ण नाटक हिन्दी रङ्गमञ्च के प्रथम प्रयोग हैं। हिन्दी रङ्गमञ्च के नवयुगीन उत्थान में सब से अधिक श्रेय इन्हें ही प्राप्त है। नाट्यकार स्वयमेव अभिनेता था, इसीलिये कलाकृति में रङ्गमञ्चीय तथ्य निरूपण की मात्रा अधिकता से प्राप्त होती है। वस्तुतः नाट्यकार भारतेन्दु ने हिन्दी रंगमंच के आन्दोलन को मनसा, वाचा, कर्मणा तीनों से ही सफल करने का भरसक प्रयत्न किया।

नाटकों का वर्गीकरण और सामान्य परिचय

अनूदित नाटकः— भारतेन्दु जी के समस्त नाटकों को तीन प्रधान वर्गों में विभाजित किया गया है। (१) अनूदित नाटक (२) रूपान्तर तथा छायानुवाद (३) मौलिक नाटक तथा प्रहसन। भारतेन्दु काल के पूर्व से ही अनूदित नाटकों की परम्परा चली आ रही थी। कलाकार इस मूल प्रभाव धारा से अछूता न रह सका अतः नाट्यकार के प्रथम प्रयास अनूदित नाटकों ही से प्रारम्भ होते हैं। अनूदित नाटकों की आधारशिला मुख्यतः संस्कृत और अंग्रेजी नाट्य साहित्य था। अनूदित नाटकों में से पाँच (रत्नावली नाटिका, पाखण्ड विडम्बन, कर्पूर मञ्जरी,

धनञ्जय विजय तथा मुद्रा राक्षस) संस्कृत नाटकों के अनुवाद हैं, तथा अंग्रेजी के सुप्रसिद्ध नाट्यकार शेक्सपियर के "मर्चेंट आफ वेनिस" का अनुवाद "दुर्लभ बंधु" शीर्षक नाटक के रूप में प्रस्तुत किया गया।

चौदहवीं शताब्दी से उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक हिन्दी नाटकों का आधार क्षेत्र संस्कृत नाटक ही बने रहे। यशवन्तसिंह कृत "प्रबोध-चन्द्रोदय", निवाज कृत "शकुन्तला", हृदयराम कृत "हनुमान नाटक", देव कृत "देव माया प्रपञ्च", महाराज विश्वनाथ कृत "आनन्द रघुनन्दन", आदि नाटक संस्कृत अनुवादों के प्रारम्भिक प्रयास कहे जा सकते हैं। यद्यपि इनमें नाट्यकला के तत्वों का अभाव तथा काव्य तत्व का बाहुल्य पाया जाता है, फिर भी हिंदी नाटक संस्कृत नाट्य कथानकों द्वारा प्राप्त प्रेरणा के परिणाम स्वरूप हैं। नहुष (बा० गिरधरदास कृत) नाटक में समस्त नाटकीय तत्वों का समावेश है, अतः वह सम्पूर्ण नाटकीय अवयवों से पूर्ण प्रथम हिंदी नाटक कहा जा सकता है। इन अनुवादित नाटकों की परम्परा के प्रभाव से भारतेंदु जी भी अछूते न रह सके अतः सर्वप्रथम उन्होंने अनूदित नाट्य रचनाओं को ही हिंदी नाट्य साहित्य में प्रस्तुत किया है। रत्नावली नाटिका की भूमिका में वे स्वयमेव इस तथ्य को स्वीकार करते हैं।[1]

रत्नावली नाटिका महाकवि श्री हर्ष रचित "रत्नावली नाटिका" का अनूदित अंश है। इस नाटिका में नांदी प्रस्तावना तथा विष्कंभक के अतिरिक्त भारतेन्दु जी पूर्ण अनुवाद न कर सके। अपूर्ण नाटक होने के कारण इसकी विवेचना नहीं की जा सकती है। सामान्य रूप से प्रारम्भिक नांदी श्लोकों को ज्यों का त्यों रखकर भाषान्तर कर दिया गया है, नांदी तथा सूत्रधार के कथोपकथन में नाटक तथा मूल नाट्यकार का परिचय प्राप्त होता है। नटी तथा सूत्रधार कथानक की सूक्ष्म झलक प्रस्तुत करते हैं। नाटक के प्रयोजन का केन्द्रीकरण सूत्रधार के निम्न वाक्यों में निहित दिखाई देता है: —

"जो विधना अनुकूल तो दीपन सों सब लाय।
सागर मधि दिग अन्त सों तुरतहि देत मिलाय।[2]

उपरोक्त दोहे में कथानक का कुछ सूत्र उपस्थित सा दिखाई देता है, क्योंकि प्रस्तावना तथा विष्कंभक दोनों ही में इसकी पुनरावृत्ति की गई है। विष्कंभक के

१ "शकुन्तला के सिवाय और सब नाटकों में रत्नावली नाटिका बहुत अच्छी और पढ़ने वालों को आनंद देने वाली है, इस हेतु से मैंने पहिले इसी नाटिका का तर्जुमा किया है और जो ईश्वरेच्छा अनुकूल है, और आप गुण ग्राहकों की अनुग्रह दृष्टि है तो धीरे धीरे कुछ नाटकों का तर्जुमा कर प्रकाशित होता जायेगा।"

२ सूत्रधार वाक्य, रत्नावली नाटिका, पृष्ठ ७० भारतेन्दु नाटकावली।

आरम्भ में यौगंधरायण आता है, प्रसन्न मुद्रा में कथानक का परिचय देने के पूर्व ही "जो विधना अनुकूल तो दीपन सों सब लाय, सागर मधि दिग अन्त सों तुरतहिं देत मिलाय।" दोहराता है। इसके पश्चात् स्वगत कथन ही मे दर्शकों के सम्मुख कथानक बताता है। विष्कम्भक के अन्त में नेपथ्य कोलाहल बसन्तोत्सव की सूचना देता है। यौगंधरायण राजा के अटारी पर पहुँचने की सूचना देकर चला जाता है। भारतेन्दु जी के अपूर्ण नाटक में भी अनुवाद की सफल योजना स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। अनुवादों में नूतन शैली का प्रयोग भारतेन्दु जी ने ही प्रतिष्ठापित किया है। नाट्य तत्व तथा रगमंचीय प्रयोजन के सफल चिन्ह उक्त नाटिका में अङ्कित दिखाई देते हैं। यदि यह नाटिका पूर्ण होती तो कदाचित् सफल अनुवादो की कोटि में ऊँचा स्थान पाती।

पाखण्ड-विडम्बन प्रगीत रूपक का उत्कृष्ट उदाहरण है इसमें भावों का द्वंद तथा अन्तर के ऊहापोह का मनोवैज्ञानिक चित्रण कलाकार भारतेन्दु जी की मौलिकता का परिचायक है। यह रूपक प्रतीक पद्धति को अपना कर लिखा गया है। पाखण्ड विडम्बन श्री कृष्ण मिश्र कृत 'प्रबोध चन्द्रोदय" नाटक के तृतीय अङ्क का अनुवाद है। अनुवाद की दृष्टि से इस नाटक के गद्य तथा पद्य दोनों में ही समान सफलता दिखाई देती है।

द्वंदात्मक भाव प्रधान इस नाटक के नायक विवेक तथा मोह हैं। मोह विवेक का प्राबल्य देखकर दंभ के आवेश में काशी पर अपना प्रभुत्व जमाने जाता है। और श्रद्धा तथा धर्म में भेद डालने के लिये मिथ्या दृष्टि को भेजता है। शान्ति को बदी करने की आज्ञा देता है। यह उक्त नाट्य की पूर्व पीठिका है, मूल नाट्य प्रबोध चंद्रोदय के तृतीय अंक से ही प्रारम्भ होता है, और इसी अङ्क के अन्त म ही यह समाप्त हो जाता है। प्रारम्भ में शान्ति के साथ करुणा आती है, और अपनी माता श्रद्धा की खोज में चिन्तित दिखाई देती है। करुणा के समझाने पर उसे खोजने लगती है। दिगम्बर जैन, बौद्ध तथा सोम सिद्धान्त वादी, कपालिक क्रमशः आते हैं और अपने-अपने मत का प्रतिपादन करते हैं छद्म वेशी श्रद्धा कपालिनी के रूप में आकर प्रथम दोनों के विवेक पर मोह का परदा डाल देती है, और वह कपालिक का शिष्यत्व स्वीकार करते हैं। उन्हें जब यह ज्ञात होता है कि वास्तव में श्रद्धा और धर्म विष्णु-भक्ति की शरण में हैं तब वे महा विद्या के बल से उन्हें अपने वश में करने का प्रयत्न करते हैं। वस्तुस्थिति का यथार्थ ज्ञान हो, यह पाखण्ड विडम्बन का मूल प्रयोजन है, यद्यपि नाटककार अपनी रुचि के अनुकूल विष्णु-भक्ति की ओर अधिक झुकता दिखाई देता है।

एकांकी रूपक होने के कारण इसके नाट्य तत्वों का विवेचन करना कठिन है। काव्यानुवादों तथा मौलिक गीतों में कलाकार की निज की भावना कार्य करती

दिखाई देती है। रूपक के कवित्त समसामयिक जीवन पर सचेष्ट प्रकाश डालते से प्रतीत होते हैं। इनमें व्यंग रेखा चित्रों का सा आभास मिलता है।

"कर्पूर मञ्जरी" राजशेखर के प्राकृत भाषा में रचित कर्पूर मंजरी नाटक का अनुवाद है। प्रस्तुत रचना चार अंकों का सट्टक है। नाट्य नियमानुसार इसमें प्रवेशक और विष्कम्भक का प्रयोग नहीं हुआ है। चतुष्पदी नांदी¹ का प्रयोग प्रारम्भ में किया गया है। घटना चक्र को तीन अर्थ प्रकृतियों में विभाजित किया गया है। सर्वप्रथम राज दरबार में भैरवानन्द का आगमन, तथा अपनी मंत्र शक्ति का परिचय देना कथा का बीज है, २—विदूषक के बताने पर भैरवानन्द जी द्वारा कर्पूर-मंजरी का मंत्र बल से बुलाना बिन्दु माना जा सकता है ३—कर्पूर मंजरी के साथ राजा का विवाह कार्य तथा उद्देश्य पूर्ति हो सकता है।

समस्त कथावस्तु के कार्य व्यापार का विवेचन किया जाय तो चारों अङ्कों में विभाजित कथा का क्रम इस प्रकार चलता है। मूल रूप से कथा का आरम्भ भैरवानन्द जी के कथन से है, इसे मुख सन्धि कहा जा सकता है। विदर्भ नगर की राजकुमारी को बुलवाने का कार्य व्यापार यत्न माना जा सकता है। चौथे अंक में जहाँ विदूषक राजा को यह सूचना देता है कि रानी ने सुरंग का मुँह बन्द करके चारों ओर रक्षकों को नियुक्त कर दिया है, प्राप्त्याशा और गर्भ संधि के अन्तर्गत आता है। विवाह आरम्भ होने के पूर्व रानी का विभ्रम में पड़ जाना नियताप्ति तथा विमर्श सन्धि मानी जाती है। अन्त में विदूषक के अग्नि प्रज्वलित करने का यत्न, होम यज्ञ तथा अग्नि की फेरी आदि की कथा अंश फलागम तथा निर्वहण सन्धि कही जा सकती है।

चारों अङ्कों में घटना क्रम के अनुसार कथावस्तु का चयन किया गया है। प्रथम अङ्क में राज-भवन में राजा चंडपाल और उनकी रानी विदूषक तथा विचक्षणा के साथ उपस्थित होते हैं। ऋतु-राज वसंत के आने का संदेश वहाँ का वातावरण दे रहा है—राजा और रानी परस्पर वसन्तागमन की बधाई देते हैं। नेपथ्य में दो वैतालिक वसंतराज की महिमा का गान करते हैं। राजा के आग्रह से मित्र विदूषक वसंत महिमा पर कविता पढ़ता है, विचक्षणा उसका उपहास करती है, दोनों की नोंक-झोंक का आनन्द राजा और रानी लेते हैं। रानी के आग्रह पर सखी विचक्षणा अपनी कविता सुनाती है। राजा उसकी प्रशंसा करता है, विदूषक रूठकर चला जाता है, तथा बुलाने पर भी नहीं आता है, वह स्वयम् ही फिर लौट आता है, और भैरवानंद जी के आने का समाचार देता है। राजा भैरवानन्द से कुछ चमत्कार दिखाने का आग्रह करता है। विदूषक की सम्मति से राजा उनसे विदर्भ नगर की राजकन्या

---

१ भरित नेह नव नीर नित, बरसत सुरस अथोर।²
जयति अपूरब घन कोऊ, लखि नाचत मन मोर॥

कर्पूर मञ्जरी को मन्त्र बल से बुलाने को कहता है। मन्त्र बल से खिंची हुई रमणी उपस्थित होती है। राजा प्रथम दर्शन ही से उस पर आसक्त हो जाता है, वह भी राजा के व्यक्तित्व से प्रभावित होती है। वार्तालाप के अन्तर्गत जब यह ज्ञात होता है कि विदर्भ राज कन्या रानी की मौसेरी बहिन है वह उसे आग्रह पूर्वक महल में ले जाती है और उसे पन्द्रह दिन तक अपने साथ रहने का आग्रह करती है

द्वितीय अङ्क में राजा कर्पूर-मञ्जरी की स्मृति में विरहाकुल दिखाई देता है। विदूषक तथा विचक्षणा प्रवेश करते हैं और राजा को केवड़े के पत्र पर कर्पूर मञ्जरी की लिखी चिट्ठी देते हैं। वह रनिवास में होने वाले कर्पूर मञ्जरी के समस्त शृगार-विधान का वर्णन करती है और राजा को विश्वास दिलाती है कि कर्पूर मञ्जरी उनके विरह से दुखी है।

हिंडोला-चतुर्थी के दिन केले के कुञ्ज में बैठकर वह एक बार फिर झूला झूलती हुई मंजुल मुखी कर्पूर मञ्जरी को देखता है, और उसके अदृश्य हो जाने पर उसके विरह में दुखी होता है। रानी के आदेश से कर्पूर मञ्जरी कुरवक, तिलक तथा अशोक वृक्षों का क्रमश: आलिंगन, दर्शन और स्पर्श करती है, जिससे वे पुष्पित तथा पल्लवित हो उठते हैं।

तृतीय अङ्क में विदूषक राजा से अपना स्वप्न कहता है। प्रेम की परिभाषा करते हुये लक्षणा का प्रयोग करता है। राजा अपने मित्र के विनोद को समझ जाता है। मित्र विदूषक के ही प्रयत्नों से राजा और कर्पूर मञ्जरी का मिलन होता है। कर्पूर मञ्जरी विरह व्याकुल है। राजा उससे वार्तालाप करते छत पर ले जाता है। इसी बीच नेपथ्य में कोलाहल सुनाई देता है। कर्पूर मञ्जरी सुरंग की राह से महल में पहुँच जाती है ताकि महारानी उसका और राजा का मिलन न देख सकें।

अन्त में रानी को ज्ञात होने पर सुरंग का मुँह बन्द कर दिया जाता है, और कर्पूर मञ्जरी पर वह नियन्त्रण रखने के हेतु पहरा बैठा देती है। रानी के ही आदेश से राजा और विदूषक घट सावित्री पूजन देखने के लिये छत पर जाते हैं। रानी की अनुचरी सारंगिका राजा को सूचना देती है कि रानी संध्या समय लाट देश के राजा चन्द्रसेन की कन्या घनसार मञ्जरी से उनका विवाह करेंगी। राजा भ्रम में पड़ जाता है। विवाह मण्डप के समय भैरवानन्द जी के चमत्कार से रानी चकित होती है। अन्त में दो प्रेमी विवाह सूत्र में बँध जाते हैं। राजा को यह जानकर अधिक प्रसन्नता होती है कि घनसार मञ्जरी ही कर्पूर मंजरी है।

यह अनूदित सट्टक सुखान्तक है। शृंङ्गार तथा हास्य दोनों रसों का परिपाक उत्कृष्ट है। प्राय: हास्य प्रसंग विदूषक और राजा के तथा विदूषक और विचक्षणा के कथोपकथन में उपस्थित है। शृंगार के उद्दीपन का कार्य वसन्त का वातावरण करता है। नायिका के सौंदर्य वर्णन में रीति-कालीन कवियों के कवित्तों का आश्रय

लिया गया है। भारतेन्दु जी के स्वरचित पद भी विद्यमान हैं जो रीतिकालीन छाया से प्रभावित हैं।

प्रमुख पात्रों में राजा, रानी, विदूषक, विचक्षणा तथा भैरवानन्द हैं। कर्पूर मंजरी केवल कार्य साधन के ही लिये प्रस्तुत की गई है। राजा धीर ललित नायक के रूप में चित्रित किया गया है। वह कला और सौन्दर्य का प्रेमी है। रानी स्वकीया नायिका के रूप में है, विनय और शील की मंजुल मूर्ति है। उसमें मध्या नायिका के भी गुण विद्यमान हैं। कर्पूर मंजरी उक्त नाटक की उप-नायिका के रूप में चित्रित की गई है, प्रगल्भा नायिका के से गुण से उसे युक्त पाया जाता है विदूषक तथा विचक्षणा विनोदशील तथा राजा के कार्य में सहायक चित्रित किये गये हैं, जिसमें विचक्षणा बुद्धिमती और कार्य कुशल सिद्ध हुई है। भैरवानन्द परोपकारी तांत्रिक के रूप में प्रस्तुत किया गया है, परन्तु उसके वचनों में आत्म प्रदर्शन तथा अहमन्यता की भावना विद्यमान प्रतीत होती है।

कांचन कवि रचित "धनंजय विजय" व्यायोग का अनुवाद भारतेंदु जी ने प्रस्तुत किया है। कथानक महाभारत की ऐतिहासिक घटना है। नायक धीरोद्धत है। घटनाचक्र में संघर्ष का कारण स्त्री पात्र नहीं है। इसमें समस्त पुरुष पात्र हैं तथा स्त्री पात्र के अभाव होने के कारण यह व्यायोग की श्रेणी में रखा गया है एक ही दिन का वृत्तांत एक ही अंक में वर्णित है, शृंगार और हास्य का नितांत अभाव है, तथा इसमें वीर रस का समावेश है। सात्वती वृत्ति का प्रयोग मिलता है।

आरम्भ में चतुष्पदी नांदी का प्रयोग किया गया है, पूर्व रंग में सूत्रधार प्रातःकाल और शरद ऋतु के सम्बन्ध में पद गाता है। सूत्रधार अपने कथोपकथन के प्रारम्भ में ही नायक का परिचय प्रस्तुत कर देता है। निम्न दोहे में प्रस्तावना पूर्ण स्पष्ट प्रतीत होती है।

"सत्य प्रतिज्ञा करन को छिप्यौ निशा अज्ञात।
तेज पुंज अरजुन सोई, रविसो कढ़त लखात॥"

अर्जुन की प्रतिशोध भावना तथा कौरवों पर सफलता प्राप्त करने का भाव बीज रूप में उपस्थित है। नायक के बिना परिश्रम किये तथा स्थितियों की विषमता बिना ही अभीष्ट सिद्धि द्वितीय पताका स्थान का द्योतक है। अन्त में दुर्योधन को परास्त कर विराट की गायें छुड़ा लाना कार्य निर्वाह का कारक है।

प्रस्तुत कथावस्तु का विवेचन इस प्रकार किया गया है कि पांडवों को कौरवों द्वारा एक वर्ष का अज्ञातवास दिया गया था। पाण्डवों ने इस अज्ञातवास की अवधि को महाराज विराट के यहाँ अज्ञात रूप से व्यतीत किया। समय पूर्ण होने के अन्तिम दिन कौरवों ने आक्रमण करके विराट का पशुधन बलात् छीन लिया। बृहन्नला रूप

अर्जुन अकेले ही समस्त सेना को परास्त कर पुन: गायें लौटा लाने में सफल हुये। महाराज विराट ने वस्तुस्थिति को समझकर हार्दिक प्रसन्नता प्रगट की और दोनों का सम्बन्ध चिरस्थाई बनाये रखने के हेतु राजकुमारी उत्तरा का विवाह अभिमन्यु के साथ कर दिया।

उपरोक्त घटनाचक्र को लेकर इस रूपक का निर्माण किया गया है। आरम्भ में अर्जुन विराट के अमात्य से बातचीत करते दिखाये गये हैं। अर्जुन अमात्य को गो-हरण से पीड़ित पुरवासियों को धैर्य देने के लिये भेजते हैं, विराट का पुत्र उत्तर अर्जुन के रथ का सारथी बनता है। अर्जुन उससे कौरवों का पीछा करने के लिये शीघ्रता से रथ हाँकने के लिये कहते हैं द्रुतगति से आते हुये रथ को देख कृपाचार्य अर्जुन के रथ होने का सन्देह करते हैं। युद्ध क्षेत्र में उपस्थित कृपाचार्य, दु:शासन, भीष्म, अश्वत्थामा, कर्ण आदि का परिचय अर्जुन कुमार को देते हैं। इसी समय इन्द्र, विद्याधर, तथा प्रतिहारी का अदृश्य प्रवेश होता है। इनके कथोपकथन से युद्ध-भूमि के समस्त दृश्य का परिचय प्राप्त होता है। अर्जुन तथा दुर्योधन के बीच तीखा व्यंग-पूर्ण कथोपकथन प्रस्तुत किया गया है। अर्जुन भीष्म पितामह के अतिरिक्त सब पर प्रस्वप्नास्त्र छोड़कर अचेत कर देते हैं, और सभी को वस्त्र विहीन कर द्रोपदी चीर हरण का प्रतिशोध लेते हैं।

विजयी अर्जुन समस्त गायों को लेकर नगर में प्रवेश करते हैं, विराट सहित समस्त भाई उनका स्वागत करते हैं। प्रगट होने पर विराट धर्मराज युधिष्ठिर से क्षमायाचना करते हैं। उत्तरा और अभिमन्यु का विवाह सम्पन्न होता है।

नाटक में पद्यों का बाहुल्य है, अधिकांश कथोपकथनों के लिये गद्य भाषा का प्रयोग न कर छंदों का प्रयोग किया गया है। प्रधान नायक अर्जुन ही कहे जा सकते हैं, नाटक में वीर-रस का परिपाक है। एकांकी होते हुये भी इसमें दोहरे रंगमच की आवश्यकता प्रतीत होती है। प्रथम तो युद्ध क्षेत्र के लिये तथा अन्य विराट-पुरी के लिये।

विशाखदत्त रचित मुद्रा राक्षस नाटक संस्कृत साहित्य का उत्कृष्ट नाटक है। भारतेन्दु जी ने इसके अनुवाद में यत्र तत्र परिवर्तन तथा परिवर्द्धन भी किया है। परन्तु इसकी स्वाभाविकता की रक्षा करने का सर्वथा ध्यान अनुवादक ने रखा है, जिससे कथानक के किसी अङ्ग की भी हत्या नहीं होती।

प्रस्तुत नाटक के प्रथम पद्य भाग में आशीर्वादात्मक नांदी का प्रयोग किया गया है। इसमें पदों के शास्त्रीय नियम का निर्वाह नहीं पाया जाता। उक्त नांदी को अष्टपदी नांदी कहा जा सकता है। नांदी का प्रारम्भ इस दोहे से होता है :—

भरत नेह नव नीर नित, बरसत सुरस अथोर ।
जयति अपूरब घन कोऊ लखि नाचत मन मोर ॥

अनुवाद में नाटककार की स्वतन्त्र रचनाशैली का समावेश है । उक्त पद मौलिक रचना है । नान्दी-पाठ के शेष दो छन्दों में शङ्कर और पार्वती के छद्म व्यापार के प्रसंग वर्णन में प्रस्तुत नाटक के विषय का साधारण आभास मिल जाता है । नाटक की प्रस्तावना में सूत्रधार और नटी के कथोपकथन द्वारा कथावस्तु का सूक्ष्म परिचय मिल जाता है । सूत्रधार के द्वारा प्रयुक्त पद घटना निर्वाह को गति देने में सहायक होते हैं ।

चन्द्र बिंब पूरन भए क्रूर केतु हठ दाप ।
बल सों करि है ग्रास कह......... ॥

उपरोक्त वाक्य सुनकर प्रथम अङ्क में चाणक्य "बता ! कौन है, जो मेरे जीते चन्द्रगुप्त को बल से ग्रसना चाहता है" कहता हुआ प्रवेश करता है । इस कथोत्थान प्रस्तावना में नटी सूत्रधार के कथोपकथन की गूढार्थ व्यञ्जना पाई जाती है ।

नाटक की पूर्वपीठिका में चन्द्रगुप्त का पाटलिपुत्र पर आक्रमण, पर्वतक पर विषकन्या का प्रयोग, वैरोधक और सर्वार्थ-सिद्धि की हत्या, नन्द के राज-भवन का दाह, राक्षस का पलायन, और उसके पीछे भागुरायण आदि का चाणक्य के चर रूप में मलयकेतु के पास पहुँचना प्रदर्शित किया गया है । इन घटनाओं पर एक पृथक नाटक लिखा जा सकता है, परन्तु इसमें प्रदर्शित युद्ध तथा हत्या के दृश्य सम्भवतः जन-रुचि के प्रतिकूल हैं । भारतीय नाट्य-विधान ऐसे दृश्यों को [illegible] नहीं बनाता । अतएव नाटककार ने भारतीय नाट्यकला का ध्यान रखते हुये समस्त घटनाओं का उपयोग चाणक्य की महत्वाकांक्षी मनोवृत्ति के प्रदर्शन तथा राक्षस की राज नीतिता में वेग देने के लिये वार्तालाप के रूप में किया है । कुछ घटनाओं में चाणक्य की आत्म-प्रशंसा का आभास मिलता है और कुछ में विराधगुप्त के दौत्य कार्य का परिचय ।

घटनाक्रम का विकास चाणक्य द्वारा सम्पादित कार्यों के निर्देश को लेकर चलता है । चर के द्वारा शकटदास और चन्दनदास का परिचय प्राप्त करना, शकटदास से राक्षस की मुद्रा से मुद्रित पत्र लिखवाना, चन्दनदास जौहरी की भर्त्सना तथा चन्द्रगुप्त के आतंक का निदर्शन, शकटदास को शूली की आज्ञा तथा राक्षस मित्र चन्दनदास को सपरिवार बन्दी बनाना आदि घटनाओं का प्रवाह एक सूत्र में बँधा सा दिखाई देता है ।

कथावस्तु का तृतीय पक्ष राक्षस के शिविर का दृश्य है । नन्द-राज्य के सर्वनाश से संतप्त राक्षस निष्कासित अवस्था में चाणक्य से प्रतिशोध लेना चाहता

है, परन्तु वह स्वयं कुछ ऐसे व्यक्तियों पर विश्वास करने लगता है जो शत्रु पक्ष से मिले हैं। यही मैत्री उसकी अधोगति का कारण हो जाती है। मनसा, वाचा, कर्मणा मलयकेतु का मित्र राक्षस जिन बातों को चन्द्रगुप्त के विरोध में कहता है, वे ही भागुरायण द्वारा प्रतिध्वनित होकर राक्षस के प्रतिकूल बैठती हैं। निष्कलंक राक्षस सिद्धार्थक द्वारा प्रवंचित होकर जब महाकृतघ्न और अविश्वासी घोषित कर दिया जाता है, तब उसकी ग्लानि उसे नैतिक पतन की ओर ढकेल देती है।

चाणक्य और चन्द्रगुप्त की कृत्रिम कलह से पट परिवर्तन होता है। इसमें यदि लेखक ने चन्द्रगुप्त के मुख से बनावटी कलह का नाम न ले लिया होता तो घटना जिस धरातल पर पड़ती है, उससे भिन्न हो जाती और कौतूहल का कारक होती, तथा चरित्र-नायक के चरित्र में मलिनता आ जाने की सम्भावना थी।

नाटक के अन्तिम पक्ष में राक्षस चाणक्य की कुटिल नीति रूपी शतरंज की चालों में फंस जाता है। अपने परम मित्र चन्दनदास का दुःख उससे सहन नहीं होता अतः वह अपना आत्म-समर्पण कर चन्द्रगुप्त का मन्त्री बनना स्वीकार कर लेता है। यही चाणक्य की सफलता है।

नाटककार ने मूल अनुवाद से विलग घात प्रतिघात और संघर्ष के प्रदर्शन में मौलिक सफलता दिखाई है। सुखान्तक कथावस्तु योजना की सफलता इस नाटक में कलाकार की अभूतपूर्व देन है। मुद्रा राक्षस हिन्दी साहित्य के सफल अनुवादों की कोटि में है, तथा भारतेन्दु जी का श्रेष्ठ अनूदित नाटक है।

दुर्लभ बंधु अङ्गरेजी के लब्ध प्रतिष्ठ नाट्यकार शेक्सपियर के "मर्चेन्ट आफ वेनिस" का अनुवाद है। उक्त अनूदित नाटक में पात्रों का चयन अति उत्कृष्ट है। अङ्गरेजी के नाट्य में दिये हुये पात्रों का सम्पूर्ण हिंदीकरण कर दिया गया है। नाटकीय स्थिति को भारतीय समाज का बहुत ही सफल आवरण दिया गया है। मूल नाटक में आये हुये ईसाई पात्रों को हिन्दू तथा यहूदी पात्र को जैनियों की श्रेणी में रखना कलाकार की अनुपम सूझ का परिचायक है।

अङ्गरेजी से अनूदित होने के नाते भारतेन्दु जी ने उक्त नाटक में भारतीय नाट्य विधान का निर्वाह नहीं किया है। कथावस्तु इस प्रकार चित्रित की गई है— प्रथम अङ्क में वंशपुर के राज मार्ग का दृश्य अङ्कित है। अनन्त, सरल और सलोने आते हैं। अनन्त चिन्तित सा प्रतीत होता है, और अपने धन से लदे हुये व्यापारिक जहाजों के विषय में बात करता है, उनके सकुशल लौटने की चिन्ता में वह व्यग्र सा दिखाई देता है। बसन्त तथा अनन्त के कथोपकथन के अन्तर्गत कथा का मूल नियोजन प्रकाशित होता है। बसन्त बिल्वमठ की अधीश्वरी पुरश्री के बारे में चर्चा करता है। अनन्त अपने मित्र बसन्त की कार्य सिद्धि में सभी प्रकार का सहयोग देने

के लिये प्रस्तुत है, परन्तु नकद रुपया न होने के कारण विवशता प्रकट करता है। उसकी जमानत पर कहीं से धन मिल जाने पर वह सहायता के लिये तैयार हो जाता है। दूसरे दृश्य में पुरश्री तथा उसकी अनुचरी नरश्री आती हैं। पुरश्री तथा नरश्री उसकी प्रतिज्ञानुसार अपना भाग्य आजमाने आये हुये निराश प्रेमियों के बारे में चर्चा करती हैं। पुरश्री उनकी उपेक्षित आलोचना करती जाती है। इसी बीच अनुचर मोरकुटी के राजकुमार के आने का समाचार देता है। तीसरा दृश्य जैन धनिक शैलाक्ष के स्थान का है। शैलाक्ष से बसन्त छः सहस्र मुद्रा तीन महीने के वादे पर मांगता है, जिसकी जमानत अनन्त लेने को तैयार है। अनन्त शैलाक्ष का प्रतिद्वन्दी व्यापारी है। जैन व्यापारी में प्रतिशोध की कुटिल भावना जाग्रत होती है और उधार देने की विलक्षण शर्त तमस्सुक पर लिखता है। अनन्त उसे अपने मित्र के लिये सहर्ष स्वीकार करता है। बसन्त छः सहस्र मुद्रायें लेकर अनन्त के साथ लौटता है।

द्वितीय अङ्क के प्रथम दृश्य में पुरश्री के निवास स्थान पर मोरकुटी के राजकुमार का प्रवेश होता है। पुरश्री अपना शर्त बताती है और मंजूषा चुनने को बाध्य करती है। वशनगर के राजमार्ग पर शैलाक्ष के अनुचर गोप को उसका पिता वृद्ध गोप मिल जाता है। वह अपने पुत्र को नहीं पहिचान पाता। गोप के परिचय देने पर उसे जानता है। वृद्ध की सहायता से गोप बसन्त के यहाँ अनुचर नियुक्त होता है। तत्पश्चात् बसन्त, लोरी तथा गिरीश में वार्ता होती है। बसन्त से गिरीश बिल्वमठ में साथ चलने का अनुरोध करता है। तीसरे दृश्य में जसोदा गोप द्वारा लवंग को प्रेम संदेशा भेजती है। चौथे दृश्य में गिरीश, लवंग, सलारन तथा सलोने वशनगर के राजमार्ग पर बसन्त के घर की ओर प्रस्थान करते तथा आपस में वार्तालाप करते प्रस्तुत किये गये हैं। गोप लवंग को जसोदा का पत्र दे देता है। सभी उक्त अवसर पर आयोजित उत्सव के विषय में बात करते हैं। पांचवें दृश्य में बसन्त के यहां आमन्त्रित शैलाक्ष अपनी पुत्री जसोदा को सावधान करके बसन्त के घर की ओर प्रस्थान करता है। अवसर पाकर गिरीश और सलारन वेष बदले अपने मित्र लवंग की सहायता के लिये आते हैं, और शैलाक्ष के मकान के बाहर ठहर जाते हैं। इतने ही में लवंग आ जाता है। जसोदा उसकी प्रतीक्षा में रहती है, तथा अवसर पाकर वह लवंग के साथ निकल जाती है। गिरीश और अनन्त की भेंट होती है और वह उससे शुभ समाचार कहता है। सातवें दृश्य में मोरकुटी के राजकुमार की भाग्य परीक्षा होती है और वह असफल रहता है। पुरश्री उससे छुटकारा पाने पर अति प्रसन्न होती है। आठवें दृश्य में सलारन और सलोने जसोदा के अदृश्य होने पर उन्मत्त जैन महाजन शैलाक्ष के विषय में बात करते हैं। नवें दृश्य में पुनः पुरश्री के कमरे में आर्य ग्राम के राजकुमार आते हैं और उन्हें भी असफल वापस लौटना पड़ता है। बसन्त के अनुचर के आने का सन्देश पुरश्री को प्राप्त होता है।

तीसरे अङ्क के प्रथम दृश्य में अनन्त के जहाज़ डूबने का समाचार ज्ञात होता है, शैलाक्ष आता है और सलोने तथा सलारन से अपनी पुत्री के विषय में पूँछता है। सलोने तथा सलारन अनन्त के भृत्य के साथ चले जाते हैं। अन्य जैनी दुर्बल आता है और शैलाक्ष से उसकी पुत्री के विषय में बात करता है तथा अनन्त के जहाज डूबने का समाचार बताता है। शैलाक्ष उक्त समाचार पर अति प्रसन्न होता है, प्रतिशोध के सफल होने की कामना से उसकी प्रसन्नता बढ़ जाती है।

तीसरे अङ्क के द्वितीय दृश्य में पुरश्री बसन्त, नरश्री तथा गिरीश आते हैं। बसन्त पुरश्री की प्रतिज्ञानुसार मंजूषा खोलने को व्यग्र हो रहा है। पुरश्री अपने प्रेमी की सफलता में संशय होने के कारण उससे कुछ क्षण ठहरने का निवेदन करती है, परन्तु बसन्त अपने भाग्य निर्णय का शीघ्र निपटारा करना चाहता है। अन्त में वह उसी मजूषा को खोलने में सफल होता है, जिसमें पुरश्री की प्रतिमा है। बसन्त और पुरश्री के आग्रह से गिरीश तथा नरश्री का विवाह होता है। जसोदा, लवंग और सलोने आते हैं और सलोने बसन्त को अनन्त का पत्र देता है। बसंत पत्र पढ़कर चिंतित हो उठता है। पुरश्री बसन्त से पत्र के बारे में पूँछ कर वस्तुस्थिति का ज्ञान करती है। बसन्त पुरश्री से विदा होता है।

शैलाक्ष, सलारन, अनन्त और कारागार के प्रधान का आगमन; अनन्त के कथोपकथन से शैलाक्ष नहीं पसीजता। वह अपने तमस्सुक के ही शर्त पर आरूढ़ रहता है। हारकर बसन्त को न्यायाधीश मण्डलेश्वर के सम्मुख उपस्थित किया जाता है। पुरश्री तथा नरश्री अपने स्वामी के मित्र की प्राण रक्षा के हेतु योजना बनाती हैं और अपने अतिथियों का समुचित प्रबन्ध कर वह चल पड़ती हैं।

चौथे अङ्क में अनन्त, बसन्त, गिरीश, सलारन, सलोने तथा अन्य सहयोगी मण्डलेश्वर के न्यायालय में उपस्थित होते हैं। शैलाक्ष बुलाया जाता है। वह कथित शर्तों से विमुख नहीं होना चाहता। नरश्री वकील के लेखक के वेश में आती है। अपने को पाण्डुपुर के बलवन्त का अनुचर बताती है और न्यायाधीश को पत्र देती है जिसमें अस्वस्थता के कारण बालेसर वेशी पुरश्री को वकील नियुक्त किया गया है। पुरश्री न्यायालय में प्रवेश करती है पुरश्री पक्ष और विपक्ष दोनों ही में तर्क उपस्थित करती है और शैलाक्ष का आधा सेर मांस लेना न्याययुक्त बतलाती है। हर्ष उन्मत्त शैलाक्ष छुरी टेंता है और अनन्त को आधा सेर मांस देने के लिये प्रस्तुत रहने के लिये कहा जाता है। ज्यों ही शैलाक्ष छुरी से मांस काटने को उद्यत होता है, पुरश्री उसे सावधान कर देती है, तुम आधा सेर मांस खुशी से ले सकते हो, परन्तु स्मरण रहे कि रक्त का एक बूँद भी न गिरने पाये। न्याय का भूखा शैलाक्ष अपना मन्तव्य पूरा न होते देख समझौता करने को तैयार हो जाता है, परन्तु उसे अपनी सम्पत्ति से हाथ धोना पड़ता है। पुरश्री की बुद्धिमत्ता की सभी सराहना करते हैं।

बसन्त अपने नये वकील को विवाह के उपहार में पाई हुई मुद्रिका दे देता है। गिरीश भी अपनी अंगूठी वकील के लेखक को देता है।

अन्तिम अङ्क में प्रथम दृश्य बिल्वमठ के प्रवेश द्वार का है, लवंग और जशोदा अपनी प्रणय वार्ता में व्यस्त है। गोप आकर इनकी तन्द्रा भंग करता है।

पुरश्री तथा नरश्री का बसन्त और गिरीश के पहिले प्रवेश। बसन्त, गिरीश तथा अनन्त आते हैं। पुरश्री बसन्त से अपनी भेंट की हुई अंगूठी के बारे में पूछती है। यहीं प्रसंग सारे कौतूहल का रहस्योद्घाटन करता है। इस सुखान्तक नाट्य का श्रेय पुरश्री की बुद्धिमता को प्राप्त होता है।

भारतेन्दु जी उक्त नाटय में सफल अनुवादक के रूप में उपस्थित हैं। अँग्रेजी पात्रों तथा कथानक को हिन्दी रूप देने की चेष्टा में उक्त कथा व्यापार में अस्वाभाविक कृत्रिमता आ गई है। कहीं कहीं शेक्सपियर के नाटकीय क्रम का बिलकुल उलटा किया गया है और किन्हीं घटनाओं में नाटककार ने कथावस्तु को भारतीय चित्रण देने की चेष्टा की है इसमें नैसर्गिकता तथा गतिशीलता का अभाव खटकता सा प्रतीत होता है। अन्य अनूदित नाटकों की अपेक्षा नाटककार इसमें अधिक सफल नहीं प्रतीत होता।

हिन्दी नाट्य का प्रादुर्भाव संस्कृत नाट्य अनुवाद प्रणाली से ही प्रारंभ हुआ। भारतेन्दु जी ने संस्कृत के उत्कृष्ट तथा प्रतिनिधि नाटकों का अनुवाद कर हिन्दी नाट्य साहित्य के अक्षय भण्डार की श्रीवृद्धि की। समस्त नाटकों के सिंहावलोकन से निःसन्देह यह कहा जा सकता है कि अनुवादों में भारतेन्दु जी ने मूल नाटकों की आत्मा को जागरूक बनाये रखा है। अनुवादों में कथानक और भावों का सामञ्जस्य कहीं भी मूल नाटक से अलग नहीं दृष्टिगोचर होता। मूल कथा की नींव पर निर्मित मौलिक नाट्य-विधान का निर्माण भारतेन्दु जी की अनुपम कला का परिचायक है। मूल कथानक के आधार पर प्रौढ़ मौलिक संवाद योजना, स्थान की उपयोगिता को दृष्टि में रखते हुये गीतों की स्वतंत्र योजना नाट्यकार की सफलता का यथेष्ट प्रमाण देती है। संवाद और गीत दोनों ही मूल कथावस्तु में नैसर्गिक रोचकता उपस्थित कर देते हैं। उनका कथावस्तु से सम्बन्ध नितांत स्वाभाविक मालूम देता है जहाँ कलाकार अक्षरशः अनुवाद के फेर में पड़ जाता है, वस्तु व्यापार की अस्वाभाविकता दूषण के रूप में खटकती है। अनुवाद की सफलता को दृष्टिकोण में रखते हुये नाट्य-कार का मुद्रा राक्षस सर्वश्रेष्ठ कृति है। पाखण्ड विडम्बन तथा कर्पूर मञ्जरी अनु-वाद के नवीन प्रयोग हैं। पाखंड विडम्बन में भावाभिव्यञ्जना का सफल चित्रण हुआ है। मानसिक व्यापार का स्पष्ट चित्रण मूल नाटक के धरातल में अलग निज के जीवन की झांकी खींच देता है। कर्पूर मञ्जरी के संवादों में नाटककार की निज की कला का व्यक्तित्व स्पष्ट परिलक्षित होता है। धनञ्जय-विजय में नाटककार ने मूल कथा को

लेकर गद्य संवादों की परम्परा में न बाँध पद्य स्वरूप देने की चेष्टा की है। अन्य नाट्य उपकरण नाटककार की स्वतंत्र रुचि के अनुसार हैं, मूल नाटक की छाया नहीं दृष्टिगत होती। दुर्लभ बंधु में नाट्यकार ने शेक्सपियर के मूल नाटक को सम्पूर्ण भारतीय वातावरण देने की चेष्टा की है, परन्तु अनुवाद में कथानक तथा संवादों में अस्वाभाविकता खटकती है। ऐसा प्रतीत होता है कि न तो यह मूल रूप से अनुवाद हो पाया है और न नाट्यकार की कल्पना के रंग में रंगा जा सकता है।

रूपान्तरित नाटक :

भारतेन्दु जी ने रूपान्तरिक नाटकों की आधार शिला पौराणिक रखी है। मूल नाटकों की कथावस्तु में मौलिक परिवर्तन कर नाट्य निर्माण किया है। इस कोटि के नाटकों में भारतेन्दु जी के विद्यासुन्दर तथा सत्य हरिश्चन्द्र हैं।

संस्कृत रचना "चौर पंचाशिका" के आधार पर भारतचन्द्र राय ने बंग भाषा में काव्य ग्रंथ की रचना की थी। इस काव्य के आधार पर यतीन्द्रमोहन टाकुर ने विद्यासुन्दर नाटक का निर्माण किया। भारतेन्दु जी ने इसी नाटक का छायानुवाद प्रस्तुत किया है।

कथावस्तु का विवेचन इस प्रकार से किया गया है : वर्द्धमान नगर के राजा की पुत्री विद्यागुण सम्पन्न विदुषी कन्या है। वह प्रतिज्ञा करती है कि जो उसे शास्त्रार्थ में पराजित कर देगा, उसीका वह वरण करेगी। अनेक राजपुत्र आकर परास्त हो लौट जाते हैं। फलतः राजा को चिंता बढ़ती है और कहता है कि यदि मैं जानता तो अपनी कन्या को ऐसी कठिन प्रतिज्ञा न करने देता। उसे अपनी प्रतिज्ञा से विमुख करना भी अन्याय है। इसी समय राजमंत्री काँचीपुर के राजा गुणसिन्धु के पुत्र सुन्दर के सौंदर्य शिक्षा विद्वता आदि की चर्चा करता है। राजा मंत्री को आदेश देता है कि राजा गुणसिन्धु के लिये एक पत्र देकर गंगाभाट की यात्रा की सब वस्तु शीघ्र ही सिद्ध कर दो, जिसमें विलम्ब न हो। गुणसिन्धु का पुत्र सुन्दर वर्द्धमान नगर घूमता हुआ राज-उपवन में विश्राम करने लगता है। वहां के चौकीदार से कुछ झगड़ा होता है, तत्पश्चात् हीरा मालिन मिलती है। वह उसे अपने घर ले जाती है। सुन्दर हीरा द्वारा विद्या का परिचय प्राप्त करता है, अपने हाथ से गूँथी हुई माला भेजता है। कलात्मक माला के निर्माता को देखने के लिये विद्या अत्यधिक आतुर हो उठती है और राजमहल की अट्टालिका पर चढ़कर उसकी प्रतीक्षा करती है।

द्वितीय अङ्क में विद्या बिरह वेदना से पीड़ित है। सखियाँ चपला और सुलोचना उसके प्रति सहानुभूति व्यक्त करती हैं। इसी समय सुरंग मार्ग से महल के

भीतर सुन्दर प्रवेश करता है। सभी चकित रह जाती हैं। सखियों, विद्या और सुन्दर में परस्पर मनोविनोद होता है और अन्त में विद्या और सुन्दर का गन्धर्व विवाह हो जाता है। विद्या मालिन से उसे पुनः लाने का आग्रह करती है। सुन्दर विद्या के मन्दिर में आकर उससे एक विद्वान सन्यासी के सबंध में चर्चा करता है कि वह प्रतियोगिता में तुम्हें वरण करने आया है। उसकी विद्वता के समक्ष हारकर उसे सन्यासी बनना पड़ेगा। यह जान विद्या अत्यन्त दुखी होती है। किंतु जब यह जान लेती है कि वह संन्यासी सुन्दर ही है, अन्य नहीं तो उसे संतोष होता है।

तृतीय अंक में सुन्दर सुरंग खोदने वाला चोर समझकर हीरा मालिन सहित बंदी बनाया जाता है। यहाँ उसे सिपाहियों तथा चौकीदार के व्यंग्यात्मक शब्द सुनने पड़ते हैं। सुन्दर के बंदी होने के समाचार से विद्या अत्यंत दुखी होती है। दैवयोग से इसी बीच राजा का भेजा हुआ गंगा भाट लौट आता है, और वह सुन्दर को पहिचानता है। राजा मालिन तथा सुन्दर को मुक्त करता है। सुन्दर और विद्या राजा के सम्मुख उपस्थित किये जाते हैं। राजा दोनों के विवाह की तैयारी की आज्ञा देता है, अवसाद का वातावरण सुखात्मक घटना में परिणत हो जाता है

प्रस्तुत नाटक में केवल तीन अङ्क हैं। प्रथम अङ्क में चार गर्भांक हैं। शेष दो अङ्कों में तीन-तीन गर्भांक हैं। प्रस्तावना किसी प्रकार की नहीं दी गई है। नाटक की भाषा अन्य नाटकों की अपेक्षा अधिक प्रौढ़ नहीं प्रतीत होती।

संस्कृत साहित्य में आर्य क्षेमीश्वर कृत चण्ड कौशिक और रामचन्द्र कृत सत्य हरिश्चन्द्र नाटकम् नाम के दो रूपक मिलते हैं, जो राजा हरिश्चन्द्र की आख्यायिका लेकर निर्मित हुये हैं। भारतेन्दु जी ने दोनों नाटकों का आधार लेकर रूपान्तर किया है। चण्ड कौशिक का कुछ भाग उन्होंने अनुवाद के रूप में अपने नाटक में अपनाया है। क्षेमीश्वर कृत चण्ड-कौशिक रामचन्द्र कृत सत्य हरिश्चन्द्र नाटकम् तथा भारतेन्दु जी के सत्य हरिश्चन्द्र के कथानक में मौलिक अन्तर है। चण्ड कौशिक तथा सत्य हरिश्चन्द्र नाटकम् में प्रत्यक्ष दान देने की कथा वर्णित है। प्रथम में राजा हरिश्चन्द्र शिकार खेलते वन आते हैं। उन्हें वहां स्त्रियों का आर्तनाद सुनाई देता है। अपना कर्तव्य समझकर वह उनके रक्षार्थ जाते हैं विश्वामित्र उन पर अपनी साधना भंग करने का दोषारोपण लगाकर दण्डस्वरूप सारा राज्य ले लेते हैं। सत्य हरिश्चन्द्र नाटकम् के कथानक में राज्य-कुलपति की कन्या की प्रिय हरिणी का धोखे से आखेट करने के कारण कुलपति को सारा राज्य सौंप देते हैं तथा उक्त कन्या को दस सहस्र सुवर्ण मुद्रा देते हैं। भारतेन्दु जी के कथानक में स्वप्न में ही अमुक नाम ब्राह्मण को सारा राज्य दान देना तथा उस ब्राह्मण का विश्वामित्र के रूप में प्रस्तुत होना,

और इतने बड़े दान की दक्षिणा दस सहस्त्र मुद्रायें लेना निज कल्पना प्रसूत है। तीनों हो में कुछ अंशों में पौराणिक तथ्य निरूपण है, परतु कथानक के विकास की शैली पृथक-पृथक है। पौराणिक आधार पर भारतेन्दु जी की कथावस्तु में काशी स्थित गङ्गा का वर्णन ऐतिहासिक दृष्टि से अस्वाभाविक है। राजा हरिश्चन्द्र भागीरथ के पूर्वजों में से कहे जाते हैं। उस समय में गङ्गा का काशी म होना ऐतिहासिक दृष्टि से असंगत है।

सत्य हरिश्चन्द्र की कथा चार अङ्कों में समाहित है। नायक राजा हरि चन्द्र तथा प्रतिनायक वि‿वामित्र हैं। प्रस्तावना के प‿चात् प्रथम अङ्क में इन्द्र की सभा का दृ य चित्रित किया गया है, नारद आकर राजा हरि‿चन्द्र के तप और सत्य व्रत के विषय में चर्चा करत हैं। नारद द्वारा प्रशंसित हरि चन्द्र को तपोभ्रष्ट करने के अभिप्राय से इद्र वि वामित्र से मंत्रणा करता है। वि‿वामित्र क्रोध के आवेश मे उसे तपभ्रष्ट करने की प्रतिज्ञा कर बैठत हैं।

द्वितीय अङ्क म रानी शैव्या द्वारा देखे गये दु.स्वप्न का शमन ब्राह्मण गुरू जी द्वारा भेजे गये आभिमंत्रित जल से करता है और थोड़ ही समय बाद शैव्या के पास राजा हरि‿चन्द्र आत हैं। वे शव्या से चिन्ता का कारण पूँछते हैं एवं अपने दु:स्वप्न की चर्चा करत हैं कि मैंने एक क्रोधी ब्राह्मण को सारा राज्य उसके मागने पर दान कर दिया है। स्वप्न की सत्यता पर शङ्का समाधान करते हैं, और आज्ञा-पत्र जारी करतं हैं कि महाराजा ने स्वप्न मे अज्ञात नाम-गोत्र ब्राह्मण को पृथ्वी दी है और अब मत्री भाँति की राज्य कार्य सम्हालेंगे, इसी समय विश्वामित्र का क्रोधयुक्त वेश से आगमन होता है। राजा सारा राज्य उन्हें दान कर देते हैं, उक्त दान की दक्षिणा के हेतु एक मास की अवधि लेकर देह दारा, सुवन बेचने के लिये प्रस्थान करते हैं

तृतीय अङ्क मे अङ्कावतार के अतर्गत पाप द्वारा काशी एवं हरिश्चंद्र का महात्म्य वर्णित कराया गया है, और यहीं हरिश्चद्र के रक्षार्थ इश्वर द्वारा भैरव को नियोजित किया जाता है। तृतीय अङ्क में राजा हरिश्चंद्र काशी के घाटों पर घूम रहे हैं और विश्वामित्र के ऋण चुकाने में चिंतित हैं विश्वामित्र सक्रोध आकर दक्षिणा मांगते हैं और शाप देने पर उद्यत हो जाते हैं। परंतु राजा सूर्यास्त तक दक्षिणा चुका देने का वचन देकर छुटकारा पाते हैं। हरिश्चद्र काशी के बाजार में सपरिवार अपने को बेचने की पुकार लगाते हैं। इसी बीच एक उपाध्याय पांच सहस्र मुद्रा मे रानी तथा पुत्र को क्रय कर लेता है। शेष पांच सहस्र के लिये राजा को चाण्डाल के हाथ बिकना पड़ता है। इस तरह ब्राह्मण ऋण मुक्त होते हैं।

चतुर्थ अङ्क में श्मशान का दृश्य है. जहाँ का वीभत्स एवं भयानक वातावरण त्रास उत्पन्न करता है। हरिश्चंद्र के हृदय में नाना प्रकार की भावनायें उठती हैं,

कभी शैव्या की दशा सोचते हैं, कभी रोहिताश्व की। श्मशान देवी आती हैं, और राजा उससे अपने स्वामी के कल्याण का वरदान मागते हैं। कपालिक तथा वैताल आदि आकर राजा को अनेक प्रकार के प्रलोभन देते हैं। कोई उनके विघ्नों का निवारण करने को कहता है, और कोई "रसेन्द्र महा निधान" भेट करना चाहता है, महासिद्ध निधियाँ देना चाहता है, पर दास धर्म के विरुद्ध समझकर राजा कुछ भी स्वीकार नहीं करते। राजा की बाईं आँख फड़कती है, अपशकुन की सूचना मिलती है, सूर्य कठिन परीक्षा के लिये कटिबद्ध होने के लिये सावधान करते हैं। नैपथ्य में रुदन का स्वर सुनाई देता है, किसी स्त्री का पुत्रशोक में रुदन सुन अपने कर्म में कटिबद्ध हो जाते हैं। जब उन्हें ज्ञात होता है कि वह रानी शैव्या मृतक पुत्र रोहिताश्व का शव लिये सामने प्रस्तुत है, तो शोकाकुल राजा धैर्य की सीमा छोड़ देते हैं। परंतु तत्क्षण अपने कर्तव्यवश रानी से आधा कफन कर स्वरूप मांग अपने पुत्र की अंत्येष्टि क्रिया करने का उपक्रम करते हैं। अंत में शैव्या अपनी साड़ी का अर्ध भाग फाड़कर देना चाहती है, त्यों ही भगवान प्रकट होकर "बस महाराज बस" कहते हुये चमत्कृत कर देते हैं। फिर महादेव पार्वती आदि देवता, विश्वामित्र, इद्र प्रभृति आकर हरिश्चंद्र की स्तुति करते हैं एवं क्षमा मांगते हैं। बहुत आग्रह करने पर हरिश्चद्र भगवान से अपनी प्रजा के कल्याणार्थ वर माँगते हैं। भरत वाक्य में सफलता की याचना करते हैं :—

"खल जनन सों सज्जन दुखी मत होइ हरि-पद रति रहैं।
उप धर्म छूटैं सत्व निज भारत गहैं कर-दुख बहैं।
बुध तजहिं मत्सर, नारि नर सम होहिं सब जग सुख लहैं।
तजि ग्राम कविता सुकवि जन की अमृतवाणी सब कहैं ॥"

रूपान्तरित नाटकों में सत्य हरिश्चन्द्र कदाचित् सर्वोत्कृष्ट नाटक है। रूपान्तरित कथावस्तु में नाटककार का निज का व्यक्तित्व निहित दृष्टिगोचर होता है। मूल अनुवादों के अनुशासन से अलग अपने रूपक में रोचकता का समावेश करने का मन्तव्य सदैव नाट्यकार की दृष्टि में रहा है। सत्य हरिश्चन्द्र में मूल कथानक के विकास से भिन्नता पाई जाती है, उसी प्रकार विद्या-सुन्दर में प्रेमाख्यान तथा सती प्रताप में सतीत्व का महत्व बताना नाट्यकार का मूल प्रयोजन रहा है। मूल वस्तु-व्यापार में नाटककार के कल्पनाप्रसूत भाव व्यापार उसके नवीन प्रयोग हैं। कथा-वस्तु का रंगमंचीय आधार पर परिवर्तन तथा परिवर्द्धन कलाकार की नाट्य विज्ञता का परिचायक है। रूपान्तरित नाटकों की कथावस्तुओं में मौलिक परिवर्तन कर आकर्षक कलेवर देकर कथावस्तु की रोचकता को द्विगुणित किया है। सत्य हरिश्चन्द्र में सभी अवयव रंगमंचीय दृष्टि से पूर्ण हैं। यद्यपि रंगमञ्चीय प्रयोजन की सफलता का

निर्वाह किया गया है। परन्तु कुछ दृश्यों में अवश्य नाटककार ने अभिनेयता की असफलता पर दृष्टिपात नहीं किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि काव्य चमत्कार प्रदर्शित करने के लिये उक्त दृश्य को बलात् ठूंसा गया है। करुणा के साथ मनोरञ्जन का सामञ्जस्य भी नाट्य-कौशल की अभूतपूर्व देन है। विद्यासुन्दर प्रेम प्रधान रूपक है। मूल कथानक से इसमें अधिक परिवर्तन नहीं किया गया है, उक्त नाटक की कथावस्तु ऐयारी नाट्य धारा के कथानकों का स्वरूप है। घटना प्रेम प्रधान है। शृंगार के संयोग तथा वियोग दोनों पक्षों का वर्णन है। श्रवण से ही पूर्वानुराग उत्पन्न हो जाता है, दर्शन तथा विचार करने पर उसकी पुष्टि होती और फिर मिलन होता है। अन्त में वियोग होकर पुनर्मिलन होता है। वियोग और संयोग की घटनाओं के घातप्रतिघात नाटककार की निज की शैली है।

सती प्रताप अपूर्ण रूपान्तरित रूपक है। मूल पौराणिक आख्यान के कलेवर में आमूल परिवर्तन किया है। तीसरे दृश्य में वैतालिकों के गायन में महाकवि देव के कवित्त तथा स्वरचित कवित्तों में वियोगिनी का योगिनी से भी अधिक महत्व बताया है। ऐसा प्रतीत होता है कि कथा प्रसंग से अलग अपनी भावनाओं का समावेश कलाकार अपनी कलाकृति में देखना चाहता है, अतः उक्त काव्य-प्रदर्शन के लिये उसे नवीन स्थल खोजने पड़ते हैं। वहीं वह अपनी कल्पना के आश्रय से कथावस्तु का कलेवर घटाया बढ़ाया करता है।

छायानुवादों में भारतेन्दु जी ने अपने अनुवादों से अधिक सफलता प्राप्त की है। सत्य हरिश्चन्द्र उनके काल ही में जन-प्रिय रूपान्तरित नाटक रहा है।

मौलिक नाटक

भारतेन्दु जी के मौलिक नाटकों में तीन प्रकार की मूल प्रवृत्तियों का समावेश निहित दृष्टिगोचर होता है। सर्वप्रथम वे नाटक जिनकी पृष्ठ-भूमि पौराणिक तथा ऐतिहासिक है। इस कोटि के नाटकों में चन्द्रावली नाटिका तथा नीलदेवी का विशिष्ट स्थान है। प्रतीकवादी गीत रूपकों की आड़ में नाट्यकार ने अपने राजनैतिक विचार व्यक्त किये हैं, जो कलाकार की देश-भक्ति तथा राजनैतिक विचारधारा के परिचायक हैं। भारतेन्दु जी ने भारत दुर्दशा तथा भारत जननी रूपकों में अपनी राष्ट्रीय मनोवृत्ति का यथेष्ट परिचय दिया है। भारत जननी की प्रेरणा बंग साहित्य का प्रतिफल कही जा सकती है, परन्तु भारत दुर्दशा नाटककार के पददलित भारतीय समाज में असंतोष के परिणाम स्वरूप देश प्रेम की अलख जगाने का शंखनाद कहा जा सकता है।

नाटककार की अदृश्य रूप से देश सुधारक तथा समाज सुधारक की सी मनोवृत्ति रही है, अतः सम-सामयिक कुरीतियों के परिष्कार के हेतु व्यङ्ग किये बिना वह न

रह सका। हिन्दी नाट्य साहित्य में प्रहसन को स्थान भारतेन्दु युग में ही मिला। समाज के व्यंग चित्रों के रूप में प्रस्तुत एकांकी प्रहसन भारतेन्दु जी की ही प्रथम देन के रूप में हिन्दी नाट्य-साहित्य के अन्तर्गत दृष्टिगत होते हैं।

अंधेर नगरी, वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति, विषस्य विषमौषधम् तथा प्रेम योगनी समाज के व्यंग चित्र तथा हास्य प्रधान रूपक हैं। नाटककार का मूल प्रयोजन विनोद के लिये निरर्थक विनोद नहीं है, परन्तु प्रत्येक प्रहसन में निज की सामान्य विशेषता विद्यमान है। कहीं पर व्यक्ति विशेष के अराजक व्यवहार 'का व्यंग रूपक प्रस्तुत है, और कहीं सामाजिक दूषण में लिप्त इन समाज के ठेकेदारों पर कटाक्ष है। मौलिक नाट्य-रचना कलाकार के व्यक्तिगत जीवन की यथेष्ट रूप रेखा प्रस्तुत करती है। सामाजिक दूषणों में पोषित कलाकार व्यक्तिगत दुर्बलताओं को स्पष्ट व्यक्त करने में तनिक भी नहीं हिचकता। इन व्यंगों में निज के व्यक्तित्व का भी आभास मिलता है। भारतेन्दु जी के प्रहसन संस्कृत साहित्य की विदूषक प्रणाली के हास्य से भिन्न प्रकार के हैं। संवादों में व्यंग की गरिमा तथा लक्षणा का प्रयोग स्पष्ट ध्वनित होता है। इसी प्रकार की शैली का अनुसरण समकालीन नाट्यकारों ने भी किया है।.

भारतेन्दु की मौलिक रचनाओं में चंद्रावली नाटिका का विशेष स्थान है। इसमें उनकी काव्य रचना का प्रौढ़ रूप दिखाई पड़ता है। साथ ही इस बात को समझने का भी पूरा अवसर प्राप्त होता है कि उनमें किसी सिद्धांत को सजीव ढंग से प्रत्यक्ष करने की कितनी क्षमता थी। इस कृति में नाटककार का व्यक्तित्व अधिक स्फुट हुआ है। इसमें उसकी प्रेम चर्या और भावुकता का यथेष्ट परिचय मिलता है। यहाँ देश काल की परिधि से परे होकर वह उन्मुक्तावस्था का अनुभव करता प्रतीत होता है। चित्तवृत्ति की एकोन्मुखता, मंगलमय एवं पुनीत चित्रण ही इस नाटिका का लक्ष्य प्रतीत होता है। चंद्रावली में प्रेम का आदर्श और उसकी अवांतर स्थितियों का रूप साकार हो उठा है, इसमें भारतेन्दु जी के हृदय की झलक तथा भाव प्रवणता का पूरा योग मिलता है। उक्त नाटिका में नाट्यकार ने शास्त्रीय विधान का ज्ञान ही नहीं प्रदर्शित किया है, वरन् विधान प्रयोग की सम्पूर्ण मर्मज्ञता का परिचय दिया है।

परिभाषा के अनुसार नाटिका उपरूपक में इतिवृत्त कवि कल्पनाश्रित होता है और अधिकांश पात्र स्त्रियाँ होती हैं। इसमें चार अङ्क होते हैं। धीर ललित नायक कोई प्रख्यात राजा होता है, और अंतःपुर से सम्बंध रखने वाली अथवा संगीत प्रेमी राजवंशीया कोई नवानुरागिनी नायिका होती है, महिषी के भय से नायक का प्रेम शंकायुत रहता है, और महिषी राजवंश की प्रगल्भा नायिका होती है। नायक और नायिका का समागम उसी के आश्रित रहता है, जो निरन्तर मान किया करती है। नाटिका में वृत्ति कौशि होती है, और अल्प-विमर्श युक्त

अथवा विमर्श शून्य संधियाँ होती है। नाटिका के उक्त गुणों के अनुकूल अधिकांश विशेषतायें इस रचना में मिलती हैं। जिस रूप में चद्रावली का इतिवृत्त यहाँ पर प्रस्तुत किया गया है, वैसा पौराणिक तथ्य में नहीं निरूपित किया गया है। अवश्य ही कृष्ण और अन्य पात्रों से हम परम्परा से परिचित हैं, सारा भागवत सम्प्रदाय और हिंदी के कवि इस प्रकार के आख्यानों का उपयोग सदैव करते रहे हैं। परंतु जिस रूप में कथानक का सारा उतार चढ़ाव और परिस्थिति-योजना इस नाटिका में स्वीकार की गई है, वह कवि-कल्पित है, उससे कोई पौराणिक सम्बध नहीं है। स्त्री पात्रों का बाहुल्य दृष्टिगोचर होता है। पुरुष पात्रों में नारद तथा शुकदेव जी का विष्कंभक में उल्लेख है, पर रचना की व्यापार श्रृङ्खला से उनका कोई सम्बंध नहीं है। इसीलिये उनकी गणना नाटिका के पात्रों में नहीं की जा सकती है। केवल कृष्ण पुरुष पात्र की कोटि में आते हैं, और जिनका सम्बंध फल प्राप्ति से है। परिभाषा के अनुरूप ही सम्पूर्ण वस्तु विधान चार अङ्कों में विभाजित है।

प्रथम अङ्क की कथा चंद्रावली और उसकी अन्तरंग सखी ललिता के संवाद से प्रारम्भ होती है। आत्मीयता पूर्ण और व्यक्तिगत बातचीत दोनों में चलती है। धीरे-धीरे चंद्रावली अपने मर्म का अवगुंठन खोलती है और अपने प्रेम के निश्चित लक्ष्य का स्पष्ट उल्लेख अपनी सखी से करती है। ललिता अपनी सखी की दयनीय दशा पर सहानुभूति प्रगट करती है, और उसके दुख निवारण का उद्योग करने में प्रयत्नशील होती है। इस प्रकार नाटिका की बीजोत्पत्ति का स्वरूप स्थिर होता है।

द्वितीय अङ्क में चंदावली की विरहावस्था का चित्रण है। इसमें विप्रलंभ की विविध अन्तर्दशाओं का सजीव और काव्यात्मक वर्णन है। बनदेवी संध्या और वर्षा के योग से चंद्रावली के विरहोन्माद का जो विवरण यहाँ उपस्थित किया गया है, उसमें मात्राधिक्य अवश्य है, पर भावुकता के विकास का भी अच्छा अवसर प्रस्तुत हुआ है, वस्तुत: इस अङ्क में कार्य की प्रयत्नावस्था का स्पष्ट आभास मिलना चाहिये, परन्तु इसके लिये नाट्यकार ने एक प्रथक अङ्कावतार की व्यवस्था की है। उसमें प्रकारांतर से अपने प्रियतम के पास भेजे गये चद्रावली के पत्र को प्रकाशित करके नाटककार ने "प्रयत्न" नाम की कार्यावस्था की सिद्धि की है। मुख्य क्रिया को इस प्रकार गौण-स्थान देने से विषय की गहनता के अनुरूप उद्योग का प्रसार नहीं होने पाया। प्रयत्न कुछ दबा सा रह गया है। विरह के विस्तार में ही यदि इसी प्रकार के प्रयत्न का कुछ रूप चला दिया गया होता, तो कार्य की इस अवस्था को भी बल मिल जाता। फिर भी, चपकलता अपनी सखी के पत्र को यथास्थान अवश्य पहुँचाती है।

तीसरे अङ्क में चंद्रावली, माधवी, काम मजरी, विलासिनी, चंद्राकांता,

श्यामला, भामा, कामिनी, तथा माधुरी के साथ उद्यान में उपस्थित है, सखियाँ उद्यान-विहार कर रही हैं। इस अङ्क में विरह विदग्धा नायिका के लिये प्रकृति की अपार सुषमा उद्दीपन का कार्य करती है। वर्षा और झूले के प्रसंग से चंद्रावली का विरहोच्छ्वास अधिकता से आन्दोलित होता है, वह विरह प्रलाप का स्वगत सम्भाषण प्रारम्भ करती है। प्रेम की मधुर व्यंजना का प्रसार स्वभावत: अरुचिकर नहीं प्रतीत होता है, परन्तु इस के प्रसारगामी काव्यत्व और दुर्बल नाटकत्व से हम स्वभावत: परिचित हैं। उद्दीपन की आकुलता के साथ संविधानक की आकांक्षा का ज्ञान भी निरन्तर बना रहता है। फल प्राप्ति की आशा की ओर उन्मुख सदैव प्रयत्नशील रहता है। सखियां अपनी सखी चन्द्रावली के दुःख निवारण के हेतु सहयोगिनी का कार्य सम्पादित करती हैं, "हम तीनि हैं सो तीनि काम बांटि लें। प्यारी जू के मनाइवे को मेरो जिम्मा। यही काम सब में कठिन है, और तुम दोउन में को एक याके घर के नसों याकी सफाई करावे, और एक लालजू सों मिलिवे को करै।" इस प्रकार सखी सेना मार्ग विरोध को अनुकूल बनाने की चतुर्मुखी योजना तैयार करती हैं, और कार्य-सिद्धि की आशा का उदय होता है।

चतुर्थ अङ्क में प्राप्त्याशा नियताप्ति में परिणत होती है। प्रेमी कृष्ण जोगिन का वेश धारण कर स्वयं चन्द्रावली के पास आते हैं। चन्द्रावली और ललिता का वार्तालाप चलता है, जोगिन की अलख से उनका ध्यान टूटता है, जोगिनी गाती है। सारा वातावरण प्रसन्नता का है। नायिका को सगुन भाषित होता है। उसको भावोद्रेक होते ही जोगिन प्रकट हो जाती है। इस स्थिति को देखकर निश्चय हो जाता है, कि प्रेमी और प्रेमिका का मिलन हो जायेगा। कुछ काल तक गोप्य-गोपन क्रिया यों ही चलती है, पर विमर्श का न तो प्रसंग आने पाता है, और न तो कोई आशंका ही दिखाई देती है। अंत में चन्द्रावली गाते-गाते आत्म-विह्वल हो जाती है, और बेसुध होकर गिरने लगती है, कि एकाएक बिजली सी चमकती है, और जोगिन श्रीकृष्ण बन उसे गले लगाती है। पूर्ण प्रसंगों में फल-सिद्धि का विस्तार विद्यमान, है, परन्तु उनमें उपादेयता नहीं है। इस प्रकार सम्पूर्ण कथानक विरह और मिलन की कहानी है।

उक्त नाटिका में रति भाव का जैसा वर्णन हुआ है, उससे स्पष्ट हो जाता है कि कृतिकार ने चन्द्रावली के द्वारा एक आदर्श की स्थापना की है। एक निष्ठ प्रेम और निष्काम रति की जैसी विवृति चन्द्रावली में दिखाई गई है, वह आध्यात्मिक प्रेरणा की मूलक है। डाक्टर श्यामसुन्दर दास के शब्दों में 'इस नाटिका में जिस प्रेम का चित्र अङ्कित किया है, वह भारतेन्दु जी के भक्त-भाव का प्रतिबिम्ब है' औचित्यपूर्ण जान पड़ता है। भारतेन्दु जी ने समर्पण में स्वयं स्वीकार किया है 'इसमें तुम्हारे उस प्रेम का वर्णन है, इस प्रेम का नहीं, जो संसार

में प्रचलित है।' कृष्ण-भक्ति सम्प्रदाय की छाप नाट्यकार की वंश परम्परा में प्रतिष्ठित थी और स्वयं उनकी अनुरक्ति कृष्ण-भक्ति की ओर अधिक थी। इस दृष्टि से चन्द्रावली के प्रतिपाद्य का स्पष्टीकरण हो जाता है कि नाटककार कृष्ण-भक्ति के अनुराग में इतना अनुरञ्जित प्रतीत होता है कि भाव प्रवणता का भावुक ऊहापोह सीमा-विहीन हो जाता है।

नील-देवी नाटक की पृष्ठ-भूमि मुगलकालीन मुसलिम-विलासान्धता की ओर इंगित करती हुई, एक घटना को लेकर निर्मित हुई है। अब्दुश्शरीफ सूर पंजाब के राजा सूर्यदेव को छल से युद्ध में बन्दी बना लेता है, किन्तु रानी नीलदेवी अपूर्व कूटनीति कौशल का परिचय देती है। नर्तकी के वेश में अमीर की महफिल में उसका वध कर देती है। इस प्रकार अपने स्वामी की मृत्यु का प्रतिशोध लेकर वह स्वयं भारतीय परम्परा के अनुसार सती हो जाती है।

सम्पूर्ण कथा दस दृश्यों के अन्तर्गत वर्णित है। प्रारम्भ से अप्सरायें भारत की छत्राणियों का चरित्र गान करतीं हैं। युद्ध के डेरे में अब्दुश्शरीफ तथा काजी के बीच सम्वाद होता है, जिससे यवन सेना राजपूतों से आतङ्कित मालूम देती है। "इन कम्बख्तों से खुदा बचाये", "सूरजदेव एक बदबला है", "यहाँ तक पञ्जाब में ऐसा बहादुर दूसरा नहीं", अस्तु यह निश्चय होने पर कि "सामने लड़कर फतह न मिलेगी", "इस दुश्मने इमां को है धोखे से फंसाना", एक षड़यंत्र का सूत्रपात होता है ताकि "इस्लाम की रोशनी का जल्वा हिन्दोस्तान में" दिखाई पड़े।

तीसरे दृश्य में राजा सूर्यदेव तथा रानी नीलदेवी अन्य राजपूतों के साथ बैठे हैं, रानी यवनों से सावधान रहने की सम्मति देती है। राजपूतों को अपने पौरुष पर आत्म-विश्वास है कि "धर्म-युद्ध में तो हमें पृथ्वी पर कोई जीतने वाला नहीं" और राजा सूर्यदेव का आदेश है "जीते तो निज-मातृ-भूमि का उद्धार और मरेंगे तो स्वर्ग" मिलेगा।

चौथे दृश्य में चपरगट्टू खाँ, पीकदान अली तथा भठियारिन का वार्तालाप है। यवन सैनिक जो कायरता के प्रतीक हैं, और जो सदैव "मारतों के पीछे और भागतों के आगे" रहते हैं, और आपत्ति आने पर "अपनी कौम और दीन की मजम्मत और हिन्दुओं की तारीफ" करके अपनी जान बचाते हैं।

पाँचवें दृश्य में एक राजपूत सैनिक की मनोदशा का चित्रण है, जो युद्ध-भूमि में अपनी पत्नी व परिवार की याद करता है, उक्त प्रहरी द्वारा गाये गये पद अत्यन्त मार्मिक हैं। परंतु राजपूत रक्त में देश के प्रति असीम अनुराग है, अतः यह कहता है "घर की याद आवे तो प्राण छोड़कर लड़े"। राजपूत सैनिक का चरित्र मुसलमान सैनिक से अधिक उत्कृष्ट तथा कर्तव्यपरायण है। अन्त में मुगलों के अचानक आक्रमण की सूचना तथा सूर्यदेव के बन्दी होने का संकेत है। छठे दृश्य

में अमीर और काजी तथा अन्य सरदारों का विजय के उपलक्ष में प्रसन्नता प्रगट करना तथा इबादत करना। सातवें दृश्य में राजा सूर्यदेव लौह पिंजड़े में बन्द यवन शिविर में मूर्छित पड़ा है, उसके सम्मुख देवता द्वारा भारत के भविष्य के विषय में गीत प्रस्तुत करना प्रदर्शित किया गया है। वह भारत की अवनति तथा यवनों द्वारा पद्‌दलित किये जाने की ओर संकेत करता है। देवता के गीत से राजा की मूर्छा भंग होती है, उसे अपनी अवस्था पर पश्चाताप होता है। वह व्यथा से पूर्ण पुनः मूर्छित हो जाता है।

आठवें दृश्य में नीलदेवी की कूटनीतिज्ञता का कुछ आभास मिलता है। उसके दो गुप्तचर पागल और मुसलमान के वेश में भेद लेकर परस्पर मिलते हैं, और पता चलता है कि सत्ताइस यवनों को मारकर राजा वीर गति को प्राप्त हुआ। नवें दृश्य में उत्तेजित राजपूतों तथा राजकुमार सोमदेव की वीरोचित रण-योजना का परिचय मिलता है, किन्तु नीलदेवी की बुद्धिमता से उश्रृङ्खल युद्ध योजना का स्वरूप बदल दिया जाता है, और "सम्मुख युद्ध न करके कौशल से लड़ाई करना अच्छा है" मान्य ठहराया जाता है।

दसवाँ दृश्य अमीर की मजलिस से प्रारम्भ होता है, जहाँ शराब का दौर चल रहा है। इसी समय वहाँ चण्डिका नाम से नीलदेवी आती है। अमीर गायिका के गायन में तन्मय हो जाता है, उससे मद्यपान का आग्रह करता है। अवसर पाकर छद्मवेशी चण्डिका अमीर की हत्या कर देती है। तत्काल ही सहचर, समाजी, तथा राजपूतों के साथ कुमार सोमदेव अकस्मात् यवन शिविर पर आक्रमण कर देता है, राजपूत यवनों को परास्त कर देते हैं और नीलदेवी आर्य ललनाओं की भाँति सती हो जाती है।

नाटककार ने नाटक की भूमिका के रूप में एक वक्तव्य दिया है जिसमें पाश्चात्य रमणियों के उत्कर्ष और वर्तमान भारतीय नारी समाज पर खेद प्रकाशित किया है। उपरोक्त नाटक की रचना का मूल अभिप्राय वर्तमान भारतीय-समाज को जागरण का सदेश देना है। नाट्यकार अपनी प्राचीन संस्कृत और वीर रमणियों के इतिहास के पुनः पृष्ठ खोलता है और भारतीय नारी जगत् को उन्हीं के समान आचरण करने का एक सन्देश सा देता है। उसकी कामना है कि वे वीरांगनायें बनकर स्वदेश गौरव की रक्षा में समर्थ हों। प्रस्तुत नाटक में नाट्यकार ने अपनी उपरोक्त भावनाओं को साकार स्वरूप देने का सतत् प्रयास किया है। तृतीय दृश्य में राजा सूर्यदेव तथा अन्य राजपूत सैनिकों के मध्य यवनों से सावधान रहने की मन्त्रणा जो देती है, वह वीर प्रसूता रमणियों के बुद्धि कौशल का परिचायक है। राजा के बन्दी होने पर भारतीय रमणी अबला बनकर निरुपाय नहीं हो जाती, प्रत्युत वह नर्तकी के वेश में जाकर अपने पति की हत्या का बदला स्वयम् अमीर का वध

करके लेती है। धैर्य और शौर्य की प्रतीक रानी नीलदेवी भारतीय नारी समाज के सम्मुख आदर्श प्रतिष्ठापन करती है। कथानक में यवनों के अत्याचार तथा आतङ्कवादी आचरण का चित्रण ऐतिहासिक आधार पर सत्य तो अवश्य कहा जा सकता है, परन्तु उपरोक्त कथानक में अतिरञ्जना का समावेश हो सकता है। नाट्यकीय मनोवृत्ति में राजपूतों की रणकुशलता और शौर्य का परिचय अवश्य दिया गया है, परन्तु उसमें कुछ शिथिलता का आभास मिलता है।

अंग्रेजी नाट्यकार शेक्सपियर की भांति दैवी व्यक्तित्व की अवतारणा सुपर नेचुरल एलीमेन्ट, (Supernatural element) देकर भावी आशङ्काओं का संकेत नाटककार का नवीन प्रयोग कहा जा सकता है। राजा सूर्यदेव लौह पिंजड़े में मूर्छित अवस्था में पड़ा है और उसे अदृश्य देवता का गान सुनाई देता है। देवता का गान सुनकर वह सिर उठाता है और कहता है कि "इस मरते हुये शरीर पर अमृत और विष दोनों एक साथ क्यों बरसाया ? अरे अभी तो यहाँ खड़ा गा रहा था। अभी कहाँ चला गया ? ऐसा सुन्दर रूप और ऐसा मधुर सुर और किसका हो सकता है ?"

नाट्यान्तर्गत पात्रोचित भाषा का अधिक ध्यान रखा गया है, अत: कहीं कहीं भाषा में दुरूहता आ गई है, विशेषतः यवन सरदारों तथा काजी के बीच प्रस्तुत कथोपकथन में फारसी मिश्रित भाषा का प्रयोग किया गया है। "सरदार, कुफ्फार दाखिले दोजख होंगे और पयगम्बरे आखिरूल जमां सल्लाल्लाह अल्ले हुसल्लम का दीन तमाम रूए जमीन पर फल जायगा" (छठा दृश्य)। इसी प्रकार नाटक में प्रयुक्त गजलों में अधिक उर्दूवी पन है, जोकि रंगमञ्च की दृष्टि से लोक-भाषा से अलग सा प्रतीत होता है। राजपूतों की भाँति यवनों को "मोछों पर ताव" देना वर्णित किया गया है, इस्लाम के अनुसार यह क्रिया असंगत प्रतीत होती है।

प्रस्तुत नाट्य रचना वियोगांत ऐतिहासिक गीत रूपक है, जिसका नायक सूर्यदेव, नायिका नीलदेवी, तथा प्रतिनायक अब्दुश्शरीफ सूर है। सम्पूर्ण नाटक में वीर तथा करुण रस का परिपाक किया गया है। पागल के सम्वाद में वीर तथा करुण रस का कोई स्थान दृष्टिगत नहीं होता, परन्तु हास्य रस का पुट अवश्य है। रूपक में प्रस्तावना का प्रयोग नहीं है, वरन् पाश्चात्य नाट्य प्रणाली का अनुगमन किया गया है, आरम्भ में अप्सराओं का गान अँग्रेजी नाट्य विधान के कोरस गान का स्वरूप है। अतिमानुषीय शक्ति द्वारा भविष्य निर्देश का नवीन प्रयोग भी पाश्चात् नाट्य परम्परा की छाया कही जा सकती है, सम्भव है, नाट्यकार शेक्सपियर की नाट्य

---

१ दुख ही दुख करिहै चारहुँ ओर प्रकासा। अब तजेहु बीरवर भारत की सब आसा
इत कलह विरोध सबन के हिय घर करिहै। मूरखता को तम चारहुँ ओर पसरिहै।

शैली से प्रभावित हुआ हो। हिन्दी नाट्य साहित्य में वियोगांत रूपक की यह प्रथम योजना है।

मौलिक नाटकों में राष्ट्रीयता का समावेश भारतेन्दु जी के भारत-जननी तथा भारत दुर्दशा में व्यञ्जित होता है। भारतेन्दु जी सुधारवादी विद्रोही कलाकार थे। दोनों ही नाटकों का एक ही उद्देश्य कहा जाय, तो अधिक उपयुक्त होगा। कल्पित प्रतीक व्यञ्जना में नाट्यकार ने देश की अधोगति की ओर और आपसी वैमनस्य की ओर इंगित किया है, व्यक्तिगत स्वार्थ-परता की भर्त्सना की है, तथा कापुरुषों की तरह निरुद्देश्य जीवन व्यतीत करने वालों को देश प्रेम की चेतनता दी है। युग प्रवर्तक कलाकार ने राष्ट्रीय चेतना का शंखनाद किया। भारत जननी में नाट्यकार का उद्देश्य जन-जागरण का अवश्य है, परन्तु राष्ट्रीय कलाकार अपनी भावनाओं में अधिक निर्भीक नहीं दिखाई देता है। भावनाओं में राजद्रोह से हानि का संशय है, तभी वह सारे उत्थान श्री राज राजेश्वरी महारानी विक्टोरिया की छत्रछाया तथा उनकी दया की क्रोड़ में करना चाहता है। वस्तुत: इसमें सन्देह नहीं कि कलाकार राष्ट्रवादी भाव-धारा को पल्लवित होने देना चाहता है, परन्तु उसमें राज सत्ता की दबी हुई संकुचित उपेक्षा है, विद्रोह भावना की गरिमा नहीं है।

भारतेन्दु जी ने भारत जननी की प्रेरणा बंगभाषा के राष्ट्रीय नाटक भारत माता से प्राप्त की थी। उक्त रूपक एक ही अङ्क का रूपक है, अँग्रेजी नाट्य-विधान से इसे ओपेरा की कोटि में रखा जा सकता है। इस नाटक में प्राच्य और पाश्चात्य दोनों नाट्य विधानों का संगम सा प्रतीत होता है। सर्व प्रथम सूत्रधार आकर नाट्य मन्तव्य कहता है, "उसमें से एक मनुष्य भी यदि इस भारत भूमि के सुधारने में एक दिन भी यत्न करें, तो हमारा परिश्रम सफल है" इस वाक्य में नाटककार का उद्देश्य निहित है।

भारत जननी अपनी संतानों के साथ निद्रित अवस्था में एक भग्नावशेष खंड में दिखाई गई है। भारत की सरस्वती, दुर्गा तथा लक्ष्मी क्रमश: आती हैं। ये तीनों ब्रह्म की त्रिमूर्ति शक्तियाँ हैं, जो अपने वक्तव्य में कहती हैं कि भारत में उनके लिए न तो कोई आदर है, और न अब उनके लिये स्थान ही रह गया है, और वे बलात् विदेश ले जाई जा रही हैं। भारत की विद्या, शक्ति और धन तीनों क्रमश: विदेशियों के अधिकार में जा रही हैं, पर भारत संतान उस दृश्य को मनोरंजन की दृष्टि से देखते हैं। भारतमाता अपने पुत्रों को सचेष्ट करना चाहती है, परन्तु उन्हें आलस्य तन्द्रा के आवरण ने दिग्भ्रम में डाल दिया है। परन्तु जब अपनी स्थिति का यथेष्ट ज्ञान आता है, तो अपनी निर्बलता तथा विवशता पर पश्चात्ताप करते हैं। भारत जननी अपने कष्ट निवारण के लिये महारानी विक्टोरिया से दया याचना करने के लिए कहती है। महारानी से याचना करने वाले भारत पुत्रों के बीच में गारांग मार्ग बाधक बनता है,

और कहता है "रे नराधम ! राज विद्रोही। महारानी के पुकारने में तुम लोगों को तनिक भी भय का सचार नहीं होता। उह, यदि ऐसा जानते तो क्या तुम लोगों को लिखना पढ़ना सिखाते। दूसरा विदेशी आकर भारत-जननी को सांत्वना देता है, दोनों साधक सिद्धक का सा कार्य करते हैं। अन्त में धैर्य का प्रवेश होता है, वह भारत जननी तथा उसकी संतानों को सांत्वना प्रदान करता है, तथा अभिमान लोभ, अपमान, आत्म-समाज प्रशंसा, परजात-निंदा आदि को त्यागने के लिये सावधान करता है। अन्त में भारत जननी अपने पुत्रों को प्रोत्साहित करती हुई उपदेश देती है, और ईश्वर से प्रार्थना करती है कि वर्तमान भारतवर्ष की खोई हुई उन्नति पुनः प्राप्त हो जाय।

"बल कला कौशल अमित विद्या वत्स मेरे नित लहैं।
पुनि हृदय-ज्ञान प्रकाश तें अज्ञान-तम तुरतहिं दहैं।
तजि द्वेष ईर्षा द्रोह निन्दा देश उन्नति सब चहैं।
अभिलाख यह जिय पूर्ववत धन धन्य मोहि सबही कहैं॥"

भारतेन्दु जी ने अपने हास्य-रूपक भारत दुर्दशा में राजनैतिक वातावरण तथा भारतीय अधोगति के कारणों को प्रतीकावरण देकर अनुपम चित्र खींचा है। निःसंदेह उनकी कल्पना के आश्रय में रूपकों का कलेवर उनके उद्गारों द्वारा जन-जागरण का सन्देश प्रतीत होता है।

प्रथम अङ्क में योगी द्वारा उक्त गीत में भारत के पूर्व गौरव एवं वर्तमान पतन का मार्मिक चित्रण दिया गया है, पारस्परिक मार्मिक कलह ने यवनों को आमन्त्रित किया। उनसे मुक्ति मिलने पर अंग्रेजी राज्य में भी प्रजा को चैन नहीं है, आर्थिक शोषण प्रजा को अत्यधिक कष्ट दे रहा है।

दूसरे अङ्क में एक ध्वस्त स्थान में पददलित भारत अरण्य रोदन कर रहा है—
"कोउ नहिं पकरत मोरो हाथ।
बीस कोटि सुत होत फिरत में हाहा होय अनाथ।"

विलाप करता वह दुख तथा संताप के कारण मूर्छित होकर गिर पड़ता है। इसी समय "निर्लज्जता" आती है, जो शरीर के प्रति मोह उत्पन्न करने वाली है। उसका कथन है "एक जिन्दगी हजार ने-आमत है।" आशा की सहायता से निर्लज्जता मूर्छित भारत को उठा ले जाती है, और उपचार का उपक्रम प्रारम्भ करती है।

तीसरे अंक में भारत दुर्दैव प्रतिनायक के रूप में उपस्थित होता है, जो ईश्वरीय कोप के कारण उत्पन्न हुआ है। वह हर्षोन्मत्त प्रलाप द्वारा भारत की दुर्दशा के कारणों को व्यंगपूर्ण शब्दों में वर्णित करता है। इसके पश्चात् वह अपने सहायक-गणों की सहायता से भारत को पतनोन्मुख करने की योजना बनाता है। वह अपने

सहायकों के कौशल का वर्णन करता है कि किस प्रकार भारतीय समाज पर विजय पाकर उन्हें पतन के गर्भ में ढकेला है। सत्यानाश फौजदार ने भारतीयों में धर्म, जाति सम्बन्धी फूट डाली, लोगों को अन्धविश्वासी एवं कूपमण्डूक बनाया, अन्ध सन्तोष, रूढ़िवादिता, अदालत, फैशन, सिफारिश घूस, चाटुकारिता आदि से भारतीय नैतिक पतन में सहायता मिली है। इसके अतिरिक्त उसके विध्वंसक सहायक वैमनस्य, ईर्षा, लोभ तथा स्वार्थपरता आदि हैं। भारत का ऐक्य नष्ट हो गया तथा भारतीय शस्य अनावृष्टि तथा नील की खेती के कारण नष्टप्राय हो गया। अब क्रमशः रोग, मद्य, आलस, अन्धकार आदि देश पर अपना अधिकार जमा रहे हैं।

चौथे अङ्क में रोग आकर भारत दुर्दैव को अपने कार्य की सफलता का विवरण देता है। अपनी सफलता का कारण जनता में प्रचलित नाना प्रकार के अन्ध विश्वास, चेचक के टीके आदि न लगवाना, अकाल तथा दरिद्रता आदि हैं। आलस्य जन जन पर छाया हुआ है। अवांच्छनीय उदासीनता तथा अकर्मण्यता बढ़ती सी दिखाई देती है। मदिरा पान का भी प्रबल प्रचार हो रहा है, इसको चिरकाल से राज्याश्रय मिलता चला आ रहा है, "सरकार के राज्य में तो हम एक मात्र आभूषण हैं" (मदिरा)। अज्ञान रूपी आवरण से भारतीय समाज में अन्धकार व्याप्त हो गया है। ' भूले रहत आपुने रग में फंसे मूढ़ता मांहि।"

पाँचवें अङ्क में एक पुस्तकालय में सभा का दृश्य है, जिसमें अनेक प्रान्त के प्रतिनिधि तथा भारतीय सभ्यता के कथित ठेकेदार एकत्रित हैं। महाराष्ट्रीय, बगाली कवि, सम्पादक तथा देशी व्यक्ति भारत दुर्दैव द्वारा उत्पन्न सकट का निराकरण करने का उपचार सोचने में व्यस्त हैं। यहाँ व्यंग पूर्ण विनोद की व्यंजना अति ही उत्कृष्ट है। बंगाली महोदय समाचार पत्रों के प्रचार द्वारा सरकार को भयभीत करने का प्रस्ताव करते हैं, और एक मत बनने पर जोर देते हैं। देशी महाशय स्वगत शंका उत्पन्न करते हैं कि उन्हें राजद्रोही न मान लिया जाय, भारतीय जनों की भीरुता पर कटाक्ष है। कवि की विलक्षण कल्पना में विनोदपूर्ण व्यंग है कि नादिरशाह के आक्रमण को अवरुद्ध करने के लिये बताया गया भांड़ों का उपाय प्रयोग में लाया जाय ("मुए इधर न आइयो, इधर जनाने हैं") अर्थात् पुरुषोचित संघर्ष न लेकर सरकार की दमन नीति के सम्मुख घुटने टेक देने का अभिप्राय व्यंजित किया गया है। सारांशतः कापुरुषों की भाँति दमन के डर से सुधार की कोई योजना सम्मुख रखने में हिचकते हैं। सम्पादक महोदय एडूकेशन सेना तैयार करने का सुझाव प्रस्तुत करते हैं, कमेटी की फौज, स्पीचों के गोले लेकर चढ़ाई बोलने की बात कहते हैं। देशी महाशय को हाकिमों की अकृपा का डर है, और महाराष्ट्र महोदय को हाकिमों के अंग्रेजी सरकार से मिल जाने की आशंका है। कवि महोदय पुनः सुझाव

पेश करते हैं कि भारतीयता को छोड़कर कोट पैंट पहन अंग्रेजियत अपनायें, ताकि भारत दुर्दैव हमें अंग्रेज समझ कर सताना छोड़ दे। इसी प्रकार बंगाली महोदय पिसान से स्वेज पाटकर तथा बांस की नली से अंग्रेजों की आँखों में धूल झोंकने की विलक्षण योजना रखते हैं। इस अनर्गल वादविवाद के बीच ही पुलिस की वर्दी में डिसल्वायल्टी प्रवेश करती है, वह सब पर सरकार के विरोध का आरोप लगाती है। सदस्यगण उससे वाद-विवाद करते हैं, "गवर्नमेन्ट की पालिसी", "इगलिश पालिसी नामक एक्ट के हाकिमेच्छा नामक दफा से" सभी पकड़ कर ले जाये जाते हैं।

छठे अङ्क में मूर्छितावस्था में भारत पड़ा दृष्टिगोचर होता है। भारत भाग्य उसे उठाने क चेष्टा करता है "अबहू चेति पकरि राखौ किन जो कछु बनी बड़ाई।" बार-बार प्रयास करने पर जब वह नहीं जागता है, भारत-भाग्य दुखित होकर कहता है जो जान बूझकर सोता है, उसे कौन जगा सकता है? वह भारत की रूढ़िवादिता, अन्धविश्वास आदि की कटु आलोचना करता है, भारत की नाड़ी देखता है, उसे ज्वर का प्रकोप है। दुखित भारत भाग्य आत्मघात कर मुक्ति प्राप्त करता है।

प्रस्तुत नाट्य भारतेन्दु जी का दुखान्तक नाटक है। नाट्यकार ने तत्कालीन प्रवृत्तियों की कटु आलोचना की है, जिनकी राजनैतिक प्राप्ति से उन्हें घोर असन्तोष है, नाट्यकार व्यक्तिगत विचारों का उल्लेख करता नहीं प्रतीत होता है भावनाओं में तटस्थता की आभा प्रतीत होती है, परन्तु सम्पूर्ण कथानक समाजसुधार तथा देश की बिगड़ती हुई दशा के सुधार की ओर अवश्य लक्षित करता है। नाटक म प्रयुक्त भारत, भारतदुर्दैव, निर्लज्जता, आशा, सत्यानाश, रोग, आलस्य, अन्धकार आदि कल्पित पात्र प्रतीक स्थापन वृत्ति का परिचय देते हैं।

मौलिक प्रहसन :—

✓भारतीय नाट्य साहित्य में विदूषक की परम्परा संस्कृत नाट्य साहित्य की देन है। रंगमञ्चीय नाटकों में विनोद की सामग्री अत्यन्त आवश्यक अङ्ग है। नाटक में एकरसता तथा एकरूपता से दर्शकों का मनोविनोद नहीं हो सकता। अतः इस प्रवाह में परिवर्तन लाने के लिये तथा विशेषतः करुण रस के नाटकों में विषादयुक्त बोझिल चित्तवृत्ति को हलका करने के लिये नाट्य में हास्य का समावेश लाने का यत्न किया जाता था। नाट्य पात्रों के अन्तर्गत विदूषक का भी प्राथमिक स्थान था, जो कि दर्शकों को अपने अभिनय से हँसाने का उद्योग करता था। हिन्दी नाटक साहित्य में प्रहसन इसी प्रेरणा से प्रेरित तथा संस्कृत नाट्य साहित्य से प्रभावित नाट्य रूपक कहा जा सकता है।

भारतेन्दु जी ने अपने मौलिक प्रहसनों में एक प्रकार का नवीन प्रयोग उपस्थित किया है। प्रहसनों में हास्य की व्यञ्जना विदूषक के द्वारा नहीं उपस्थित की गई है, सम्पूर्ण प्रहसन व्यङ्ग रूपक हैं, तथा हास्य प्रधान व्यङ्ग रेखा चित्र हैं, जिनका मन्तव्य किसी व्यक्ति विशेष तथा समाज विशेष द्वारा किये हुये दूषित आचरणों पर आक्षेप है। सारे व्यंग रूपकों में समाज सुधारवादी प्रेरणा निरंतर कार्य करती हुई प्रतीत होती है। इन मौलिक व्यंग रूपकों में क्रमशः अंधेर नगरी चौपट्ट राजा, वैदिक हिंसा हिंसा न भवति, विषस्य विषौमषधम्, तथा प्रेम योगिनी हैं।

अंधेर नगरी प्रहसन में किसी राज्य के अव्यवस्थित शासन प्रबन्ध का व्यंग चित्र है। जिस अंधेर नगरी का मूर्ख राजा है, वहाँ की व्यवस्था सुचारु रूप से चल ही नहीं सकती, इसीलिए उक्त प्रहसन को "अंधेर नगरी चौपट्ट राजा टके सेर भाजी टके सेर खाजा" नामकरण दिया गया है। प्रथम अङ्क में महन्त अपने दो शिष्यों के साथ भजन गाते हुये नगरी में प्रवेश करते दिखाई देते हैं। महन्त अपने शिष्य को भिक्षा लाने का आदेश देता है, परन्तु अधिक लोभ न करने का भी निर्देश करता है।

द्वितीय अङ्क में बाजार का दृश्य उपस्थित किया गया है, जहाँ कबाब वाला, घासीराम, नारंगी वाली, हलवाई, कुंजड़िन, चूरण वाला, मछली वाली आदि उपस्थित हैं, जो अपने अपने माल की प्रशंसा में गाकर बेचते हैं, सभी का एक भाव है, सभी वस्तुएँ इस नगर में टके सेर हैं। शिष्य गोवर्धनदास साढ़े तीन सेर मिठाई लेकर चलता है।

तृतीय अङ्क में महन्त के सम्मुख शिष्य गोवर्धनदास मिठाई रखता है, और नगर की प्रशंसा करता है। महन्त भावी आशंकाओं से आतङ्कित उस नगर से तुरन्त चल देने की सलाह देता है। उसके कथनानुसार ऐसे देश में पल भर भी न टिकना चाहिये, जहाँ :—

"सेत सेत सब एक से, जहाँ कपूर कपास।
ऐसे देश कुदेश में, कबहुँ न कीजै बास"।

महन्त अपने शिष्य नारायणदास के साथ चल देता है, गोवर्धनदास गुरू की इच्छा के विरुद्ध वहीं टिक जाता है।

चौथे अङ्क में राज दरबार का दृश्य है। मद्यपी राजा सूर्पनखा के नाम से चौंक जाता है। इसके पश्चात् एक फरियादी आता है, जिसकी बकरी कल्लू बनिये की दीवार गिरने से मर गई है। क्रमशः कल्लू बनिया, कारीगर, चूनेवाला, भिश्ती, कसाई, गड़रिया, तथा कोतवाल अपराधी के रूप में बुलाये जाते हैं। एक दूसरे पर दोष मढ़कर मुक्ति पाते हैं, परन्तु कोतवाल धूम धाम से सवारी निकालने के कारण

दोषी ठहराया जाता है, और फाँसी के हेतु ले जाया जाता है, परन्तु फाँसी का फन्दा बड़ा हो जाने के कारण किसी मोटे आदमी की खोज की जाती है।

पाँचवें अङ्क में गोवर्धनदास को चार सिपाही पकड़ते हैं। मोटे होने के कारण उसे फाँसी के उपयुक्त समझा जाता है। इस आकस्मिक विपत्ति में वह बहुत करुण क्रन्दन करता है, अपने गुरू की शिक्षा का पुनः स्मरण करता है।

छठे अङ्क में श्मशान से गोवर्धनदास को आपत्ति से मुक्ति दिलाने के लिये गुरू जी उपस्थित हो जाते हैं। उपदेश के बहाने गुरू शिष्य के कान में कुछ कहता है। इसके बाद दोनों ही परस्पर फाँसी पर चढ़ने के लिये होड़ करने लगते हैं। उसी समय राजा, मन्त्री, तथा कोतवाल आ जाते हैं। राजा महन्त तथा गोवर्धनदास के मरने के लिये इस होड़ के विषय में प्रश्न करता है। महन्त कहता है "इस समय ऐसी साइत है, कि जो मरेगा, सीधा बैकुंठ जायेगा"। गुरू की इस बात से मन्त्री और कोतवाल में मरने के लिये होड़ होने लगती है, राजा बीच में पड़ कर कहता है कि "राजा के आछत और कौन बैकुण्ठ जा सकता है, हमको फाँसी चढ़ाओ, जल्दी जल्दी"। राजा फाँसी पर चढ़ा दिया जाता है।

प्रस्तुत प्रहसन में एकमात्र उद्देश्य मूर्ख राजा की राज्य-व्यवस्था से लोगों को अवगत कराना है। इस प्रहसन की प्रेरणा में मत-भिन्नता है। तत्कालीन अँग्रेजी-राज्य में फैली दुर्व्यवस्था का व्यंग-चित्र के रूप में उक्त प्रहसन को रखना उक्ति संगत नहीं है, जितना कि बाबू बृजरत्नदास जी के शब्दों में यह प्रहसन बिहार स्थित एक दुराचारी सामन्त की आलोचना में लिखा गया है। यह नाट्य प्रहसन नेशनल थियेटर में अभिनेयार्थ एक ही दिन में लिखकर समाप्त कर दिया गया था।

वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति, शाक्तों की धर्म-व्यवस्था का व्यंग रूपक है। पंच-मकार को महाशक्ति के अर्पण समझ उसे हिंसा अथवा पाप न मानने वाले धर्मान्धों का रेखाचित्र उक्त रूपक में प्रहसन के आकार में दिया गया है।

प्रथम अङ्क में रक्त-रंजित राज-भवन में गृध्रराज, चोबदार, पुरोहित और मंत्री आकर बैठते हैं। मछली के स्वाद के सम्बन्ध में राजा द्वारा पूछे जाने पर पुरोहित बड़ी प्रशंसा करता है। ऋषि के वंश में उत्पन्न ब्राह्मण के मुख से मांस की प्रशंसा सुनकर राजा आश्चर्य प्रगट करता है। इस पर पुरोहित और मन्त्री भागवत और मनुस्मृति के उद्धरण देकर यह सिद्ध करते हैं कि मांस भक्षण में किसी प्रकार का दोष नहीं है। इसी समय एक बंगाली सज्जन आकर "पराशरीय स्मृति" के आधार पर विधवा विवाह का समर्थन करता है। पुरोहित भी बंगाली महोदय के कथन का अनुमोदन करते हैं।

द्वितीय अङ्क में राजा, मन्त्री, पुरोहित तथा भट्टाचार्य पूजागृह में बैठे हैं, इसी समय वेदांती आते हैं, विदूषक उनसे पूछता है, कि आप मांसभक्षी हैं, अथवा

नहीं। बेचारे वेदांती उस सभा में टेढ़ी दृष्टि करके रह जाते हैं। भट्टाचार्य जी मत्स्य का खाना मांस भक्षण नहीं मानते इस पर वेदांती और बंगाली में वैष्णव धर्म को लेकर वादविवाद होने लगता है। इसी बीच शैव और वैष्णव आ जाते हैं। बंगाली महाशय शैव और वैष्णव मतों को वेद के बाहर बताते हैं, शैव इसका विरोध करते हैं, और कहते हैं कि वैष्णव तो मांस खाते ही नहीं, शैव में भी केवल नष्ट-बुद्धि प्राणी ही मांसाहार करते हैं। इसी समय गण्डकीदास के प्रवेश से बातचीत की धारा बदल जाती है. और वैष्णव, शैव तथा वेदान्ती अपने अनुकूल वातावरण न समझ-कर उठकर चले जाते हैं।

तृतीय अङ्क में राजपथ पर पुरोहित माला पहिने टीका दिये और बोतल लिये हुये उन्मत्त सा आता है। वह मदिरापान तथा मांस भक्षण का समर्थन करता है, और पीते पीते बेसुध होकर गिर पड़ता है। राजा मन्त्री से कहता है, "पुरोहित जी आनन्द में हैं" तत्पश्चात् राजा और मन्त्री वैदिक हिंसा का सप्रमाण समर्थन करते हैं, और स्वयम् दोनों उन्मत्त होकर नाचते हुये गाते हैं।

चतुर्थ अङ्क में यमपुरी में यमराज के पास चित्रगुप्त खड़े हुये हैं, और चार दूत राजा, पुरोहित, मन्त्री, गंडकीदास, शैव और वैष्णवों को लेकर आते हैं। यम-राज के समक्ष इन सब का न्याय होता है। शैव और वैष्णवों को छोड़कर शेष सभी अपने दुष्कर्मों के परिणाम से बचने के लिये धर्म-शास्त्रों से प्रमाण उद्धृत करते हैं। राजा कहता है "जो मांस खाया वह देवता-पितृ को चढ़ाकर खाया है, महाभारत का उल्लेख करते हुये "ब्राह्मणों ने अकाल के समय गोमांस खाया था", मांस भक्षण पाप नहीं स्वीकार करता है।

पुरोहित भी इसी प्रकार अपने पक्ष में तर्क रखता है। मन्त्री चित्रगुप्त को घूस देकर बचना चाहता है। गंडकीदास का कथन है कि पाप-पुण्य जो करता है. वह मनुष्य ईश्वरी प्रेरणा से करता है, इसमें मनुष्य का क्या दोष है ! यमराज चारो को नरक की यातना भोगने का दण्ड देता है, और शैव तथा वैष्णवों को उनकी भक्ति के कारण कैलाश, और बैकुण्ठवास की आज्ञा दी जाती है।

प्रस्तुत प्रहसन में हिन्दू जाति की सामाजिक कुप्रथाओं के प्रति तीखे व्यंग किये गये हैं। धन मनुष्य के हृदय में मांस और मदिरा सेवन के प्रति आकर्षण उत्पन्न करता है, और अन्ततोगत्वा उसे विलासी बनाकर उसका लौकिक एवं पार-लौकिक जीवन समूल नष्ट कर देता है। मानव मन इतना निर्बल है कि वह अपने दोष को कभी भी स्वीकार नहीं कर पाता है। वह अपने पापों के औचित्य के लिये शास्त्रों से प्रमाणादि खोजने का प्रयत्न करता है।

नौ पृष्ठों के भाण रूपक विषस्य विषमौषधम् में भारतेन्दु जी ने ऐतिहासिक

घटनाओं की योजना की है। भण्डाचार्य विषाद युक्त सांस लेकर निम्नांकित दोहा पढ़ता है :—

परनारी पैनी छुरी, ताहि न लाओ अङ्ग।
रावन हू को सिर गयो, परनारी के सङ्ग ॥

इसके पश्चात् वह मरहठों के राज्य के सम्बन्ध में कुछ ऐतिहासिक तथ्यों का उल्लेख भी करता है। लेखक ने भण्डाचार्य द्वारा कहाई गई बातों के लिये प्रमाण भी उपस्थित किये हैं।

सन् १८७० ई० में मल्हारराव (बड़ौदा नरेश) को शासनाधिकार प्राप्त हुआ। कहा जाता है कि गायकवाड़ के शासन की अव्यवस्था के कारण उत्पन्न होने वाले परिणामों की भयंकरता को देखकर बड़ौदा के रेजीडेन्ट कर्नल रोबर्ट फेयर ने वहाँ की चिन्तनीय अवस्था का समाचार सरकार के पास भेज दिया। यह भी कहा जाता है कि रेजीडेन्ट के इस कार्य से असन्तुष्ट होकर शासक द्वारा उन्हें विष देने के लिये भी उपाय किये गये। भारतीय सरकार ने मल्हारराव के शासन की अव्यवस्था की जाँच के लिये एक कमीशन की नियुक्ति की। जिसके परिणाम-स्वरूप सन् १८७५ ई० में राजा को गद्दी त्याग करनी पड़ी। उनके स्थान पर सयाजीराव को शासनाधिकार दिया गया। प्रस्तुत रचना में इस घटना का उल्लेख होने के कारण इसको विषस्य विषमौषधम् नामकरण दिया गया है।

प्रारम्भ में नाटककार ने भण्डाचार्य द्वारा स्त्री के प्रभाव का उल्लेख करते हुये कहा है :—

"पुरुष जनन के मोहन को विधि यंत्र विचित्र बनायो है।
काम अनल लावन्य सुजल बल जाको विरचि चलायो है।
कमर कमानी वार तार सों सुन्दर ताहि सजायो है।
धरम घड़ी अरु रेलहु सों बढ़ि यह सबके मन भायो है।"

नाट्यकार ने शासक को विषय वासना में लिप्त वर्णित किया है। शासन शिथिलता, विलासिता तथा पारस्परिक फूट ने भारत में अंग्रेजों के पैर मजबूत किये हैं।

"धन्य है ईश्वर। सन् १५९९ में जो लोग सौदागरी करने आये थे, वे आज स्वतन्त्र राजाओं को यों दूध की मक्खी बना देते हैं।" नाट्यकार ने अंग्रेजी शासन की सुव्यवस्था की सराहना की है। वह भारत की कल्याण कामना करता हुआ निम्नलिखित भरत वाक्य भी उपस्थित करता है :—

"परतिय परधन देखिन, नृपगन चित्त चलावैं।
गाय दूध बहु देहिं, मेघ सुभ जल बरसावैं।
हरि-पद में रति होई, न दुखकोऊ कहं व्यापैं।
अंगरेजन का राज ईस, इत थिरकरि थापैं।"

श्रुति पंथ चलैं सज्जन सबै सुखी होहिं तजि दुष्ट भय,
कवि-जानी थिर रस सों रहै, भारत की नित होइ जय।

नियमानुसार भाण की इस रचना में एक ही अङ्क है, और एक ही पात्र सब कुछ कह डालता है। रगमंच पर पात्र उपस्थित होकर आकाश की ओर देखकर प्रश्न करता है, और स्वयम् उत्तर भी देता है। इस प्रकार के कथोपकथन को आकाश भासित कहते हैं।

अपूर्ण मौलिक नाटक :—

प्रेम-योगिनी नाटिका भारतेन्दु जी का काशी जीवन का अपूर्ण "व्यंग चित्र" है। पहले अंक के चार गर्भांक से अधिक इसके आगे की रचना प्रस्तुत नहीं की जा सकी। नाट्यकार ने प्रथम गर्भांकों में रामचन्द्र के रूप में अपने जीवन की सूक्ष्म झांकी दी है। भारतेन्दु जी का जीवन काव्य और संगीतमय था। वे विनोदी एवं रसिक थे। उनका सदैव दरबार लगा रहता था। इनके समाज में कुछ ऐसे प्राणी थे, जिन्हें इनकी यह दिनचर्या रुचिकर न थी, इसलिये माखनदास तथा छम्मू जी के कथोपकथन में व्यग्योक्ति विचारधारा का आभास सा मिलता है।

माखनदास —"बस, रात दिन हाहा, ठी ठी, बहुत भवा दुई चार कवित्त बनाय लिहिन बस होय चुका।"

छम्मू —"कवित्त तो इनके बापौ बनावत रहे।—कवित्त बनाना कुछ अपने लोगन का काम थोरै हय।"

माखनदास—"उन्हैं तो ऐसी सेखी है कि सारा जमाना मूरख है, और मैं पंडित। थोड़ा सा कुछ पढ़ बढ़ लिहिन है।"

बालमुकुन्द और मल जी की वार्ता से उनके विलासमय जीवन के सम्बन्ध में लोगों की विचारधारा का परिचय मिलता है। धनदास और वनितादास के कथोपकथन से गोसाईं लोगों की स्त्री विषयक आसक्ति का ज्ञान प्राप्त होता है। रामचन्द्र के कथन से आनरेरी मजिस्ट्रेटों पर किये गये व्यंग में उनकी दशा का परिचय मिलता है।

दूसरे गर्भांक में दलाल, गंगापुत्र, दूकानदार, भंडारिये और झूरीसिंह दिखाई देते हैं। इनकी दिनचर्या में काशी के निठल्ले, अकर्मण्य तथा लफंगों के जीवन का परिचय प्राप्त होता है। परदेशी के गीत में काशी के मनुष्यों और उनकी दिनचर्या का बड़ा ही दयनीय चित्र खींचा गया है।

तृतीय गर्भांक में मुगलसरांय स्टेशन का एक दृश्य उपस्थित किया गया है। एक परदेशी पंडित के पूछने पर काशी निवासी सुधाकर जी काशी महात्म्य वर्णित करते हैं। उस वर्णन में भौगोलिक स्थिति, धार्मिक एवं सामाजिक स्थिति,

प्रसिद्ध धार्मिक स्थान, शिक्षा-केन्द्र तथा लब्धप्रतिष्ठ व्यक्तियों का वर्णन आ जाता है।

चौथे गर्भांक में बुभुक्षित पंडित, गप्प-पंडित, रामभट्ट, गोपाल शास्त्री, माधव शास्त्री आदि के कथोपकथन में काशी के पंडितों की दैनिक-चर्या तथा मनोवृत्ति का यथेष्ट ज्ञान प्राप्त होता है।

प्रस्तुत नाटक में नाट्यकार ने प्रस्तावना के रूप में सूत्रधार द्वारा अपने जीवन की करुणा का रहस्य खोला है। ऐसा प्रतीत होता है कि नाटककार प्रेमयोगिनी के रचना-काल में अपने जीवन से अत्यधिक व्यथित था। निम्नपद में उसकी सारी करुणा उमड़ी सी पड़ती है।

'कहैंगे सबै ही नैन नीर भरि भरि पीछे,
प्यारे हरिचंद की कहानी रहि जायगी।"

पौराणिक आख्यायिकों में वट सावित्री की कथा लोक-प्रचलित है। सावित्री तथा सत्यवान के आख्यान को लेकर भारतेन्दु जी ने एक गीत रूपक लिखने का प्रयास किया, जिसे वह पूरा न कर सके। उसका शेषांश बा० राधाकृष्णदास ने पूरा किया। कथानक का मूल आख्यायिका से विलग स्वरूप है। वस्तु व्यापार में नाटककार ने नवीन शैली का प्रयोग किया है। सर्वप्रथम तृणलता-वेष्ठित एक टीले पर बैठी हुई, तीन अप्सराओं में से दो पातिव्रत धर्म की प्रशंसा में गायन करती हैं, तथा अन्त में तीसरी ऋतु-पति के आगमन से उत्पन्न होने वाले परिवर्तन का वर्णन करती है। द्वितीय अङ्क में लता-मण्डप में बैठा सत्यवान विचारमग्न है और विगत जीवन के सुख और वर्तमान के दुःख को सोचकर पीड़ित होता है, माता पिता की समुचित सेवा न कर सकने के कारण अत्यन्त क्षुब्ध है। इसी समय सावित्री अपनी सखियों के साथ प्रवेश करती है। सखियाँ मधुकरी, सुरबाला तथा लवङ्गी गाती हुई फूल चुनती हैं। सत्यवान की आकर्षक मूर्ति देखकर प्रणाम करती हैं। सत्यवान उनसे आतिथ्य स्वीकार करने की विनय करता है, इस पर माता पिता की आज्ञा लेकर किसी दिन आमंत्रण स्वीकार करने का वचन देकर चली जाती हैं। तृतीय अङ्क में जयंती नगर के गृहोद्यान में सावित्री सत्यवान के ध्यान में मग्न प्रदर्शित की गई है। सखियाँ उसका ध्यान भंग करने का प्रयत्न करती हैं। माता पिता के आदेश से वह सत्यवान के प्रति विराग उत्पन्न कराना चाहती हैं, किन्तु विफल होती हैं।

चौथे दृश्य में द्युमत्सेन अपने आश्रम में बैठे हैं। द्युमत्सेन अपनी निर्धनता पर दुखी हैं। पुत्र की अल्पायु उनकी महान चिंता का कारण है। नारद जी आकर उनकी शंका का समाधान करते हैं और उनके पुत्र सत्यवान का विवाह अश्वपति की कन्या सावित्री से करने का आग्रह करते हैं। द्युमत्सेन नारद की आज्ञा मान लेता है।

इस अपूर्ण कथानक का जितना भी रूप भारतेन्दु जी द्वारा प्रस्तुत किया गया है, उससे नाट्यकार की रुचि का यथेष्ट ज्ञान प्राप्त होता है। नाटकीयता के साथ साथ प्रेम और पातिव्रत सम्बन्धी उत्कृष्ट भारतीय आदर्श उपस्थित किया गया है। कथावस्तु के साथ साथ संगीत प्रवाह अधिक सुन्दर है, नाट्यकार ने निज की रचनाओं के साथ साथ रीतिकालीन श्रेष्ठ कवि देव के छंदों का भी उपयोग किया है।

बाबू राधाकृष्णदास द्वारा पूर्ति किये गये पाँचवें दृश्य में वनदेवी तथा वनदेवता आते हैं और सावित्री सत्यवान के निवास से वन की शोभा-वृद्धि की सूचना देते हैं। छठे दृश्य में सावित्री तथा सत्यवान का प्रेमालाप होता है, सत्यवान लकड़ी लेने जाता है और उसके अनन्तर अपशकुन होने से घबड़ाकर सावित्री उसे खोजने निकलती है। सातवें दृश्य में मूर्छित सत्यवान को पाकर सावित्री उसका उपचार करती है। यमदूत आते हैं, परन्तु पातिव्रत के तेज से डर कर चले जाते हैं। फिर यमराज स्वयम् आते हैं। सावित्री के सतीत्व पर प्रसन्न होकर कई वर देते हैं, अन्त में उन्हें सत्यवान के प्राण पुनः वापस कर देने को बाध्य होना पड़ता है। सत्यवान मूर्छित अवस्था से जागकर अपना स्वप्न बताता है, फिर दोनों वहाँ से प्रस्थान करते हैं। सत्यवान अपने प्राण बचने का कारण सावित्री को जानकर सती के पातिव्रत की महिमा की बड़ाई करता है। अन्त में नारद जी आकर दोनों को आशीर्वाद देते हैं।

वस्तुतः उपरोक्त कथन में नाटकों का वर्गीकरण (अनूदित, रूपांतरित तथा मौलिक) तथा सामान्य परिचय दिया गया है। प्रत्येक वर्ग का विशद् विवेचन अग्रिम अध्यायों में पृथक पृथक रूप में प्रस्तुत है।

सप्तम-अध्याय

भारतेन्दु के अनूदित नाटकों की विवेचना :—

भारतेन्दु जी ने क्रमशः रत्नावली नाटिका, पाखण्ड विडंबन, धनंजय विजय व्यायोग, कर्पूर मंजरी तथा मुद्रा राक्षस को संस्कृत नाट्य साहित्य से अनूदित किया था। रत्नावली की भूमिका में नाट्यकार ने स्वयं स्वीकार किया है कि "शकुन्तला के सिवाय और सब नाटकों में रत्नावली नाटिका बहुत अच्छी और पढ़ने वालों को आनन्द देने वाली है, इस हेतु से मैंने पहिले इसी नाटिका का तर्जुमा किया है।" इसके पूर्व ही कुँवर लक्ष्मणसिंह द्वारा अभिज्ञान शाकुन्तल का अनुवाद किया जा चुका था। यह सर्वप्रथम नाटक था, जिसने हिन्दी नाट्य-साहित्य में भाषा के स्वरूप का मान-दण्ड स्थापित किया था। भारतेन्दु जी हिन्दी नाट्यसाहित्य के भाषागत स्वरूप को स्थायी बनाना चाहते थे, अतः कुछ संस्कृत नाट्याख्यायिकाओं को अनुवाद करने की प्रेरणा से प्रेरित होकर उपर्युक्त रूपकों का अनुवाद प्रस्तुत किया। सर्वप्रथम भारतेन्दु जी ने रत्नावली नाटिका का अनुवाद किया है। यद्यपि नाटिका का अनुवाद अपूर्ण उपलब्ध है, फिर भी प्रस्तावना तथा विष्कंभक के अनुवाद में आपकी मौलिक रुचि का परिचय प्राप्त होता है। नाटककार मूल में किये हुए शृंगार व्यंजक भक्ति प्रवाह से अधिक प्रभावित सा प्रतीत होता है। नान्दी के तीनों श्लोकों में पार्वती तथा शिव के स्वरूप वर्णन का उत्कृष्ट अनुवाद नाटककार द्वारा प्रस्तुत किया गया है। रूपक विधान में नाटिका के स्वरूप तथा लाक्षणिक भावना से वह अधिक आकृष्ट सा प्रतीत होता है। मौलिक कृतियों में भी नाट्यकार ने नाटिका[1] रूपक विधान में चन्द्रावली का निर्माण किया है, जो उनकी सर्वोत्कृष्ट मौलिक कृतियों में मानी जाती है।

भारतेन्दु जी ने पाखण्ड विडम्बना प्रतीक रूपक में भक्ति के परे सभी साधनाओं में पाखण्ड व्यापार का समावेश बताया है। यह श्री कृष्ण मिश्र रचित प्रबोध चन्द्रोदय नाटक के तृतीय अंक का उत्कृष्ट अनुवाद है। भक्ति के साथ श्रद्धा का सामंजस्य किया गया है। विष्णु पद में नाट्यकार की व्यक्तिगत श्रद्धा भी है। भारतेन्दु जी ने उक्त नाटक के अनुवाद में समर्पण के संदेश में इस पर प्रकाश डाला है:—

---

१ स्त्री प्राया चतुरङ्का ललिताभिनयात्मिका विहितार्था।
प्रवृत्त गीत पठ्या रति सम्भोगात्यिंका चैव ॥ ६२ । २३१, भरत नाट्यशास्त्र
कामोपचार युक्ता प्रसाधन क्रोध संयुता चापि।
नायक दूती चापि देवी सम्बन्धा नाटिका ह्येषा ॥ ६३॥"
अन्तर्भावगता ह्येषाभाव योरुभयोरपि।
अथ दशैतानि रूपाणि इत्युदितानि तु। ६४ ॥ (अथ नाटिका) भरत नाट्य-शास्त्र

"भला इससे पाखण्ड का विडम्बन क्या होना है ? यहां तो तुम्हारे सिवा सभी पाखण्ड हैं, क्या हिन्दू क्या जैन ? क्योंकि मैं पूछता हूँ कि बिना तुमको पाये मन की प्रवृत्ति ही क्यों है, तुम्हें छोड़कर मेरे जान सभी झूठे हैं, चाहे ईश्वर हो चाहे ब्रह्म चाहे वेद हो, चाहे इंजील"।

भारतेन्दु जी अपनी विचारधारा के अनकूल ही विष्णु-भक्ति परम्परा की पुष्टि की ओर आकृष्ट हुये हैं। अन्य सिद्धान्तों की छद्मवेशी साधना का आधार भोग-लिप्सा है। निर्वाण के व्यामोह में मानव अनैतिक आचरण करता है, और उन्हीं भोगों के द्वारा निर्वाण सुख कल्पना में विभोर रहता है। साधना के आडम्बर विधान की आड़ में पाखण्डरत विभिन्न सिद्धान्तवादी साधन साधना को भोग सम्बल बनाकर विभ्रम में डाल देते हैं। उनका मूल प्रयोजन पीछे रह जाता है, उनका साधन ही साध्य बन जाता है, और साध्य उस पाखण्ड व्यापार का परोक्ष साधन प्रतीक व्यंजना में सहज आलोचन व्यापारों का उल्लेखन भारतेन्दु जी को अधिक प्रिय है। मौलिक नाटकों में जहाँ आपने अपनी राष्ट्रवादी विचारधारा की अभिव्यक्ति की है, वहाँ धार्मिक भावना और लक्ष्य का अनुसरण उक्त पद्धति का किया है। भारतेन्दु जी सुधारवादी कलाकार थे, अतः उक्त धार्मिक विवेचन में अन्य सिद्धान्तों की खोखली नीति की बड़ी ही कटु आलोचना की है। यद्यपि वैष्णव होने के नाते भक्ति परम्परा की श्रेष्ठता का समर्थन किया है। वैष्णव भक्ति का समर्थन करने वाला "प्रबोध चन्द्रोदय" का उक्त कथानक नाटककार की व्यक्तिगत अभिरुचि का सहज ज्ञान उपस्थित कर देता है। नाटककार का मंतव्य कलिकाल के प्रभाव से जीवन में सतोगुण का अभाव तथा रजोगुण और तमोगुण का प्राधान्य है। धर्मावलम्बी विभिन्न वादों के विवाद में फसकर यथार्थ को भूल जाता है। लोकरंजनकारी सिद्धान्तों तथा आचरणों को न अपनाकर आडम्बर विधान की ओर अधिक आकृष्ट होता है। उक्त लाक्षणिक प्रतीक विचारों द्वारा पाखण्ड की विडम्बना की गई है, अतः इसी मूल प्रयोजन से प्रेरित नाटककार ने उक्त अनुवाद को भाषागत करने के लिये लेखनी उठाई थी।

धनञ्जय विजय व्यायोग महाकवि कांचन के धनञ्जय विजय का अनुवाद है। व्यायोग में गद्य तथा पद्य मिश्रित संवाद उपस्थित किये गये हैं। संवादों में पद्य का प्रयोग अधिकता से किया गया है। नाटककार का मंतव्य रूपकों में संयत पदावली प्रयोग करने का निर्देश करना रहा है।

नाट्य के अंतिम भरत वाक्य में उक्त वक्तव्य की एक रूप रेखा झलकती दिखाई देती है :—

"कजरी ठुमरिन सों मोरि मुख सत कविता सब कोऊ कहैं।
हिय भोग वती सम गुप्त हरि-प्रेम धार नितही बहै॥"

सम्भवत: अपने समय की कविता की हीन दशा देखकर और संस्कृत के "कवि सूक्तिषु सानुरागा:" शब्दों की ध्वनि से प्रभावित नाट्यकार ने हिन्दी नाट्य साहित्य के सामने प्रस्तुत व्यायोग के अनुवाद को नवीन प्रयोग के रूप में उपस्थित किया है। इसीलिये नाटककार आशीर्वाद रूप में चाहता है कि कजरी और ठुमरी के रूप में बहने वाली अपरिष्कृत काव्य-धारा सच्चे काव्य की ओर प्रवाहित होकर वेगवती हो। नाटककार ने विभिन्न मूल ग्रन्थों का अनुवाद भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से किया है, प्रत्येक में निज की मौलिक योजना का स्वरूप स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।

समर्पण के अन्तर्गत नाटककार अपने विशिष्ट मंतव्य को लेकर अपने इष्ट को नाट्य समर्पण करना चाहता है, जो निम्न भावों से स्पष्ट है :—

"निश्चय ही इस ग्रंथ से तुम बड़े प्रसन्न होगे, क्योंकि अच्छे लोग अपनी कीर्त्ति से बढ़कर अपने जन की कीर्त्ति से संतुष्ट होते हैं। इस हेतु इस होली के आरंभ के त्योहार माघी-पूर्णिमा में हे धनंजय और निधनंजय के मित्र! यह धनंजय विजय तुम्हें समर्पित है, स्वीकार करो।"

कृष्ण-भक्त नाटककार गोविन्द के भक्त और सखा धनंजन अर्थात् अर्जुन की व्याख्या करना चाहता है। प्रस्तुत कथानक में व्यायोग के नाट्य-विधान को पूर्ण-रूपेण निभाया गया है। इसमें पद्य का बाहुल्य है और एक ही दिन की घटना का उल्लेख नाटकीय शैली में हुआ है। भारतेन्दु जी व्यायोग की अवतारणा हिन्दी नाट्य-साहित्य के सामने प्रस्तुत करना चाहते थे। अनुवाद की सफलता सराहनीय है।

कर्पूर मञ्जरी सट्टक का अनुवाद राजशेखर के प्राकृत भाषा में रचित कर्पूर मंजरी से किया गया है। भारतेन्दु जी ने सट्टक के पूर्व कथन में, सूत्रधार तथा पारि-पार्श्वक के संलाप द्वारा उक्त अनुवाद का मूल प्रयोजन स्पष्ट किया है।

"सूत्रधार :—ठीक है, सट्टक में यद्यपि विष्कंभक प्रवेशक नहीं होते तो भी यह नाटकों में अच्छा होता है (सोचकर) तो भला कवि ने इसको संस्कृत ही में क्यों न बनाया, प्राकृत में क्यों बनाया?

पारिपार्श्वक :—आपने क्या यह नहीं सुना है!
जा मैं रस कछु होत है, पढ़त ताहि सब कोय।
बात अनूठी चाहिये, भाषा कोऊ होय॥

और फिर—

कठिन संस्कृत अति मधुर भाषा सरस सुनाय।
पुरुष नारि अंतर सरिस इनमें बीच लखाय॥"

भारतेन्दु जी शृंगार प्रधान सट्टक की हास्य व्यंजना से अधिक प्रभावित हुये।

अत: उपर्युक्त शब्दों में अपनी भाव-धारा की अभिव्यक्ति की है । सरल कथानक तथा अनूठे भावों से सम्पूर्ण प्राकृत सट्टक की ओर आकृष्ट हो अपने अनुवाद द्वारा उसकी उत्कृष्टता का हिन्दी नाट्य-साहित्य को परिचय दिया है। हास्य के प्रयोगों में संकेतात्मक लक्षण का विनिवेश नाट्यकार के चमत्कार प्रदर्शन की मनोवृत्ति का उद्‌घाटन करता है। विदूषक तथा विचक्षणा के कथोपकथन में हास्य प्रणाली में अश्लीलत्व न आने देना नाट्यकार का नवीन प्रयोग है। जिस प्रकार विदूषक के विचक्षणा के प्रति कहे गये संवाद से ध्वनित होता है—'बक बक किये जायगी तो तेरा दाहिना और बायां युधिष्ठिर का बड़ा भाई (कर्ण-कान) उखाड़ लेंगे।"

नाट्यकार की मनोवृत्ति में अलंकारमयी भाषा के प्रयोग की प्रेरणा तथा सौम्य शृंगार प्रियता की ओर विशेष आकर्षण का भाव सम्पूर्ण अनुवाद में प्रस्तुत है। प्रसंगानुसार रीति-कालीन कवियों के छंदों का प्रयोग रस-मय शृंगारिक अभिव्यंजना का द्योतक है। कभी कभी नाट्य के सजग व्यापारों के साथ साथ भी भारतेन्दु जी शृगारिक रस मय ऊहा-पोह में संलग्न दिखाई पड़ते हैं। उक्त स्थान तथा वर्णमय चित्रों में उनकी व्यक्तिगत अभिरुचि का समावेश पाया जाता है।

विशाखदत्त रचित "मुद्रा राक्षस" संस्कृत नाट्य साहित्य में विशेष ख्याति-प्राप्त नाट्य है। भारतेन्दु जी ने उक्त नाटक के अनुवाद में यत्र तत्र परिवर्तन तथा परिवर्द्धन किया है। परन्तु इसकी मौलिकता का विशेष ध्यान रक्खा है। इसलिये स्वाभाविकता की रक्षा का पूर्ण प्रयत्न सर्वत्र परिलक्षित होता है। नांदी पाठ के अनन्तर सूत्रधार का निम्न कथन नाट्यानुवाद के विशेष आकर्षण के मंतव्य को प्रकट करता है।

"सूत्रधार :—सच है, जो सभा काव्य के गुण और दोष को सब भांति समझती है, उसके सामने खेलने में मेरा भी चित्त सन्तुष्ट होता है—

उपजैं आछे खेत में, मूरखहू के धान।
सघन होन मैं धानके चहिय न गुनी किसान।"

मुद्रा राक्षस में शास्त्रीयनाट्य-विधान के अनुसार नाटक के सम्पूर्ण अवयव विद्यमान हैं। सर्वप्रथम नाट्य में मंगलाचरण है, जिसमें प्रथम नांदी कवि कल्पना प्रसूत है, तथा अन्य तीन श्लोकों का मूल नाटक के संस्कृत मंगलाचरण का सुन्दर अनुवाद किया गया है। इसमें गद्य के स्थान पर गद्य तथा पद्य के स्थान में पद्यानुवाद का सुन्दर सामंजस्य है। भूमिका में अनुवादक ने "पूर्व कथा" के नाम से नाटक की ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि भी दे दी है। पूर्व कथा बड़े ही खोजपूर्ण प्रयत्न से लिखी गई है। भारतेन्दु जी का उक्त अनुवाद ऐतिहासिक अध्ययन की अभि-

रूचि का द्योतक है। ऐतिहासिक घटनाओं के घात प्रतिघात का निदर्शन भारतेन्दु जी के अनुवाद में बहुत सुन्दर है। भाषा इतनी सुष्ठु है कि पढ़ने से मौलिक नाटक का आनन्द प्राप्त होता है।

विवाद-ग्रस्त ऐतिहासिक तथ्य निरूपणों की स्पष्ट समीक्षा उपसंहार में दे दी गई है। भारतेन्दु जी का मूल मन्तव्य ऐतिहासिक कथनों को खोजपूर्ण प्रमाणों सहित प्रकाश में लाना था। उपसंहार में स्वतन्त्र गीतों की योजना से नाट्यकार का मन्तव्य नाटक के कार्य व्यापार में घटनाओं के घात-प्रतिघात से उत्पन्न शिथिलता में नवीन आकर्षण का समावेश करना है। मुद्राराक्षस हिन्दी गद्य की व्यञ्जना-शक्ति और नाटककार के गद्य परिमार्जन का नवीन प्रयोग कहा जा सकता है। वस्तुतः नाटककार का मूल प्रयोजन केवल ऐतिहासिक तथ्य निरूपण की अभिरुचि ही न थी, प्रत्युत नाटकीय गद्य के धरातल की सुदृढ़ नीव प्रदान करने की सफल योजना भी कही जा सकती है, जिसके आधार पर हिन्दी नाट्य साहित्य का सुदृढ़ प्रासाद बना हुआ है।

सम्पूर्ण नाट्य रूपकों की अवतारणा अनुवादक की व्यक्तिगत अभिरुचि का समावेश विभिन्न दृष्टिकोणों में विद्यमान है, जैसा कि पृथक पृथक रूपकों के अन्वेषण में उपस्थित किया गया है। उच्चकोटि के अनुवादक होने के नाते भारतेन्दु जी ने अपनी मौलिक प्रतिभा का विनिवेश प्रस्तुत करने का प्रत्येक अनुवाद में प्रयास किया है। मूल नाटकों के परिवर्तन तथा परिवर्द्धन में व्यक्तिगत अभिरुचि का समावेश यत्र तत्र दिखाई देता है, मूल भावों की रक्षा करने के लिये और नाटक के वातावरण को बनाये रखने के लिये यदि उन्हें कभी अपने अतिरिक्त किसी अन्य कवि के छंदों की आवश्यकता दिखाई दी, तो उन्होंने उनका उपयोग करने में कोई संकोच नहीं किया। कर्पूर मंजरी में पद्माकर तथा देव के सवैयों को उपयुक्त स्थान देकर रूपक का सौंदर्यवर्धन किया है।

ऊपर हमने प्रासंगिक रूप से भारतेन्दु की उन प्रेरणाओं का उल्लेख किया है, जो उन्हें इन नाटकों का अनुवाद करने में मिली थीं, परन्तु उन प्रासंगिक प्रेरणाओं के अतिरिक्त अनुवाद के कुछ सामान्य हेतु भी परिलक्षित होते हैं। भारतेन्दु जी संस्कृत साहित्य की सुन्दर कृतियों को हिन्दी में अनूदित करके हिन्दी साहित्य का भंडार समृद्ध करना चाहते थे। संस्कृत नाट्य साहित्य विशाल और बहुमुखी है, इसमें एक ओर जहाँ विषय और जीवन क्षेत्र की दृष्टि से विस्तार और नानात्व है, वहीं नाट्य प्रकार या शैली की दृष्टि से भी बड़ी विविधता और अनेक रूपता है। उदाहरणार्थ—विषय की दृष्टि से जहाँ एक ओर ऐतिहासिक नाटक, पौराणिक वृत्तोपजीवी नाटक, प्रेमाख्यान आश्रित नाटक, सामाजिक कथाश्रित उद्देश्य प्रधान या व्यंग्यात्मक शैली के नाटक मिलते हैं, तो शैली की दृष्टि से अठारह प्रकार के रूपक उपरूपकों की

परम्परा विद्यमान है। भारतेन्दु जी ने शैली और विषय दोनों ही की दृष्टियों से विविधता पूर्ण और सुन्दर नमूने हिन्दी साहित्य के सम्मुख रक्खे हैं। एक ओर तो उन्होंने मुद्रा-राक्षस जैसा विशुद्ध राजनैतिक और बौद्धिक चमत्कार पूर्ण नाटक अनुवाद के लिये चुना, जो कदाचित् संस्कृत की गद्यात्मक या यथार्थवादी नाट्य शैली का एक उत्तम उदाहरण है, दूसरी ओर उन्होंने रत्नावली जैसी प्रेम प्रधान और काव्यात्मक नाटिका की भी अवतारणा करने की चेष्टा की। अनूदित नाटकों का सामाजिक जीवन के उन्नयन में उपयोग एक विशेष गुण है। इन विविध अनूदित नाटकों से भारतेन्दु के मौलिक नाटकों को भी प्रेरणा मिली और उन्होंने अपनी नाट्यशैली में इनका यथेष्ट उपयोग किया, उदाहरणार्थ रत्नावली की भूमिका पर उन्होंने चन्द्रावली नाटिका की रचना की।

संस्कृत, प्राकृत और हिन्दी भाषा पर उनका पूर्ण अधिकार था, यह मूल तथा अनुवादों दोनों के अवलोकन से सहज ही जाना जा सकता है। अनुवादों में मूल के भावों का सुन्दरता के साथ निर्वाह किया गया है। भारतेन्दु की विचारधारा से स्पष्ट है कि प्राचीन संस्कृत तथा काव्य परम्परा का नवोत्थान तभी सम्भव हो सकता है जब कि जन-समाज के सम्मुख साहित्य के रूप में उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत किये जायँ। अपने अतीत के आदर्श ही वर्तमान अवस्था में लुप्तप्राय उत्कर्ष को नवीन चेतना प्रदान करेंगे। इसलिये उन्होंने चुन चुनकर ऐसे नाटकों का अनुवाद किया, जो काव्य के दृष्टि से उत्कृष्ट हों और सुरुचिपूर्ण हों। नाटककार अपने विषय के चयन में सदैव सावधान रहा है, जनता की तत्कालीन अभिरुचि में समूल परिवर्तन करना नितान्त असम्भव था। जन-अभिरुचि का ध्यान रखते हुये परिष्कार की ओर अग्रसर होते गये। मुद्रा राक्षस राजनैतिक घटनाचक्र लेकर चलता है, कथावस्तु का प्रवाह, घटनाओं के घात-प्रतिघात संघर्ष में ऐतिहासिक तथ्य निरूपण में नाट्यकार के एक ही साथ कई मंतव्यों की योजना निहित दिखाई देती है। धनंजय विजय में महाभारत के पौराणिक आख्यान में वीर-रस के उत्कृष्ट स्थल को लेकर रोचक बनाने का सफल प्रयास नाट्यकार द्वारा किया गया है। वीर काव्य की ओर आकृष्ट जनता को वीरत्व की रंगमंचीय छटा दिखाने के प्रयोजन से उक्त अनुवाद की रचना की गई है। पाखण्ड विडंबन रूपक में भारतीय दार्शनिक विचारधारा में धार्मिकता का समावेश सुन्दर है। कर्पूर मंजरी सट्टक में शृंगार प्रधान मनोवृत्तियों का बाहुल्य है, राज-दरबार में विदूषकों की परम्परा और राजा की दिनचर्या का सुन्दर चित्रण है। रत्नावली नाटिका में विष्कंभक में शृंगार मूलक सरस अभिव्यंजना है। उपरोक्त सभी भावनाओं में अनुवादक का जन-रुचि की ओर विशेष ध्यान पाते हैं। भारतेन्दु जी ने अपने अनुवादों में जन-साधारण की अभिरुचि के अनुकूल रूपक प्रस्तुत कर लोक प्रियता प्राप्त की है।

रत्नावली-नाटिका :—

अब हम इन अनूदित नाटकों की साहित्यिक विशेषताओं का कुछ विस्तार से उल्लेख करेंगे, जिनसे प्रभावित होकर भारतेन्दु ने इनका अनुवाद किया था। रत्नावली नाटिका के मूल रचयिता श्री हर्ष (६०६ से ६४८ ई०) कहे गये हैं। थानेश्वर के राजा हर्ष के काल में संस्कृत साहित्य अपनी चरम विकास की सीमा पर था। हर्ष स्वयं कवि तथा विद्या-प्रेमी था, उसके प्रश्रय में महाकवि बाण भट्ट के सदृश्य प्रतिभाशाली साहित्यकार उत्पन्न हुये। आचार्य भट्ट के काव्य प्रकाश में रत्नावली नाटिका हर्ष के आश्रित धावक की लिखी बताई गई है। "श्री हर्षा देधविका दी नाभि वधनम्" का उल्लेख प्राप्त है। अपने आश्रय दाता के नाम पर उक्त ग्रन्थ को लिखकर प्रकाशित किया गया है। कुछ उल्लेखों में महाकवि बाण की कृति बताई जाती है, परन्तु महाकवि श्री हर्ष की गुरूता पर संशय करना असगत है, क्योंकि हर्ष की विद्वता के अनेक प्रसंशात्मक प्रमाण उपस्थित हैं।

मधुसूदन की भाव-बोधिनी[1] में रत्नावली का हर्ष रचित होना प्रमाणित किया गया है। श्री हर्ष रचित तीन उत्कृष्ट रचनायें संस्कृत साहित्य में उसकी ख्याति बृद्धि में सहायक हुई हैं। प्रियदर्शिका, रत्नावली तथा नागानन्द जिसमें प्रथम दो नाटिका हैं, और अंतिम नाटक है। तीनों कृतियाँ संस्कृत नाट्य-साहिय की अनूठी कृतियाँ हैं। रत्नावाली नाटिका की कथा कल्पना प्रसूत है, परन्तु श्री हर्ष ने समकालीन सांस्कृतिक-व्यवस्था का उल्लेख बड़ी सुन्दरता से किया है। वत्सराज तथा रत्नावली के प्रणय वर्णन तथा महारानी के गत्यावरोध तथा आर्य ललना का अंत में पति की इच्छाओं पर आत्मसमर्पण की कथा को बड़े ही रोचक वस्तु व्यापार में दिया गया है। नाटिका में चार अङ्क हैं। घटना निर्वाह में नाट्यकार के समकालीन सामाजिक वातावरण की रूपरेखा मिलती है।

भारतेन्दु जी ने उक्त कथानक की रोचकता से आकृष्ट होकर नाटिका का अनुवाद किया। परन्तु नांदी प्रस्तावना तथा विष्कंभक के अतिरिक्त नाटिका का अन्य भाग अप्राप्य है। जितना भी अनूदित हो सका है, वह उनकी अनुवाद कुशलता का प्रत्यक्ष प्रमाण है। तीनों नांदी श्लोकों का भाषानुवाद तथा मूल श्लोकों को उसी

---

[1] मालवराजो ज्जयिनीराज धानिकस्य कवि-जन मूर्धन्यस्य रत्नावल्याख्य नाटिका-कर्तु र्महाराज श्री हर्षस्य सभ्यौ महाकवि पौरस्त्यौ बाण मयूरा वास्तो। तयोर्मध्ये मयूरा भट्टः श्वशुरो बाण भट्टः कादम्बरी ग्रंथकर्ता तस्य जामाता।" (मूल रत्नावली की भूमिका) पृष्ठ संख्या ५

प्रकार रखा गया है। सूत्रधार के कथन में मूल में भी श्री हर्ष की प्रशंसा में एक श्लोक है।

'श्री हर्षोनिपुण: कविः परिषदप्येषा गुण ग्राहिणी,
लोके हारिच वत्सराज चरितं नाट्ये चदक्षा वयम्
वस्त्वे के कम पीह वांछित फल प्राप्ते पदं किं पुनर्मद्भाग्यो
पच यादपं समुदित: सर्वो गुणानांगण: ।'[१]

भारतेन्दु जी ने मूल के अनुवाद में पूर्ण रूपेण भावों की अवतारणा दे दी है।

"श्री हर्ष सो अति निपुन कवि यह सभा-जन गुण को धरै।
जग वत्सराज-चरित्र मनहर हम ललित लीला करें ॥
इस सवन सों जहँ होय एकहु मिलहिं मन वांछित घने।
यह उदय मेरे भाग्य को जहँ सफल गुन गन हैं बने ॥१॥

नटी तथा सूत्रधार के संवाद का क्रम प्रवाह मूल के घटना प्रवाह के समानान्तर चलता सा प्रतीत होता है।

मूल तथा अनुवाद के उद्धरण प्रस्तुत किये गये हैं जिनसे अनुवादों की सफलता का यथेष्ट प्रमाण मिलता है।

(मूल उद्धरण)

नटी— अज्जउत, इआम्हि। आण वेदु अज्यो कोणिओ ओचिट्ठी अंदुति।

सूत्रधार— आर्य, रत्नावली दर्शन समुत्सुकोऽयं राजलोकः। तद्गृह्यतां नेपथ्यम्।

नटी— (सोद्वेगम्) अज्जउत्त, णिच्चिन्तोदाणि सि तुमम्। ताकी सणण च्चासि।

महमन्दमा आए उण एक्क जेलवदुहिदा।
सावितुए कहिं चिदेसन्तरे दिएणा कहं एत्वं दूर देसठ्ठि देण जामा तुणा सहसे पाणिग्गहणं भवि स्सदित्ति इमाए चिन्ताए अप्पा विण मे पढ़ि मादि किं उराणच्चिद वाम्।

सूत्रधार :—आर्ये। दूरस्थेनेत्यलमुद्वेगेन
द्वीपादन्यस्मादपि मध्यादपि जलनिधेर्दिशो अप्यन्तात।
अनीय झटिति घटयति विधिरभिमतमभिमुखी भूतः ॥६॥

(अनुवाद)

नटी :—प्राणनाथ मैं आई हूँ। कहिए आज कौन सी लीला करनी है।

---

[१] रत्नावली नाटिका, सूत्रधार, कथन प्रथमो अङ्क, पृष्ठ ६

सूत्रधार :—प्यारी। इन राजा लोगों की रत्नावली देखने की बड़ी इच्छा है, सो तुम जाकर नेपथ्य के सब साज को सम्हालो।

नटी :—(चिन्ता से लम्बी साँस लेकर) प्राणनाथ। आप इस बेला निश्चिंत हो, आप क्यों न नाचोगे। मुझ अभागिन की तो एक ही कन्या है। उसे भी आपने दूसरे देश में देने को कहा है। ऐसे दूर रहने वाले वर से उसका व्याह कैसे होगा, इस सोच में मुझे अपने देह की भी सुध नहीं है। नाचना कैसा।

सूत्र :—प्यारी। वर दूर देश में है, इस बात की कुछ चिन्ता न करो, क्योंकि।

जो विधना अनुकूल तौ दीपन सों सब लाय,।
सागर मधि
दिग अंत सों तुरतहि देत मिलाय।

पद्य के स्थान पर पद्य तथा गद्य के स्थान पर गद्यानुवाद की सफल योजना प्रस्तुत की गई है। प्रस्तावना तथा विष्कंभक में प्रस्तुत संवादों में कथा-वस्तु की झलक मिल जाती है। विष्कंभक विषय प्रवेश की सूचना है। अपूर्ण नाटिका होने के कारण इसमें चरित्रों का समावेश नहीं हुआ है। अतः चरित्रों तथा पात्रों का विवेचन नितान्त असम्भव सा प्रतीत होता है। नांदी प्रस्तावना तथा विष्कंभक में पूर्ण कथावस्तु का विकास नहीं पाया जाता। यह केवल प्रारंभिक रूपरेखा है। अतः कथावस्तु चरित्र, और रस के आधार पर इसका मूल्यांकन नहीं किया जा सकता है।

पाखण्ड विडम्बना

पाखण्ड विडम्बन श्री कृष्ण मिश्र रचित प्रबोध चन्द्रोदय के तृतीय अङ्क का अनुवाद है। रूपक में प्रतीक कल्पना को लेकर कथित सिद्धान्तवादियों के पाखण्डरत कार्यों की निन्दा की गई है। सात्विक श्रद्धा तथा धर्म का भक्ति में ही समावेश पाया जाता है। विष्णु भक्ति के महत्व को बढ़ाना नाट्यकार का अभिप्राय है। प्रबोध चन्द्रो-दय के प्रथम दो अङ्कों में बताया गया है कि विवेक की प्रबलता देखकर मोह अपने साथी दम्भ के साथ काशी नगरी में अपना प्रभुत्व जमाने आता है। धर्म और श्रद्धा में भेद डालने के लिए मिथ्या दृष्टि को भेजता है। मोह शान्ति को पकड़ना चाहता है।

शान्ति अपनी माता श्रद्धा को ढूँढ़ती करुणा के साथ आती है, और आत्म-हत्या करने को उद्यत होती है, परन्तु करुणा उसे ऐसा करने से रोकती है, इसी अव-सर पर दिगम्बर जैन, बौद्ध तथा सोम सिद्धान्त के मानने वाले पात्र आते हैं। वे सब अपने मत का प्रतिपादन करते हैं। अन्त में सोम पानकर कपालिक के चेले हो

जाते हैं। जब उन्हें ज्ञान होता है कि श्रद्धा तथा धर्म तो विष्णु भक्ति के पास हैं तो वे उन्हें खींचने का प्रयत्न करते हैं।

प्रबोध चन्द्रोदय प्रतीक कल्पना के आधार पर रचा गया रूपक है। अतः उसमें न तो ऐतिहासिक कथानक का समावेश है, और न पौराणिक तथ्य गाथा का आभास मिलता है। नाट्यकार ने मनोवैज्ञानिक संज्ञाओं को लेकर उनका आत्म-विश्लेषण सा किया है। अनूदित अवतारणा में यथास्थान गद्य तथा पद्य है। भारतेन्दु जी ने यथासम्भव अनुवाद में मूल के प्रयोजन को यथाविधि रखने का प्रयास किया है। संवादों में रंगमंचीय गरिमा है, जो नाटक के स्थायी मान को बढ़ाती है। पात्रों में प्रतीक भावना का व्यापार कार्य करता है। शान्ति, करुणा श्रद्धा मनो-विकारों के प्रतीक पात्र के रूप में उपस्थित किये गए हैं।

मूल तथा अनुवादित नाटक के उद्धरणों में परिवर्तन केवल नाट्य प्रवाह तथा गीत प्रवाह का दृष्टि-भेद है। भारतेन्दु जी ने मूल के उक्त अङ्क को बिना नांदी प्रस्तावना दिए ही उसी प्रकार ज्यों का त्यों अनूदित किया है। प्रबोध चन्द्रोदय के तृतीय अङ्क में शान्ति माँ को खोजती करुणा के साथ प्रवेश करती है।

"शान्ति—(सास्म्) मातः माता, क्वासि। देहि मे प्रिय दर्शनम्। ततः

मुक्तातंक कुरग कानन भुवः शैलः स्खलद्वारयः
पुण्यान्यायतनानि संतत तपो निष्ठाश्च वैखानसाः।
यस्याः प्रीतिरमीषु सात्रभवती चण्डालवेश्मोदरं।
प्राप्ता गौः कपिलेव जीवति कथं पाषण्डहस्तं गता ॥१॥
अथवाल जीवित संभावनया। यतः
माम नालोप्य न स्नाति भुक्ते न पिबत्यपः।
न मया रहिता श्रद्धा मुहूर्तमति जीवति ॥२॥
तद्विना श्रद्धया मुहूर्तमपि शान्तेर्जीवितं विडम्बनमेव। तत्स
खिकरुण
मदर्थ चितायारचय। यावदचिरमेव हुताशनप्रवेशेन तस्याः सहचरी
भवामि"।

शान्ति—(सोचसे) मेरी प्यारी माँ कहाँ है! जल्दी मुझे अपना मुखड़ा दिखा। हा!

जो वन में सरितान के तीर, जहाँ बहै सीतल पौन सुहाई।
देवन के घर में, ऋषि के घर में, जिन आपुनी आयु बिताई॥
सज्जन के चित में जो रही, हिय में जिन पुन्य की बेलि चढ़ाई।
सो परी जाय पखंडिन के कर, गाय ज्यों बांधिकै राखै कसाई॥

अब मैं जी के क्या करूँगी! क्योंकि,

मम देखे बिन न्हाय नहिं; नहिं पिबै, नहिं खाय।
मो बिन प्रान न राखि है, प्यारी श्रद्धा माय ॥

हा ! तो अब श्रद्धा माता के बिना जीना तो दुख ही भोग करना है। सखी करुणा, तू मेरा सोच मत करियो, मैं तो आग में जल के अपनी माँ के पास पहुँचूँगी। (रोती है)

शान्ति— सखि, किंतु प्रतिकूले विधातारि न संभाव्यते।
तथाहि-

श्री देवी जनकात्मजा दशमुखस्यासी द्गृहे रक्षसो
नीता चैव रसातल भगवती वेदत्रयी दानवैः।
गन्धर्वस्य मदालसां च तनया पाताल केतुश्छला-
द्दैत्येन्द्रोऽपजहार हन्त विषमा वामा विधेर्वृत्तयः ॥४॥
एवं विधि विलसित मे तद्दिति संप्रधार्य। तद्भवतु। पाखण्डा
लयेष्वेव तावदनुसरावः।

शान्ति—सखी, जब दैव फिर जाता है, तो क्या क्या नहीं होता, देख-
श्री रघुनाथ की प्राण-प्रिया मिथिलेश लली दससीस चही है
वेद चुराय के दानव के गन भागे पताल न जाय कही है ॥
वाम मदालसा जो सुर लोक की सो छलिकै खलदैत लही है ॥
जो विधि वाम भयो सजनी तब जो जो करै सो अचर्ज नहीं है।
तो चल अब पाखण्ड के घर में चल कर खोज करें।

उपर्युक्त पद्य और गद्य दोनों ही अनुवादों में नाटकीय संकेतों में अवश्य भिन्नता है, परन्तु भाषागत भाव समानान्तर ही चलते प्रतीत होते हैं। मूल में दिगंबर सिद्धांत, क्षपणक: तथा तमो गुणी श्रद्धा के संवादों में विशिष्ट प्रकार की भाषा का प्रयोग किय गया है, जो शुद्ध संस्कृत उच्चारणों से भिन्न है, अनुवादों में साम्य स्थापित करने के लिए उक्त भाषा का अनुवाद या तो राजस्थानी शब्दोचारण में मिलता है या फिर तोतली भाषा में जिसमें भाषागत शुद्ध शब्दों के उच्चारण को विकृत कर देने का अभिप्राय है।

शान्त, करुणा तथा श्रद्धा आदि पात्रों में प्रतीक शैली का योग है। प्रबोध चन्द्रोदय में प्रथम तथा द्वितीय अङ्क में भी महामोह, अहंकार, काम, रति, दम्भ, लोभ, क्रोध तथा मिथ्या दृष्टि आदि पात्रों के अभिनय में मनःस्थिति का मनोवैज्ञानिक अध्यारोप किया गया है। नाटककार ने श्रद्धा में शान्ति का सामंजस्य तथा जहाँ भक्ति और धर्म हैं, वहाँ श्रद्धा का होना नितांत आवश्यक है—इन मनोवैज्ञानिक व्यापारों का संयोग स्वाभाविक रूप से किया है। करुणा शान्ति को बल देने वाली

अथवा उत्साहवर्धनी सहचरी के रूप में प्रस्तुत है। मनोवैज्ञानिक गुणों के आधारभूत स्वाभाविक कहा जा सकता है। विपरीत सिद्धांत के अनुयायी पात्रों की विचारधारा में श्रद्धा का समावेश नहीं है, वहाँ मोह का आकर्षण है, अत: अपने मार्ग तथा सिद्धांत की पुष्टि के लिये बलपूर्वक श्रद्धा तथा भक्ति को खींचा जाता है। एक ही अंक का रूपक होने के कारण इस रूपक का इतना ही विवेचन पर्याप्त होगा।

महाकवि कांचन कृत धनंजय विजय व्यायोग का भारतेन्दु जी ने सन् १८७३ ई० में अनुवाद किया। नाटक का कथानक महाभारत के विराट पर्व से लिया गया है। पाण्डवों के अज्ञातवास-काल में राजा विराट की नगरी में जब दुर्योधन उनकी गायों को हर कर ले गया था, तब राजकुमार उत्तर अर्जुन की सहायता से अपने पशुधन को वापस लाने में सफल हुये थे। उक्त कथानक का महाभारत[1] के विराट पर्व में इस प्रकार का उल्लेख है कि वैशम्पायन कुमार उत्तर तथा अर्जुन का युद्ध-स्थल की ओर कौरवों से अपनी गायें लाने को प्रस्तुत होने का वर्णन करते हैं। उत्तर विराट-शत्रु समूह को देखकर भय-त्रस्त हो जाता है। अज्ञातवासी अर्जुन अपना गाण्डीव लेकर उसे उत्साहित करता है। उसे केवल सारथी के रूप में अपने साथ रहने को प्रेरित करता है। इसी कथावस्तु को सविस्तार मूल के आधार पर भारतेन्दु जी ने निम्न प्रकार से अनूदित किया है। प्रारम्भ में अर्जुन और विराट के अमात्य की बातचीत होती है। अमात्य अर्जुन की वीरता की प्रशंसा करता है, अर्जुन अमात्य को नगर में जाकर गो-हरण से व्याकुल नगर-निवासियों को धीरज देने के लिए भेज देते हैं। गायें दूर न निकल जायँ, इस लिए अर्जुन कुमार को घोड़ों को तीव्र गति से हाँकने का आदेश देते हैं।

युद्ध के समय आने वाले विद्याधर, प्रतिहारी, तथा इन्द्र का उल्लेख पौराणिक रचनाओं में नहीं प्राप्त होता, मूल में नाट्यगत रोचकता बढ़ा देने के कारण इनका

वैशम्पायन उवाच

[1]उत्तरं सारथिं कृत्वा शमींकृत्वा प्रदक्षिणम्। आयुधं सर्वमादाय प्रययौ पाण्डवर्षभः।१।
ध्वजं सिंहं रथात् तस्मादपनीय महारथः। प्रणिधाय शमी मूलै प्रायादुत्तरसारथिः।२।
४६।६४

\+ \+ \+

ततस्ते जवना धुर्या जानुभ्या मगमन्महीम्। उत्तरश्चापि सन्त्रस्तो रथोपस्थ उपाविशत्।६।
संस्थाप्य चाश्वान्कौन्तेयः समुद्यम्य च रश्मिभिः।
उत्तरं चपरिष्वज्य समाश्वासयदर्जुनः ॥१०॥ ४६।६४

\+ \+ \+

(श्री महाभारते विराट पर्वणि गो ग्रहण पर्वणि उत्तरगोग्रहे औत्पातिको नाम षट चत्वारिंशो अध्यायः ॥४६)

प्रयोग किया गया है। भारतेन्दु जी ने अनुवाद में मूल के कथानक तथा संवादों को दृष्टि में रखकर ही अनुवाद किया है। यह अनुवाद प्रामाणिक अनुवाद कहा जा सकता है। गद्य के स्थान पर पद्य तथा पद्य के स्थान पर पद्यानुवाद बहुत उत्कृष्ट है। मूल में कवि कांचन ने कई प्रकार के छदों का प्रयोग किया है, परन्तु भारतेन्दु जी के अनूदित पद्य की शैली में एक सत्ता है। मूल में नांदी के तीन श्लोक हैं, परन्तु अनुवादक ने केवल पहिला श्लोक संस्कृत में देकर सूत्रधार के प्रवेश से अपना अनुवाद आरम्भ किया है। नाटक के अन्य स्थल मूल के अनुसार ही हैं। केवल अन्त में कार्य व्यापार की समाप्ति में महाराज के पूँछने पर "किंते भूयःप्रियमुवकरोमि" के प्रत्युत्तर में अर्जुन का निम्न कथन है।

"निस्तीर्णो अज्ञातवासो रणभुवि विजिता धार्तराष्ट्राःसकर्णाः
स्त्री रत्नंत्वत्तनूजा-समजनि तनयस्याभिमन्योः कलत्रम्।
गावः प्रत्याहृता स्तोःसुहृदपि परमस्त्वंचनः श्लाघनीय
स्तज्जाने नैव किंचित्सुचिरमवमृशन्यन्मयां प्रार्थनीयम् ॥८८॥

तथा पीदमस्तु,

सौजन्यामृतसिन्धवः परहितप्रारम्भवीर व्रता,
वाचालाः पर वर्णने निज गुणालापे च मौन व्रताः।
आपत्स्वप्यवि लुप्त धैर्य निचयाः सम्पत्स्वनुत्सेकिनो,
माभूवन्खलु वक्रनिर्गत विषम्लानाननाः सज्जनाः ॥८९॥

अपिच

सारस्वतं स्फुरतु चेतसि सत्कवीनां,
चक्षुर्भवन्तु कृतिनो गत मत्सराश्च।
भूयाश्च सन्तु कवि सूक्तिषु सानुरागाः,
सन्त्यज्य मण्डल कवि प्रणयानुरागम्।९०॥

उपरोक्त श्लोकों का अनुवाद भारतेन्दु जी द्वारा निम्न रूप से प्रस्तुत किया गया है।

"विराट—और भी मैं आपका कुछ प्रिय कर सकता हूँ?

अर्जुन— अब इससे बढ़कर क्या होगा?

शत्रु सुजीवन सों लही करन सहित रनजीत।
गाय फेरि लाए सबै पायो तुम सो मीत॥
लही वधू सुत-हित भयो सुख अज्ञात निवास।
तौ अब का नहिं हम लह्यो ताकी राखैं आस॥

तो भी यह भरत वाक्य सत्य हो—

राज वर्ग मद छोड़ि निपुन विद्या में होई।
आलस मूरखतादि तजें भारत सब कोई ॥
पण्डित गन पर कृति लखि के मति दोष लगावें ॥
छुटे राजकर, मेघ समै पै जल बरसावें ॥
कजरी ठुमरी सों मोरि मुख, सत कविता सब कोउ कहे।
हिय भोगवती सम गुप्त हरि-प्रेम धार नित ही बहै ॥

अन्त में मूल का ८६ वां श्लोक ज्यों का त्यों दे दिया गया है। भारतेन्दु जी ने उक्त रूपक को क्रमानुसार अनुवाद करने में सतर्कता दिखाई है, परन्तु पद्यानुवाद की विभिन्न-कोटियों का अनुसरण नहीं कर सके। काव्य के विभिन्न भेदों को न लेकर छप्पय का प्रयोग अधिकता से पाया जाता है, सम्भव है काव्य के परिष्कार हेतु उक्त नाटक में नवीन प्रयोग हो। क्योंकि अन्त के कथन से ध्वनित होता है कि भारतेन्दु जी काव्यगत संस्कारों का परिष्कार चाहते हैं।

धनंजय के अधिकांश संवाद पद्य में हैं, उक्त संवादों में रंगमंचीय अभिनेय उपयोगिता का नितान्त अभाव है।। अभिनय की दृष्टि से कथानक के दृश्य व्यापार रंगमंचीय योजना के अनुपयुक्त से प्रतीत होते हैं। सवादों में प्रौढ़ता का अभाव खटकता है। नाटक में नेपथ्य कथन की भरमार सी दिखाई देती है। रंगमंचीय दृष्टि से प्रस्तुत नाटक भारतेन्दु जी का असफल प्रयास कहा जा सकता है। नेपथ्य कथनों में लम्बे लम्बे कथोपकथन नाट्य अभिनेयता के सौन्दर्य का ह्रास करते प्रतीत होते हैं। गद्य तथा पद्य संवादों में रण की कोरी ललकार के अलावा प्रौढ़ और सरस अभिव्यंजना नहीं दिखाई देती। नीचे के कुछ उद्धरणों में संवादगत कथित विकार का स्पष्टीकरण हो जाता है।

(इन्द्र, विद्याधर और प्रतिहारी आते हैं)
इन्द्र—(आश्चर्य से)
बातहु सों झगरै बली तो निबलन भय होय।
तो यह दारुन युद्ध लखि, क्यों न डरै जिय खोय ॥
एक रथी इक ओर उत बली रथी समुदाय।
तौहू सुत तू धन्य अरि इकलो देत भजाय ॥

+ + +

विद्या०—देव यह बालक बड़ा ढीठ है।
इन्द्र— क्यों न हों। राजा का लड़का है।
दु० — सूत। ब्राह्मणों की भांति इस कोरी बकवाद से फल क्या है? यह पृथ्वी ऊँची नीची है, इससे तुम अब समान पृथ्वी पर रथ ले चलो।

अ०— जो कुरुराज की इच्छा (दोनों रथ जाते हैं)

विद्या०—(अर्जुन का रथ देखकर) देव !

तुव सुत-रथ-हय खुर बढ़ी, समय धूरि नभ जौन ।
अरि-अरनी मंथन अगिनि-धूम-लेख सी तौन ।।

इन्द्र— क्यों न हो तुम महाकवि हो ।

विद्या०—देव । देखिए अर्जुन के पास पहुँचते ही कैसा कोलाहल पड़ गया, देखिये—

हय हिनहिनात अनेक गज सर खाइ घोर चिकारहीं ।
बहु बजहिं बाजे मारु धरु धुनि दपटि वीर उचारहीं ।।
टंकार धनु की होत घंटा बजहिं सर संचारहीं ।
सुनि सबद रन को बरन पति सुर-वधू तन सिंगारहीं ।।

प्रति०—देव । केवल कोलाहल ही नहीं हुआ, वरन् आपके पुत्र के उधर जाते ही सब लोग लड़ने को भी एक संग उठ दौड़े । देव, देखिए अर्जुन ने कान तक खींच-खींच कर जो बान चलाये हैं, उनसे कौरव सेना में किसी के अंग-भंग हो गए हैं, किसी के धनुष दो टुकड़े हो गये हैं, किसी के सिर कट गये हैं, किसी की आँखें फूट गई हैं, किसी की भुजा टूट गई है, किसी की छाती घायल हो रही है ।

इन्द्र— (हर्ष से) वाह बेटा । अब ले लिया है ।

+ + +

पद्य में काव्यगत चमत्कार माननीय है, परन्तु रंगमंचीय दृष्टि से अभिनेय उपयोगिता बढ़ाने वाले गुणों की न्यूनता अवश्य खटकती है । गद्य संवाद भी निम्न स्तर का सा प्रतीत होता है । कौतुक करने वाले नटों की सी 'वाह वाह' तथा 'क्यों न हो' ललकार आदि की भरमार गद्यगत संवादों में मिलती है । न तो संवादों में गांभीर्य की गहनता है, और न वह मनोरंजन का ही कार्य करते हैं । नाट्यगत आये हुये पद्य यदि संवादों की दृष्टि से न देखे जायँ, तो उनमें काव्य सौन्दर्य अवश्य आँका जा सकता है ।

मूल नाटक के अनुसार पात्र चयन भी क्रमबद्ध है । घटना प्रवाह के अनुसार पात्र यथास्थान उपयुक्त प्रतीत होते हैं । प्रारम्भ में ही आमात्य और अर्जुन के कथोपकथन में नाटकीय मूल प्रयोजन का प्रकाश मिल जाता है । कुमार उत्तर द्वारा कार्य व्यापार को आगे बढ़ाने में सहायता मिलती है । इन्द्र, विद्याधर तथा प्रतिहारी के कथोपकथन में सम्पूर्ण युद्धस्थल के कार्यकलाप का ज्ञान होता है । दुर्योधन प्रति नायक का सा कार्य करता है । विराट, भीम, धर्मराज कार्य-सिद्धि में योग देते हैं । नाटकीय पात्रों के चयन में मूल के अनुसार ही उपयुक्त पात्रों को यथास्थान रखा गया है ।

व्यायोग के लक्षणों के अनुसार[1] कथा वस्तु की आधार शिला पौराणिक है धीरोद्धत नायक है, तथा पुरुष पात्रों का बाहुल्य है, स्त्री पात्र का नितान्त अभाव है, युद्ध आदि दृश्यों का वर्णन है, युद्ध का कारण स्त्री नहीं है। रूपक में गर्भांकों का अभाव है तथा वह एकांकी रूपक है। सम्पूर्ण रूपक एक ही दिन की घटना प्रतीत होता है, तथा इसमें केवल नायक को ही महत्त्व दिया गया है। इसमें शृङ्गार अथवा हास्य रस की योजना नहीं है।

अभिनय की दृष्टि से दो रंगमंचों की आवश्यकता प्रतीत होती है, एक तो युद्ध के स्थल के दृश्य के लिये और दूसरा इन्द्र, विद्याधर तथा प्रतिहारी के कथोपकथन के लिये, जो नाटकीय दृष्टिकोण से असंगत प्रतीत होता है। इसमें चतुष्पदी नान्दी का प्रयोग किया गया है। यह नान्दी नाट्य शास्त्र के आधार पर उत्तम कोटि में नहीं मानी जाती है। नान्दी पाठ के उपरान्त सूत्रधार प्रातः काल और शरद ऋतु के सम्बन्ध में गीत गाता है। वह नेपथ्य से लाये हुये मनुष्य से चिट्ठी लेकर पढ़ता है तथा रंगमंडन नामक नट से वार्तालाप करता है। सूत्रधार और नट के वार्तालाप तक के अंश को पूर्व रंग के अन्तर्गत माना जाता है।

प्रस्तावना में सूत्रधार द्वारा मुख्य पात्र का वर्णन किया गया है। नायक की प्रशंसा में सूत्रधार द्वारा कहे गये निम्न पद प्रवर्तक प्रस्तावना के अन्तर्गत आते हैं।

---

१ ख्यातेतिवृत्तो व्यायोगः ख्यातोद्धत नराश्रयः।
हीनो गर्भ विमर्शाभ्यां दीप्ताः स्युर्डिमवद्रसा ॥६०।७५
अस्त्री निमित्त संग्रामो जामदग्न्य जये यथा।
एका हा चरितैकांको व्यायोगो बहुभिर्नरै ॥६१।७५
(दसरूपकम्)

+ + +

मायेन्द्र जाल बहुलोबहु पुरुषोत्थान भेद संयुक्तः।
देवासुर राक्षस भूतयक्ष नागाश्च पुरुषाःस्युः ॥ ६१।२३३
षोडश नायक बहुलः सात्वत्यारभटि वृत्ति संयुक्तः।
कार्योडिमः प्रयत्नातज्ज्ञैर्नानाश्रय विशेषण। ६२ ॥
डिम लक्षणमित्युक्तं मया समासेनलक्षणानुगतम्।
व्यायोगस्त तु लक्षणमतः परं सम्प्रवक्ष्यामि। ६३ ॥
व्यायोगस्त विधिज्ञैः कर्त्तव्यः ख्यातनायक शरीरः।
अल्पस्त्री जन युक्तस्त्वे काहकृतस्तथा चैव। ६४ ॥
(नाट्य-शास्त्र भरत-मुनि)

"सत्य प्रतिज्ञा करन को, छिप्यौ निशा अज्ञात ।
तेज पुंज अर्जुन सोई, रवि सो कढ़त लखात ॥"

बीज का उदय अर्जुन का विराट के आमात्य से वार्तालाप करने में होता है।

"जो औषध खोजत रहै, मिलै सु पग तल आइ ।
बिना परिश्रम तिमि मिल्यौ, कुरुपति आपुहि आइ ॥"
+ + + +
वहै मनोरथ फल सुफल, वहै महोत्सव हेत ।
जो मानी निज रिपुन सों, अपुनो बदलो लेत ॥

यहाँ अर्जुन की प्रतिशोध की भावना का उदय है, इस भाव की प्रेरणा अंत तक कार्य करती है। बिना परिश्रम के लक्ष्य का मिल जाना पताका स्थान माना जायगा। विराट की गायों को छुड़ाकर लाना कार्य कहा जायेगा ।

कार्य व्यापार की अवस्थायें निम्न प्रकार से आयोजित हैं: अर्जुन का अमात्य को नगरनिवासियों को धीरज देने का निर्देश कार्य व्यापार का आरम्भ माना जायेगा। अर्जुन का युद्धस्थल में उपस्थित योद्धाओं का परिचय कुमार उत्तर को देना तथा युद्धस्थल पर दुर्योधन की उपस्थिति में यह कहना कि "तो सब मनोरथ पूरे हुये।" इसके उपरान्त अर्जुन तथा दुर्योधन का व्यंग्यात्मक कथोपकथन चलता है। इन्द्र तथा विद्याधर में युद्ध के दृश्यों की चर्चा आदि का अंश यत्न के अन्तर्गत आता है। प्रतिहारी गंगासुत द्वारा प्रयुक्त "अग्नि-अस्त्र" देखकर भयत्रस्त हो जाता है, विद्याधर उसे सांत्वना देता है, कि विजय अर्जुन के पक्ष की होगी। विद्याधर के कथनों में अर्जुन की निश्चित विजय कामना नियताप्ति स्थान है।

"नाक बोलावत धनु किये. तकियां मूंदै नैन ।
सब अचेत सोई भए, मुरदा सी करु सैन ॥"

फलागम में कथानक का वह अंश रहता है, जिसमें कार्य की सिद्धि का आभास मिलता है।

विद्याधर— "शत्रु जीत निजमित्र को काज साधि सानन्द ।
पुरजन सो पूजित लखौ पुर प्रविसत तुवनन्द ॥
+ + + +
अर्जुन— जो मो कंह आनन्द भयो करि कौरव बिनु सेस ।
तुव तन को बिनु घाव लखि तासों मोद बिसेस ॥"

कथानक के प्रारम्भ से ही अर्थ प्रकृतियों तथा कार्य-व्यापार अवस्थाओं के साथ-साथ सन्धि निर्वाह होता चला आया है। आरंभिक बीज अवस्था में मुख संधि

का समावेश है। युद्ध वर्णन के साथ-साथ प्रतिमुखसंधि है, तथा फलागम के स्थान पर निर्वहण संधि है। व्यायोग एकांकी रूपक होने के कारण शेष की दो संधियां गर्भ और विमर्ष का प्रयोग नहीं है।

चरित्र चित्रण की दृष्टि से अर्जुन का ही चरित्र पाठकों के सामने विवेचनार्थ आता है। अर्जुन धीरोद्धात नायक है। पाण्डवों और कौरवों में परम्परा से बैर चला आ रहा है। कौरवों की कुटिल नीति और दुर्भावना के ही कारण पाण्डवों को अज्ञात वास सहना पड़ा था। अर्जुन पाण्डवों के साथ किये गये समस्त अपमानों के प्रति सजग हैं। प्रतिशोध की अग्नि उसके हृदय में प्रज्ज्वलित है। उसके निम्न बचनों में कथन का यथार्थ स्पष्ट ध्वनित होता है।

"वहै मनोरथ फल सुफल वहै महोत्सव हेत।
जो मानी निज रिपुन सों अपनो बदलो लेत॥"

नाटक का प्रतिनायक दुर्योधन उसे देखते ही क्रुद्ध होकर व्यंग कटाक्ष करता है।

"बहु दुख सहि बनवास करि जीवन सों अकुलाय।
मरन हेतु आयो इतै इकलो गरब बढ़ाय॥"

चरित्र नायक धीर तथा प्रशान्त है, वह व्यंगात्मक कटाक्ष से तनिक भी विचलित नहीं होता है, उस व्यंग का बड़ी ही धीरता तथा निर्भीकता से प्रतिउत्तर देता है।

"इकले ही बल कृष्ण लखत भगिनी हरि छीनी।
अरजुन की रन नाहिं नई इकली गति लीनी॥"

अर्जुन धीरोद्धात, वीर तथा प्रशान्त नायक है। नाटक की प्रस्तावना सूत्र से अन्त तक अर्जुन कथानक के कार्य व्यापार में अग्रणी रहता है। कुमार उत्तर का चित्रण जिज्ञासु वाचाल तथा बाल चापल्य को लिये हुये वीर युवक का सा है। अमात्य आज्ञाकारी अनुचर है। विराट तथा धर्मराज एक ही कोटि के पात्र हैं। इन्द्र, विद्याधर तथा प्रतिहारी नायक के सहायक पात्रों में हैं। प्रतिनायक दुर्योधन में दम्भ की मात्रा अधिक है। इसमें खलनायक के से सभी गुण विद्यमान हैं।

सम्पूर्ण व्यायोग में एक ही रस की प्रधानता है, रूपक का प्रधान रस वीर है। युद्ध के दृश्य तथा संवादों का वातावरण वीर रस प्रधान है। सात्वती वृत्ति का प्रयोग किया गया है।

कर्पूर मंजरी सट्टक श्री राजशेखर के प्राकृत सट्टक कर्पूर मंजरी से संवत् १९३३ में भारतेन्दु जी द्वारा अनूदित किया गया। यद्यपि उक्त सट्टक का संस्कृत अनुवाद पं० वासुदेव भट्ट द्वारा प्रस्तुत किया जा चुका है। परन्तु भारतेन्दु जी ने मूल प्राकृत के ही रूपक का अनुवाद किया है। सट्टक का निर्माण कल्पित प्रेमाख्यान के आधार पर

है, इसमें न तो कोई ऐतिहासिक प्रमाण है, और न पौराणिक कथानक से प्रेरणा प्राप्त की गई है। प्रेमाख्यान में तांत्रिक चमत्कारवादी योजना का आधार लेकर कथावस्तु के घटना चक्र का विकास हुआ है। इसी प्रयुक्त तिलस्मी योजना के आधार पर प्रेमाख्यानों की परम्परा चली है। हिन्दी साहित्य में नाट्य आख्यानों के प्रारम्भिक युग में इस चमत्कारवादी तथ्य निरूपण का समावेश अवश्य रहा है।

भारतेन्दु जी के अनुवाद में प्रेम प्रधान आख्यायिका की चमत्कारवादी गरिमा निहित है। उक्त सट्टक में नाटककार स्वतन्त्र अनुवादक के रूप में उपस्थित हुआ है। अनुवादक ने कथानक की आत्मा को दृष्टि में रखते हुये अपने अनुवादों में मौलिक शैली का विनिवेश किया है। गद्य और पद्य दोनों अनुवादों में परिवर्तन और परिवर्द्धन की भिन्नता प्रतीत होती है, मूल के आशय को लेकर अनुवाद क्रम-बद्ध स्वरूप में चलता सा दिखाई देता है।

सट्टक[1] के प्रारम्भ में चतुष्पदी नान्दी का प्रयोग है जो अनुवादक की स्वतन्त्र रचना है। सूत्रधार तथा परिपार्श्वक पूर्व प्रस्तावना में उपरोक्त सट्टक तथा नाट्यकार और कथा के सूक्ष्म परिचय में वार्ता करते हैं।

मूल के निम्न कथन में परिपार्श्वक द्वारा नाटककार तथा कथावस्तु का सूक्ष्म परिचय निहित है :—

"पारिपार्श्वक :—सुणु। वण्णिण दो ज्जेव्व तक्का लक्खणं मज्झम्मि मिअङ्क
लेहा कहा आरेण अव राइएण। जधा—
बालकई कइराओणिभा अटाअस्स तहउवज्झाओ।
इअजस्स परम्पराए अप्पा माहप्पा मारूढ़ो ॥९॥
सो अस्स कई सिरिग असेहरो तिहु अणं पिधवलेन्ति।
हरिणंक पालि सिद्धिए णिक्क लंका गुण जस्स ॥१०॥

सूत्रधार—ताकेण समादिट्ठा पाउज्ज्ध।

पारिपार्श्वक :—चाउहाण कुल मौलिमालिआ रा असेहरकइन्द गोहिणी।
भत्तुणो किदिमवन्तिसुन्दरी साप उज्जईदुमे दमिच्छदि। ११
किंच—
चन्दपाल धरणी हरिणंको चक्क वट्टिप अलाह णिमित्तम्।
एत्थ सट्ट अवरे रस सोत्ते कुन्तलाहिव सुन्दपरिणेदि॥

---

१ सट्टक की सम्पूर्ण रचना प्राकृत में होता है। इसमें प्रवेशक और विष्कंभक नहीं होते और अद्भुत रस को प्रचुरता रहती है। अङ्कों को जवनिका कहते हैं। अन्य सभी बातें नाटिका के सदृश होता है।

(रूपक रहस्य पृ० १६५, बा० श्याम सुन्दरदास)

ता भाव एहि। अणन्तरकरणिज्जं संपादेहम्। जदो महाराअदेईणं भूमिअं घेत्तूण अज्जो अज्ज घडिणिआ अ जवणि अन्तरे वट्टदि।"[1]

उपरोक्त कथन का अनुवाद भारतेन्दु जी ने बड़ा ही सजीव तथा सफल किया है, जिसमें मौलिक का सा आनन्द प्रतीत होता है। भारतेन्दु जी के निम्न अनूदित कथनों में मूल का सम्पूर्ण वातावरण वेष्ठित है। उनकी निज की भाषा तथा सुष्ठु शैली का सहज बोध होता हैं।

'पारि०—क्यों नहीं, उस समय के कवियों के चन्द्रमा अपराजित ही ने उसका बड़ा बखान किया है।

निरभर बालक राज-कवि आदि अनेक कबीस।
जाके सिखए तें भए अति प्रसिद्ध अवनीस ॥
धवल करत चारहु दिसा जाको सुजस अमंद।
सो शेखर कवि जग विदित निज कुल कैरव चंद ॥

सूत्रधार—पर भला आज तुमको किसने खेलने की आज्ञा दी है?

पारि०— अवंती देश के राजा चारूधान की बेटी उसी कवि की प्यारी स्त्री ने, और यह भी जान रखो कि इस सट्टक में कुमार चन्द्रपाल कुन्तल देश की राजकुमारी को ब्याहेगा। तो अब चलो अपने अपने स्वांग सजें। देखो तुम्हारा बड़ा भाई देर से राजा की रानी का भेस धरकर परदे की आड़ में खड़ा है।[2]

उपरोक्त उद्धरणों से स्पष्ट विदित होता है कि अनुवाद निज की मौलिक शैली का अपनापन लिये हुये मूल रूपक के संवादों के समानान्तर चलता सा प्रतीत होता है।

प्रथम अंक में ऋतुराज वसन्तागमन के अवसर पर राजा तथा रानी परस्पर बधाई देते हैं। वसन्तागमन में वातावरण में नवीन परिवर्तन तथा मानवीय मन: व्यापारों में ऋतुगत परिवर्तन का सम्यक चित्रण है। मूल में राजा अपनी रानी को देवि संबोधित करता है। मूल तथा अनुवाद में निम्न भाषा का प्रवाह है।

राजा—देवि दक्खिणा वह णरिन्दणरिन्दणद्दिणि, बड़ा बीअसि इमिणा बसन्ता रम्भेण। जदो।

विम्बो टे ठ् वहलंणदेन्ति म अणं णोगन्धते ल्लाविला
वेणीओ विर अन्ति, देन्ति णतहा अंगम्भिकुप्पा सअम्

१ प्रस्तावना कपूर मंजरी सट्टक शेषर कृत पृष्ठ १०।
२ भारतेन्दु नाटकावल, कर्पूर मंजरी, पृष्ठ १४७।

ज वाला मुह कुङ्क मम्भि विघरो बट्टन्ति ठिन्लाअरा
तमरणे सिसिरं विणिज़्जिअ बलापतो बसन्तू सओ ।१३।।

देवी—देव अहं वितुज्झ पडिव टाविआ भविस्सम् ।
जघा—छोल्लन्ति दन्तर अणाइ गदे तुसारे
ईसीसि चन्दणरसम्मि मणो कुणन्ति
एह्लिं सुवन्ति घर मज्स मसालिआसु
पा अन्त पुज्जि आपंड मिहुणाइं पेच्छ ।।१४।।

(नेपथ्ये)

वैतालिका—जअ पुव्वदि अंगणा भुअंग चम्पा चम्पक कणणाकर लीलाणि जिअराढा देश विक्कमक्कन्त काम रूअ हरिके ली केलि आरअ अवमाणि अजच्च सुवरणा वराण सव्वंग-सुन्दरत्तणरमणिज्ज, सुहाअ देहोदु सुरहिस माटम्भो। इर्हाह पराडीणं गण्ड वाली पुल अण चवला कन्चिवाला वलीणं माणं दो खण्ड अन्ता रइ रहस कला लोलचोलाप्पि आणम् कराडीणं कुणन्ता चिउत्तर लणंकुन्तलीणं पिएसु
गुम्फन्ताणे हणरिठं मल असिहरिणो सीअ लावान्ति वाआ ।१५।

द्वितीय :—

जादं कुंकम पंकली ढमरठी गराडप्पहं चम्पअं
थो आवट्टि अयुद्ध मुद्ध कलिआ पप्फुल्लिआभल्लिआ ।
मूले सामलमज्ज लग्गभसलं लक्खिज्ज ए किं सुअं
पिज्जन्त भसलेहि दोहि विदिसा माए सुलग्गेहिय ।१६।।[1]

भारतेन्दु जी ने पद्य तथा गद्य दोनों का ही उपयुक्त अनुवाद दिये हैं, जो निम्न अवतरणों से भाषित होता है :—

"राजा—प्यारी, तुम्हें बसन्त के आने की बधाई है। देखो अब पान बहुत नहीं खाया जाता, न सिर में तेल देकर चोटी कस के गूंथी जाती है, वैसे ही चोली भी कस के नहीं बाँधी जाती न केसर का तिलक दिया जा सकता है। इसी से प्रकट है कि बसन्त ने अपने बल से सरदी को अब जीत लिया।

"रानी—महाराज। आपको भी बधाई है। देखिये कामी-जन चन्दन लगाने और फूलों की माला पहिरने लगे, और दोहर पयते रक्खी रहती है, तो भी अब ओढ़ने की नौबत नहीं आती।

(नेपथ्य में दो बैतालिक गाते हैं)

---

[1] कर्पूर मंजरी सट्टक, राजशेखर।

जै पूरब दिसि कामिनी कंत ।
चंपावति नगरी सुख समंत ।।
खेलत जीत्यो जिन राढ़ देश ।
मोहत अनंग लखि जासु भेस ।।
क्रीड़ा मृग जाको सारदूल ।
तन बरन कांति मनु हेम फूल ।।
सब अंग मनोहर महाराज ।
यह सुखद होइ रितुराज साज ।।
मन्द मन्द लै सिरिस सुगंधहि सरस पवन यह आवै ।
करि संचार मलय पर्वत पैं बिरहिन ताप बढ़ावै ।।
कामिनि जन के वसन उड़ावत काम भुजा फहरावै ।
जीवन प्रान-दान सो वितरत वायु सबन मन भावै ।।१।।
देखहु लहि रितुराजहि उपवन फूली चारु चमेली ।
लपटि रही सहकारन सों बहु मधुर माधवी बेली ।।
फूले बर बसंत बन बन मैं कहुँ मालती नबेली ।
तापैं मदमाते से मधुकर गूञ्जत मधुरस रेली ।।२।।[१]

उपरोक्त अनुवाद में भारतेन्दु जी ने प्राकृत गत भाव प्रवाह का अनुकरण करने का सतत् प्रयत्न किया है । परन्तु भाषा और गीत शैली की अभिव्यंजना में उनका व्यक्तित्व बोलता सा दिखाई देता है । अनुवादों में नाटककार को मूल के वातावरण से साम्य उपस्थित करने के लिये भाषागत शृंगारिक भावों के परिधान से अलंकृत प्रसंगानुकूल अन्य रीतिकालीन कवियों के छंदों का आश्रय लेना पड़ा है । नाटककार ने शृंगार के अश्लीलत्व दोष से अपनी विचारधारा तथा छन्द योजना को कदापि प्रभावित नहीं होने दिया है ।

सम्वादों में हास्य और शृंगार दोनों का समावेश है । हास्य मुखरित कथोपकथन अत्याकर्षक तथा सजीव है । यत्र तत्र लोकोक्तियों के प्रयोग से तथा सहेतुक व्यंजना के भावों का प्रयोग भाषा-सौष्ठव बढ़ा देता है । विचक्षणा तथा विदूषक के कथोपकथन में विनोद का व्यापार काफी मृदुल है ।

विदूषक :—"बक बक किये ही जायगी, तो तेरा दाहिना और बायां युधिष्ठिर का बड़ा भाई उखाड़ लेंगे ।"

विचक्षणा :—"और तुम भी जो टें-टें किये ही जाओगे तो तुम्हारी भी स्वर्ग काट के एक ओर के पीछे की अनुप्रास मूड़ देंगे, और लिखने की सामग्री मुँह में पोतकर पान के मसाले का टीका लगा देंगे ।"

---

[१] भारतेन्दु ग्रंथावली, कर्पूर मञ्जरी, पृष्ठ १४८-४६

कथाप्रसंग के अनुसार ही पात्रों का चयन किया गया है। प्रमुख पात्रों में राजा, रानी विदूषक, विचक्षणा और भैरवानन्द हैं। कर्पूरमंजरी की तोकेवल प्रथम दर्शन तथा राजा के प्रति आकर्षण के बाद विशेष चर्चा अन्त में विवाह के समय आती है। कर्पूर मंजरी कथानक का केन्द्र बिन्दु होते हुये भी रूपक में गौण पात्र के रूप में प्रस्तुत की गई है। कर्पूर मंजरी तथा राजा के प्रणय को लेकर ही कथानक का विकास किया गया है। राजा के सखा के रूप में विदूषक कपिंजल तथा रानी की सहचरी विचक्षणा दोनों ही घटना विधान में संयोजक का कार्य करते हैं। भैरवानन्द जी फल प्राप्ति के साधन मात्र हैं, राजा नायक के रूप में तथा रानी नायिका के रूप में है, और कर्पूर मंजरी उपनायिका के रूप में प्रस्तुत की गई है। पात्रों के चयन में जटिलता का समावेश नहीं है। घटनाओं में घात प्रतिघातों का समावेश न्यूनतम है, घटना चक्र पेचीदा तथा जटिल बनाने के लिये प्रतिनायक का प्रयोग नहीं किया गया है।

"सट्टकं प्राकृता शेष पाठ्य' स्याद, प्रवेशकम् नच विष्कमको अत्र
प्रचुरश्चाद्भुतो रसः अंका जवनिका ख्याःस्यु: स्याद न्यन्नाटिका समम्॥"

* * *

सैव प्रवेश केनापि बिष्कंभेण विनाकृता।
अंकस्थानीय विन्यस्त चतुर्जवनिकान्तरा॥ प्रकृष्ट प्राकृत मयी सट्टकं-नामतो भवेत।[१]

कर्पूर मंजरी चार अङ्कों का सट्टक है। नियमानुसार इसमें प्रवेशक और विष्कम्भक नहीं होते। अङ्कों के स्थान पर जवनिका का प्रयोग किया जाता है। परन्तु भारतेन्दु जी ने इसे अङ्कों में ही विभाजित किया है। आरम्भ में चतुष्पदी नान्दी का प्रयोग किया गया है, जो कि भारतेन्दु जी की स्वतन्त्र रचना है, कथा वस्तु के कार्य व्यापार में प्रयुक्त अर्थ प्रकृतियों का निम्न प्रकार से विकास हुआ है। प्रथम अङ्क में आचार्य भैरवानन्द का अपनी शक्ति का परिचय देना, तथा राजा और रानी को प्रभावित कर लेना बीजस्थान है। उसी अङ्क में तन्त्र बल से विदर्भराज कन्या कर्पूर मंजरी का बुलाया जाना बिन्दुस्थान माना जा सकता है। चतुर्थ अङ्क में राजा तथा कर्पूर मंजरी का परिणय होना कार्य सिद्धि स्थान है।

कथावस्तु की कार्य व्यापार अवस्थाओं के सामजस्य के साथ-साथ सन्धि स्थिति भी क्रम-बद्ध है।

प्रथम अंक के बीजस्थान से ही कथा का आरम्भ माना गया है, और यहीं मुख सन्धि का होना पाया जाता है। विदर्भराज कन्या कर्पूरमंजरी को तन्त्र बल से बुलवाना यत्नस्थान कहा जायेगा। चौथे अंक में रानी को राजा तथा कर्पूर

---

१ भावप्रकाशः।

मंजरी के मिलन तथा सुरंग की सूचना मिल जाती है। वह सुरंग बन्द कर देती है। विदूषक राजा को सारी स्थिति की सूचना देता है। रानी सुरंग के चारों ओर प्रहरी नियुक्त कर देती है। प्राप्त्याशा तथा गर्भसन्धि के अन्तर्गत माना जायेगा। चौथे अंक में भैरवानन्द तान्त्रिक क्रिया के बल से रानी को भ्रमित कर देते हैं। नियताप्ति तथा विमर्श सन्धि स्थान है। अन्त में वैवाहिक क्रिया आरम्भ होने के समय विदूषक पंडित के रूप में अग्नि प्रज्वलित करने की आज्ञा देता है, तथा "लावा का होम" कराता है। राजा और कर्पूर मंजरी अग्नि की फेरी देते हैं। कथा का उक्त अंश फलागम तथा निर्वहण सन्धि है।

चरित्र चित्रण के अनुसार कथानक में राजा को धीर ललित नायक के रूप में उपस्थित किया गया है। राजा में धीर ललित नायक के सभी गुण विद्यमान हैं। राजा कला, सौन्दर्य प्रेमी है। प्रथम ही अंक में रानी को वसन्तागमन के अवसर पर बधाई देता है। सौन्दर्य-उपासक नायक प्रथम दर्शन में ही कर्पूर मंजरी पर आसक्त हो जाता है, रसिकता तथा शृंगार प्रियता की द्योतक प्रवृत्ति है। मित्र विदूषक कपिंजल तथा विचक्षणा के काव्य रसास्वादन में प्रोत्साहन तथा त्रुटियों को इंगित करना कला-पारखी की सी मनोवृत्ति है। शृंगारिक वर्णनों में रीति परम्परा के प्रयुक्त छन्दों में राजा के सम्वाद तथा उनकी सराहना में कहे गये शब्द काव्य मर्मज्ञता की ध्वनि देते हैं। नायक विनोदप्रिय तथा विलासी प्रतीत होता है। उक्त गुण विदूषक तथा विचक्षणा के कथोपकथन में मनोयोग तथा प्रथम दर्शन में ही सौन्दर्याकर्षण से विरह वेदना अनुभव करने वाले नायक की मनोवृत्ति से स्पष्ट ध्वनित होते हैं। नायक उदार चरित्र वाला है।

रानी में मध्या नायिका के गुण विद्यमान हैं। आरम्भ में ही वसन्तागमन के विषय में राजा के साथ कथोपकथन में विचारों तथा मनोवृत्ति का यथेष्ट ज्ञान हो जाता है। उसके कथोपकथन से स्पष्ट है कि वह यौवन कामना की क्षुधा से पीड़ित है। अतृप्त भावावेश में लज्जा का भाव न्यून मात्रा में पाया जाता है। रानी का स्वभाव गत चरित्रांकन स्वकीया नायिका का सा प्रस्तुत है। वह अत्यंत विनयी एवं शीलवान है। विनोदप्रियता का सहज ज्ञान तो विदूषक तथा विचक्षणा के परिहास पूर्ण वार्तालाप में सुरुचिपूर्ण सहयोग से मिलता है। नारी सुलभ स्वजनों के प्रति प्रीति का परिचय कर्पूर मंजरी का पूर्ण परिचय प्राप्त होने के पश्चात् आत्मीयता दिखाने में मिलता है। नारी में पुरुष की अपेक्षा भक्ति के क्षेत्र में अन्धश्रद्धा का प्राबल्य रहता है। भैरवानन्द को नायिका द्वारा दिये गये सम्मान से स्पष्ट प्रगट होता है। अपने मार्ग में प्रतिद्वन्द्वी उपस्थित न होने देने की सतर्कता सपत्नी भाव की प्रेरणा व्यंजित करती है, परन्तु अपने पति को चक्रवर्ती देखने की महत्वा-

कांक्षा स्त्री सुलभ स्वभाव के विपरीत उससे कार्य करा लेती है। वह स्वयं राजा और कर्पूरमंजरी का विवाह रचती है।

कर्पूरमञ्जरी का चरित्र उपनायिका के रूप में चित्रित किया गया है। यह परकीया नायिका है, यौवन की मादक भावनाओं से हृदय आन्दोलित है, प्रथम आकर्षण में ही रागमयी भावना नायक के प्रति अर्पित करती है। वासना की झंझा उसके हृदय में अशान्ति उत्पन्न कर देती है। रति में उन्मत्त प्रगल्भा नायिका इस विचार को छोड़ देती है कि राजा उसकी बहिन का पति है। वह काम कलाओं में निपुण नायिका के रूप में प्रस्तुत की गई है।

विचक्षणा सभाचतुर विलक्षण बुद्धि वाली रानी की परिचारिका है। वाक् चातुर्य में उसकी स्फूर्तिमान प्रतिभा का परिचय मिलता है, कवियित्री होने के नाते वह भावुक प्रतीत होती है, वह कार्य कुशल दूती नायिका के रूप में प्रस्तुत है। कर्पूर मञ्जरी तथा राजा के मध्य सन्देश सम्प्रदान में दूती व्यापार बड़ी सजगता और चतुरता से करती है।

विदूषक के रूप में कपिञ्जल का चरित्र विनोद-प्रिय पेटू ब्राह्मण तथा आत्म-प्रशंसा प्रेमी व्यक्तित्व के रूप में है। तीखे व्यंगों मे शीघ्र ही उग्र हो जाने वाला तथा अवसर पर कटाक्ष को भूलकर मैत्री प्रदर्शित करने का स्वभाव है, राजा के विश्वस्त सखा के रूप में उपस्थित किया गया है, वह अपने मित्र की हित चिन्ता का सदैव ध्यान रखता है। भैरवानन्द के आगमन पर सारा क्रोध भूलकर पुनः आना और आगमन की सूचना देना उसके क्षमाशील स्वभाव का द्योतक है। कथानक में नायक के प्रत्येक कार्य में सहायक सिद्ध हुआ है।

भैरवानन्द दम्भी आत्म प्रवंचक, सिद्ध पुरुष के रूप में है, परन्तु उसकी भावनाओं में परोपकार का समावेश अवश्य है, वह राजा के कार्य साधन तथा अपनी आत्म प्रशंसा के हेतु चमत्कार प्रदर्शित करता है। सारे कार्यों में सम्मान की ईप्सा का भाव प्रगट करता है।

प्रस्तुत कथानक के वस्तु व्यापार में तीन मूल वृत्तियों का समावेश पाया जाता है। सर्वप्रथम शृंगार की प्राथमिकता है, हास्य तथा अद्भुत रस का भी समावेश यत्र तत्र दिखाई देता है, प्रधानतः शृंगार तथा हास्य रस की निष्पत्ति दिखाई देती है। वसन्त ऋतु सूचना के प्रसग में आये संवाद शृगार मूलक हैं। विदूषक तथा विचक्षणा का सम्वाद विनोद प्रधान है। आचार्य भैरवानन्द के चमत्कारवादी तान्त्रिक कार्य व्यापार कौतूहल तथा आश्चर्य-वर्धन करते हैं। अपेक्षाकृत शृंगार रस की प्रधानता सट्टक में पाई जाती है।

मुद्रा राक्षस

मुद्रा राक्षस महाकवि विशाखदत्त के संस्कृत नाट्य रूपक का अनुवाद है। रूपक के कथानक की आधारशिला नन्द वंश के पराभव तथा मौर्य साम्राज्य के उत्कर्ष के सन्धि समय की है। चाणक्य नन्द वंश को समूल नाश कर चन्द्रगुप्त को मगध के राज्य सिंहासन पर बैठाता है। नन्द के प्रिय आमात्य राक्षस को चन्द्रगुप्त का महामन्त्री बनने के लिये विवश करने के लिये घटनाओं का घात प्रतिघात चलता है। नाटकीय कथानक की आधारशिला ऐतिहासिक धरातल पर अवश्य विश्राम करती है, परन्तु ऐतिहासिक नीड़ पर कल्पित वितान भी ताना गया है। कल्पना के कलेवर में रंग कर रूपक की कथावस्तु को रोचक स्वरूप दे दिया गया है। वस्तुत: यह देखना नितान्त आवश्यक हो जाता है कि कथावस्तु को ऐतिहासिक तथ्य निरूपण का कितना सहयोग प्राप्त है।[१]

मागधों का प्रथम उल्लेख अथर्ववेद में मिलता है, पुराणों के अनुसार महाभारत काल के प्रथम ही मगध में वार्हद्रथों का राज्य स्थापित हो चुका था। वृहद्रथ प्रथम मगध नरेश कहा गया है, जिसका पुत्र जरासंघ पुराण प्रसिद्ध है, इसके अनन्तर गिरि ब्रज के शैशुनाग वंशी राजाओं का मगध पर अधिकार हो गया। क्रमश: शिशुनाग, काक वर्ण, क्षेम धर्मन्, क्षत्राजीत तथा बिम्बसार ने राज्य किया। मगध के साम्राज्य की नीव परम्परा से चली आती थी। अजात शत्रु के उत्तराधिकारी दर्शक तथा उदयाश्व (उदयन) के अनन्तर नंदिवर्द्धन तथा महानन्दि नामक दो सम्राटों का उल्लेख मिलता है। महानन्द इसी वंश का अन्तिम

---

[१] (1) According to Jain tradition Nanda was proclaimed King after Udayan's assassination, and sixty years after the Nirvana of Varddhamana. (*Political History of Ancient India Page* 229.)

(2) The interpretation of 'Tivasasata' accords substantially with the Puranic tradition, regarding the interval between the Nandas and the dynasty to which Satakarni the contemporary of Kharvela in his second reignal year, belonged (137 years for Mauryas + 112 for the Sungas + 45 for the Kanvas = 294). If the expression is taken to mean 105 years (as is suggested by some scholars) Kharavela's accession must be placed 103 − 5 = 98 years after Nandaraja. His elevation to the position of Yuvraja took place 9 years before the date i. e., 98 − 9 = 89 years after Nanda i. e. not later than 324 − 89 = 235 B. C. Kharavela's senior partner in the royal office was on the throne at that time and he may have had his predecessors. (*Political History of Ancient India Page* 229. By Hemchandra Ray-Chaudhari)

मगध सम्राट हुआ है। शिशुनाग वंश का अन्त विक्रमीय सम्वत् के ३१५ वर्ष पूर्व हो जाता है, और उसके उपरान्त नन्द वंश का प्रथम सम्राट महापद्म नन्द के नाम से प्रख्यात मगध का शासक बनता है। महापद्मनन्द की उत्पति शूद्रा स्त्री से बताई जाती है। उसे क्षत्रियों का विरोधी भी कहा गया है। ८८ वर्ष तक राज्य करने के उपरान्त अपना कोई योग्य उत्तराधिकारी न छोड़ सका, बारह पुत्रों में पारस्परिक संघर्ष के बाद कुशल राजनीतिज्ञ चाणक्य की सहायता से चन्द्रगुप्त मगधपति हुआ, और वि० सं० २४१ वर्ष पूर्व तक निष्कंटक राज्य करता रहा, कालान्तर उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका पत्र विन्दुसार उत्तराधिकारी बना।

कथावस्तु की ऐतिहासिक प्रामाणिकता का अवश्यमेव उल्लेख मिलता है। महानन्द तथा चन्द्रगुप्त के समय के संधि-काल का कथानक उसकी पूर्व पीठिका के रूप में है यद्यपि नन्द के पश्चात् उनके बारह पुत्रों के सम्बन्ध के विषय में इतिहासकार मौन से प्रतीत होते हैं, परन्तु कौटिल्य के उत्कर्ष का सारा श्रेय इसी संघर्ष को मिलता है। जिसके राजनीतिक दांव पेचों ने चन्द्रगुप्त को मगध सम्राट बनाया। ऐतिहासिक प्रमाणों का कथासूत्र से नैकट्य केवल काल और तिथि के ही आधार पर माना जा सकता है। यद्यपि कथा विशुद्ध ऐतिहासिक नहीं वरन् चन्द्रगुप्त के प्रारम्भिक शासन के समय आयी संघर्षपूर्ण घटनाओं का संकलन है, कथानक में रोचकता तथा नाटकीय योग देने के हेतु कथा के स्वरूप में अतिरंजना का सम्मिश्रण किया गया है।

मूल मुद्राराक्षस का भारतेन्दु जी द्वारा उत्कृष्ट अनुवाद प्रस्तुत है। अनुवाद के गद्य तथा पद्यांश दोनों में ही मूल के भावों का यथेष्ट प्रदर्शन किया गया है, प्रस्तावना में (मूल नाट्य में भी) कथावस्तु के संघर्षों पर संकेतात्मक प्रकाश डाला जाता है।

"क्रूर ग्रह: सकेतुश्चन्द्रे सम्पूर्ण मण्डलमिदानीम् ।
अभिभावतुमिच्छति बलाद्
(नेपथ्ये) आ:कएष मयिस्थते चन्द्रमभिभवितुमिच्छति
सूत्रधार:— रक्षत्येनंतु बुधयोग: ॥ ६ ॥

भारतेन्दु जी के अनुवादों में भावों की सजीवता सुरक्षित है।

सूत्र०—"चन्द्र-बिम्बपूरन भए क्रूर केतु हठ दाप
बलसों करिहै ग्रास कहं
(नेपथ्य में)
हैं ! मेरे जीते चन्द्रको कौन बल से ग्रस सकता है।
सूत्र—जेहि बुध रच्छत आप ॥

प्रस्तावना में कथा और उसके संघर्षों की सहेतुक व्यंजना परिलक्षित है। निम्न पद में मूल प्रयोजन स्पष्ट हो जाता है कि कौटिल्य अपने शिष्य चन्द्रगुप्त को निष्कंटक मगध सम्राट बनाने के लिये संघर्ष के लिये प्रस्तुत है, और अपने जीते जी अपने महत्वाकांक्षाओं की नीड़ का विनाश नहीं होने देना चाहता है।

सूत्र०—"कुटिलमतिः स एव येन
क्रोधाग्नौ प्रसभमदाहि नन्द वंशः।
चन्द्रस्य ग्रहणमितिश्रुतेः सनाम्नो
मौर्येन्दो र्द्विषदभियोग इत्युपैति ॥ ७ ॥

सूत्र०—दुष्ट टेढ़ी मति वारो।
नन्द वंश जिन सहजहि निज क्रोधानल जारो
चन्द्र ग्रहण को नाम सुनत निज नृप को मानी
इतही आवति चन्द्र गुप्त पै कछु भय जानी ॥

कथा के विस्तृत कलेवर का स्पष्ट आभास नटी और सूत्रधार के उपरोक्त कथोपकथन में व्यक्त हो जाता है। विशाखदत्त प्रणीत मूल मुद्रा-राक्षस के अनुवाद का सार्थक स्वरूप भारतेन्दु जी द्वारा हिन्दी साहित्य में प्रस्तुत किया गया है। यद्यपि स्थान-स्थान पर मूल से अनुवाद में भिन्नता[1] पाई जाती है, तथापि भारतेन्दु जी का उक्त प्रयास अत्यधिक सफल तथा हिन्दी साहित्य के उत्कृष्ट नाटकों में से है।

मुद्रा राक्षस के सम्वाद अन्य अनूदित नाटकों की अपेक्षा अधिक प्रौढ़ हैं। सम्वादों में अभिनेय गरिमा के साथ-साथ भाव प्राबल्य अधिक है। यद्यपि नाटकीय उपालम्भों की न्यूनता हो सकती है, फिर भी संघर्ष युक्त घटनाक्रम में द्वंद्व का मनो-वैज्ञानिक व्यापार अत्यधिक स्पष्ट प्रतीत होता है। संवादों में लम्बे वक्तव्यों में विचारों का सघर्ष उलझा सा दिखाई पड़ता है। घटनाओं में राजनीतिक संघर्ष का उत्कर्ष तथा अपकर्ष पात्रों के ही द्वारा कहाकर कथावस्तु को विस्तार प्रदान किया गया है। चन्द्रगुप्त महत्वाकांक्षी है, आर्य चाणक्य का स्थान-स्थान पर हस्तक्षेप उसे असह्य मालूम देता है। द्वंद्वात्मक विरोध की भावनाओं का निदर्शन भारतेन्दु के सम्वादों की कला है। चाणक्य के कौमुदी महोत्सव रोकने पर शिष्य वृषल के हृदयमें असन्तोषपूर्ण द्वन्द की झंझा चल रही है। परन्तु वह उसे व्यक्त करने में असमर्थ है।

चाणक्य मनोविज्ञान का मर्मज्ञ है, उस अव्यक्त असन्तोष की जान बूझ कर अवहेलना करता है।

चन्द्रगुप्तः—आर्य। आपने कौमुदी-महोत्सव के न होने में क्या फल सोचा है?

चाणक्यः – (हँसकर) तो यही उलहना देने को बुलाया है न?

चन्द्रगुप्तः—उलहना देने को कभी नहीं।

चाणक्यः—तो क्यों?

चन्द्रगुप्तः—पूछने को।

चाणक्यः—जब पूछना ही है, तब तुमको इससे क्या? शिष्य को सर्वदा गुरु की रुचि पर चलना चाहिये।

चन्द्रगुप्तः—इसमें कोई सन्देह नहीं, पर आपकी रुचि बिना प्रयोजन नहीं प्रवृत्त होती – इससे पूछा।

चाणक्यः—ठीक है, तुमने मेरा आशय जान लिया, बिना प्रयोजन के चाणक्य की रुचि किसी ओर कभी फिरती ही नहीं।

चन्द्रगुप्तः--इसी से तो सुने बिना जी अकुलाता है।

चाणक्यः—सुनो, अर्थ शास्त्रकारों ने तीन प्रकार के राज्य लिखे हैं– एक राजा के भरोसे, दूसरा मन्त्री के भरोसे, तीसरा राजा और मन्त्री के भरोसे। सो तुम्हारा राज्य केवल सचिव के भरोसे है, फिर इन बातों के पूछने से क्या! व्यर्थ मुँह दुखाना है, यह सब हम लोगों के भरोसे है, हम लोग जानें।

   

नाटक के तृतीय अंक में चाणक्य के कथन पर "वृषल! कुपात्र को इतना क्यों देते हो!" चन्द्रगुप्त अपनी विरोधी भावनाओं पर संयम नहीं रखता और कहता है "आप मुझे सब बातों में यों ही रोक दिया करते हैं तब यह मेरा राज्य क्या है, उल्टा बन्धन है।"

दोनों में एकाधिकार के द्वन्द्व का निदर्शन बड़ी ही उत्तमता से किया गया है। चन्द्रगुप्त आत्मविश्वास धारण करके समस्त कार्यों को स्वयं अपने हाथों करना चाहता है। वह अब चाणक्य के निर्देश की प्रतीक्षा में अपने अस्तित्व के विनाश को देखता है। चन्द्रगुप्त यद्यपि सोचता है, कि उसकी सफलता के मूल में चाणक्य की ही नीति-निपुणता विद्यमान है, फिर भी अपने को अस्तित्व-विहीन देखकर उसकी आत्मा विद्रोह कर बैठती है। वह अपना अस्तित्व सहज ही नहीं खो देना चाहता और चाणक्य के कार्यों को केवल देव की इच्छा बतलाता है।

चाणक्यः— 'तो हमने जाना कि जिस तरह नन्द का नाश करके तुम राजा हुए वैसे ही अब मलयकेतु राजा होगा।"

चन्द्रगुप्त: —आर्य। यह उपालम्भ आपको नहीं शोभा देता। करने वाला सब दूसरा है।

\+ \+ \+ \+

चन्द्रगुप्त:—यह सब किसी दूसरे ने किया।

चाणक्य: - किसने ?

चन्द्रगुप्त:—नन्दकुल के द्वेषी दैव ने।

चाणक्य:—दैव तो मूर्ख मानते हैं।

चन्द्रगुप्त:—और विद्वान लोग भी यद्वा तद्वा करते हैं।

चाणक्य:—अरे वृषल ! क्या नौकर की तरह मुझ पर आज्ञा चलाता है ?

"बंधी सिखाहू खोलिबे चंचल भे पुनि हाथ"

गतिशील कथोपकथनों में द्वन्द्वात्मक प्रज्ञा कथावस्तु में कौतूहल वर्धन का कार्य करती है। उपरोक्त संवादों में नाटककार को पात्रों के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण देने का यथेष्ट अवसर प्राप्त हुआ है। भारतेन्दु जी में मानव विज्ञान की सूक्ष्म परिवेक्षण शक्ति का सुन्दर विनिवेश था जो संवादों की उक्त प्रणाली से स्पष्ट प्रतीत होता है।

नाटक का प्रधान पात्र कुटिल राजनीति धुरंधर चाणक्य उपनाम कौटिल्य हैं। इसके प्रतिद्वन्द्वी नन्दवंश के मन्त्री राक्षस हैं। नाटक के नायक मौर्यवंश के प्रथम सम्राट तथा प्रतिनायक मलयकेतु हैं। अन्य पात्रों में चन्दनदास, शंकटदास और भागुरायण उल्लेखनीय हैं। चाणक्य और चन्द्रगुप्त ऐतिहासिक पुरुष हैं, परन्तु महामन्त्री राक्षस का ऐतिहासिक प्रमाण नहीं प्राप्त है।

नाटक में प्रथम पात्र-युगल के जीवन का केवल वही अंश प्रदर्शित है, जो राजनीतिक संघर्षों तथा षड़यन्त्रों में व्यतीत होता है। दोनों ही में स्वार्थ हित साधन के चिन्ह नहीं दिखाई देते हैं। चाणक्य हठवादी ब्राह्मण है, उसमें केवल अपनी प्रतिज्ञा पूर्ति तथा अपने प्रिय शिष्य वृषल को मगध सम्राट बनाकर उसके साम्राज्य-सुरक्षा की महत्वाकांक्षा है, वह राक्षस को चन्द्रगुप्त का महामन्त्री देखना चाहता है। राक्षस नन्द वंश का भक्त अनुचर है, वह चाणक्य तथा चन्द्रगुप्त से नन्द के विनाश का प्रतिशोध लेना चाहता है। चाणक्य अपनी कुटिल नीति के बल उसे चन्द्रगुप्त का मंत्रित्व स्वीकार करवाता है। चाणक्य दूरदर्शी दृढ़ प्रतिज्ञ और कुटिल नीति में पारंगत था। उसमें आत्म विश्वास था और मेधा तथा स्मरण-शक्ति बलवती थी। इन्हीं गुणों के कारण उसने शत्रु के षड्यन्त्रों को निष्फल करते हुये उनसे स्वयं

लाभ उठाया, और निज उद्देश्य सिद्धि के लिये उन्हीं का प्रयोग ठीक समय पर कर सफल प्रयत्न हुआ उसमें मनोवैज्ञानिक परख की अपूर्व प्रतिभा थी। इसी के विपरीत राक्षस ने अन्त तक अपने विश्वस्त मनुष्यों को पहिचानने में भूल की, जो उसके विनाश का कारण हुई। राक्षस वीर सैनिक था पर राजनीति के कुटिल मार्गों का वह अच्छा ज्ञाता नहीं था, जिससे वह अपनी नीति में असफल रहा। स्वभाव से मृदुल होने के नाते वह किसी पर अविश्वास न करता था। स्वामी के सर्वस्व नाश हो जाने के दुःख तथा उनका बदला लेने के उत्कट उत्साह से भी मेधा-शक्ति आच्छादित हो रही थी। सभी घटनायें चाणक्य की इच्छा के अनुकूल होती गईं। चाणक्य का संघर्ष के घात-प्रतिघात पर नियन्त्रण था, इसीलिये वह सदैव विजयी होता था।

विष्णुगुप्त, चाणक्य नाम ही से इतिहास प्रसिद्ध है, तथा कुटिल नीति का प्रवर्तक होने के कारण कौटिल्य कहलाया। संस्कृत कोषकारों ने इसके नाम निम्न प्रकार दिये हैं :—

"विष्णुगुप्तस्तु कौटिल्यश्चाणक्यो द्रामिलोऽंगलः।
वात्स्यायनो मल्लनाग पक्षिलस्वामिनावपि।"

अन्य पात्र युगल, चन्द्रगुप्त तथा मलयकेतु नाटक के नायक तथा प्रतिनायक हैं। चन्द्रगुप्त चाणक्य में पूज्य भाव रखता है, और उसे उसकी नीति कुशलता पर पूर्ण विश्वास व भरोसा है, मलयकेतु राक्षस पर पहले ही से शंका करता है, और अन्त में विश्वासघातियों के कहने से उससे विरोध कर बैठा।

इसमें चन्द्रगुप्त के समान योग्यता नहीं थी। यह बिना विचार किये मनमाना कर बैठता था, दृढ़ प्रकृति न होने के कारण यह शत्रु के भेदियों की बातों में उलझ कर असंगत कार्य कर बैठता था।

अन्य पात्रों में चन्दनदास मित्र स्नेह का आदर्श रूप है। धन-प्राण आदि सभी को तिलांजलि देकर इसने उसका निर्वाह किया। शकटदास भी मित्र परायण व्यक्तित्व है, भागुरायण ने मलयकेतु से स्नेह हो जाने पर भी स्वामि-भक्ति न छोड़ी। अन्य पात्रों में निपुणक, जीवसिद्धि, सिद्धार्थक तथा समिद्धार्थक चाणक्य के गुप्तचर तथा शारंगरव उसका प्रिय शिष्य था। विराधगुप्त तथा करभक राक्षस के गुप्तचरों में से थे। भासुरक वेहीनरजाजलि तथा स्त्री पात्र शोणोत्तरा और विजयागौण पात्रों में से हैं।

नाटक की कथावस्तु का संगठन पूर्ण वैज्ञानिक सा प्रतीत होता है, घटना-विधान का क्रम-सूत्र निम्न प्रकार का बलाया गया है। प्रथम अंक में राक्षस के मुहर की अंगूठी दैवात् चाणक्य को प्राप्त हो जाती है। इसके पश्चात् शकटदास से जाली

पत्र लिखवाना तथा सन्देश सहित सिद्धार्थक को सौंपना जीवसिद्धि का देश निर्वासन शकटदास का भागना तथा चन्दनदास का बन्दी होना। द्वितीय अंक में शकटदास का चाणक्य के चर सिद्धार्थक के साथ भागना और सिद्धार्थक का राक्षस की सेवा में नियुक्त होना। मलयकेतु के गहनों को सिद्धार्थक को देना, तथा सिद्धार्थक का मुहर लौटाना। पर्वतक के आभूषणों को राक्षस के हाथ बेचा जाना। चन्द्रगुप्त और चाणक्य की झूठी कलह। चतुर्थ अंक में मलयकेतु का राक्षस पर अविश्वास और चाणक्य के चर भागुरायण पर विश्वास कर लेना। पंचम अंक में मलयकेतु का राक्षस से कलह कर पांच सहायक राजाओं को मरवा डालना। मलयकेतु का युद्ध करना तथा बन्दी होना। चन्दनदास के रक्षार्थ चन्द्रगुप्त की अधीनता मानने के लिये चाणक्य के चर का चतुरता से राक्षस को बाध्य करना। और अन्त में राक्षस का मंत्रित्व ग्रहण करना।

उपरोक्त क्रमिक विकास देखते हुये नाटक की कथावस्तु विभिन्न संघर्षों में उलझ कर मूल मन्तव्य की ओर उन्मुख होती दिखाई देती है। नन्दवंश की राज्य-लक्ष्मी चन्द्रगुप्त के वशीभूत होकर भी चांचल्य नहीं त्याग रही थी, अर्थात् वह साम्राज्य के दो विभागों में—चन्द्रगुप्त तथा पर्वतक के बीच बांटे जाने के विचार से अस्थिर हो रही थी। रक्तपात तथा वैमनस्य की विभीषिका से बचने के लिये चाणक्य ने चन्द्रगुप्त पर प्रयुक्त विषकन्या का पर्वतक पर प्रयोग किया। चाणक्य राक्षस के षड्यन्त्रों को विफल बनाता रहा, यही उसकी सब से बड़ी विजय का कारण है।

व्यावहारिक दृष्टि से 'मुद्रा राक्षस' का समय राजान्तःपुर कुमन्त्रणाओं, षड्यन्त्रों और अभि-सन्धियों का अवश्य है, किन्तु सामान्य जनता में परस्पर विश्वास, मैत्री निर्वाह की धारणा और बन्धुत्व के भाव स्पष्ट दिखाई देते हैं। स्त्री पात्रों को कोई भी महत्व नहीं दिया गया प्रतीत होता है। केवल प्रतिहारी के रूप में शोणोत्तरा और विजया पाठकों के समक्ष आती हैं, जिनका स्थान नहीं के बराबर है। नाटक की कथावस्तु देखने में अत्यधिक संक्षिप्त प्रतीत होती है, जिसका विस्तार घटनाओं के घात-प्रतिघात द्वारा प्रदर्शित किया गया है। किसी प्रकार नन्दों का नाश होता है। पर्वतक, उसका भाई वैरोधक तथा नन्द का बन्धु सर्वार्थसिद्ध मारे जा चुकते हैं और चन्द्रगुप्त सम्राट घोषित कर दिया जाता है। यहीं से नाटकीय कथा-वस्तु का आरम्भ होता है। चाणक्य की कुटिल नीति द्वारा राक्षस और मलयकेतु में विरोध उत्पन्न होता है। मलयकेतु बन्दी होता है, और राक्षस मगध सम्राट का मन्त्री नियुक्त होना स्वीकार करता है। इस संक्षिप्त कथा को घटना-चक्र के घात-प्रतिघातों द्वारा विस्तार दिया गया है। नाटक की घटनावली नाट्य शास्त्र की दृष्टि से काल और घटना क्रम की एकता (Unity of time and action) रखती है।

मुद्रा राक्षस में दो विभिन्न प्रकार के चरित्रों का निर्माण किया गया है। नाटक के सम्पूर्ण अवलोकन से यह भ्रान्ति उपस्थित हो सकती है कि नाटक का नायक चन्द्रगुप्त है अथवा चाणक्य। वस्तुतः मुद्रा-राक्षस का नायक नाम मात्र का नायक है। वह अपने सूत्रधार के हाथ की कठपुतली सा प्रतीत होता है। चाणक्य द्वारा संचालित नीति का चन्द्रगुप्त अक्षरशः पालन करता है। नायक होते हुये भी चन्द्रगुप्त का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं व्यक्त होता है। चाणक्य उसके संघर्षपूर्ण मार्ग को स्वयम् सरल बनाने के लिये प्रयत्नशील है। यद्यपि चन्द्रगुप्त की स्थितियों ने उसे निष्क्रिय कर रक्खा है, फिर भी क्रमणशील होने को प्रयत्नवान है।

मुद्राराक्षस के तृतीय अंक में चाणक्य के कथन पर कि "वृषल, कुपात्र को इतना क्यों देते हो ?" चन्द्रगुप्त की विद्रोहात्मक प्रवृत्ति भड़क उठती है। और कहता है कि "आप मुझे सब बातों में यों ही रोक दिया करते हैं, तब यह मेरा राज्य क्या है, उल्टा बन्धन है।" चन्द्रगुप्त आत्म-विश्वास धारण करके समस्त कार्यों को स्वयम् अपने हाथों से करना चाहता था। वह अब चाणक्य के निर्देश की प्रतीक्षा में अपने अस्तित्व के विनाश को देखता है। अपने आचार्य का आज्ञाकारी होने पर भी उसकी संशयमूलक मनोवृत्ति पूँछ बैठती है कि "कौमुदी उत्सव का निषेध क्यों किया गया ?" यद्यपि यह वस्तु माननीय है कि सफलता का सारा श्रेय चाणक्य की ही नीति निपुणता को प्राप्त है, फिर भी जब उसकी मनोवृत्तियों के अनुकूल कार्य नहीं होता, विद्रोह की भावना जाग्रत सी दिखाई पड़ती है। आश्रय में न रहकर स्वावलम्बन का मार्ग ग्रहण करना चाहता है। वह चाणक्य के किये हुये कार्यों को केवल देव की इच्छा बतलाता है :—

"चाणक्य :—तो हमने जाना कि जिस तरह नन्द का नाश करके तुम राजा हुये, वैसे ही अब मलयकेतु राजा होगा।

चन्द्रगुप्त—आर्य। यह उपालम्भ आपको नहीं शोभा देता। करने वाला सब दूसरा है।"

× × ×

"चन्द्रगुप्तः—यह सब किसी दूसरे ने किया।

चाणक्यः—किसने ?

चन्द्रगुप्तः—नन्दकुल के द्वेषी देव ने।

चाणक्यः—देव तो मूर्ख लोग मानते हैं।

चन्द्रगुप्तः—और विद्वान लोग भी तद्वा वद्वा करते हैं।

चाणक्यः—अरे वृषल, क्या नौकर की तरह मुझ पर आज्ञा चलाता है ?

बँधी सिखाहू खोलिबे चंचल भे पुनि हाथ।"

चाणक्य के इशारों पर नाचने वाला चन्द्रगुप्त पुनः शक्ति और साहस संजोकर कहता है, "चाणक्य का अनादर करके आज से चन्द्रगुप्त सब काम आपही संभालेंगे।" मुद्रा राक्षस में चन्द्रगुप्त के कर्तृत्व शक्ति का सहज ज्ञान होता है। वह राजसत्ता के संचालन के लिये स्वयम् सतर्क और सावधान होकर शासन सूत्र अपने हाथ में लेने का दृढ़ निश्चयी बनता है, भारतेन्दु जी का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण चन्द्रगुप्त के चरित्र निर्माण में प्रतिबिम्बित है। मुद्रा राक्षस का चन्द्रगुप्त चाणक्य का निर्मित किया हुआ नायक है, अप्रकट रूप में उसका निर्देशक ऐसी घटनाओं की योजना करता है, जिससे वह शक्ति, साहस, धैर्य आत्म-विश्वास आदि उन समस्त गुणों को अपने में अनुभव करे, जो उसे एक कुशल सम्राट बनाने में अपेक्षित हैं।

नाटकीय कथानक में चाणक्य का स्थान नायक से भी अधिक महत्वपूर्ण है। यद्यपि वह नाटक का नायक नहीं है, फिर भी नाटक के संचालन का कार्य करता है। चाणक्य हठवादी तथा महती महत्वाकांक्षाओं के संकल्प को लेकर चलने वाला राजनीतिज्ञ है, अपनी सफलता का सोपान चन्द्रगुप्त को बनाकर संघर्षों से खिलवाड़ करना चाहता है। चाणक्य नीति पटु तथा दीर्घसूत्री राजनीतिज्ञ है। अपनी आत्म दृढ़ता से स्थिति को वश में करने के लिये तत्पर रहता है। अपने षड्यन्त्रों में उसकी बड़ी ही सजग मनोवृत्ति रहती है। चाणक्य में त्याग और अहमन्यता दोनों की ही समान गरिमा है, वह सब कुछ अपने शिष्य के कल्याण के हेतु करता है, परन्तु चन्द्रगुप्त के अविश्वास की आभा देखकर उस पर क्रुद्ध हो जाता है। उसमें आत्म प्रवंचना नहीं वरन् अपने प्रत्येक कार्य पर आत्म-विश्वास है। वह अपने चरों पर सन्देह नहीं करता। चाणक्य मनोविज्ञान का सफल पारखी है, मनुष्य को पहिचानने में कभी भूल नहीं करता। उसे अपने निष्कर्षों पर कभी धोखा नहीं हुआ।

चाणक्य का व्यक्तिगत जीवन अति सरल है, परन्तु वह महत्वों के आकाश में उड़ा करता है। उसके साधारण जीवन व्यापन का निम्न पंक्तियों में यथेष्ट वर्णन मिलता है।

कंचुकीः—कहुं परे गोमय शुष्क, कहुं सिल भरी सोभा दै रही।
कहुं तिल कहूँ, जब राशि लागी बटुन जो भिच्छा लही।
कहुं कुस परे, कहुँ समिध सूखत भार सों ताके नयो।
यह लखौ छप्पर महा जर जर होइ कै सो झुकि गयो।

× × ×

बिन गुनहूँ के नृपति को धन-हित गुरुजन धाय।
सूखो मुख करि झूठ ही बहु गन कह हिंवनाय।

पै जिनको तृष्णा नहीं ते नल वार समान।
तिनसों तृन सम धनिक जन पावत कबहुँ न मान।

× × ×

लोक धरसि चन्द्रहि कियो राजा, नन्द गिराय।
होत प्रात रवि को बढ़त जिमि ससि तेज नसाय।

तापस जीवन की कठोर चर्या के साथ ही उसमें स्वभावत: कठोरता है। कुटिलता के कुचक्रों में उसका हृदय विचलित नहीं होता, परन्तु हृदय में दो विरोधी भावनाओं का सदैव द्वंद्व सा रहता है। उसके समस्त राग और महत्वाकांक्षा का नीड़ चन्द्रगुप्त है। उस पर वह वात्सल्य भाव से अनुरक्त है। चाणक्य निष्ठुर है, कठोर है, और कूट नीति-पटु है। केवल उतने समय के लिये जब तक चन्द्रगुप्त को राक्षस महामन्त्री के रूप में नहीं प्राप्त होता, परन्तु अपने अभीष्ट सिद्धि के साथ ही उसकी 'सर्वभूति हितेरता' बुद्धि मलयकेतु आदि विरोधियों को मुक्त कर देती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि चाणक्य अतिमानवीय बुद्धिसम्पन्न व्यक्ति है, परन्तु अतिमानव होते हुये भी वह महा मानव ही है, अमानव नहीं, और यही मुद्रा राक्षस के चाणक्य की सफलता का मूलमन्त्र है।

मुद्रा राक्षस में राक्षस चाणक्य का प्रतिद्वन्द्वी तथा कथानक से घटना संघर्षों को बढ़ाने वाला पात्र है। षड्यन्त्रों के संघर्ष विस्तार परिचालन राक्षस तथा चाणक्य की षड्यन्त्रकारी योजनाओं द्वारा सम्पादित होता है। चाणक्य के समस्त घटना चक्र राक्षस को अपने वश में कर चन्द्रगुप्त को महामन्त्री बनाने की योजना में चलते हैं। राक्षस नन्द वंश का उपकृत है। वह मलयकेतु को मगध सम्राट बनाकर पुन: नन्द वंश का विनष्ट वैभव लाना चाहता है। यद्यपि उसका स्वप्न चाणक्य की सफल कुटिल नीति के कारण पूरा नहीं हो पाता परन्तु चाणक्य तथा मौर्य सम्राट की चुनौती से टक्कर लेने को तत्पर सा प्रतीत होता है। राक्षस के बुद्धि वैभव पर संशय नहीं किया जा सकता, परन्तु उसके सारे प्रयत्नों के साथ समय ने साथ नहीं दिया। राक्षस भावुक मानव था, नन्द के वैभव के क्षय की कल्पना कर वह संतप्त हो उठता था। दुख का भार उसके संतुलन को हिला देता था, इसी कारण चाणक्य की नीति कुशलता का प्रत्युत्तर उचित रूप से न दे सका। राक्षस उदार तथा सरल हृदय महा मानव था। बिना सूक्ष्म मनो-विश्लेषण किये अपरिचित व्यक्तियों पर विश्वास कर लेता था। उसे मनुष्यों की परख का ज्ञान किंचित न था, प्रत्येक पर विश्वास कर लेने के स्वभावगत आचरण के कारण उसे अनेक बार क्षति उठानी पड़ी। राक्षस मानवतावादी महापुरुष था, अपने मित्र का जीवन बचाने के लिये उसे अपने मंतव्य का त्याग करना पड़ा।

राक्षस अपने उद्देश्यों में पूर्ण असफल होता है, इस असफलता के मूल में उसकी अज्ञानता नहीं वरन् चाणक्य की नीति कुशलता तथा सतर्कता हो सकती है। राक्षस के हृदय से अपने स्वामी के विनाश का दुख कभी भी शान्त नहीं हुआ, परंतु अपने विजेता चाणक्य को मानवता की पृष्ठ-भूमि पर पराजित करके राक्षस अपने 'स्वामि-पुत्र' चन्द्रगुप्त का मन्त्रित्व स्वीकार करता है। अपनी उदारता तथा सहिष्णु भावना का आलोक पाठकों के समक्ष रखकर महामानवता का सन्देश देता है।

मलयकेतु नाटक का प्रतिनायक है, तथा राक्षस के साथ मिल कर नन्द वंश के पुनरोत्थान के षड्यन्त्रों में सहयोग देता है। चन्द्रगुप्त के समान इसमें भी आत्म निर्भरता का विकास नहीं पाया जाता। मलयकेतु संशयात्मक मनोवृत्ति का पुरुष है। मनुष्यों की परख में गलती कर बैठता है। अविश्वास तथा शीघ्रता ही उसके विनाश का कारण बन जाती है, वह बिना किसी निष्कर्ष के राक्षस से अनबन कर लेता है, और उसका पक्ष निर्बल पड़ जाता है। अन्त में असफल नायक की भाँति बन्दी होता है। नाटक में आये अन्य पात्र गौण रूप से प्रस्तुत हैं जिनका चारित्रिक विकास स्पष्ट रूप से चित्रित नहीं किया जा सकता है।

प्रस्तुत नाटक में वीर रस का निर्वाह हुआ है, शौर्य, दया, दाक्षिण्य, पराक्रम, उत्साह आदि भाव पाये जाते हैं। कहीं-कहीं करुणा का आभास मिलता है। वह गौण रूप से विद्यमान है। नाटक के अन्तर्गत सात्वती वृत्ति का समावेश है।

नाटक के प्रथम भाग में आशीर्वादात्मक नान्दी का प्रयोग किया गया है। इनमें पदों का नियम नहीं माना गया है, श्लोक पाद नियम के आधार पर इस नाटक में अष्ट पदों का प्रयोग कहा जा सकता है। नान्दी के प्रारम्भ में निम्न पंक्तियां हैं।

"भरित नेह नव नीर नित, बरसत सुरस अथोर।
जयति अपूरब घन कोऊ, लखि नाचत मन मोर॥"

यह लेखक की नाटक में स्वतन्त्र रचना है जिसका प्रयोग अन्य नाटकों में भी किया गया है। नान्दी-पाठ के शेष दो छन्दों में शङ्कर और पार्वती के सम्बन्ध में छल कपट की बात का प्रसंग चलाकर वर्णन किया गया है, जिससे प्रस्तुत नाटक के विषय का साधारण आभास भी मिलता है। अतः यह अंश "पत्रावली नान्दी" माना जायगा।

नाटक के प्रस्तावना अंश में सूत्रधार और नटी के कथोपकथन के द्वारा नाटक की कथावस्तु का परिचय दे दिया गया है। सूत्रधार द्वारा प्रयुक्त पद—

"चन्द्रबिंब पूरन भए क्रूर केतु हठ दाप
बल सों करिहैं ग्रास कह·········॥"

को सुनकर प्रथम अंक में चाणक्य—"बता, कौन है, जो मेरे जीते चन्द्रगुप्त को बल से ग्रसना चाहता है" कहता हुआ प्रवेश करता है। यहाँ पर चाणक्य सूत्रधार

के भाव वचन को लेकर उपस्थित हुआ है, अतः यह कथोद्घात नामक प्रस्तावना हुई। सूत्रधार और नटी के प्रश्नोतर में गूढ़ार्थ है। चन्द्रग्रहण का प्रसंग व्यक्ति विशेष 'चन्द्रगुप्त' के लिये किया गया है। इसलिये प्रस्तावना का यह रूप उद्घात्मक भी माना जा सकता है।

प्रथम अङ्क में चाणक्य के निम्न कथन को बीज अर्थ प्रकृति कह सकते हैं। "जब तक नन्द वंश का कोई भी जीता रहेगा, तब तक वह कभी शूद्र का मन्त्री बनना न चाहेगा, उससे उसके पकड़ने में हम लोगों को निरुद्यम रहना अच्छा नहीं।"

प्रथम अङ्क में ही दूत यम का चित्र हाथ में लिये आता है, और राक्षस की मुद्रा चाणक्य को देता है। मुद्रा लेकर चाणक्य शकटदास से उसी मुद्रा से मुद्रित पत्र लिखवाता है। यह कथाबिन्दु के अन्तर्गत मानी जाती है।

सिद्धार्थक और भागुरायण से संबद्ध घटनावली पताका मानी जायगी।

"कौमुदी महोत्सव"—निवारण एवं राक्षस और पुरुष की कथा प्रकरी रूप में मानी जायगी। चाणक्य चाहता है कि राक्षस चन्द्रगुप्त का विरोध करना छोड़कर मन्त्रित्व स्वीकार कर ले। अत: इस योजना की कथा का अंश नाटक का मुख्य कार्य माना जायगा।

नाटक में कार्य व्यापार की अवस्थायें निम्न प्रकार से हैं :—

चाणक्य के दूत का राक्षस की मुद्रा लाकर उसे देना, कथा का आरम्भ है। आगे चलकर गुप्तचरों द्वारा चाणक्य राक्षस और मलयकेतु में विरोध उत्पन्न करवाता है, शकटदास और सिद्धार्थक भाग कर राक्षस की ओर मिल जाते हैं। पर्वतेश्वर के आभूषण राक्षस को बेंचे जाते हैं, चन्दनदास जौहरी के वध का वातावरण निर्मित होता है, कथा में उक्त अंश को प्रयत्न कहेंगे। चन्द्रगुप्त और चाणक्य में विरोध कराते समय तथा पुरुषपुर पर आक्रमण की योजना करते समय राक्षस उन्नति के सर्वोच्च शिखर पर दिखाई पड़ता है। नाटक का मूल फल प्राय: दबा हुआ प्रतीत होता है, इस घटना चक्र को प्राप्त्याशा कहेंगे। चाणक्य की कुटिल नीति के परिणाम स्वरूप मलयकेतु राक्षस पर अविश्वास करके उसे बहिष्कृत कर देता है। कथानक का यह स्थल नियताप्ति माना जायगा। छठे अंक के अन्त में राक्षस तलवार फेंक देता है, और कहता है—

"चुप रहनहु नहि जोग जब मम हित विपति चन्दन परयो,
तासों बचावन प्रियहिं अब हम देह निज विक्रय करयो।"

यहां पर राक्षस का आत्म समर्पण भाव प्राय: निश्चय सा हो जाता है। सातवें अङ्क के अन्त में राक्षस चन्द्रगुप्त का अमात्य बनना स्वीकार कर लेता है, और आशीर्वाद रूप में श्लोक पढ़ता है। यह नाटक का फलागम है।

नाटक निम्न प्रकार से संधियों में विभाजित है :—

प्रथम अङ्क में ही चाणक्य अपनी चोटी फटकारता हुआ आता है, और कहता है "उसके पकड़ने में हम लोगों को निरुद्यम रहना अच्छा नहीं" कथा की यह मुख सन्धि मानी जाती है। कथानक का वह अंश जहाँ पर शटकदास से राक्षस की मुद्रा से मुद्रित पत्र लिखवाया जाता है, और चन्दनदास का पकड़ा जाना प्रतिमुख सन्धि है। कथानक का बीज समाप्त होने तक प्रतिमुख सन्धि चलती है।

प्रस्तुत नाटक के द्वितीय अंक से गर्भसन्धि प्रारम्भ होती है। आगे चलकर 'कौमुदी महोत्सव' के प्रश्न को लेकर चाणक्य और चन्द्रगुप्त में मतभेद हो जाता है। राक्षस कहता है कि अब चन्द्रगुप्त को जीतना सरल होगा। चन्द्रगुप्त के क्रुद्ध होने तथा चाणक्य के रुष्ट हो जाने के कारण कार्य की सफलता में सन्देह होने लगता है। यहाँ बीज डूबा सा जान पड़ता है। अत: यहाँ गर्भ-सन्धि मानी जायगी। यह सन्धि तीसरे और चौथे अंक तक चलती है।

मलयकेतु से विरोध उत्पन्न हो जाने के उपरान्त राक्षस उसके स्थान से चला जाता है। राक्षस की मनोदशा में परिवर्तन होता है। यहाँ पर विघ्न सम्पूर्णतया नष्ट नहीं हुआ है, धीरे धीरे दूर हो रहा है, एक प्रकार से बीज भिन्नोदभिन्न होता हुआ दिखाई पड़ता है, अतः कथानक के इस अंश में विमर्श संधि मानी जानी चाहिये। पांचवें, छठे तथा सातवें अंक में फलागम और कार्य का सम्बन्ध है। राक्षस उद्यान में पहुँच जाता है, और कहता है "विष्णुदास को जलने से रोको, हम जाकर चन्दनदास को छुड़ाते हैं" समस्त घटनायें मुख्य फल की ओर जाती हैं। अतः यहां पर निर्वहण सन्धि मानी जायगी।

दुर्लभ-बन्धु

भारतेन्दु जी के पूर्व शेक्सपियर के 'मर्चेन्ट आफ वेनिस' का अनुवाद 'दुर्लभ बन्धु' (अर्थात् वंशपुर का महाजन) नाम से किया गया। सं० १८३७ वि० ज्येष्ठ शुक्ल की हरिश्चन्द्र चन्द्रिका और मोहन चन्द्रिका में इसका प्रथम दृश्य छपा है, जिसमें केवल इतना लिखा है कि 'निज बन्धु बा० बालेश्वर प्रसाद बी० ए० की सहायता से और बंगला पुस्तक 'सुरलता' की छाया से हरिश्चन्द्र ने लिखा है" इस पत्रिका का सम्पादन उस समय भारतेन्दु जी के मित्र पं० विष्णुलाल मोहन लाल पण्ड्या कर रहे थे। यह अनुवाद अपूर्ण माना गया है, जिसकी पूर्ति पं० रामशंकर व्यास तथा बा० राधाकृष्ण दास ने की थी। बा० बालेश्वर प्रसाद का 'वेनिस का सौदागर' काशी पत्रिका में प्रकाशित हो चुका था, जिसका उल्लेख भारतेन्दु जी ने भी किया है। इन मतों के आधार पर अनुमानतः यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि भारतेन्दु जी ने 'वेनिस का सौदागर' तथा 'सुरलता' से प्रेरणा प्राप्त कर एक स्वतन्त्र अनुवाद की रचना

की होगी। वेनिस के सौदागर में उर्दू मिश्रित भाषा थी, अतः भारतेन्दु जी ने अपने अनुवाद को साहित्यिक भाषा का स्वरूप देकर हिन्दी नाट्य साहित्य के सम्मुख प्रस्तुत किया। भारतेन्दु जी के अनुवाद में पूर्ण भारतीय वातावरण है। पात्रों का नामकरण उन्होंने मूल के आधार पर ही भारतीय रखा है। कथावस्तु का आधार मूल नाटक का होते हुये भी इसमें भारतीय वातावरण का समावेश है। भारतेन्दु जी ने पात्रों के नामों को अनन्त, बसन्त, पुरश्री, शैलाक्ष, गिरीश, सरल, नर श्री, जसोदा, आदि देकर नाटक के स्वरूप को बदल दिया है। ईसाई और यहूदी के संघर्ष के स्थान पर आर्य हिन्दू तथा जैन संघर्ष भारतीयता जनित है।

कथावस्तु की आधारशिला दो कल्पित कथानकों का सम्मिश्रण है। प्रथम तो शैलाक्ष के ऋण देने से सम्बन्धित है (The story of the cruel Jew) और दूसरी सम्बद्ध कथा पुरश्री तथा मंजूषा से उसका चित्र निकालने वाले के साथ वरण का उल्लेख है। (The story of the Heiress and the casket) अन्तर्निहित कथाओं में दो अन्य कथाओं का उल्लेख है, प्रथम तो लवंग और जसोदा का प्रणय तथा उसके साथ भागना जोकि मुख्य कथाव्यापार के प्रवाह में मिल सी जाती है। अन्त में पुरश्री की बसन्त को दी हुई मुद्रिका के विषय में विवाद कथानक की अन्तिम सीमा में एक नवीन रहस्य का उद्घाटन करता है। यद्यपि यह कथायें मूल कथावस्तु से असम्बद्ध नहीं हैं, फिर भी अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखती हैं।

दुर्लभ बन्धु नाटक का नायक अनन्त है, तथा प्रतिनायक शैलाक्ष है। सह-नायकों में बसन्त, लवंग, गिरीश, तथा सह-नायिकाओं में पुरश्री, जसोदा तथा नर श्री को लिया जा सकता है। बसन्त तथा पुरश्री को प्रमुख सह-नायक, नायिकाओं में लिया जा सकता है। अन्य पात्र सलारन, सलोने, गोप, वृद्ध गोप, दुर्बल, मोर कुटी का राजकुमार आदि गौण पात्र हैं।

अनन्त धीरोदात्त नायक है। मित्र वात्सल्य का उत्कृष्ट उदाहरण उक्त पात्र में प्रस्तुत किया गया है—

"दुर्लभा गुणिनो सूराः दातारश्चाति दुर्ल्लभाः।
मित्रार्थे त्यक्त सर्व्वस्वो बन्धुस्सर्व्वेस्सु दुर्ल्लभः" ।।

उपरोक्त गर्वोक्ति नायक के चरित्र पर चरितार्थ होती है। प्राणों की बाजी लगाकर अपने मित्र बसन्त की सहायता करता है, अनन्त स्वाभिमानी तथा निर्भीक नायक है। मित्र के हेतु अपने प्रतिद्वंदी शैलाक्ष से अपने जीवन के मूल्य पर धन लेता है। धीर नायक अपनी परिस्थितियों से विचलित नहीं होता, विपत्ति की घड़ियों में धैर्य तथा संयम स्थापित रखता है। नायक मित्र तथा शत्रु दोनों के लिये समान

रूप से उदार है। शैलाक्ष का अर्द्ध धन भाग जो न्यायालय द्वारा उसे प्राप्त होता है, वह उसकी पुत्री तथा उसके पति के लिये दे देता है।

शैलाक्ष नाटक का प्रति-नायक है। नाटकीय घटनाओं में संघर्ष तथा घात-प्रतिघात उत्पन्न करने वाला पात्र है। शैलाक्ष लोभी, ईर्षालु, तथा अपने प्रतिद्वंदियों का बुरा चेतने वाला जैन व्यापारी है। अनन्त को उसके आधा सेर मांस के बदले धन देने का अभिप्राय केवल अपने मार्ग का काँटा सदा के लिये निकाल देने का है। अनन्त की हानि पर प्रसन्न होता है, उसमें प्रतिहिंसा की भावना का अविर्भाव है। जैन आर्यों को घृणा की दृष्टि से देखता है, आर्य लवंग उसकी पुत्री जसोदा को ले जाता है, उसे अपनी पुत्री का अभाव इतना नहीं खलता, जितना कि गये हुये धन के शोक में वह पागल फिरता है। शैलाक्ष हठवादी है, लाख प्रयत्न करने पर वह अपनी दस्तक की प्रतिज्ञा से टलता नहीं, परन्तु बाद में कुछ भी मिलता न देखकर वह मूल लेने को तैयार हो जाता है। उसे धन का अत्यन्त लोभ है।

बसन्त अनन्त का अनन्य मित्र है, महत्वाकांक्षी युवक है, मंजूषा चयन से अपना भाग्य अजमाना चाहता है। बसन्त सहृदय तथा अपने कर्मचारियों पर दया और ममता का भाव रखता है। मित्र के लिये आत्म-त्याग की भावना उसमें विद्यमान है। अनन्त को विपत्ति में जानकर वह सहायता के हेतु जाता है, और उक्त धन का बीस गुना देकर भी अपने मित्र को कष्ट से उबारने को प्रस्तुत है। मित्र की सेवाओं से उपकृत अनन्त के बचाने वाले युवक वकील को अपनी प्रियतमा की दी हुई अंगूठी दे देता है। अपनी प्रियतमा पुरश्री के अंगूठी मांगने पर एक सरल अपराधी की भाँति अपना अपराध स्वीकार कर लेता है। उसका हृदय शिशुओं की तरह स्वच्छ तथा कोमल है।

लवंग जैन कन्या जसोदा का प्रेमी तथा अनन्त और बसन्त का सखा है। लवंग में युवकों की भांति साहस और निर्भीकता है। अपनी प्रेमिका के लिये अपार साहस प्रदर्शित कर सकता है। वह दृढ़-प्रतिज्ञ आर्य है, अपने वचनों के प्रतिपालन का सदैव ध्यान रखता है।

गिरीश बसन्त का अनुचर है। स्वामि-भक्ति और सेवा भाव से प्रेरित सदैव कार्य के लिये तत्पर रहता है। विनोद प्रिय है, और अपने स्वामी का मनोरंजन करने के लिये तत्पर रहता है। बसन्त उसे ढीठ, असभ्य तथा अनार्य कहकर अपने चिलबिलेपन की गर्मी को शान्त करने को कहता है। गिरीश वाक् पटु तथा विनोद-प्रिय है, गिरीश तथा नरश्री के कथोपकथन से हास्य की आभा यत्र-तत्र दिखाई देती है।

पुरश्री नाटक की उपकथा की नायिका है। पुरश्री चतुर, व्यवहार कुशल, दृढ़-प्रतिज्ञ तथा सच्चरित्र नारी है, वह अपने पिता के प्रण के अनुसार उसी व्यक्ति

से वरण करना चाहती है, जो उन नियमों का पालन कर मंजूषा में से उसका चित्र निकाले। पुरश्री सहृदय नारी है। बन्सत से प्रेम करती है। मंजूषा के चुनने में उसकी सफलता की कामना करती है। पुरश्री चतुर तार्किक की भाँति मण्डलेश्वर को प्रभावित कर बसन्त को प्राण-दान दिलाने में सहायक होती है, और लोभी शैलाक्ष का स्वप्न ध्वस्त हो जाता है। उसमें पुरुष को परीक्षा में डाल देने की असाधारण क्षमता है। वह बसन्त से अंगूठी लेकर उसे द्वंदात्मक स्थिति में डाल देती है। अपने पति से बड़े ही संयत भाव से प्रकट रूप में अंगूठी के बारे में पूछती है, तथा बाद में रहस्य का उद्घाटन करती है। पुरश्री अपनी योजना में सफल नारी पात्र है, अपने गोपनीय व्यापारों को प्रकाशित न होने देना, उसकी सफलता का रहस्य है। पुरश्री नाटक की अत्यन्त महत्वपूर्ण नारी पात्रों में से है।

जसोदा अनार्य जैन शैलाक्ष की पुत्री है, आर्य लवंग से उसका प्रणय हो जाता है, अपने पिता का समस्त धन लेकर वह उसके साथ निकल भागती है। जसोदा का चित्रांकन उश्रृंखल नारी के रूप में मिलता है, फिर भी वह साहसिक नारी पात्र है, अपने पिता के यहाँ से जाने के पूर्व वह कहती है

"गर बर आई आर्जू मेरी तो रुखसत आपको।
आपने बेटी को खोया और मैंने बाप को।"

नरश्री पुरश्री की परिचारिका है। नरश्री बड़ी ही कार्यपटु तथा कर्तव्यपरायणा है, अपने पति गिरीश को व्यंग्यात्मक कटाक्षों से अपने वश में किये रहती है। गिरीश तथा नरश्री नाटक के विदूषक तथा विचक्षणा का सा कार्य करते हैं।

भारतेन्दु जी ने इस नाटक में सम्पूर्ण पाश्चात्य प्रणाली का अनुकरण किया है। यद्यपि वातावरण भारतीय है, परन्तु नाट्य विवेचन भारतीय ढग का नहीं रक्खा गया है। पश्चिमी समीक्षा-शास्त्र के अनुसार नाटकीय कथा विकास की पांच अवस्थायें निर्धारित हैं। सर्वप्रथम व्याख्या (Exposition) द्वितीय अवस्था प्रारम्भिक संघर्षमय घटना की है (Incident)। तीसरी अवस्था कार्य का चरम सीमा की ओर बढ़ना (Rising Action) कहलाता है, चतुर्थ चरमसीमा (Crisis), जहां पर संघर्ष अन्तिम सीमा पर पहुँच जाता है। संघर्ष हमेशा नहीं चल सकता है। क्राइसेस पर उसका फल इधर अथवा उधर होने लगता है। संघर्ष में दो दल होते हैं। एक वर्ग कीविजय और दूसरे की पराजय होती है। संघर्षमय और द्वन्दात्मक स्थिति को कार्य की ओर प्रवृत्ति (Demounment) कहेंगे। अन्तिम कार्य के फलगमन को (Catastrophe) कहते हैं। इस विवेचन के आधार पर कथावस्तु का

उद्गम वंशपुर के महाजन अनन्त का अपने व्यापारिक जलपोतों के विषय में उल्लेख करना है। अनन्त, बसन्त, गिरीश, और लवंग मिलते हैं, और बसन्त अनन्त से अपना मन्तव्य प्रकाशित करता है, कि वह पुरश्री से परिणय के हेतु छः सहस्र मुद्रा चाहता है। यह कार्य की प्रारम्भिक अवस्था है, अथवा कथा की आरम्भिक व्याख्या (एक्सपोजीशन Exposition) स्थापित होती है।

बसन्त का शैलाक्ष के यहां अनन्त की जमानत पर छः सहस्र मुद्रा माँगना प्रारम्भिक संघर्ष का आवाहन है। शैलाक्ष अपने प्रतिद्वन्दी अनन्त को अपने आधा सेर मांस के बदले धन देता है, यहीं से संघर्ष का प्रादुर्भाव होता है। शैलाक्ष का अनन्त की हानि पर प्रसन्न होकर प्रतिहिंसा का भाव उदित होना संघर्ष विकास का द्योतक है। अन्त में मिती के टल जाने पर शैलाक्ष का अपनी शर्तों पर दृढ़ रहना तथा न्यायालय की शरण लेना और अनन्त का बन्सत को अन्तिम मिलन के लिये बुलाना संघर्ष विकास को उत्कर्ष की ओर उन्मुख करता है।

अनन्त का मण्डलेश्वर के सामने उपस्थित होना तथा युवक वकील द्वारा शैलाक्ष को आधा सेर मांस काट लेने का निर्णय दे देना द्वन्दात्मक प्रवृत्ति की ओर ले जाता है, परन्तु यह चरम सीमा शीघ्र ही अपना पट परिवर्तित करती है। केवल मांस ही निकालने का अधिकार दे रक्त का एक बूंद भी न बहने देना, नाटकीय बहाव को अन्यत्र मोड़ देता है। शीघ्र ही एक पक्ष का दुखात्मक वातावरण सुखात्मक वातावरण से प्रभावित हो जाता है, फिर शैलाक्ष के विपक्ष में निर्णय तथा अनन्त को मुक्ति-दान, युवक वकील का अगूठी मांगना आदि व्यापार फल की प्रवृत्ति की ओर चलते हैं। सुखान्तक नाट्य का फलोदय अंगूठी द्वारा पुरश्री के युवक वकील के रूप में अभिनय का रहस्य खोलता है, और यही सुखान्तक नाट्य कथा का अन्त अथवा फलागम है।

भारतेन्दु जी ने अपने अनूदित नाटक में मूल के भावों को यथाशक्ति रक्षा करने का प्रयत्न किया है। स्थान-स्थान पर अनुकूल परिवर्तन तथा परिवर्धन भी दृष्टिगत होते हैं। कहीं कहीं अनुवाद केवल हिन्दी भाष्य के रूप में प्रस्तुत है। प्रथम अङ्क के प्रथम ही दृश्य में भारतेन्दु जी ने अनन्त के कथोपकथन में जो कुछ कहलाया है, अंग्रेजी मूल का भाषान्तर है।

"अनन्त—सचमुच न जाने मेरा जी इतना क्यों उदास रहता है, इससे मैं तो व्याकुल हो ही गया हूँ पर तुम कहते हो कि तुम लोग भी घबड़ा गये। हा! न जाने यह उदासी कैसी है, कहां से आई है, और क्यों मेरे चित्त पर इसने ऐसा अधिकार कर लिया है! मेरी बुद्धि ऐसी अकुला रही है कि मैं अपने आपे से बाहर

हुआ जाता हूँ।[१]

संवादों में भारतीय वातावरण देने का भरसक प्रयत्न किया गया है। पात्रों के कथोपकथन में बड़ी ही सतर्कता के साथ अवतरणों में सुधार किया गया है जब कि अनुवाद का मूल भाव एक ही सा प्रतीत होता है।

पुरश्री—तुम निश्चय जानो कि यदि मुझे मारकण्डेय की आयु मिले, तो भी मैं अम्बालिका की तरह क्वारी मर जाऊंगी पर अपने पूज्य पिता की इच्छा के विरुद्ध कभी ब्याह न करूँगी। मुझे बड़ा आनन्द है कि इन सन्दूकों में ऐसी चातुरी है कि यह सब आपत्ति बिना मन्त्र-जन्त्र के आप से आप दूर हो जाती है, क्योंकि इनमें से ऐसा कोई नहीं जिसका मैं घड़ी भर रहना भी सह सकती हूँ।[२]

अनुवाद के मूल अभिप्राय को लेकर पश्चिमी भोजपुरी देशज भाषा का प्रयोग भारतेन्दु जी ने किया है, यह उपयुक्त भाषा की कल्पना का ही आधार कहा जा सकता है जोकि भारतीय वातावरण की परम्परा को प्रतिपादित करने में सहायक है।

(एक नौकर आता है)

"क्यों क्यों ? कोई नई बात है ?

नौकर—बबुई साहिब ऊचारों आदमी आपसे विदा होएकै ठाढ़ होएँ और

---

१ दुर्लभ बंधु-प्रथम अङ्क, पृष्ठ सं० २५४

मूल इस प्रकार है :—

Antonio :—

In sooth, I know not why I am so said
It wearies me; you say it wearies you;
But how I caught it, found it or came by it
What stuff 'tis made of, where of it is born
I am to learn
And such a want-wit sadness makes of me
That I have much ado to know myself.
(Merchant of Venice, Act 1, Scene 1, page 1)

२ प्रथम अङ्क दूसरा दृश्य—

"Portia—If I live to be as old as Sibylla. I will die as chaste as Diana, unless I be obtained by the manner of my father's will. I am glad this parcel of wooers are so reasonable; for there is not one among them but I do it on his very absence; and I pray God grant them a fair departure." (Act 1, Scene II)

एक पांचवों का हरकारा आयल हौ सो कहत हौ की मोरकुटी के राजकुमार ओकर मालिक आज राती के इहां पहुँची हैं।" (प्रथम अङ्क द्वितीय दृश्य)[१]

भारतीय वातावरण देने के पश्चात् भी अनुवाद मूल के प्रवाह में बहकर स्थानमूलक भ्रांतियों को उपस्थित करता है, हिन्दुस्तान में स्थित होते हुये भी अनन्त के जहाज हिन्दुस्तान भेजता है, अस्वाभाविक प्रतीत होता है, परन्तु अनुवादक को इसका ध्यान न रहना स्वाभाविक माना जा सकता है।

शैलाक्ष —"नहीं नहीं-मेरा अभिप्राय उनके अच्छे होने से यह है कि उनकी जमानत ही बहुत है—यद्यपि आजकल उनकी दशा हीन है, क्योंकि उनका एक जहाज त्रिपुल को गया है, दूसरा हिन्दुस्तान को। सुना है कि बाजार में भी कुछ व्यवहार है, एक तीसरा जहाज मौक्तिक में तथा चौथा अंग देश में है। इसी भाँति इधर उधर और बन्दरों में उनकी जोखों है।" (तृतीय दृश्य अंक प्रथम)

पारसीक रंगमंच की शैली का अनुकरण भारतेन्दु जी के निम्न शब्दों में ध्वनित होता है। जोकि पिता के जाने के पश्चात् वह जसोदा द्वारा कहलाते हैं।

"गर बर आई आर्जू मेरी तो रुखसत आपको,
आपने बेटी को खाया और मैंने बाप को।"[२]

पद्यानुवादों में भी मूल के आशय का प्राण जागरूक रूप में उपस्थित है, आर्यग्राम का राजकुमार रजत मंजूषा के लेख को पढ़ता है।

"जिमि यह उज्जल रजत सुहायो। सात बेर लै अगिन तपायो।
तिमि यह बुद्धिहु बहु विधि जांची। कोउ प्रकार ठहरी नहिं काची।
ऐसे बहु मूरख जग माँही। जे छाया संग धाये जाहीं।
पै कहुँतिन को आस पुराई। मृग-मरीचिकहुँ प्यास बुझाई॥
जो सुख छायहि अंक लगाये। होत तिनहिं सोई गहि पाये॥
ऐसे बहु जग नर अज्ञाना। सेत केस भे रजत समाना॥
पै नहिं बुद्धि तिनहिं कछु आई। तैसहि यह मूरख सिर भाई॥

---

१. मूल:—

"How now I. What news ?

Servant:—The four strangers seek for you, madam to take their leave; and there is a fore runner come from a fifth, the Prince of Morocco; who brings work, the Prince his master will be here to-night."

[Act 1 Scene II)

२. 'If my fortutune be not crost,
I have a father, you a daughter lost.,

जोरहिहै तुअ होइ निसानी। करहु अबै जो तुअ मनमानी ॥
व्याहहु जाई और ही काहू। हारि चुके बाजी गर जाहू ॥[१]

अनूदित गद्य और पद्य अनुवादों के अतिरिक्त मौलिक संवादों का भी निर्माण किया गया है। भारतेन्दु जी ने उक्त अनुवाद के कथानक में यथास्थान परिवर्तन तथा परिवर्द्धन किया है। सारे परिवर्तन वातावरण को दृष्टिगत रखते हुये किये गये हैं।

वातावरण के भारतीयकरण का निर्वाह कहीं कहीं पूर्ण होता नहीं दिखाई देता है। यत्र तत्र स्थान दोष दिखाई देते हैं। भारत में ही रहने वाला महाजन अपना जलपोत भारतवर्ष की ही ओर भेजता है। यह स्पष्ट ही असंगत प्रतीत होता है, संवादों में पात्रानुकूल देशज भाषा प्रायः पश्चिमी भोजपुरी अथवा व्रज मिश्रित भाषा का प्रयोग किया गया है। प्रयुक्त मुहावरों में देशज प्रयोगों को प्रस्तुत किया गया है, मूल में प्रयुक्त भाषा के जोड़ की वस्तु हिन्दी साहित्य की शब्दावली से चयन करने का प्रयास किया गया है। आपने वातावरणजनित प्रभाव, भाषा शैली तथा नाटकीय प्रयोगों की सफल योजना के साथ उक्त नाटक मूल से भिन्न अपना स्वतन्त्र अस्तित्व स्थिर रखता हुआ प्रतीत होता है।

भारतेन्दु जी ने पश्चिमी नाट्य प्रणाली का भारतीय वातावरण में नवीन प्रयोग किया है, जिसमें उन्हें आशातीत सफलता मिली है। हम इनके इस प्रकार के नाटकीय प्रयोगों में दोनों प्रणालियों का समन्वय स्वरूप सा देखते हैं। भारतीय नाट्य साहित्य में सुखान्तक नाटकों का प्रचलन आदि काल से चला आ रहा है, परन्तु घटनाओं का घात-प्रतिघात और दुखान्त से आकस्मिक सुखद वातावरण उत्पन्न कर देना एक नवीन प्रयोग कहा जा सकता है। यह समन्वय मूलक भावना प्राचीन और अर्वाचीन दोनों ही प्रणालियों का प्रतिनिधित्व करती है। नाटक को लोक-प्रिय बनाने के लिये नाटकीय सम्वादों में यथासाध्य लोक-प्रिय भाषा का

---

१. मूल :—

"The fire seven times tried this:
Seven times tried that judgment is
That did never choose a miss.
Some there be that shadows kiss;
Such have but a shadow's bliss.
There be fools alive I wis
Silver'd o'er; and so was this.
I will ever be your head
So be gone; you are sped."

(Act II, Scene IX)

प्रयोग किया गया है। भारतेन्दु जी ने पात्रों के स्तर के अनुसार ही भाषा का प्रयोग तथा परिवर्तन प्रस्तुत किया है, सम्वादों में आकर्षक प्रवाह भाषा के गठीलेपन तथा व्यापक देशज प्रयोगों ने नाटकों को अधिक लोकप्रिय बनाया है। उक्त नाटक में भी उपरोक्त गुण विद्यमान है, जिस कारण यह नाटक लोक-प्रिय नाटकों की कोटि में रखा जा सकता है।

भारतेन्दु जी नाटकों में समन्वय मूलक नाट्य प्रणाली के निर्देशक थे। युग पुरुष द्वारा प्रयुक्त इस परम्परा का निर्वाह इनके बाद भी चलता रहा। भारतीय और पश्चिमी नाट्य तत्वों का सम्मिश्रण लेकर हिन्दी नाट्य साहित्य में एक मध्य का मार्ग निर्धारित किया गया। बंग साहित्य में श्री डी० यल० राय ने रूढ़िवादी परम्परा को तोड़कर उक्त शैली का अनुसरण किया है। हिन्दी नाट्य साहित्य में प्रसिद्ध नाट्यकार बा० जयशंकरप्रसाद के नाटकों में उक्त नाट्य शैली का प्रयोग पाया जाता है। दुर्लभ-बन्धु समन्वय मूलक नाट्य शैली में सुखान्त नाटक का प्रथम प्रयोग है जिस सुखान्त तथा स्वछन्द नाट्य शैली का अनुकरण भारतेन्दु के पथानुगामियों ने किया और लोक-प्रिय बनाया।

अनूदित नाटकों की मूल प्रवृत्ति का वर्गीकरण करने से भासित होता है कि भारतेन्दु जी ने अपने अनुवादों को विभिन्न दृष्टिकोण से लिया था। कुछ का मूल आधार प्रेमाख्यानों पर अवलम्बित है, तो कुछ में पौराणिक उपाख्यानों के आधार पर वर्णित नाटकों से अनूदित किया गया है। प्रतीक की भावाभिव्यंजना का आकर्षण भारतेन्दु जी के नाटकों में प्रचुरता से मिलता है। भारतेन्दु जी की ऐतिहासिक अन्वेषण की ओर भी नैसर्गिक प्रवृत्ति रही है। प्रेमाख्यानों में रत्नावली, कर्पूर मंजरी तथा दुर्लभ बन्धु को लिया जा सकता है, पौराणिक उपाख्यान से धनंजय विजय लिया गया है, तथा पाखण्ड विडम्बन प्रतीक नाट्य शैली की अनुपम कृति है, मुद्राराक्षस में सम्पूर्ण ऐतिहासिक वातावरण है।

साहित्य समाज का दर्पण है। कलाकार की कृति युग का प्रतिनिधित्व करती है। नाट्यकार भारतेन्दु जी की अमर कृतियों में हम उनके युग का प्रतिनिधित्व पाते हैं। युग पुरुष ने अपनी लेखनी द्वारा कहीं तो देश-प्रेम प्रस्फुटित किया है। कहीं भारतीय अधोगति की छाया दी है, कहीं आर्य भारत के वैभव तथा बुद्धिवादी आदर्श का सजीव चित्रण किया है। लेखनी में नाट्यकार का व्यक्तित्व विद्रोही कलाकार के रूप में प्रस्तुत है। नाट्यानुवादों की अभिरुचि का प्रभाव उनकी स्वतन्त्र रचनाओं पर पड़ा है। अनुवादों में जिन नाट्य शैलियों का प्रयोग हमें दृष्टिगत होता है उनकी पुनरावृत्ति हम उनकी मौलिक कृतियों में भी पाते हैं। रत्नावली नाटिका सर्वप्रथम अनूदित कृति कही गई है। उसका सफल प्रयोग नाटिका के रूप में

प्रस्तुत चन्द्रावली नाटिका के रूप में मिलती है जो उत्कृष्ट सफल मौलिक कृति है। भारत जननी तथा भारत दुर्दशा से प्रतीक भावाभिव्यंजन की सुन्दर प्रतिच्छाया है। ऐतिहासिक दृष्टिकोणों को लेकर मौलिक रचना के रूप में नीलदेवी प्रस्तुत की गई है।

भारतेन्दु जी ने नाट्य तत्वों का जो समन्वयवादी स्वरूप अनुवादों में प्रयुक्त किया है, उसी रूप का प्रयोग हम इनकी मौलिक कृतियों में पाते हैं। नाट्य तत्वों में भारतीय परम्परा का रूप नाटिका, व्यायोग, सट्टक, भाण, प्रहसन, आदि के रूप में विद्यमान है। परन्तु इनमें भी स्वच्छंद निर्वाह से कार्य किया गया है। भारतेन्दु जी ने रूढ़िगत नियमों में परिष्कार किया है। पश्चिमी नाट्य चिन्तन के समन्वित रूप को लेकर चलने वाले नाटकों में दुर्लभ-बन्धु नाटक, भारत जननी ओपेरा, भारत दुर्दशा रूपक, नीलदेवी रूपक आदि हैं।

अन्ततोगत्वा भारतेन्दु जी की सर्वप्रथम नाट्य रचनायें अनूदित नाटक ही थे, और कृतियाँ कलाकार के जीवन पर सामाजिक वातावरण के प्रभाव का प्रतिबिम्ब मात्र होती हैं। भारतेन्दु युग में विभिन्न वर्गों में विक्षेप तथा अराजकता थी, आपस के वैषम्य से देश काल की प्रगति में शैथिल्य था, साहित्य और समाज दोनों ही अधोगति की ओर उन्मुख हो रहे थे, रंगमंच के विभिन्न सन्देशों में भारतेन्दु जी का उद्देश्य देश और समाज की बिखरी हुई शक्ति का संकलन करना है। वर्गवादी संघर्ष के विषम परिणामों की ओर लक्ष्य करना नाट्यकार का मूल मन्तव्य रहा है। भारतेन्दु जी ने स्वयं ही स्वीकार किया है और पाखण्ड विडम्बन के समर्पण में वे स्वयं ही कहते हैं।

"भला इससे पाखण्ड का क्या होना है। यहाँ तो तुम्हारे सिवा सभी पाखण्ड है। क्या हिन्दू क्या जैन? क्योंकि मैं पूछता हूँ कि बिना तुमको पाये मन की प्रवृत्ति ही क्यों है। तुम्हें छोड़कर मेरे जान सभी झूठे हैं। चाहे ईश्वर हो चाहे ब्रह्म, चाहे वेद हो चाहे इंजील" (समर्पण पाखण्ड विडम्बन)। भारतेन्दु जी का उक्त सन्देश 'मुन्डेमुन्डे मतिर्भिन्ना' पर लाक्षणिक व्यंग्य है। कलाकार सामाजिक जीवन को एक सूत्र में बाँधना चाहता है, जिसके लिये उसका सार्वभौमिक दृष्टिकोण है।

"दुर्ल्लभा गुणिनो सूराः दातारश्चाति दुर्ल्लभाः।
मित्रार्थं त्यक्त सर्व्वस्वो बन्धु सर्व्वेस्सु दुर्ल्लभः॥"[1]

---

[1] दुर्लभ-बन्धु

भारतेन्दु जी की विचारधारा नव-जाग्रति की प्रतीक थी, जिसमें देश प्रेम, सामाजिक उत्थान, तथा नैतिक आदर्शों की प्रभावशाली कल्पना निहित थी। सम-सामयिक राष्ट्रवादी विचारधारा को इनके उद्‌गारों से अत्यधिक प्रोत्साहन मिला। देश-प्रेम तथा विश्व-बन्धुत्व के बीज इनके मधु सिंचित सन्देश से पुष्पित तथा पल्लवित हुए। राष्ट्र-चेतना और जन-जागरण का श्रेय निश्चय ही इस युग निर्माता को है।

अष्टम अध्याय

रूपान्तरित नाटकों की विवेचना

रूपान्तरित नाटक :—

भारतेन्दु जी के नाटकों में सत्य 'हरिश्चन्द्र' तथा 'विद्यासुन्दर' रूपान्तरित नाटक हैं। रूपान्तरित नाटक अनुवादों से भिन्न होते हैं। नाटकों की आधारशिला पूर्ण मौलिक नहीं होती, मूल कथा को आधार मानकर उसका कलेवर परिवर्तित कर दिया जाता है। उक्त मौलिक परिवर्तन में नाट्यकार की निज की प्रतिभा का विनिवेश रहता है। छायानुवादों में नाट्यकार की अभिरुचि के अनुसार ही परिवर्तन देखने को प्राप्त होते हैं। रूपान्तरित नाटकों में अनूदित तथा मौलिक रचनाओं के मध्य के गुण होते हैं। अनुवाद का अंश न्यून होता है, परन्तु मौलिक विचारधारा का समावेश अधिक दृष्टिगत होता है। भारतेन्दु जी के नाटकों की प्रगति क्रमशः अनुवादों से रूपान्तर तथा मौलिक नाट्य परम्परा की ओर बढ़ती दृष्टिगत होती है। प्रारम्भिक हिन्दी नाट्य साहित्य का प्रादुर्भाव अनुवादों से आरम्भ होता है, मौलिक नाटकों को प्रारम्भिक काल में अधिक सफलता प्राप्त होती नहीं दृष्टिगत होती। भारतेन्दु जी की कृतियों के क्रम से स्पष्ट है कि रचनाक्रम में मौलिक नाटकों का स्थान क्रमशः अनुवादों, रूपान्तरों के बाद ही आया है। ऐसी अवस्था में छायानुवादों को पूर्ण मौलिक भी नहीं कहा जा सकता, और न वे अनुवाद ही हैं, उन्हें मध्यवर्ती रूपान्तरित के ही रूप में ग्रहण किया जा सकता है।

रूपान्तरित रूपकों में नाट्यकार की रुचि विशेषतः पौराणिक तथा प्रेम-प्रधान रूपकों की ओर आकृष्ट दिखाई देती है, सत्य हरिश्चन्द्र तथा विद्यासुन्दर दोनों ही उक्त धाराओं के प्रतिनिधि नाटक हैं। सत्य हरिश्चन्द्र के कथानक का आधार आर्य क्षेमेश्वर का संस्कृत पौराणिक नाटक 'चण्ड कौशिक' है, तथा विद्यासुन्दर बंगला साहित्य की उत्कृष्ट नाट्य कृति का छायानुवाद है। महाकवि चौर की चौर पंचाशिका में उक्त कथा का प्रसंग है, भारतेन्दु जी ने विद्या सुन्दर की भूमिका[1] में रूपान्तर

---

1 विद्यासुन्दर की कथा बंगदेश में अति प्रसिद्ध है। कहते हैं कि चौर कवि जो संस्कृत में चौर-पचाशिका का कवि है, यही सुन्दर है। कोई इस चौर-पंचाशिका को वररुचि कृत मानते हैं। जो कुछ हो, विद्यावती की आख्यायिका का मूल सत्र वही चौर पंचाशिका है। प्रसिद्ध कवि भारतचन्द्र राय ने इस उपाख्यान को बङ्ग-भाषा में काव्य स्वरूप में निर्माण किया है। महाराज यतीन्द्रमोहन ठाकुर ने उसी काव्य का अवलम्बन करके जो विद्यासुन्दर नाटक बनाया था, उसी की छाया लेकर आज १५ वर्ष में यह हिन्दी भाषा में निर्मित हुआ है।

(भूमिका विद्या सुन्दर भारतेन्दु नाटकावली)

की प्रेरणा का मन्तव्य पूर्ण रूप से स्पष्ट कर दिया है। बंगला नाट्य साहित्य में विद्या-सुन्दर अत्यधिक लोक-प्रिय नाटक था। विद्यासुन्दर का काव्यरूप तथा नाटक दोनों ही प्रमुख रचनायें थीं। बंगला नाटकों में विद्यासुन्दर लोक प्रसिद्ध रंगमंचीय नाटक रहा है। भारतेन्दु जी बंगला नाट्य साहित्य से अधिक प्रभावित थे, अतः लोक-प्रिय कथानक को उन्होंने नाटकीय रूपान्तर के रूप में प्रस्तुत किया है,। उपर्युक्त रूपक संस्कृत काव्य तथा बंगला साहित्य दोनों ही में प्राप्त कहा जाता है। मूल कथानक की प्रेम प्रधान आख्यायिका से प्रभावित नाट्यकार ने रूपान्तरित नाटक की कथावस्तुओं में यथा-तथ्य परिवर्तन किया है। सत्य हरिश्चन्द्र शिक्षाप्रद पौराणिक छायानुवाद है। भारतेन्दु जी ने इसकी रचना विशेष प्रयोजन से की थी जिसका उल्लेख स्वयमेव नाट्यकार ने किया है।

"मेरे मित्र बा० बालेश्वर प्रसाद बी० ए० ने मुझसे कहा कि आप कोई ऐसा नाटक भी लिखें, जो लड़कों के पढ़ने पढ़ाने के योग्य हो, क्योंकि शृंगार-रस के आपने जो नाटक लिखे हैं, वे बड़े लोगों के पढ़ने के हैं, लड़कों को उनसे कोई लाभ नहीं। उन्हीं के इच्छानुसार मैंने यह सत्य हरिश्चन्द्र नामक रूपक लिखा है।"[1]

सत्य हरिश्चन्द्र नाटक भारतेन्दु के निज के जीवन तथा भावनाओं का प्रतीक है। व्यक्तिगत जीवन में नाटककार ने सत्य तथा दान की परम्परा को सदैव निभाने का प्रयत्न किया। इसीलिये उन्हें अर्थाभाव की विषम परिस्थितियों का सामना करना पड़ा। नाटक की अहंगर्वोक्ति भारतेन्दु ने जीवनपर्यन्त निभाने का प्रयास किया :—

"चन्द्र टरै सूरज टरै, टरै जगत व्यवहार,
पै दृढ़ श्री हरिचन्द्र को टरै न सत्य विचार।"

व्यक्तिगत अभिरुचि का आकर्षण जीवन से साम्य स्थिर करने वाले कथानक उत्पन्न करते हैं। भारतेन्दु की नाट्य-रचनाओं में पौराणिक तथा प्रेम-प्रधान आख्यायिकाओं का विशिष्ट स्थान है। भारतेन्दु-युग में पौराणिक तथा प्रेमाख्यान सम्बन्धी रूपकों की परम्परा का प्रचलन अधिक हो गया था। समसामयिक नाट्यकारों ने इन्हीं धाराओं की नाट्य-कृतियों को प्राथमिक स्थान दिया है। युग की मनोवृत्ति के अनुकूल होने के कारण उक्त विचारधाराओं के नाटक तथा आख्यान अत्यधिक लोकप्रिय हो गये। भारतेन्दु जी के अनुवादों और मौलिक नाटकों में भी न्यूनाधिक दोनों ही प्रमुख धाराओं को स्थान प्राप्त है। सम्पूर्ण नाट्य कृतियों में पौराणिक तथा प्रेमाख्यानों की ही प्रधानता

[1] उपक्रम, नाटक सत्य हरिश्चन्द्र, भारतेन्दु नाटकावली-पृ० ३१

दृष्टिगत होती है, अतः स्पष्ट है कि भारतेन्दु जी की मौलिक प्रेरणा उपर्युक्त विचार-धाराओं की ओर विशेष झुकती जान पड़ती थी। छायानुवादों में समाहित मन्तव्य रूप में धर्म और सत्य की प्रतिष्ठा करने वाले आख्यान हैं। शिक्षाप्रद निष्कर्षों से समाज के आचरण में नैतिक सुधार करने की प्रेरणा जान पड़ती है। प्रेम-प्रधान रूपक में भी प्रेम की सत्य साधना विपत्तियों की तमिस्रा को पार करती हुई सुखान्त मिलन की ओर उन्मुख होती है। नायक को अपने उद्देश्य में सफल होने के लिये परिस्थितियों के घात-प्रतिघात सहने पड़ते हैं। घटनाओं का उत्थान-पतन ही कथा-वस्तु की रोचकता बढ़ाता है। अन्तिम फलोदय में सुखान्त भावना कथा की सार्थकता का तथा महत्व का वर्णन करती है, इसी प्रेरणा से उक्त कथानक शैली का प्रयोग भारतेन्दु के 'विद्यासुन्दर' नाटक में पाया जाता है। भारतेन्दु ने अपने नवीन प्रयोगों द्वारा समकालीन नाट्यकारों का भी मार्ग प्रदर्शन किया। प्रत्येक दिशा में साहित्य-कार की व्यक्तिगत अभिरुचि का समावेश पाया जाता है।

रूपान्तर का मूल-स्रोत :—

संस्कृत नाट्य-साहित्य में आर्य क्षेमेश्वर कृत "चण्डकौशिक" तथा रामचन्द्र कृत "सत्य हरिश्चन्द्र नाटकम्" नाम के दो रूपक मिलते हैं जो सूर्यवंशी राजा हरिश्चन्द्र की आख्यायिका लेकर निर्मित हुए हैं। यद्यपि भारतेन्दु जी का सत्य हरिश्चन्द्र इन दोनों में से किसी भी नाटक का सम्पूर्ण अनुवाद नहीं कहा जा सकता, पर प्रथम का अंशतः आधार लिया गया है। भारतेन्दु जी ने उपक्रम में चण्ड-कौशिक का उल्लेख किया है, और कुछ स्थानों पर चण्डकौशिक के श्लोक भी उद्धृत किये हैं; परन्तु कथावस्तु में घटना परिवर्तन के कारण इसे पूर्णतः अनुवाद नहीं कहा जा सकता है। कथावस्तु की प्रेरणा उक्त नाटक में अवश्य प्राप्त होती है। पौराणिक आख्यायिका लोक-प्रसिद्ध है, सम्भवतः भारतेन्दु जी ने चण्डकौशिक के अध्ययन के बाद इसे कथावस्तु के नवीन कलेवर में सत्य-हरिश्चन्द्र रूपक का स्वरूप दिया है।

'चण्डकौशिक' तथा भारतेन्दु के 'सत्य-हरिश्चन्द्र' दोनों की कथावस्तु के अवलोकन से प्रतीत होता है कि दोनों कथावस्तुओं का मूलाधार एक ही होने पर भी प्रारम्भिक दृश्य में ही भिन्नता उपस्थित है। सत्य-हरिश्चन्द्र में शृंगार-रस का समावेश नहीं आने पाया। चण्डकौशिक का प्रथम अंक शृंगार-रस से पूर्ण है, इसके बदले में भारतेन्दु जी ने अपने नाटक में इन्द्र तथा नारद-संवाद में उपदेशात्मक मनोवृत्ति का परिचय दिया है। भारतेन्दु जी का मूल प्रयोजन बालोपयोगी शिक्षाप्रद नाटक उपस्थित करने का था। इसीलिये नाटक के कथानक में मौलिक परिवर्तन

किया गया है। वस्तुतः रूपान्तर का मूलाधार चण्डकौशिक नाटक से प्रेरित आख्यान ही कहा जा सकता है। सम्पूर्ण नाटक में परिवर्तन का अभिप्राय शृंगारिक अश्लीलत्व दोष को निकाल देना ही दृष्टिगत होता है, ताकि नाटक का कथानक शिक्षाप्रद बना रहे।

सत्य हरिश्चन्द्र नाटक में मौलिक तथा अनूदित नाटकों दोनों ही के गुण विद्यमान हैं। कथानक की भिन्नता और चण्डकौशिक के कुछ अंशों का ज्यों का त्यों अनुवाद दोनों ही प्रकार के लक्षण मिलते हैं। अक्षरशः अनुवाद न कहकर इसे छायानुवाद की कोटि में रक्खा गया है। रूपान्तरित नाटक तथा मूल नाटक की कथावस्तु के अवलोकन से मौलिक भिन्नता का परिचय प्राप्त होता है, वस्तुतः दोनों ही कथावस्तुओं को तुलनात्मक दृष्टि से देखना नितान्त आवश्यक है।

चण्डकौशिक के कथानक में महाराज हरिश्चन्द्र के आचार्य ने कतिपय विघ्नों की शान्ति के लिये, उन्हें नियम पालन की अनुमति दी, जिस कारण उन्हें रात्रि भर जागना पड़ा। प्रातःकाल महारानी शैव्या उनकी आलस्य भरी आँखें देखकर उन पर कुपित हुईं, किन्तु तापस के शान्ति जल लाने पर जागरण रहस्य समझ उनसे क्षमा याचना करने लगीं। उधर महाराज विघ्नों के भय से व्याकुल होकर मनोविनोद की इच्छा से आखेट करने वन की ओर निकल पड़े। वन में महर्षि विश्वामित्र तीनों महाविद्याओं को वश में करने के लिये आश्रम में बैठे यज्ञ कर रहे थे। विघ्नराट् उसमें विघ्न डाल रहा था। संयोगवश महाराज हरिश्चन्द्र महर्षि विश्वामित्र के क्रोध भाजन बने, क्षात्र धर्म के अनुसार स्त्री रूप धारिणी महा-विद्याओं का आर्त्तनाद सुनकर उन्हें बचाने दौड़े। महर्षि के क्रोध मोचन के लिये अपना सर्वस्व उन्हें दान कर दिया, और उक्त दान की एक लक्ष स्वर्ण-मुद्रा दक्षिणा के रूप में देने के लिये अपने को काशी में जाकर बेचना निश्चित किया। अर्द्ध लक्ष स्वर्ण मुद्रा में रानी को तथा शेष धन के लिये अपने को श्वपच के हाथ बेच डाला, और दास के रूप में श्मशान कर लेने लगे। संयोग से एकमात्र पुत्र रोहिताश्व की सर्प के काटने से मृत्यु हो जाने पर शैव्या शव का अन्तिम संस्कार कराने आती है। दास रूप राजा हरिश्चन्द्र निज-पुत्र जान बड़े दुखी होते हैं, परन्तु कर्तव्यवश प्रेरित आधा कफन कर के रूप में माँग लेते हैं। उनकी सत्यनिष्ठा से प्रसन्न धर्म आदि आकर रोहिताश्व को पुनः जीवित कर उनका राज्य लौटा देते हैं।

सत्य हरिश्चन्द्र की कथावस्तु में भिन्नता है—जो निम्न प्रकार से प्रस्तुत की गई है। इन्द्र की सभा में अयोध्या से लौटते समय देवर्षि नारद पहुँचते हैं, और उनसे महाराज हरिश्चन्द्र के अकृत्रिम स्वभाव तथा सत्य-प्रियता की प्रशंसा करते हैं। इन्द्र के हृदय में द्वेष तथा भय का संचार होता है। वे हरिश्चन्द्र की सत्य परीक्षा लेने की

सोचते हैं। नारद तथा इन्द्र की वार्ता के बीच में ही विश्वामित्र का आगमन होता है। नारद से अपना मन्तव्य पूरा होते न देख इन्द्र तथा विश्वामित्र राजा को धर्म भ्रष्ट करने की प्रतिज्ञा करते हैं। इधर राजा तथा रानी दोनों ही अशुभ स्वप्न देखते हैं। महाराज महा-विद्याओं को वश में करने वाले ब्राह्मण से स्त्री रूप महाविद्याओं के बचाने में उक्त ब्राह्मण को क्रुद्ध कर देते हैं, उसे संतुष्ट करने में उन्हें सम्पूर्ण राज्य दे देना पड़ता है, और रानी राजा को सारे अंग में भस्म लगाये देखती है, तथा रोहिताश्व को सर्प ने काट लिया है। उक्त स्वप्नों के निवारणार्थ कुलगुरु उपाय करते हैं, तथा महाराज स्वप्न में दान दिये हुये अमुक नाम ब्राह्मण को उसका राज्य सौंपने की चिन्ता में हैं। इतने ही में क्रोधावेश में विश्वामित्र आ जाते हैं। स्वप्न का स्मरण दिला कर दान और दक्षिणा माँगते हैं। राजा एक मास का अवकाश माँग कर दक्षिणा चुकाने का विश्वास दिलाते हैं। काशी पहुँच कर अर्द्ध दक्षिणा के मूल्य में रोहिताश्व सहित रानी को विक्रय कर तथा शेष के लिये अपने को श्वपच के हाथ बेच कर ऋण मुक्त होते हैं। इस प्रकार श्वपच के दास बन अपने स्वामी के लिये श्मशान पर कर वसूल करते हैं। संयोग से अपने पुत्र का मृत शरीर लिये हुये विलाप करती हुई शैव्या श्मशान भूमि पर आती है। राजा निज पुत्र जानकर धैर्य से डिगने लगता है, परन्तु कर्तव्यवश प्रेरित होकर वह अपनी पत्नी से भी स्वामी के लिये कर-रूप में आधा कफन माँगता है। राजा को सत्यनिष्ठ देखकर भगवान स्वयं प्रकट होते हैं। रोहिताश्व पुनः जी उठता है, और इन्द्र तथा विश्वामित्र आकर राजा हरिश्चंद्र की प्रशंसा करते हैं, तथा उनका राज्य पुनः लौटा देते हैं।

उपर्युक्त कथानकों के देखने से जान पड़ता है कि दोनों नाटक प्रायः समान आधार पर केन्द्रित हैं। केवल आरम्भ तथा अन्त में कुछ परिवर्तन अवश्य दिखाई पड़ते हैं। सत्य हरिश्चन्द्र में नवीनता तथा मौलिकता मूलक कथा परिवर्तन इन्द्र-सभा में नारद का प्रवेश तथा अयोध्या के राजा हरिश्चन्द्र की प्रशंसा करना है, इन्द्र का द्वेष के कारण शंकायुक्त होना तथा उसकी परीक्षा की युक्ति निकालना, विश्वामित्र का आगमन, नारद के जाने के उपरांत सत्य की परीक्षा लेने की मन्त्रणा करना और राजा तथा रानी के स्वप्न की वार्ता आदि मुख्य हैं। इनके अतिरिक्त सिद्धियों के प्रलोभन से किंचित् मात्र भी न डिगना, दुख और विपत्ति से छुटकारा पाने के लिये आत्मघात के लिये उद्यत होना, अन्त में शिव, विष्णु आदि अन्य देवताओं का आना नवीन परिवर्तन कहे जा सकते हैं।

चण्डकौशिक के कथानक में उपर्युक्त छायानुवाद से भिन्न स्वरूप स्थापित करने वाले कथा प्रसंग निम्न प्रकार के कहे जा सकते हैं।—प्रथम अंक में विदूषक, राजा तथा रानी के कथोपकथन, विघ्नराट का वाराह रूप धारण करना तथा राजा का आखेट के लिये जाना, विश्वामित्र की तपश्चर्या, महाविद्याओं को भ्रमवश बचाने में राजा पर

कोप तथा सर्वस्व दान, दो चांडालों का राजा हरिश्चन्द्र को श्मशान घाट तक ले जाना, मृतवत्सा की सूचना तथा रोहिताश्व का अभिषेक आदि कहे जा सकते हैं। आवश्यकतानुसार नवीन पात्रों का भी समावेश दिखाया गया है, सत्य हरिश्चन्द्र में चंडकौशिक के कुछ पात्रों के केवल नाम मात्र ही बदलने पड़े हैं। उदाहरणार्थ चण्डकौशिक की चारुमतिका के स्थान पर सहेली, भृङ्गी के स्थान पर भैरव, तापस के लिये ब्राह्मण तथा धर्म के स्थान पर भगवान का समावेश, कर दिया गया है। सत्य हरिश्चन्द्र की नवीनता केवल इसी प्रकार के तथ्यों में प्रदर्शित की जा सकती है, जिनसे कथानक के विकास की समानता व एकता में वस्तुतः कोई बाधा नहीं पड़ती। आर्य क्षेमेश्वर तथा भारतेन्दु दोनों ने विश्वामित्र एवं महाराज हरिश्चन्द्र के कथोपकथन से लेकर प्रायः कथानक के स्वरूप को एक ही दिशा की ओर मोड़ा है, जिस कारण सत्य हरिश्चन्द्र के द्वितीय अंश के अन्तिम अंक, पूरा तृतीय अंक और थोड़े से अन्तिम अंश को छोड़कर उसका पूरा चौथा अंक भी क्रमशः "चंडकौशिक" के द्वितीय अङ्क के अन्तिम भाग, पूरे तृतीय अङ्क और थोड़े अन्तिम अंश को छोड़कर सम्पूर्ण पाँचवें अङ्क में समता दृष्टि गोचर होती है। आरम्भिक भिन्नता के विषय में यह कहना उपयुक्त होगा कि भारतेन्दु ने "चंडकौशिक" के विघ्नराट् की छाया पर ही अपने नाटक में प्रसिद्ध पौराणिक द्वेषी इन्द्र की कल्पना की है, तथा उसमें प्रदर्शित महाविद्याओं की घटना को ही, राजा हरिश्चन्द्र की सत्य-प्रतिष्ठा को अधिक महत्वपूर्ण बनाने के लिये स्वप्न के रूप में कल्पित आधार लिया है।

सत्य हरिचन्द्र में चंडकौशिक के उद्धरणों का भावानुवाद यत्र तत्र मिलता है, रूपान्तर तथा मूल के संवादों का मिलान करने पर अनुवाद का आभास प्राप्त होता है। भारतेन्दु जी ने मूल के उद्धरणों का भी यथास्थान प्रयोग किया है। भावानुवाद के निम्न स्थल मूल नाटक से ग्रहण किये गये हैं।

"बेच देह दारा सुअन, होइ दासहू मन्द।
रखिहैं निज बच सत्य करि, अभिमानी हरिश्चन्द॥"[1]
आत्मानमेव विक्रीय, सत्यं रक्षामि शाश्वतम्।
यस्मिन्न रक्षिते नूनं लोकद्वयमरक्षितम्॥[2]

× × × ×

"हरिश्चन्द्र—(पैरों पर गिरकर) भगवान। क्षमा कीजिये। यदि आज सूर्यास्त के पहिले मैं न दूँ तो जो चाहे कीजियेगा। मैं अभी अपने को बेंचकर मुद्रा लाता हूँ।

---

१ भारतेन्दु नाटकावली, पृष्ठ-संख्या ६६। २ चंडकौशिक पृष्ठ ६४।
(भारतेन्दु ना० व० पृष्ठ ७६)

राजा—(ससंभ्रम पादपोर्निपत्य) भगवान । प्रसीद, प्रसीद मर्षय मर्षय ।

> अस्तं खाव सम्प्राप्ते, यदि नाप्नोति दक्षिणाम् ।
> शापार्हौ वा वधार्हौवा, स्वाधीनोऽयं जन स्तव ॥[१]

हरिश्चन्द्र :—न जाने क्यों इसके रोने पर मेरा कलेजा फटा जाता है ।[२]
राजा :—(सविशेषकरूणाम्) अहो । मर्मस्पृशि परि देवितानि ।[३]

× × × ×

हरिश्चन्द्र :—......। भला मुझ दास को अपने शरीर पर क्या अधिकार था कि मैंने प्राण-त्याग करना चाहा ।[४]

> मरणात् निवृ र्तिं मात्रे धन्या: स्वाधीन वृतय: ।
> आत्मविक्रयिण: पाया:, प्राण त्यागे ऽप्यानीश्वरा: ॥[५]

× × × ×

खलगनन सों सज्जन दुखी मत होइ, हरिपद रति रहै ।
उप धर्म, सत्व निज भारत गहै, कर दुख बहै ॥
बुध तजहिं मत्सर, नारि-नर समहोहिं, सब जग सुख लहै ।
तजि ग्राम कविता सुकवि जन की अमृतबानी सब कहै ॥[६]
प्रमुदित सुजना समृद्धशस्या, भवतु मही विजयी च भूमिपाल:
कविभि रूपहिता निज प्रबन्धे, गुण कणिकात्घनु गृह्यतां गुणज्ञै ।"[७]

उपर्युक्त उद्धरणों में भारतेन्दु जी ने चंडकौशिक के संवादों तथा उद्धरणों का भावानुवाद किया है, परन्तु सत्य हरिश्चन्द्र में कुछ ऐसे भी स्थल विद्यमान हैं, जिनमें चंडकौशिक का पूर्ण अनुवाद मिलता है । निम्न उद्धरणों में अनुवाद की व्यंजना पाई जाती है ।

> भृंगी :—यस्याद्भुतं कथयतश्चरितं भवस्य,
> रोमांचभिन्न कण भस्म घनांग यष्टे: ।
> व्यावलिगतभुनयनत्रय माविरासीत,
> वेल्लच्छशांक शकलश्चपलश्चमौलि: ॥[८]

१ चंडकौशिक, २ सत्य हरिश्चन्द्र । ३ चंडकौशिक । ४ सत्य हरिश्चन्द्र । ५ चंडकौशिक पृष्ठ १२६ । ६ सत्य हरिश्चन्द्र । ७ चंडकौशिक पृष्ठ १३७ । ८ चंडकौशिक पृष्ठ ६० ।

भैरव—आज जब भूतनाथ राजा हरिश्चन्द्र का वृत्तान्त भवानी से कहने लगे तो उनके तीनों नेत्र अश्रु से पूर्ण हो गये, और रोमांच होने से सब शरीर के भस्मकण अलग-अलग हो गये। (सत्य हरिश्चन्द्र नाटक—)

राजा—(आत्मानंसंस्तम्य प्रकाशम्) प्रिये।
आराध्योऽयं ब्राह्मणस्ते शिष्यः,
पत्नी नास्य प्रीतिदायोपचार्या।
रक्ष्याः प्राणाः बालकः पालनीयः,
यद्दैवं शास्तितंतत्तद्विधेयम्॥[१]

हरिश्चन्द्र—(धैर्य से) देवी, उपाध्याय की आराधना भली भाँति करना और इनके सब शिष्यों से भी सुहृद् भाव रखना, ब्राह्मण की स्त्री की प्रीति पूर्वक सेवा करना, बालक का यथासम्भव पालन करना, और अपने धर्म और प्राण की रक्षा करना। (सत्य हरिश्चन्द्र...)

कौशिक :—धिग् मूर्ख। स्वयं दासास्तपस्विनः, तत् किं त्वया दासेन क्रियते।
राजा :—(सानुनयम्। भगवान।) यदा दिशसि तत् करिष्ये।
कौशिक :—शृण्वन्तु, शृण्वन्तु विश्वे देवाः। यदादिशामितत् करिष्यासि ?
राजा :—वाढम्, करोमि
कौशिकः—यद्येवमस्मिन्ने वार्थिनि विक्रीयात्मानं प्रयच्छमे दक्षिणा सुवर्णानि।[२]
विश्वामित्रः—छिः मूर्ख। भला हम दास को लेकर क्या करेंगे ?
"स्वयं दासास्तपस्विनः।"

हरिश्चन्द्र :—(हाथ जोड़कर) जो आज्ञा कीजियेगा, हम सब करेंगे।

वि०—सब करेगा न ! (ऊपर हाथ उठाकर) धर्म के साक्षी देवता लोग सुनें, यह कहता है कि जो आप कहेंगे, मैं सब करूँगा।

हरि०—हाँ, हाँ जो आप आज्ञा कीजियेगा, सब करूँगा।

वि०—तो इसी गाहक के हाथ अपने को बेचकर अभी हमारी शेष दक्षिणा चुका दे।[३]

× × ×

१ चंडकौशिक पृष्ठ ७८। २ चंडकौशिक पृष्ठ ८५-८६। ३ सत्य हरिश्चन्द्र पृष्ठ संख्या ८८, भा० ना०।

राजा—भैक्ष्याशीदूरतस्तिष्ठन्, रथ्याम्बर परिच्छदः।
यद्यदादिशति स्वामी, तत्करोम्यविचारितम् ॥[1]

हरिश्चन्द्र : –भीख असन कंबल वसन, रखिहै दूर निवास।
जो प्रभु आज्ञा होइहै, करिहै सब ह्वै दास ॥[2]

× × ×

राजा :—(दृष्ट्वा साश्चर्यमात्मगतम्)
कथमिमास्ता भगवत्यो विद्या :
यासु भगवतो विश्वामित्रस्यापि
तीव्रैस्तपोभिट वसन्नम्। (प्रकाशम्)
(अंजिल बद्धा) नमस्त्रिलोक विजयिनीभयो विद्याभ्यः।

विद्याः—राजन् त्वदायत्तावयं। अतस्त्वंशाधिनः

राजा—यदि मामनुग्रह्य भवत्योऽनुमन्यते, ततोभगवन्त कौशिकं उपतिष्ठध्वं ततोनुपराद्धं मुनेरात्मानं समर्थयामि।

विद्या :—(सविस्मयं परस्परमवलोक्य) राजन् एवमस्तु।
(इतिनिष्क्रान्ताः)[3]

हरिश्चन्द्र :—(आप ही आप) अरे यही सृष्टि की उत्पन्न पालन और नाश करने वाली महाविद्या हैं जिन्हें विश्वामित्र भी न सिद्ध कर सके (प्रकट हाथ जोड़कर) त्रिलोक विजयिनी महाविद्याओं को नमस्कार है।

महाविद्याः—महाराज, हम लोग तो आपके वश में हैं। ग्रहण कीजिये।

हरि०:—देवियो, यदि हम पर प्रसन्न हो तो विश्वामित्र मुनि की वशवर्तिनी हो। उन्होंने आप लोगों के वास्ते बड़ा परिश्रम किया है।

महाविद्याः—धन्य महाराज। धन्य। जो आज्ञा (जाती हैं)—[4]

उपर्युक्त प्रमाणों में मूल नाटक का अनुवाद तथा भावानुवाद प्रस्तुत है, भारतेन्दु जी ने सत्य हरिश्चन्द्र नाटक की रचना में चंडकौशिक से सहायता अवश्य ली है। चंडकौशिक के जिन स्थलों को उन्होंने छोड़ दिया है, वें अधिक उपयोगी नहीं प्रतीत होते। उनके स्थान पर काल्पनिक घटना-चक्रों को जोड़ा है। विदूषक और महाराज तथा रानी और चारुमति की वार्ता, वनेचर द्वारा सुअर की प्रशंसा, राजा तथा सूत के द्वारा आश्रम का वर्णन, दो चाण्डालों का हरिश्चन्द्र का पथ-प्रदर्शक बनना, मृतवत्सा के आने की सूचना, हरिश्चन्द्र की बार-बार आने वाली

१ चण्डकौशिक—पृष्ठ ८६। २ सत्य-हरिश्चन्द्र—पृष्ठ संख्या। ३ चण्डकौशिक पृ० ११०-१११।
४ भा० ना० पृ० १०६

मूर्च्छा तथा अभिषेक के प्रबन्धादि प्रसंगों को निरर्थक समझकर छोड़ दिया गया है, और कथा विस्तार के लिये नवीन घटनाओं को रखा गया है। महाविद्या के प्रसंग को स्वप्न में दिखाकर "सत्य हरिश्चन्द्र" की कथा को स्वाभाविक तथा रोचक बनाने का प्रयास किया गया है। संस्कृत नाटक के शिथिल प्रसंग, जिनसे नाटकीय कथावस्तु में शिथिलता आने की आशंका थी, छोड़ दिये गये हैं। सत्य-हरिश्चन्द्र से चंडकौशिक की कथावस्तु जटिल मालूम देती है। सत्य हरिश्चन्द्र में वर्णनात्मक कथोपकथन अवश्य हैं, परन्तु चंडकौशिक से अधिक सरस प्रतीत होता है।

नाट्य-विवेचन (कथा-वस्तु):—

सत्य हरिश्चन्द्र की कथा चार अंकों में समाहित है। नायक राजा हरिश्चन्द्र तथा प्रतिनायक विश्वामित्र हैं। प्रस्तावना के पश्चात् प्रथम अंक में इन्द्र की सभा का दृश्य है। नारद जी आकर अयोध्या के राजा हरिश्चन्द्र के सत्यव्रत तथा धर्म परायणता की प्रशंसा करते हैं। नारद द्वारा प्रशंसित हरिश्चन्द्र के प्रति इन्द्र को ईर्ष्या होती है। नारद से हरिश्चन्द्र के साभिमान[1] वचन सुनकर इन्द्र को षडयन्त्र रचने का अच्छा अवसर मिल जाता है, और नारद के जाने के पश्चात् इन्द्र "विश्व के अमित्र" अर्थात् विश्वामित्र से हरिश्चन्द्र को पथभ्रष्ट करने की मन्त्रणा करते हैं, इन्द्र विश्वामित्र को उत्तेजित करता है, क्रोधी तपस्वी हरिश्चन्द्र को तपभ्रष्ट करने की प्रतिज्ञा कर लेता है।

द्वितीय अंक में रानी शैव्या द्वारा देखे गये दुःस्वप्न का शमन ब्राह्मण कुल-गुरु द्वारा भेजे गये अभि-मन्त्रित जल से करता है, और थोड़े ही समय बाद शैव्या के पास राजा हरिश्चन्द्र आते हैं, रानी की चिन्ताकुलता का कारण पूछते हैं, एवं अपने दुःस्वप्न की चर्चा करते हैं :—"एक क्रोधी ब्राह्मण ने मुझसे सारा राज्य माँगा, मैंने उसे प्रसन्न करने को अपना सारा राज्य दे दिया।" स्वप्न की सत्यता पर शंका करने पर राजा शैव्या की उक्त शंका समाधान करते हैं, और आज्ञा-पत्र घोषित करवाते हैं कि "महाराज ने स्वप्न में अज्ञात-नाम गोत्र ब्राह्मण को पृथ्वी दान की है, और अब मन्त्री की भाँति राज्य कार्य सम्हालेंगे। उसी समय विश्वामित्र आ जाते हैं, और अपने क्रोधयुक्त व्यवहार से सबको आतंकित कर देते हैं। स्वप्न के अमुक नाम ब्राह्मण के रूप में अपने को बताकर उक्त दान और उसकी दक्षिणा राजा से माँगते हैं। राजा सहर्ष उन्हें सर्वस्व सौंपकर दस-सहस्र मुद्रा दक्षिणा के रूप में देने के लिये देह, दारा, सुअन विक्रय करने के लिये एक मास की अवधि लेकर काशी की ओर प्रस्थान करते हैं।

---

[1] चंद्र टरै सूरज टरै, टरै जगत व्यवहार।
पै दृढ़ व्रत हरिचन्द्र को, टरै न सत्य विचार॥

तृतीय अंक में अंकावतार के अन्तर्गत 'पाप' द्वारा काशी एवं हरिश्चन्द्र का महात्म्य व्यक्त कराया गया है, और यहीं हरिश्चन्द्र की अंग-रक्षा के लिए शिव द्वारा भैरव को नियुक्त किया गया है। तृतीय अंक में काशी के घाट पर हरिश्चन्द्र ऋण चुकाने की चिन्ता में निमग्न घूम रहे हैं। संकल्प विकल्प में चिन्तित राजा सहसा सोचते हैं—"वाह! क्या हम लोगों के बिकने से सहस्र स्वर्ण मुद्रा भी न मिलेगी?" इतने ही में विश्वामित्र उनके पास आ पहुँचते हैं। कुछ इन्द्र के कहने पर ही नहीं, उनका तो "स्वतः भी हरिश्चन्द्र पर क्रोध है," लेकिन हरिश्चन्द्र की विनय तथा धैर्य के समक्ष उनका क्रोध शीतल हो जाता है। दक्षिणा न मिलने पर वे शाप देना चाहते हैं, किन्तु राजा की प्रार्थना पर वे उसे सूर्यास्त तक का समय देते हैं। राजा हरिश्चन्द्र शैव्या तथा कुमार रोहिताश्व के साथ अपने को बेचने के लिये काशी के बजार में फिरते हैं, अत्यन्त कारुणिक दृश्य प्रतीत होता है। एक उपाध्याय और बटुक आकर रानी को पुत्र सहित पाँच सहस्र स्वर्ण मुद्रा में क्रय कर लेते हैं। शेष पाँच सहस्र में श्वपच के हाथ स्वयं बिक कर ऋण-मुक्त होते हैं। इस प्रकार :—

'ऋण छूट्यो पूर्यो वचन द्विजहु न दीनो साप।
सत्य पालि चंडालहू होइ आजु मोहि दाप॥"

इस गर्वोक्ति के साथ हरिश्चन्द्र ऋण के बोझिल भार से मुक्त होते हैं। उन्हें अपने नवीन स्वामी द्वारा दक्षिण मसान पर आकर कर-रूप में कफन दान लेने का आदेश मिलता है, और वे कर्तव्य-रत होते हैं।

चतुर्थ अंक में श्मशान का दृश्य है, जहाँ का वीभत्स एवं भयानक वातावरण त्रास उत्पन्न करता है। हरिश्चन्द्र के हृदय में नाना प्रकार की भावनायें आती हैं, रानी तथा पुत्र की स्थिति के बारे में भी सोचते हैं। श्मशान देवी राजा पर प्रसन्न होकर वरदान माँगने को कहती हैं, राजा अपने स्वामी के कल्याण का वरदान माँगते हैं। कापालिक, वैताल आदि आकर राजा को अनेक प्रकार के प्रलोभन देते हैं। कोई अपने विघ्नों का निवारण करने को कहता है, कोई 'रसेन्द्र महा-निधान' (पारा) भेंट करना चाहता है, महासिद्धि निधियाँ देना चाहता है, पर दास धर्म के विरुद्ध समझकर राजा कुछ भी स्वीकार नहीं करते। उस समय स्वामी से बिना कहे कुछ भी लेना स्वामी को धोखा देना है। राजा की बाई आँख फड़कती है, और अपशकुन होते हैं जो अभी अन्तिम कठिन परीक्षा के सूचक हैं। यहीं कुलदेव सूर्य प्रकट होकर राजा को धैर्य धारण करने का आदेश देते हैं। अन्तिम अग्नि-परीक्षा का समय निकट बताकर सचेत रहने की चेतावनी देते हैं। नैपथ्य से रुदन करती हुई शैव्या आती है। राजा उसे पुत्र-शोक में व्यथित दीन स्त्री का कातर विलाप समझकर संवेदना प्रकट करते हैं। राजा को अभी वस्तुस्थिति का यथेष्ट ज्ञान नहीं

है कि वह स्त्री अन्य कोई न होकर शैव्या और मृतक पुत्र रोहिताश्व है। राजा निकट आने पर रानी को पहिचान लेते हैं। वस्तुस्थिति के ज्ञान से उन्हें दारुण दुःख होता है, और वे आत्म-घात करने को उद्यत हो जाते हैं, पर परवश आत्मघात भी नहीं कर सकते। स्थिर चित्त धैर्य वहन करते हैं, रानी को सांत्वना देकर मृतक की अंत्येष्टि क्रिया के लिये स्वामी के कर रूप में आधा कफन माँगते हैं। रानी कर देने के लिये शव पर लपेटे हुये वस्त्र का आधा भाग देना चाहती है कि भगवान प्रकट हो कर उन्हें ऐसा करने से रोकते हैं। फिर महादेव, पार्वती आदि देवता विश्वामित्र एवं इन्द्र प्रभृति आकर हरिश्चन्द्र की स्तुति करते और क्षमा माँगते हैं। भगवान रोहिताश्व को पुनः जीवन-दान देते हैं, और वरदान माँगने का आग्रह करते हैं राजा अपनी प्रजा के कल्याण का वर माँगता है। विश्वामित्र भी उनका सर्वस्व लौटा कर आशीर्वाद रूप में समुज्ज्वल कीर्ति दिग-दिगन्त तक फैलने का आशीर्वचन देते हैं। हरिश्चन्द्र की कामना निम्न भरत-वाक्य की सफलता की कामना है :—

"खल जनन सों सज्जन दुखी मत होइं हरिपद रति रहै।
उपधर्म छूटै सत्व निज भारत गहै कर-दुख वहै।
बुध तजहि मत्सर, नारि-नर सम होहिं सब जन सुख लहैं।
तजि ग्राम कविता सुकवि-जन की अमृत वाणी सब कहैं॥

कथावस्तु में कुछ असंभाव्य प्रसंग आ गये हैं, जो कथानक में खटकने वाली घटनायें प्रतीत होती हैं। ऐतिहासिक तथ्यानुसार राजा हरिश्चन्द्र के काल में गंगा का वर्णन असंगत लगता है। भगीरथ राजा हरिश्चन्द्र के बाद हुये हैं, अतः उस काल में गंगा का वर्णन प्रामाणिक वस्तु नहीं कही जा सकती। स्वप्न में दान देकर प्रतिष्ठित सत्य मान कर अमुक नाम ब्राह्मण को अपना सर्वस्व अर्पित कर देना कथानक की स्वाभाविकता में बाधा उत्पन्न करता है। कथाकार ने अपने कथानक में अतिरंजना का अत्यधिक आश्रय लिया है।

चरित्र-चित्रण:—

नाटक के प्रमुख पात्र राजा हरिश्चन्द्र, विश्वामित्र, शैव्या तथा रोहिताश्व हैं। इनके अतिरिक्त इन्द्र, नारद, उपाध्याय, चाण्डाल, महाविद्यायें आदि सहायक पात्र हैं। मन्त्री, बटुक, हरजनवां और पिशाचादि प्रासंगिक पात्र प्रतीत होते हैं। राजा हरिश्चन्द्र नाटक के नायक हैं, विश्वामित्र प्रतिनायक के रूप में उपस्थित हैं, शैव्या नायक की स्त्री होने के कारण तथा रोहिताश्व पुत्र होने से मुख्य पात्र हैं। समस्त मुख्य पात्रों का नाटक में आदि से अन्त तक निरन्तर सम्बन्ध स्थापित रहता है, और उनकी सत्ता की उपेक्षा नहीं की जा सकती, इन व्यक्तित्वों का कथानक में अन्त तक सम्बन्ध बना रहता है। सहायक पात्र कथावस्तु के विस्तार में सहायक होते हैं,

जिनकी उपस्थिति से घटनाक्रम का विकास निर्धारित किया गया है। प्रासंगिक पात्र प्रधान कथानक में उप-कथाओं अथवा प्रसंगों द्वारा सम्पूर्ण कथानक को सुरुचि पूर्ण बनाते हैं, और प्रधान पात्रों के चारित्रिक विकास में सहायक हैं।

राजा-हरिश्चन्द्र :—

नाटक के नायक राजा हरिश्चन्द्र हैं। नायक अत्यन्त धीर, प्रशांत, विनयी तथा महान-सहिष्णु प्राणी है। जीवन में कर्तव्य का पालन ही इसका एकमात्र उद्देश्य है। सत्य और दान की प्रतिज्ञा ही उसके जीवन का मूल मन्त्र है, वह सत्य की प्रतिष्ठा रखने वाला दानवीर नायक है। राजा विनयशीलता की मूर्ति हैं, विश्वामित्र के शतशः क्रुद्ध होने पर भी वह क्षण भर के लिये भी आक्रोशमय मुद्रा में नहीं आते। जीवन की कठिनातिकठिन परिस्थितियों के बीच वह अपना विवेक सुरक्षित रखते हैं। घोर निराशाजन्य वातावरण में भी यद्यपि चिन्ता उनके हृदय को व्याकुल करती है, तथापि वह एक बार साहसिक महा-मानव के रूप में संकटों के बीच अडिग खड़े रहने में सफल रहते हैं। नायक में स्वाभिमान की भी मात्रा प्रचुर है। निम्न उनकी अहं-गर्वोक्ति है।

"चन्द्र टरै सूरज टरै, टरै जगत व्यवहार।
पै दृढ़वृत्त हरिचन्द्र को, टरै न सत्य विचार।।"

विपत्तियों के दारुण दुःख को झेलते हुये अपने स्वाभिमान को प्रतिष्ठित रखने में दृढ़ प्रतिज्ञ हैं। दक्षिणा चुकाने के प्रश्न में किंकर्तव्य-विमूढ़ न होकर आत्म-विश्वास की सुदृढ़ भित्ति पर खड़े महापुरुष की भाँति वह निश्चय करते हैं :—

बेचि देह, दारा, सुअन, होय दास हू मन्द।
रखिहै, निज बच सत्य करि, अभिमानी हरिचन्द।।

वीरातिवीर महा-मानवों के हृदय में भी कहीं न कहीं एक कोमल सुकुमार क्षेत्र होता ही है, जहाँ रागात्मिका वृत्ति उसकी नारी सम्बन्धी भावना का शृंगार किया करती है, परन्तु इस नियम का अपवाद हरिश्चन्द्र सिद्ध नहीं हो सके। पत्नी के प्रति अगाध प्रेम और कर्तव्य की भावना रानी के विक्रय के समय तड़प कर आकुल क्रन्दन करने लगी।

हरिश्चन्द्र इतने दृढ़ संयमी हैं कि उन्हें उनकी कर्तव्यनिष्ठा से कोई भी शक्ति डिगा नहीं सकती है। धर्म तथा अन्य शक्तियाँ उनके समक्ष अनेकानेक प्रलोभन रखती हैं, पर वह अपने सेवा व्रत में निरन्तर तल्लीन रहते हैं। कर्तव्य-परायणता की पराकाष्ठा को पारकर स्वयं विश्वम्भर का आसन डिगा देते हैं, जब वह पुत्र के दाह संस्कार के लिये कफन का अर्ध भाग माँगने लगते हैं। नायक हरिश्चन्द्र परीक्षाओं में विचलित नहीं होते। अंततोगत्वा धीरमना दृढ़व्रती राजा परीक्षा में उत्तीर्ण होकर यश का भागी बनता है।

विश्वामित्र :—नाटक के प्रतिनायक विश्वामित्र को कहा जाय तो अनुचित न होगा। स्वभावतः उग्र और अहंमन्यता से पूर्ण चरित्र चित्रण किया गया है। विश्वामित्र का चरित्र अभिनय की दृष्टि से स्वाभाविक तथा उच्चकोटि का है। हरिश्चन्द्र की गुण चर्चा सुनते ही उनकी सहज ही भृकुटि चढ़ जाती है। इन्द्र द्वारा राजा का सत्य-धर्म-पालन प्रसंग सुनकर विश्वामित्र उन्हें तेजोभ्रष्ट करने की प्रतिज्ञा करते हैं। उग्रवादी प्रतिनायक ने सर्वस्व दान लेने के पश्चात् उसकी दक्षिणा के लिये दास वृत्ति स्वीकार करने को बाध्य किया। प्रतिनायक का व्यवहार अत्यन्त क्रूर प्रतीत होता है। परन्तु विनय और शील उनकी कठोरता को द्रवित कर उन्हें सहिष्णु बना देता है। विश्वामित्र में रजोगुण तथा तमोगुण की प्रचुरता विद्यमान है, हृदय से हरिश्चन्द्र की सत्य साधना का आदर करते हैं, परन्तु परीक्षा के लिये बाह्य मुद्राओं में कठोरता का व्यवहार करते दृष्टिगत होते हैं।

"(आगे देखकर) अरे। यह दुरात्मा (कुछ रुककर) वा महात्मा हरिश्चंद्र है,"—"(आप ही आप) वाह रे महानुभवता।"

नाट्यकार ने विश्वामित्र की उग्रता का परिहार अन्त में राजा के प्रति निम्न-लिखित वाक्य कहला कर करवाया है :—

"महाराज। यह केवल चन्द्र सूर्य तक आपकी कीर्ति स्थिर रखने के हेतु मैंने छल किया था, सो क्षमा कीजिये, और अपना राज्य लीजिये।"

निःसन्देह उक्त वाक्य विश्वामित्र के चरित्र को पूर्ण दूषित रहने से बचा लेते हैं, किन्तु ऋषि की मर्यादा के अनुरूप नाटक में उनके चरित्र का विकास नहीं हो पाया है। परन्तु कथावस्तु के आधार पर चरित्र में अस्वाभाविकता नहीं दृष्टिगत होती है। प्रतिनायक के चरित्र में उग्रवादिता तथा कठोरता का होना नितान्त आवश्यक था जो घटनाओं के विकास में सहायक है।

रानी शैव्या :—

राज-महिषी शैव्या प्रस्तुत नाटक की नायिका हैं। वह एक आदर्श महिला के अनुरूप अपने पति के जीवन में प्रति पग सहायिका रूप में उपस्थित होती है। विषम एवं गम्भीरातिगम्भीर परिस्थितियों में भी साहस तथा विवेक की रक्षा करते हुये सह-गामिनी-सहचरी शब्द की सार्थकता को प्रतिपादित करने वाली शैव्या नारी-समाज के समक्ष अनुपम आदर्श की अवतारणा कर, अपने जीवन के परम उज्ज्वल स्वरूप को प्रकट कर सकी। शैव्या रानी थी, और उसमें पतिव्रता स्त्रियों का अदम्य तेज भी था। नारि सुलभ संकोच और लज्जा के साथ ही उत्साह, धैर्य एवं गम्भीरता भी विद्यमान थी। प्रथम अंक में राजा से स्वप्न की चर्चा करते हुये सरल-हृदया नारी कह बैठती है—"नाथ क्या स्वप्न के व्यवहार को भी सत्य मानियेगा ?" परन्तु किसी प्रकार का प्रतिवाद नहीं करती।

दासवृत्ति स्वीकार करते समय अपनी मर्यादा का निर्वाह करने का सतत प्रयास करती है। उपाध्याय के पूछने पर कि वह क्या करने में समर्थ है अपने उत्तर में पतिपरायणा साध्वी स्वरूप रानी कहती है कि "पर-पुरुष से संभाषण और उच्छिष्ट भोजन छोड़कर और जो जो कहियेगा सब सेवा करूँगी।" सारी परिस्थितियाँ धैर्य-पूर्वक सहन करती है, परन्तु विपत्ति का अन्त नहीं दिखाई देता। रोहिताश्व की मृत्यु माता के हृदय को विचलित कर देती है। करुण क्रन्दन मर्मान्तिक संताप पहुँचाता है। दुखों से विचलित रानी नदी में गिरकर प्राणांत कर देना चाहती है, परन्तु राजा उसे रोकता है, और कर्तव्य से विचलित न होने का आदेश देता है। राजा कर्तव्य-वश इतनी हीनावस्था में भी रानी से कर-रूप में आधा कफन माँगता है। पुत्र के शव को आँचल के अर्ध भाग में लपेटे माता का ममत्व अभी तक नहीं बुझा है, अपने पुत्र के मृत शरीर को निरावृत नहीं होने देना चाहती, परन्तु पति की आज्ञा के सम्मुख पुत्र की ममता कोई मूल्य नहीं रखती और कर देने के लिये कफन फाड़ने लगती है।

महारानी शैव्या का चरित्र परम आदर्श है, उसके कथनों तथा विलाप में जितनी स्वाभाविकता का समावेश किया गया है, उतना अन्य पात्रों में नितान्त दुर्लभ है।

रोहिताश्व :—

रोहिताश्व नायक का पुत्र और नाटक का प्राण है—राजकुल में उत्पन्न होने के कारण उसमें राजोचित समस्त गुण विद्यमान हैं। वह पिता की भाँति विनयशील है। आज्ञाकारी अनुचर की भाँति नित्य उपाध्याय के लिये पुष्प-चयन करने जाता है। रोहिताश्व राजा के सत्य की कसौटी है। अन्तिम परीक्षा पुत्र-शोक की कसौटी है। कथानक में चरित्र नितान्त आवश्यक है। घटनाओं का उत्कर्षापकर्ष इस पात्र में केन्द्रित है।

इन्द्र स्वभावत: ईर्षालु प्रकृति के हैं, वह अपनी मान-प्रतिष्ठा से अधिक किसी को भी नहीं देखना चाहते हैं। हरिश्चन्द्र की प्रशंसा उन्हें बड़ी ही कटु लगती है, ईर्षावश ही विश्वामित्र से हरिश्चन्द्र को सत्य-भ्रष्ट करने की कुमंत्रणा करते हैं, अपना स्वार्थ न होते हुये भी दूसरों का अहित करना उनका ध्येय है। ऐसे प्राणी पर-संताप की ज्वाला में सदैव झुलसा करते हैं।

नारद का प्रसंग कथा के प्रारम्भ में ही आता है। हरिश्चन्द्र की प्रशंसा से उनका अभिप्राय अहित चिन्ता का न था, इसीलिये इन्द्र की दूषित विचारधारा जानकर विश्वामित्र के आने के पश्चात् ही चल देते हैं। अन्य सहायक पात्र उपाध्याय, चांडाल, तथा महा-विद्याओं का चारित्रिक विकास पूर्ण नहीं दृष्टिगत होता। प्रासंगिक

पात्र (मन्त्री, बटुक, हरजनवों, और पिशाचादि) केवल प्रसंग विशेष में ही आते हैं, उनका चरित्र चित्रण नहीं हो सकता।

रस :—संपूर्ण नाटक में करुण-रस का परिपाक है। नाटक में आदि से अन्त तक करुण भावधारा का प्रवाह मिलता है। वह भाव प्रवाह बड़ा ही हृदय-विदारक है। प्रथम अंक में ही राजा और रानी के स्वप्न देखने पर अवसाद से घनीभूत वातावरण बन जाता है, और उसका प्रवाह अन्त तक निरन्तर चलता रहता है। यथास्थान रौद्र तथा वीभत्स रस का संचार दृष्टिगत होता है। विश्वामित्र की क्रोधपूर्ण मुद्रा भयावह वातावरण पैदा करती है। श्मशान भूमि पर पिशाच तथा वैतालों का नृत्य और वातावरण वीभत्स की चरम सीमा तक पहुँच जाता है, ऐसे लोमहर्षक दृश्य अन्यत्र नहीं देखने को मिलते हैं।

शास्त्रीय-विवेचन:—

नाटक का शास्त्रीय विवेचन निम्न प्रकार से प्रस्तुत किया जा सकता है :—

मंगलाचरण[1] के पद को चार-पदों में विभक्त चतुष्पदी नांदी कहा जा सकता है। नान्दी के उक्त दोहे में कवि का नाम तथा नाटक का नाम भी वर्णित है। सूत्रधार के द्वारा समय, परिस्थिति तथा वातावरण का भी चित्रण किया गया है। अतः यह पूर्वरंग के अन्तर्गत माना गया है। प्रस्तावना के अन्तर्गत ही नटी के निम्न कथन में भी पूर्व रंग का ही भाव पाया जाता है।

"कहैंगे सबै ही नैन नीर भरि-भरि पाछे,
प्यारे हरिश्चन्द की कहानी रह जायगी।"

नाटक के प्रारम्भ में सूत्रधार और नटी के कथोपकथन में प्रस्तावना का आरम्भ होता है। सूत्रधार निम्नलिखित दोहा पढ़ता है :—

"जो गुन नृप हरिचन्द मैं, जगहित सुनियत कान।
सो सब कवि हरिचन्द मैं लखहु प्रतच्छ सुजान॥"

इसके पश्चात् ही मोहना इन्द्र बनकर नेपथ्य से निम्नलिखित दोहा पढ़ता हुआ आता है :—

"यहाँ सत्य भय एक के कांपत सब सुरलोक
यह दूजो हरिचन्द्र को, करन इन्द्र उरसोक।"

यहाँ पर सूत्रधार के वचन को लेकर दूसरा पात्र रंगमंच पर आता है। अतः यह कथोद्घात नाम्नी प्रस्तावना है।

प्रथम अंक में इन्द्र प्रस्तावना में पठित दोहा—"यहाँ सत्यभय एक के..." पढ़ता है। यहीं से नाटक का बीज प्रारम्भ होता है। प्रथम अंक में ही इन्द्र के यहाँ

१—सत्यासक्त दयाल द्विज, प्रिय अघहर सुखकन्द
जन-हित कमला तजन जय, शिव नृत कवि हरिचन्द॥

विश्वामित्र पहुँचते हैं, और भृकुटी तानकर पूछते हैं "हरिश्चन्द्र में कौन से गुण हैं !" इन्द्र नारद पर व्यंग कर तथा मुनिवर की चाटुकारिता कर उनकी क्रोधाग्नि को और भी अधिक प्रज्वलित कर देता है, कथा के इस स्थल से बिन्दु प्रारम्भ होता है। प्रथम अङ्क में नारद के आने का समाचार पाकर इन्द्र कहते हैं—"आने दो, अच्छे अवसर पर आये। यहाँ इन्द्र का सहसा अभीष्ट सिद्ध होने के कारण प्रथम पताका स्थानक माना जायगा। इसी अङ्क के अन्तिम भाग में विश्वामित्र के सम्बन्ध में नारद (स्वगत) कहते हैं।

"अब आप (इन्द्र) तो विश्व के अमित्र जी से राजा हरिश्चन्द को दुख देने की सलाह कीजिये।" यहाँ विश्वामित्र में श्लेष होने के कारण दूसरा पताका स्थानक माना जायगा। दान देने के बाद दक्षिणा के लिये राजा मन्त्री को स्वर्ण मुद्राओं के लाने की आज्ञा देता है, पर विश्वामित्र उसे यह सचेत कर कि 'अब तेरा खजाने पर अधिकार नहीं रह गया', दस सहस्र स्वर्ण मुद्रायें लाने को बाध्य करता है, यहाँ तीसरा पताका स्थानक है।

कापालिक का चरित्र प्रकरी के अन्तर्गत माना जायगा। राजा हरिश्चन्द्र का अपनी सत्य की परीक्षा में उत्तीर्ण होना कार्य है।

कार्य व्यापार की अवस्था तथा सन्धियां नाटक में निम्न प्रकार से घटित होती हैं :—

इन्द्र की सभा में इन्द्र तथा नारद की हरिश्चन्द्र के विषय में वार्ता आरम्भ माना जायगा, तथा यहीं पर बीज का संयोग होने से मुख-सन्धि मानी जायगी। हरिश्चन्द्र की कीर्ति तथा दान की वार्ता मुख सन्धि का विकास माना जायगा।

तृतीय अङ्क में सर्वस्व छोड़कर राजा हरिश्चन्द्र धर्म बचाना चाहते हैं, और अन्त में निश्चय करते हैं :—

बेचि देह दारा सुअन, होय दास हूँ मंद।
रखिहै निज बच सत्य करि, अभिमानी हरिचन्द ॥"

कथा के उपर्युक्त अंश को प्रयत्न का आरम्भ कहेंगे। प्रयत्न के आरम्भ में ही अपने को बेचने का निश्चय करना प्रतिमुख-सन्धि के अन्तर्गत माना जायगा। यह सन्धि द्वितीय अङ्क के अन्तिम भाग से प्रारम्भ होती है।

प्राप्त्याशा के अन्तर्गत राजा की परीक्षाओं को लिया गया है, और इन्हीं विषम परीक्षाओं में गर्भ सन्धि भी मानी जानी चाहिये। देवता हरिश्चन्द्र के पास आते हैं, पर राजा उनके किसी प्रकार के प्रलोभन से प्रभावित नहीं होता। उक्त घटना नियताप्ति की द्योतक है। अन्तिम परीक्षा के समय कुलदेव सूर्य राजा को सचेत करते हैं, धैर्य का स्मरण करने का उपदेश देते हैं, आशा और निराशा के अन्तर्द्वंद्व में विमर्श सन्धि दिखाई गई है।

चौथे अङ्क के अन्तिम भाग में भगवान नारायण प्रकट होकर राजा से कहते हैं :—

"बस, महाराज बस। धर्म और सत्य सबकी परमावधि हो गई। देखो तुम्हारे पुण्यभय से पृथ्वी बारम्बार काँपती है, अब त्रैलोक की रक्षा करो।"

हरिश्चन्द्र के प्रेमाश्रु प्रवाहित होते हैं, और कंठ गद्‌गद् हो जाता है, यहीं पर फलागम है, तथा फल के योग से यहीं पर निर्वहण सन्धि भी मानी गई है। उक्त नाटक में भारती वृत्ति का समावेश है। विष्णु के प्रकट होने की आकस्मिक घटना ने इसे सुखान्त बनाने की सफल चेष्टा की है।

'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक नाट्यकला की दृष्टि से एक उत्कृष्ट रचना है, उसकी कथा में पुण्य और पवित्र भावनाओं का विशाल उद्‌गम है। भारतेन्दु जी ने अपने नाटक को चार अङ्कों में विभाजित किया है, प्रारम्भ में ही सूत्रधार के कथन में तत्कालीन धनिक वर्ग का चरित्रांकन किया है। साथ ही साथ प्रथम अङ्क में राजा हरिश्चन्द्र की परीक्षा लेने के लिये इन्द्र, विश्वामित्र और नारद के कथोपकथन की कल्पना से उन्होंने कथानक को विशेष सौन्दर्य प्रदान किया है। कथावस्तु में परिवर्तन उपस्थित कर भारतेन्दु ने नाटक में मौलिकता का समावेश करने का प्रयास किया है। स्वप्न सम्बन्धी परिवर्तन नाट्यकार की नवीन सूझ का द्योतक है। चण्डकौशिक में राजा हरिश्चन्द्र आखेट के लिये जाते हैं—और महाविद्याओं की चीत्कार सुनकर विश्वामित्र से उसकी रक्षा करते हैं। विश्वामित्र और राजा में वार्तालाप होता है, और राजा विश्वामित्र को अपनी सारी पृथ्वी दान कर देता है। भारतेन्दु की कल्पना ने कथानक में नवीन अन्वेषण का कार्य किया है, स्वप्न प्रसंग से राजा के सत्य प्रेम और दान वीरत्व का महत्व भी बढ़ जाता है। इस कल्पना के बाद भी भारतेन्दु ने राजा को आन्तरिक प्रेरणा, इन्द्रादि को एकत्र कर आपस में मिलाने तथा, उभय पक्ष के मनोमालिन्य को मिटाकर नाटक को उपदेशप्रद बनाने का दृष्टिकोण ग्रहण कर नाटकीय कथावस्तु का जो विकास किया है वह स्तुत्य है। चण्डकौशिक के आधार पर अनूदित कुछ वर्णनों के अतिरिक्त गंगा-वर्णन, काशी-वर्णन, श्मशान और पिशाचों का वर्णन उनकी निजी मौलिक कल्पना का द्योतक है। यथास्थान भारतेन्दु जी का काव्य कौशल तथा रीतिकालीन चमत्कार पूर्ण छन्दों की छटा देखने को मिलती है। कथा के प्रत्येक वर्णन में घटनाओं की स्वाभाविकता और कलात्मकता का यथेष्ट ध्यान रखा गया है। कल्पना प्रसूत वर्णनों में अति रंजना दोष अवश्य आ गया है, और उनके ऐतिहासिक तथ्य निरूपण का यथेष्ट ध्यान नहीं रखा गया है। उक्त प्रसंग कथा के नैसर्गिक प्रवाह में अपने अनहोनेपन के लिये बाधा स्वरूप उपस्थित होते हैं।

तृतीय अङ्क में अंकावतार, रानी शैव्या का विस्तृत विलाप, कथावस्तु में अत्यधिक कारुण्य राजा हरिश्चन्द्र द्वारा गंगा वर्णन आदि बातें चिन्त्य प्रतीत होती हैं। यद्यपि नाटक का आरम्भ पूर्व रंग, प्ररोचना तथा प्रस्तावना और अन्त भरत वाक्य से होता है, किन्तु वस्तु संगठन की दृष्टि से अर्थ प्रकृतियों, कार्यावस्थाओं और सन्धियों के प्राचीन नियमों का विधिवत पालन नहीं हुआ है।

सत्य हरिश्चन्द्र का कथानक अपनी सरल गति से बढ़ता हुआ चरम सीमा पर पहुँचता अवश्य दिखाई देता है। चरमविकास के बाद ही अन्तिम फल तक पहुँच जाता है। भारतेन्दु जी ने नाटक को अधिक विस्तार न देने के बजाय उपयुक्त स्थान ही पर अन्त कर दिया है। नाटकीय कथावस्तु के अन्तिम फल का भोक्ता नायक ही है। वह अपने धर्म और सत्य की कठिन परीक्षा में उत्तीर्ण होता है। सम्पूर्ण कथा अनेक विघ्न-बाधाओं को चीरती हुई अपने अन्तिम उद्देश्य तक पहुँच जाती है। कुछ दोषों के रहते हुये भी वस्तु के निर्वाचन और कृत्य की कृतकार्यता की दृष्टि से भारतेन्दु ने अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है।

विद्यासुन्दर :—

(रूपान्तर का मूलस्रोत तथा मौलिक परिवर्तन) :—

श्री मुल्कराज आनन्द जी ने अपनी पुस्तक 'इण्डियन थियेटर'[१] में मध्यकालीन लोकप्रिय बंगला के नाटक विद्यासुन्दर का श्यामबाजार के अभिनय केन्द्र में अभिनीत होने का उल्लेख किया है। विद्यासुन्दर का आख्यान बंग-प्रदेश का लोक-प्रिय प्रेमाख्यान था, जिसे विभिन्न रूपों में साहित्य के अन्तर्गत प्रस्तुत किया गया।[२] भारत चन्द्रराय गुणाकर के काव्य संग्रह "आनन्द मंगल" में विद्यासुन्दर के उपाख्यान स्थलों का उल्लेख बताया गया है। जनप्रिय कथानक सर्वप्रथम बार श्यामबाजार की अभिनयशाला में चन्द्रवसु द्वारा कलकत्ता में लगभग १८३५ ई० में प्रस्तुत किया गया था। यह बंगीय रंगमंच का सर्वप्रथम नाटक माना जाता है। इसके अनन्तर अन्यान्य स्थलों पर भी इसका अभिनय हुआ। विद्यासुन्दर का नाटक रूप कभी प्रकाशित भी हुआ था, अथवा नहीं यह संदिग्ध विषय है। सम्भवतः भिन्न-भिन्न अभिनेता अपनी पृथक पृथक पाण्डुलिपियों का व्यवहार करते थे।

वस्तुतः यह कहा जा सकता है कि भारतेन्दु जी की प्रेरणा का स्रोत लोक-

---

१ "Under the influence of these theatres the landed gentry of Bengal gave private shows of which one of the first was the popular medieval drama Vidyasunder, enacted by a cast of woman as well as men in the house of Nabin Chandra Basu in Shyam bazar."

(*The Indian Theatre Dr. Mulkraj Anand.*)

२ शान्तिनिकेतन के बँगला-विभाग के अध्यक्ष प्रो० उपेन्द्रकुमार दास का मत

प्रचलित कथानक ही रहा होगा, जिसे नाटककार ने प्रस्तुत कर हिन्दी नाट्य-साहित्य की श्री वृद्धि की है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी[1] ने उक्त नाटक को अनुवाद कहा है, परन्तु इसकी पुष्टि में कोई प्रमाण नहीं उपलब्ध है। भारतेन्दु जी को प्रेरणा बंग साहित्य के ही आख्यान से प्राप्त हुई है, परन्तु जब तक प्रामाणित आधार तथ्य रूप में प्रस्तुत नहीं किया जाता तब तक अवश्य मत-भिन्नता तथा भ्रान्तियां उपस्थित की जा सकती हैं।

नाट्य-विवेचन :—

भारतेन्दु की प्रथम नाट्यकृति, विद्यासुन्दर रूपान्तरित है। इस नाटक की कथा-वस्तु "सिंहासन बत्तीसी" और वैताल-पचीसी की शैली है। "त्रिभुवन मोहनी" विद्या का रूप-वर्णन सुनकर सुन्दर का प्रेम के वशीभूत हो वर्द्धमान नगर आना, चौकीदार से झपट अन्त में उससे आशीर्वाद पाना, हीरा मालिन और सुन्दर की भेंट और उसी के यहाँ रहना, सुन्दर द्वारा गुंथी हुई माला का विद्या के पास पहुँचाना, विद्या का माला बनानेवाले को बिना देखे ही मोहित होना, मालिन द्वारा दूती कार्य, फिर विरह की व्यथा, सुरंग खोदकर गुप्त मार्ग से विद्या के महल में प्रवेश करना तथा गन्धर्व विवाह, सुन्दर पर विपत्ति आना, आदि कथांशों में अस्वाभाविकता और विलक्षणता होने पर भी कथा मनोरंजक है। सुन्दर पर विपत्ति आने का प्रसंग कथा का चरमोत्कर्ष है। सम्पूर्ण कथानक में लोक-प्रिय प्रेम कथाओं का वातावरण है। प्रेम में सात्विकता का अभाव और पार्थिवता का प्राधान्य है। नाटकीय कथावस्तु की रचना स्वच्छंद प्रणाली के अनुसार हुई है, उसमें नांदी, प्रस्तावना, भरत वाक्य का अभाव है, यद्यपि उसमें अर्थ प्रकृतियां, कार्यावस्थायें और संधियाँ विद्यमान हैं।

कथावस्तु :—

प्रथम अंक में विद्या वर्द्धमान नगर के राजा की विदुषी राजकन्या प्रतिज्ञा करती है कि जो उसे शास्त्रार्थ में पराजित कर देगा, उसी का वह वरण करेगी। अनेक राजपुत्रों के उपस्थित होने पर भी विद्या के उपयुक्त वर नहीं मिल पाता। फलतः राजा की चिन्ता बढ़ जाती है, वह कहता है "जो मैं ऐसा जानता तो अपनी कन्या को ऐसी कड़ी प्रतिज्ञा न करने देता, पर अब तो उसे मिटा भी नहीं सकता, अब निश्चय हुआ कि हमारी विद्या की विद्या केवल दोषकारिणी हो गई। इसी समय राज मन्त्री कांचीपुर के राजा गुणसिन्धु के पुत्र सुन्दर के सौन्दर्य, शिक्षा, विद्वत्ता आदि की चर्चा करता है। राजा मन्त्री को आदेश देता है कि राजा गुणसिन्धु के लिए एक पत्र देकर गंगाभाट की यात्रा की सब वस्तु शीघ्र ही सिद्ध कर दो, जिसमें

---

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास-पृष्ठ ४००।

उसे विलम्ब न हो। इधर गुणसिन्धु का पुत्र राजकुमार सुन्दर वर्द्धमान नगर में घूमता हुआ राज उद्यान में पहुँचता है, वहाँ के चौकीदार से कुछ झगड़ा होता है। यहीं पर उसे हीरा मालिन मिलती है जो उसे अपने घर में रहने के लिये आश्रय देती है।

सुन्दर हीरा मालिन से विद्या के सम्बन्ध में परिचय प्राप्त करता है, और एक माला गूँधकर मालिन के हाथ भिजवाना निश्चय करता है। सुन्दर की गूँधी हुई माला मालिन विद्या को भेंट करती है। कलात्मक माला के निर्माता को देखने के लिये राजकुमारी अत्यधिक आतुर हो जाती है, तब मालिन सुन्दर के प्रथम दर्शन के लिये व्यवस्था करती है, और सुन्दर को वह महल की छत से देखती है, उसी काल प्रेम का बीजारोपण होता है।

द्वितीय अंक में विद्या विरह वेदना से अत्यधिक पीड़ित है। उसकी सखियाँ—चपला और सुलोचना सहानुभूति व्यक्त करती हैं। इसी समय सुरंग मार्ग से सुन्दर महल के भीतर प्रवेश करता है। सखियाँ, विद्या और सुन्दर में परस्पर मनोविनोद होता है, और अन्त में विद्या और सुन्दर में गंधर्व विवाह हो जाता है।

विद्या मालिन से उसे पुनः लाने का आग्रह करती है, सुन्दर विद्या के महल में आकर उससे एक विद्वान संन्यासी के सम्बन्ध में चर्चा करता है कि वह प्रतियोगिता में तुम्हें वरण करने आया है। उसकी विद्वत्ता के समक्ष तुम्हें हारकर संन्यासिनी बनना पड़ेगा। विद्या इस समाचार से बड़ी दुखी होती है, किन्तु जब उसे यह पता चलता है कि यह सुन्दर का ही खिलवाड़ है, तब उसे शान्ति मिलती है।

तृतीय अंक में विद्या और सुन्दर का प्रणय रहस्य गोपनीय नहीं रह पाता। सारी बात रानी को ज्ञात हो जाती है, विद्या पर कठोर प्रतिबन्ध लग जाते हैं, इधर राजा सुरंग लगाने वाले सुन्दर तथा मालिन को पकड़ने का आदेश देता है। सुन्दर तथा मालिन बन्दी कर राजा के सामने लाये जाते हैं, और उन्हें दण्ड मिलता है,। सुन्दर के बन्दी होने का समाचार जान विद्या अत्यन्त व्याकुल होती है। इसी बीच राजा का भेजा हुआ गंगाभाट लौटकर राजा को सुन्दर का परिचय देता है। राजा शीघ्र ही उसे बन्दी जीवन से मुक्त करने का आदेश देता है। राजा यह सोचकर कि विद्या ने उचित व्यक्ति के साथ ही गन्धर्व विवाह किया है, सन्तोष प्रकट करता है। विद्या और सुन्दर दोनों ही राजा के समक्ष उपस्थित किये जाते हैं। राजा सुन्दर से इस दुखद घटना के लिये खेद प्रकाश करता है, और विद्या का सुन्दर से पाणिग्रहण कर देता है, और मन्त्री को विवाह के मंगल साज सजाने का आदेश देता है।

सम्पूर्ण कथानक में प्रेम, विरह और मिलन का सामंजस्य पाया जाता है। ऐयारी तथा प्रेम प्रधान उपन्यासों की सी मनोवृत्ति का परिचय मिलता है, दूती नायिका के रूप में मालिन प्रधान पात्रों में प्रेम उत्पन्न करने में सहायक होती है, कथानक घटनाओं के घात-प्रतिघात से गुजरता हुआ अन्तिम उद्देश्य मिलन अथवा सुखान्त घटना पर ही समाप्त होता है।

चरित्र-चित्रण :—

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से प्रधान पात्र विद्या तथा राजकुमार सुन्दर हैं, जिनका व्यक्तित्व सम्पूर्ण नाटक की कथावस्तु में विस्तृत रूप से फैला है। हीरा मालिन, सुलोचना, तथा अन्य सखियाँ, राजा, मन्त्री, गंगाभाट सहायक पात्रों की कोटि में रखे जा सकते हैं। कोतवाल, चौकीदार तथा अन्य सिपाही प्रासंगिक पात्र हैं। कुछ पात्रों का केवल नाम मात्र ही का उल्लेख किया गया है। वास्तव में नाटकीय रंगमंच में वह प्रत्यक्ष रूप से नहीं प्रस्तुत किये जाते।

सुन्दर :—

नाटक का नायक राजकुमार सुन्दर है। प्रथक अंक में नायक का परिचय प्राप्त होता है। सुन्दर का चरित्र अत्यन्त सामान्य नायक के रूप में चित्रित किया गया है। नायक साहसिक है, परिस्थिति विशेष में चातुर्य तथा धैर्य से कार्य करता है। कला-प्रिय तथा सौंदर्य प्रेमी नायक अपने हाथ से सुन्दर माला गूँथकर अपनी कला-प्रियता का परिचय देता है। सुन्दर एक गुणी तथा विद्वान नायक है, संन्यासी के वेश में वह राजसभा को शास्त्रार्थ में परास्त करता है। नायक के प्रेम में उच्छृंखल प्रणय का सा आभास प्राप्त होता है। मिलन के समय की प्रणय-वार्ता से भाव गाम्भीर्य नहीं प्रकट होता है। नायक प्रकृति प्रेमी भी मालूम होता है, सर्वप्रथम उद्यान की प्रशंसा तथा फिर वर्द्धमान के राजा की प्रशंसा करने लगता है। नायक अपने सुख और सन्तोष के साथ ही साथ अपने उपकार कर्त्ता के सुख का भी ध्यान रखता है। इसीलिये वह राजा द्वारा विद्या की प्राप्ति हो जाने के पश्चात् राजा से मालिन को छोड़ देने का आग्रह करता है। नायक में विनय और शील का आधिक्य है, वह अपने प्रति किये गये दुर्व्यवहार का प्रतिवाद नहीं करता है, राजा के खेद प्रकट करने पर उसको शिष्टाचार के अनुकूल उत्तर देता है।

विद्या :—

वर्द्धमान नगर के राजा वीरसिंह की राजकन्या विद्या अत्यन्त रूपवती एवं गुणवती है। वह अपने को शास्त्रार्थ में हराने वाले युवक को वरण करने की प्रतिज्ञा करती है। नायिका नायक के गुणों का वर्णन मात्र सुनकर ही उस पर मोहित हो जाती है। और दूती नायिका मालिन से उसे दिखाने का आग्रह करती है, प्रथम

दर्शन के बाद नायिका की आकुलता और भी अधिक बढ़ जाती है। नायिका दृढ़ प्रतिज्ञ नहीं जान पड़ती, वह अपनी प्रतिज्ञा को टालने की बात सोचती है। यहाँ नायिका के नारी हृदय की सहज दुर्बलता के भाव प्रदर्शित होते हैं। विद्या और सुन्दर के बीच होने वाले कथोपकथन विद्या के हृदय की माप देते हैं। प्रेम की उच्छृं-खल भावधारा, पार्थिव प्रणय की तीव्र तड़पन नायिका और नायक में समान रूप में दृष्टिगत होती हैं।

सुन्दर के बन्दी हो जाने के बाद उसकी वियोग दशा का परिचय प्राप्त होता है। वह अपने माता पिता के कृत्य भी दुख प्रकट करती है। यहाँ उसके हृदय का स्वाभाविक दैन्य मुखरित हो उठा है। उसे अपने प्रेम और निष्कपट व्यवहार पर पूर्ण विश्वास है, इसीलिये वह कहती है :—

"हे नारायण, मुझ अबला पर दया करो। और जो मैं पतिव्रता होऊँ, और जो मैं ने सदा निश्छल चित्त से तुम्हारी आराधना की हो तो मुझे इस दुख से पार करो।"

सामान्यतः विद्या साधारण नायिका के रूप में चित्रित हुई है, जिसके प्रेम में गम्भीरता का प्रदर्शन नहीं प्राप्त होता और न राजकीय मर्यादा की ही रक्षा करना दृष्टिगत होता है।

अन्य पात्र :—

विद्या और सुन्दर के अतिरिक्त अन्य पात्र अपना कोई विशेष महत्त्व नहीं रखते हैं। वर्द्धमान के राजा वीरसिंह का परिचय प्रथम अंक में मिलता है, परन्तु चारित्रिक विकास के योग्य कोई कथोपकथन नहीं होता, राजा एक सहायक पात्र के रूप में नाटक में उपस्थित है। मन्त्री, गंगाभाट के भी चरित्र का मूल्यांकन नहीं किया जा सकता, हीरा मालिन अवश्य नाटक में दूती नायिका के रूप में प्रस्तुत है। मालिन व्यवहार कुशल तथा सरस नारी है, युवा और युवतियों के प्रेम सम्बन्धी मनोविज्ञान का उसे यथेष्ट परिचय प्राप्त है, अपने कार्यों में बड़ी ही सतर्कता का परिचय देती है, वह स्वभावतः भीरु भी प्रतीत होती है। विद्या के शब्दों में 'शरीर बूढ़ा हो गया है, पर चित्त अभी बारह बरस का है' वृद्धावस्था में भी प्रेम सम्बन्धी वार्ता में रुचि रखती है। दूती नायिका के सभी गुण उसमें विद्यमान हैं। चपला, सुलोचना तथा अन्य सखियों को विनोदप्रिय चुहल में चपलता का यथेष्ट परिचय प्राप्त होता है। नारी सुलभ सहानुभूति का प्रदर्शन नितान्त स्वाभाविक प्रतीत होता है। अन्य प्रासंगिक पात्रों का भी कथोपकथन मनोरंजक अवश्य है, परन्तु चरित्र चित्रण की कसौटी पर उन्हें नहीं रखा जा सकता है।

रस :—

सम्पूर्ण नाटक में श्रृंगार रस प्रधान है, विप्रलम्भ और संयोग श्रृंगार दोनों ही भावों का सामंजस्य पाया जाता है। हास्य तथा करुणा का समावेश किया गया है, परन्तु ऐसे स्थान अधिक नहीं दिखाई देते। परन्तु विप्रलंभ से संयोग श्रृंगार अधिकता से पाया जाता है। प्रेम उसका स्थायी भाव है। विद्या के अल्पकालीन विरह में वियोग श्रृंगार है।

विवेचन :—

प्रस्तुत नाटक में केवल तीन अंक हैं। प्रथम अंक में चार गर्भाङ्क हैं, शेष दो अंकों में तीन तीन गर्भाङ्क हैं। प्रथम अंक में प्रारम्भ में ही राजा कहता है कि इतने राज-पुत्र आये पर उनमें मनुष्य एक भी नहीं आया। वास्तव में ये पशु हैं। यहीं से कथा का बीज प्रारम्भ होता है। वर्द्धमान नगर के उद्यान में सुन्दर और चौकीदार के मिलने की कथा विन्दु के अन्तर्गत मानी जा सकती है, क्योंकि यह घटना निमित्त बनकर समाप्त होने वाली घटना को आगे बढ़ाती है। इसी अंक के द्वितीय गर्भाङ्क में मालिन की कथा पताका मानी जायगी। यह प्रासंगिक कथा बराबर चलती रहती है। विद्या और सुन्दर का परिणय होना इस कथा का कार्य है।

कार्य व्यापार की अवस्था का प्रारम्भ प्रथम अंक ही में हो जाता है। राज गुणसिन्धु के पुत्र सुन्दर को बुलाने के लिये कहता है, 'तो अब विलम्ब क्यों करते हो। शीघ्र ही वहाँ किसी को भेजना चाहिये' कथा का आरम्भ अंश है। प्रथम अंक के द्वितीय गर्भाङ्क में ही सुन्दर कहता है 'जिस काम को चलो उसमें पहिले अनेक प्रकार के विघ्न होते हैं। देखें आगे क्या होता है।' यहीं से कथा का यत्न भाग प्रारम्भ होता है।

द्वितीय अंक के द्वितीय गर्भांक में मालिन विद्या से कहती है कि सुन्दर ने तुम्हें प्राप्त करने के लिये 'देव कर्म' करना निश्चय किया है। साथ ही वह यह भी सूचना देती है कि राज-सभा में कोई संन्यासी आया है जो विचार में सभा को जीत चुका है। अब राजकुमारी से शास्त्रार्थ करना चाहता है। यहाँ, पर प्राप्त्याशा मानी जायगी। देव कर्म द्वारा तो सफलता की आशा प्रतीत होती है, पर संन्यासी के कारण विफलता की आशंका भी अवश्य है। तृतीय अंक के तृतीय गर्भाङ्क में राजा यह समाचार पाने पर कि बन्दी बनाया गया हुआ व्यक्ति ही सुन्दर है, उसे बुलवाता है, और अपने किये पर खेद प्रकाश करता है, तथा कहता है 'हमारी विद्या ने कुछ अयोग्य नहीं किया'। यहाँ पर सफलता निश्चित हो जाती है। अतः यहीं नियताप्ति मानी गई है। अन्तिम गर्भाङ्क में राजा विद्या का हाथ सुन्दर के हाथ में दे देता है। यही स्थल फलागम है।

प्रथम अंक के प्रथम गर्भाङ्क में जहाँ पर कथा का आरम्भ है, वहीं मुख-सन्धि है। कथा भाग के यत्न अवस्था के साथ साथ प्रतिमुख सन्धि चलती है। सुन्दर विद्या से मिलने के लिये सुरंग बनाता है। यहां पर फल की आशा बँधती भी है, पर साथ ही राज-महल का भय बाधक भी है। अतः यहाँ प्रतिमुख सन्धि मान सकते हैं। सुन्दर बन्दी बनाया जाता है। सफलता की आशा के साथ विफलता की आशंका भी है। अतः यहाँ गर्भ सन्धि है। राजा सुन्दर को चोर समझ कर कारावास का दण्ड देता है। यहाँ जो बीज फलोन्मुख था उसमें विघ्न पड़ गया। अतः यहाँ विमर्श सन्धि मानी जा सकती है। अन्तिम गर्भाङ्क में फलागम के साथ ही निर्वहण सन्धि प्रारम्भ होती है।

भारतेन्दु जी की प्रारम्भिक नाट्य रचना होने के कारण कथानक में अस्वाभाविकता का समावेश है। भावों की अभिव्यक्ति स्पष्ट रूप से निरूपित नहीं की जा सकी है। इसीलिये इसमें सामान्य दोष इंगित किये जा सकते हैं। विद्या और सुन्दर के बीच प्रेम हो जाना वर्णित है, किन्तु सम्पूर्ण कथानक में कहीं भी प्रेमोत्पत्ति का कारण व्यक्त नहीं हुआ है। मालिन के केवल रूप वर्णन से ही व्याकुलता अथवा प्रेमोदय का भाव अस्वाभाविक प्रतीत होता है। बिना प्रथम दर्शन के केवल गुण कथन मात्र में ही प्रगाढ़ प्रेम की पीड़ा उत्पन्न होना स्वाभाविक नहीं प्रतीत होता है। मालिन को सुरंग खोदने का रहस्य न मालूम होना आश्चर्य की बात है। सुरंग के ही रास्ते से विद्या के महल तक पहुँच जाना कथावस्तु की कल्पना में अतिरंजना का समावेश करती है। अतएव उक्त तथ्य की सार्थकता नितांत अस्वाभाविक है।

कथानक के अन्तर्गत विद्या और सुन्दर की प्रेमचर्या, गंधर्व विवाह आदि का पता रानी (विद्या की माता) को लगता है, इस प्रसंग का केवल उल्लेखमात्र ही है, नाटक में रानी को उक्त प्रसंग का सूत्र कैसे प्राप्त होता है, कोई उल्लेख नहीं है, और न रानी स्पष्ट रूप से पात्री के रूप में रंगमंच पर आ पाती है। नाटक में विद्या द्वारा की गई प्रतिज्ञा का निर्वाह नहीं हो पाता है या तो प्रसंग जानबूझ कर भुलाया जाता है, अथवा घटनाओं के क्रम में पड़कर वह प्रधान वस्तु नहीं रह जाती है।

सम्पूर्ण कथानक चरमोत्कर्ष की सीमा पर पहुँचने भी नहीं पाता है कि उतार की अवस्था आ जाती है। सुन्दर का बन्दी होना ही कथानक को चरम सीमा की ओर ले जाता है, पर उसका उतार अस्वाभाविक ढंग से शीघ्र ही हो जाता है।

नाटक की भाषा अत्यन्त शिथिल प्रतीत होती है। सुन्दर द्वारा वर्द्धमान नगर का वर्णन करते समय बार बार आह, वाह आदि विस्मयादि-बोधक शब्दों का बाहुल्य अस्वाभाविक प्रतीत होता है। यद्यपि मनोभावों को व्यक्त करने के अभिप्राय से उक्त शब्दों का प्रयोग उचित है, परन्तु प्रयोग बाहुल्य मूल भाव को नष्ट करके उसे उपहास

की सामग्री बना देता है। भारतेन्दु जी ने देशज प्रयोग हमेशा बनारसी बोली में ही किये हैं, परन्तु यहाँ के प्रसंगों में वर्द्धमान की ग्राम्य भाषा होनी चाहिये थी।

शृङ्गार-प्रेमयुक्त भावों को व्यक्त करने में अश्लीलता का प्रयोग नाट्यकला में वर्जित है, परन्तु यथास्थान भाषागत अश्लील प्रयोग दिखाई देते हैं। प्रारम्भिक रचना होने के कारण भाषागत अपरिपक्वता होना नितान्त स्वाभाविक है।

छायानुवादों में मौलिक प्रतिभा का विनिवेश :—

भारतेन्दु जी के दोनों ही छायानुवादों में उनकी मौलिक प्रतिभा का समावेश पाया जाया है। अनुवादों का रूप परिवर्तन तथा कथावस्तु में रोचक प्रसंगों का समावेश नाट्यकार के कृतित्व की प्रतिभा का परिचायक है। "सत्य हरिश्चन्द्र" तथा विद्या सुन्दर के मूल कथानकों में नाटकोपयोगी परिवर्तन किये गये हैं। सत्य हरिश्चन्द्र में अनुवाद के साथ ही कथानक को प्रौढ़ बनाने के लिये मौलिक कल्पना का प्रयोग किया गया है, मौलिक भावों को रूपान्तर की कथावस्तु के साथ मिलाकर नवीन कलेवर देना नाट्यकार की सूझ है। नाट्यकथानक में कृत्रिमता अथवा असंगत व्यापारों का समावेश अधिक नहीं आने पाया है। कथानक सब प्रकार से पूर्ण दिखाई देता है।

नाटकों में प्रौढ़ संवादों और पात्रोपयोगी भाषा के प्रयोगों ने नाटकीय पात्रों के चारित्रिक विकास में सहायता प्रदान की है। नाटकों में अभिनेय-गरिमा नाट्य-कार की मौलिक योजना का सुन्दर स्वरूप है। नाटकों में कुछ प्रसंग तो रंगमंचीय उपयोगिता की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्व के हैं। सत्य हरिश्चन्द्र नाटक चौथे अङ्क में श्मशानभूमि का दृश्य तथा पिशाचों का क्रीड़ा-कौतुक रंगमंचीय प्रतिभा को मुखरित करता दृष्टिगत होता है। दृश्यावली अभिनय मूलक वातावरण से तादात्म्य स्थापित करती हुई चलती है। वस्तुतः छायानुवाद मूल से भी अधिक सफल सिद्ध हुआ है। भारतेन्दु का "सत्य हरिश्चन्द्र" नाटक रंगमंचीय उपादेयता के लिये भी ख्याति प्राप्त कर चुका है। कथावस्तु, पात्रों के चित्रण में, संवादों में प्रभावोत्पादक भाषा, तथा रस-परिपाक आदि में भारतेन्दु जी की निजी कृतित्व की प्रतिभा विद्यमान दृष्टिगोचर होती है।

मूल कथानक से भिन्न समस्त नाट्य अवयवों के विकास में नाट्यकार की निज की प्रतिभा कार्य करती दृष्टिगत होती है।

प्रारम्भिक हिन्दी नाट्य साहित्य में "विद्यासुन्दर" नाटक प्रेम प्रधान धारा का प्रथम प्रयास कहा जा सकता है, जिसे अभूतपूर्व सफलता प्राप्त हुई। बंगला के विद्यासुन्दर नाटक से कथानक की प्रेरणा प्राप्त की गई है। मूल कथानकों के उल्लेख को रोचक स्वरूप देकर नाटकोपयोगी बनाना नाट्यकार की कल्पना का कार्य है।

विद्यासुन्दर भारतेन्दु जी का रूपान्तरित उत्कृष्ट प्रेमाख्यान नाटक है, जिसने हिन्दी नाट्य साहित्य को एक नवीन प्रेरणा प्रदान की है।

प्रस्तुत नाटक प्रेमाख्यायिका के आधार पर रचित है। इसमें रीति परम्परा की छाया दृष्टिगोचर होती है। नाट्यकार के कथागठन में नायक तथा नायिका के मिलन में मालिन रूपी दूती नायिका का सहयोग-कार्य कथा विस्तार तथा नाटकीय घटना विधान में घात-प्रतिघात उत्पन्न करता है। वस्तुतः कथा की नैसर्गिक गति में भिन्नता तथा रोचकता का समावेश करना सिद्ध-हस्त नाट्यकार का कला-नैपुण्य है। प्रारम्भिक काल में मिलन तथा प्रेम संबन्धी गल्पों का रूप भी इसी शैली का था। तिलस्मी तथा ऐयारी प्रधान कथाओं के कलेवर में प्रेम-प्रधान कथानकों की परिपाटी चल पड़ी थी। सम्भवतः भारतेन्दु जी ने उसी शैली को हिन्दी नाट्य साहित्य का आधार बनाने का प्रयत्न किया। इसी परम्परा विशेष की उत्कृष्ट नाट्य-रचना रणधीर प्रेममोहिनी इनके समकालीन बा० श्रीनिवासदास रचित अत्यधिक लोक-प्रिय हुई है।

अतः यह कहना अनुचित न होगा कि भारतेन्दु जी ने मूल के कलेवर को विकृत न करके उसमें अपनी मौलिक रुचि का निदर्शन किया है, और यथाशक्ति कथावस्तु को नाट्य कल्पना के आधार पर सजाने तथा सँवारने का सतत प्रयास किया है।

मौलिक नाटकों पर छायानुवादों का प्रभाव :—

भारतेन्दु जी के छायानुवादों की देन दो प्रमुख नाट्य धारायें (पौराणिक तथा प्रेम प्रधान) हैं। रूपान्तरों की पौराणिक तथा प्रेम-प्रधान धाराओं का प्रभाव मौलिक नाटकों पर विशेष रूप से पड़ा है। इन्हीं विचारधाराओं के आधार पर उत्कृष्ट मौलिक नाट्य रचनायें नाट्यकार द्वारा प्रस्तुत की गई हैं। भारतेन्दु की ही मौलिक कलाकृतियों तक ही न सीमित रहकर समकालीन समस्त नाट्य साहित्य पर उक्त विचारधारा और शैली का व्यापक प्रभाव पड़ा है।

भारतेन्दु ने रूपान्तर की ही प्रेरणा लेकर उक्त विचारधारा के मौलिक नाटकों की रचना की, सती प्रताप पौराणिक मनोवृत्ति का प्रदर्शन करता दृष्टिगत होता है, यद्यपि यह अपूर्ण मौलिक कृति ही रह गई, परन्तु कलात्मक प्रौढ़ता के लक्षण दृष्टि-गोचर होते हैं। प्रेम प्रधान धारा की उत्कृष्ट मौलिक रचना चन्द्रावली नाटिका है। भारतेन्दु की प्रेम-प्रधान भावना विद्यासुन्दर में प्रस्फुटित हुई है और आगे चलकर मौलिक कृति चन्द्रावली में मुखरित हो सकी है।

दोनों नाटकों की विचारधारा एक ही नीड़ पर विश्राम करती दृष्टिगत होती है, परन्तु रूपान्तरित की आधार-भावना को मौलिक नाटकों में प्रौढ़ता और विकास

प्राप्त हुआ है। यद्यपि प्रेम सिद्धान्त के प्रतिपादन का भाव दोनों ही कृतियों में दृष्टिगत होता है, फिर भी उनकी प्रेम प्रतीक विचारधारायें विभिन्न दिशाओं की ओर उन्मुख प्रतीत होती हैं। विद्यासुन्दर की प्रेम भावना में पार्थिवता की भावना प्रचुर मात्रा में पाई जाती है, सम्भवतः यह विचारधारा नाट्यकार की अपरिपक्वावस्था में आन्दोलित विचारों का समाहार हो सकती है। प्रेम प्रधान शैली की भावना रूपान्तरों में ही प्रथम रूप का दर्शन देती है। फिर मौलिक कृतियों में इसका परिष्कृत रूप प्राप्त दृष्टिगोचर होता है।

रीतिकालीन पूर्वानुराग से प्रेरित भावनाओं का समाहार प्रेम प्रधान शैली के नाटकों में यथेष्ट रूप से व्यंजित है जिसका प्रथम प्रयोग नाट्यकार ने अपने रूपान्तरित नाटक विद्यासुन्दर में किया है। इसी मनोवृत्ति का निर्वाह मौलिक नाटिका चन्द्रावली में दृष्टिगोचर होता है।

वस्तुतः यह कहना अत्युक्ति न होगी कि रूपान्तरों ने मौलिक नाट्यप्रणाली को अभूतपूर्व प्रेरणा प्रदान की है। जिन विशिष्ट नाट्यधाराओं का उद्भव रूपान्तरित नाटकों में निहित दृष्टिगोचर होता है, उन्हीं मनोवृत्तियों का विकास मौलिक नाटकों की देन है। दोनों प्रमुख नाट्य विचारधाराओं का समकालीन नाट्य साहित्य में व्यापक प्रभाव रहा है। अतः मौलिक नाटकों में पल्लवित भाव-धारा रूपान्तरित नाटकों की प्रेरणा का प्रतिफल ही दृष्टिगत होती है।

नवम् अध्याय

मौलिक नाटकों का कलात्मक विकास और वर्गीकरण

मौलिक नाटकों का कलात्मक-विकास :—

भारतेन्दु जी के मौलिक नाटकों में कलात्मक प्रौढ़ता का विकास क्रमशः दृष्टिगोचर होता है। प्रारम्भिक अवस्था की रचनाओं में भाव-सौन्दर्य और रूप-विन्यास का अविकसित स्वरूप दृष्टिगत होता है। कलात्मक विकास से अभिप्राय नाटकों में भाव सौंदर्य के साथ नाट्यकला के सम्पूर्ण अवयवों के सौंदर्य से है। कथा-वस्तु, नायक और रस नाटकीय तीनों तत्वों का सुन्दर सामंजस्य नाटक की कलात्मक अभिव्यक्ति की परिचायक होती है। तीनों में से एक का भी अभाव नाटकीय कलात्मक प्रयोजन में खटकने की वस्तु बन जाता है, इसी आधार पर मौलिक नाटकों की प्रगति का समीक्षात्मक विवेचन क्रमशः उनके अविकसित, अर्ध विकसित, विकसित तथा संपूर्ण प्रौढ़ स्वरूप को लेकर किया जा सकता है।

कलात्मक विकास की दृष्टि से भारतेन्दु जी की अविकसित रचनाओं में से 'विषस्य विषमौषधम्' (भाण, रचना काल सं० १९३३ वि०) है। कला पक्ष के आधार पर इसमें सर्वत्र न्यूनता ही दृष्टिगोचर होती है। एक ही पात्र द्वारा सारा कथोपकथन प्रस्तुत किया गया है। कथावस्तु का कोई सुनिश्चित स्वरूप नहीं है। यद्यपि भाण भारतीय नाट्य रूपकों का एक भेद विशेष है, उसमें केवल एक ही अंक होता है एक ही पात्र के मुख से सम्पूर्ण कथावस्तु का स्पष्टीकरण कराया जाता है, वह पात्र स्वगत कथन तथा आकाश भाषित संवादों में स्वयमेव प्रश्न करता है, और स्वयं उसका उत्तर भी देता है। अनाटकीय कथावस्तु तथा चमत्कारहीन सम्वाद और रस परिपाक में अभाव के कारण उक्त भाषा रूपक कला की दृष्टि से त्रुटिपूर्ण है। इसे नाटक न कहकर यदि एक राजनीतिक घटना का रेखाचित्र मूलक वक्तव्य कहा जाय तो उपयुक्त होगा।

भारतेन्दु ने इस नाटक में बड़ौदा के महाराज मल्हारराव के पतन का उल्लेख करते हुये देशी राजाओं के अनाचार और चारित्रिक दुर्बलता का उल्लेख किया है, जो कि उस सीमित स्तर के सभी राज्यों के शासकों के लिये चेतावनी सी प्रतीत होती है।

प्रस्तुत कथानक में कुछ ऐतिहासिक घटनाओं का भी संकेत है, जिसमें कथा-वस्तु की रोचकता का कोई प्रमाण नहीं मिलता। क्रमशः कुछ घटनाओं का उल्लेख

है, जो कि बड़ौदा नरेश के पतन की हेतु हैं। मल्हारराव की स्वेच्छाचारिता पर हस्तक्षेप करने वाले रेजिडेन्ट कर्नल रौबर्ट फेयर के कार्य से असन्तुष्ट महाराज उसे विष देने का षड्यन्त्र करते हैं, परन्तु उसके प्रकाशित होने पर वह विष स्वयं उनकी औषधि रूप विष बन जाता है, प्रस्तुत घटना कथानक के "विषस्य विषमौषधम्" शीर्षक की सार्थकता की पुष्टि करती है। नाट्य शीर्षक यह कल्पना भी कितनी अनगढ़ और स्थूल है। कथानक की सम्पूर्ण रूप रेखा निम्न प्रकार से है।

रूपक के नायक भण्डाचार्य जी एक लम्बी साँस लेकर निम्न दोहा पढ़ते हैं:—

"पर नारी पैनी छुरी, ताहि न लाओ अंग।
रावन हू को सिर गयो, पर नारी के संग।"

तत्पश्चात् वह मरहठों के राज्य का उल्लेख देता है। नाटककार भण्डाचार्य द्वारा कही गई बातों की ऐतिहासिक प्रमाणों द्वारा पुष्टि भी करना चाहता है। यहाँ पर कथानक के विकास की ओर ध्यान न देकर ऐतिहासिक तथ्य निरूपण में अनुसन्धानात्मक मनोवृत्ति प्रमुख हो गई है। अनेक ऐतिहासिक प्रमाणों तथा घटनाओं का उल्लेख करने के पश्चात् नाटककार अपने मूल प्रयोजन पर आता है। अप्रस्तुत ऐतिहासिक उल्लेखों के संकलन से प्रस्तुत मूल कथानक का विकास लुप्त प्राय हो गया है। एक लम्बी भूमिका के बाद प्रस्तुत कथानक गौण रूप में उपस्थित की गई, एक घटना सा प्रतीत होता है।

वास्तविक कथानक यह है कि सन् १८७० ई० में मल्हारराव (बड़ौदा नरेश) को शासनाधिकार प्राप्त हुआ। गायकवाड़ के शासन की व्यवस्था के कारण उत्पन्न होने वाले परिणामों की भयंकरता को देखकर बड़ौदा के रेजिडेन्ट कर्नल रौबर्ट फेयर ने वहाँ की चिन्तनीय अवस्था का समाचार गवर्नर जनरल के पास भेजा। रेजिडेन्ट के हस्तक्षेप से असंतुष्ट महाराज मल्हारराव गायकवाड़ ने उसे विष दिलाने का प्रयत्न किया। यही षड्यन्त्र उनके पतन का कारण हुआ।

प्रारम्भ ही में नाट्यकार ने भंडाचार्य द्वारा स्त्री के प्रभाव का उल्लेख किया है तथा आगे चलकर उन कारणों का उल्लेख है, जिनसे पर-स्त्री आसक्त लोगों को दुर्दिन देखने पड़े हैं। शासकों की विलासिता तथा शासन सम्बन्धी शिथिलता की ओर नाट्यकार का यथेष्ट ध्यान है। तत्कालीन देशी शासकों की कटु आलोचना भी उसने की है, और यह भी कहा है कि उनकी लापरवाही तथा अकर्मण्यता ही भारत में विदेशी शासन की नींव दृढ़ करने का कारण है। नाटककार देशी निरंकुश शासन से अंग्रेजी राज्य को कहीं अधिक सुखकर ठहराता है। उसके विचारों में असंतुलन है, क्योंकि भरत वाक्य में वह अंग्रेजी राज्य के चिरकाल तक स्थित रहने की कामना करता है, यद्यपि नाट्यकार का मंतव्य यह नहीं है कि भारत में युगों तक विदेशी

दासता बनी रहे, वह केवल यह कहना चाहता है कि स्वेच्छाचारी निरंकुश देशी राजाओं पर अंकुश रूप अंग्रेजी राज्य यहाँ बना रहे तो प्रजा का हित होगा। यहीं बिखरी हुई ऐतिहासिक घटनाओं का संकलन किया गया है, जिससे यह लक्षित हो कि निरंकुश शासन का परिणाम अच्छा नहीं होता, परन्तु इससे नाटकीय प्रयोजन की पूर्ति नहीं होती।

'विषस्य विषमौषधम्' में उपदेशात्मक मनोवृत्ति से प्रेरित भंडाचार्य के वक्तव्यों द्वारा सारी कथा वस्तु का उल्लेख किया गया है। सारा नाटक एक लम्बा भाषण बन गया है। प्रसंग परिवर्तन का कृत्रिम प्रयत्न स्थान-स्थान पर दिखाई देता है। सूक्तियों तथा उपदेशात्मक उद्धरणों का ताँता लगा दिया गया है, यद्यपि उससे नाटकीय प्रयोजन की कुछ भी सिद्धि नहीं होती। नाटक की भाषा में चमत्कारिता अवश्य है, पर प्रसंग की इतिवृत्तात्मकता में वह भी डूब गई है।

'विषस्य विषमौषधम्' के अन्तर्गत अभिनय का अभाव है। एक ही अंक तथा एक ही पात्र द्वारा आकाश-भाषित संवाद प्रस्तुत किया गया है। 'भाँण' भारतीय रूपकों का एक अतिशय स्थूल स्वरूप है। उसके लम्बे-लम्बे कथोपकथनों में अभिनय की न्यूनता यों ही अनिवार्य होती है, फिर भण्डाचार्य के प्रलंब वक्तव्यों में अभिनय संवादों का नाटकीयता और अभिनेयता का नितान्त अभाव ही हो गया है। उक्त भाण में किसी निर्दिष्ट रस का परिपाक नहीं दिखाई देता।

प्रस्तुत भाण के भण्डाचार्य ही प्रथम और अन्तिम नायक हैं। सारी कथा-वस्तु का निर्वाह इन्हीं के वक्तव्यों द्वारा कराया गया है। उक्त रूपक में नाटकीय सांगोपांगता नहीं आई। नाटककार ने अपना वक्तव्य उक्त घटना विशेष पर प्रकाश डालते हुये भाण रूप में प्रस्तुत किया है भण्डाचार्य के कथन के रूप में नाटककार की मुखरित आलोचना-पूर्ण वाणी ही है, जिसे उसने निबन्ध का स्वरूप न देकर रूपक का रूप देने की चेष्टा की है। कला की दृष्टि से 'विषस्य विषमौषधम्' भारतेन्दु जी की अविकसित कोटि की रचना कही जायगी।

अंधेर नगरी छः अङ्कों का प्रहसन रूपक है। कलात्मक सौंदर्य और परिष्कार की दृष्टि से यह भी एक अल्प विकसित रचना ही है। प्रहसन के समस्त छः अंकों में कथा वस्तु के अन्तर्गत शीर्षक की सार्थकता निहित है,। 'अंधेर नगरी चौपट्ट राजा टके सेर भाजी टके सेर खाजा' से स्पष्ट ध्वनित होता है कि अव्यवस्थित राज्य के मूर्ख शासक की हास्यमूलक व्यञ्जना प्रस्तुत की गई है। इसके शीर्षक में भी एक भोंडापन और ग्राम्यता है। कथानक में अस्वाभाविक घटनाओं का निरूपण नाटक की कलात्मकता और गांभीर्य के विरुद्ध है। स्वर्ग के लोभ में राजा का फाँसी पर चढ़ना अस्वाभाविक तो है ही, हास्य की असफल परिसमाप्ति भी कही जायगी।

प्रहसन का कथानक अत्यन्त साधारण है। प्रथम अंक में महन्त अपने दो शिष्यों नारायणदास तथा गोवर्द्धनदास के साथ प्रवेश करता है। गोवर्द्धनदास निकटस्थ नगर से भिक्षावृत्ति करने जाता है। महन्त बहुत लोभ न करने का शिष्य को उपदेश देता है। द्वितीय अंक में बाजार का दृश्य है, जहाँ कबाब वाला, घासी-राम, नारंगी वाला, हलवाई कुंजड़िन, पाचकवाला, मछली वाली, आदि व्यापारी अपनी-अपनी वस्तुओं की विभिन्न प्रकार की विशेषतायें बताते हुये सभी वस्तुएँ टके सेर बेचते हैं। तृतीय अंक में गोवर्द्धनदास महन्त तथा नारायणदास के सम्मुख मिठाई रखता है। महन्त नगरी तथा राजा का नाम जानकर वहाँ से तत्काल चल देने का विचार करते हैं, और शिष्य गोवर्द्धनदास के हठ पर उसे कुछ बातों की चेतावनी देकर और विपत्ति में उसका स्मरण करने का आदेश देकर उसे वहाँ छोड़ जाते हैं, वह स्वयम् शिष्य नारायणदास को लेकर चल देते हैं। चौथे अंक में राजा के सामने फर्यादी आता है, जो कल्लू बनिये की दीवाल से दबी हुई अपनी बकरी के लिए न्याय दुहाई करता है। दीवाल से दबकर बकरी के मर जाने से कल्लू राजा के सम्मुख उपस्थित किया जाता है, वह कारीगर को दोषी ठहराता है। कारीगर चूनेवाले पर, चूने वाला भिश्ती पर, भिश्ती कसाई पर, कसाई गड़रिया पर दोष मढ़ता है, परन्तु गड़रिया कोतवाल की सवारी की चकाचौंध में भूल से बड़ी भेंड़ देने का कथन कहकर बच जाता है। कोतवाल को दोषी ठहरा कर राजा उसे प्राण दण्ड देता है। पाँचवें अंक में अन्धेर नगरी की मिठाई खाकर मोटे हुये गोवर्द्धन-दास जी राज-कर्मचारियों द्वारा पकड़े जाते है, और उन्हें प्राण दंड के लिए ले जाया जाता है। कोतवाल की गर्दन से अधिक ढीला फांसी का फंदा हो जाने के कारण उस अन्धेर नगरी के किसी भी मोटे नागरिक को फाँसी पर चढ़ाने का हुक्म हो गया है। अन्तिम अंक में गुरू जी उपस्थित हो जाते हैं, और दीक्षा देने के बहाने चेले के कान में कुछ कहते हैं। आपस में फाँसी पर चढ़ने की होड़ सी होने लगती है, उसी समय राजा, मन्त्री तथा कोतवाल उपस्थित होते हैं, और सभी फाँसी पर चढ़ना चाहते हैं। उस घड़ी मरने वालों को मुक्ति का द्वार खुला मिलेगा यह सबको विश्वास हो गया है। गुरू अपनी युक्ति से चेले को बचाता है, इस प्रकार चौपट्ट राजा का अंत होता है। कथानक में असंयत तथा अस्वाभाविक घटनाओं का बाहुल्य प्रहसन के वास्तविक सौंदर्य को नष्ट कर देता है।

भाषा और भावों दोनों ही में निम्न कोटि की तथा अपरिपक्व मस्तिष्क के विनोदार्थ प्रस्तुत सामग्री के रूप में उपस्थित है। भाषा में स्वाभाविकता का विचार अवश्य रखा गया है। महन्त तथा चेलों के कथोपकथन में सधुक्कड़ी भाषा का प्रयोग दिखाई देता है।

नारायणदास—"गुरू जी महाराज, नगर तो नारायण के आसरे से बहुत ही सुन्दर है, जो है सो, पर भिच्छा सुन्दर मिले तो बड़ा आनन्द होय।"

महन्त—"बच्चा गोवर्द्धनदास, तू पच्छिम की ओर से जा और नारायण दास पूरब की ओर जायगा। देख, जो कुछ सीधा-सामग्री मिले तो श्री शालग्राम जी का बाल-भोग सिद्ध हो।"

भारतेन्दु जी ने उक्त प्रहसन में सम सामयिक वातावरण का उल्लेख किया है, भावों में वह श्रेष्ठ कलाकार के साथ उपस्थित नहीं होते, ऐसा प्रतीत होता है कि निम्न वर्ग के अशिक्षित समाज की रुचि का रूपक प्रस्तुत किया गया है। घासीराम के "चने जोर गरम" के लटके में अपने समय की प्रतिनिधि काशी की बार-वनिताओं का उल्लेख किया है। इसमें जन-रुचि की अभिव्यंजना अवश्य है, परन्तु कला की कसौटी पर कसे जाने वाला स्वस्थ विचारों का सामंजस्य नहीं प्राप्त होता। स्थान स्थान पर लोक-प्रिय भावों के उद्गार प्रस्तुत हैं।

'चना हाकिम सब जो खाते, सब पर दूना टिकस लगाते।'
"जैसे काजी वैसे पाजी। रैयत राजी टके सेर भाजी।
हिन्दुस्तान का मेवा फूट और बैर"

"आमारा ऐसा मुल्क जिसमें अंग्रेज का भी दांत कट्ठा होगया। नाहक को रुपया खराब किया बेवकूफ बना। हिन्दुस्तान का आदमी लक लक हमारे यहाँ का आदमी बंबुक"

"चूरन खावे एडिटर जात, जिनके पेट पचै नहिं बात॥
चूरन साहेब लोग जो खाता, सारा हिन्द हजम कर जाता॥
चूरन पुलिस वाले खाते, सब कानून हजम कर जाते॥"

तत्कालीन सामाजिक तथा राजनीतिक दौर्बल्य पर व्यंग उपस्थित किया गया है। जात वाले * के कथोपकथन में सम सामयिक सामाजिक व्यवहारों की बड़ी ही कटु आलोचना प्रस्तुत की गई है।

अन्धेर नगरी प्रहसन में पात्रों के चारित्रिक विकास का अवसर न्यूनतम है।

---

*जातवाला :—(ब्राह्मण)—जात ले जात, टके सेर जात। एक टका दो, हम अपनी जात बेचते हैं टके के वास्ते ब्राह्मण से धोबी बन जाँय, और धोबी को ब्राह्मण कर दें। टके के वास्ते जैसी कहो वैसी व्यवस्था दें। टके के वास्ते झूठ को सच कर दें,। टके के वास्ते ब्राह्मण से मुसलमान टके के वास्ते हिन्दू से क्रिस्तान। टके के वास्ते पाप को पुण्य माने, टके के वास्ते नीच को भी पितामह बनावें। वेद धर्म कुल-मरजादा सचाई-बड़ाई सब टके सेर। लुटाय दिया अनमोल माल ! ले टके सेर।

प्रधान पात्रों में महन्त, गोवर्द्धनदास, राजा और मन्त्री को ले सकते हैं। सभी समाज के प्रतिष्ठित वर्ग के पात्र हैं। इन पात्रों के अतिरिक्त देशकाल के अनुसार साधारण पात्रों का भी समावेश है, जो कथा वस्तु को आगे बढ़ाने में सहायक है। नायक के रूप में महन्त को पाते हैं, तथा प्रतिनायक के रूप में राजा का चित्रण किया गया है। धर्म तथा अधर्म और विवेक तथा दुराचरण के संघर्ष में धर्म तथा विवेक की विजय दिखाई गई है। प्रस्तुत प्रहसन में अपने पात्रों की ओट में नाट्यकार ने सम-सामयिक अव्यवस्थित शासन व्यवस्था का रूप चित्रित किया है। नाटककार की भावना को तत्कालीन परिस्थिति की छाया अवश्य कही जा सकती है, कलाकार की वाणी का सत्य गोवर्द्धनदास द्वारा प्रस्तुत निम्न पद में मुखरित हो उठा है।

'सांचे मारे मारे डोलें। छली दुष्ट सिर चढ़ि चढ़ि बोलें।
सांच कहें तो पनही खावें। झूठे बहु विधि पदवी पावें।
भीतर होय मलिन की कारो। चाहिए बाहर रंग चटकारो।
अंधाधुन्ध मच्यो सब देसा। मानहुँ राजा रहत विदेशा॥"

नायक के शब्दों में जीवन और राष्ट्र को सुरक्षित रखने के लिये धर्म, नीति तथा बुद्धि की नितान्त आवश्यकता पर प्रकाश डाला है।

व्यंग तथा विनोद के कथोपकथन में शालीनता की कमी और उच्छृंखल छिछलापन अधिक है। किसी भी स्थल पर प्रहसन को कोई बौद्धिक आधार और उत्कर्ष नहीं मिलता, जिससे उच्चकोटि के सामाजिकों को परितृप्ति हो सके। यह स्वीकार करना पड़ता है कि प्रहसन कला की दृष्टि से अविकसित है और केवल बालकों का विनोद करने की सामर्थ्य रखता है।

वैदिक हिंसा हिंसा न भवति चार अंकों का प्रहसन है। नाटकीय दृष्टि से यह प्रहसन भी शिथिल प्रतीत होता है। भारतेन्दु जी ने धर्म की आड़ में हिंसा तथा दुराचार करने वाले पाखण्डी समाज का व्यंगात्मक रेखा-चित्र खींचा है। कलात्मक दृष्टि से न तो कथा वस्तु का व्यवस्थित स्वरूप है, और न चारित्रिक विकास का निदर्शन मिलता है। व्यंग प्रहसन के रूप से तत्कालीन सामाजिक दुर्व्यवस्था तथा प्रपंचात्मक ढोंगों की आलोचना का स्वरूप अवश्य उपस्थित किया है। व्यंगों में कहीं-कहीं नाट्यकार सार्वजनिक लक्ष्य से व्यक्तिगत कटाक्ष भी कर बैठता है।

चार अंकों में विभाजित तथा सूत्र निम्नप्रकार का है। प्रथम अंक में रक्त-रंजित राजभवन में गृधराज, चोबदार, पुरोहित और मन्त्री आकर बैठते हैं। राजा के पूछने पर मछली के स्वाद की पुरोहित प्रशंसा करता है। ऋषि वंश में उत्पन्न ब्राह्मण के मुख से मांस की प्रशंसा सुनकर राजा आश्चर्य प्रकट करता है। इस पर

शंका निवारणार्थ पुरोहित तथा मन्त्री भागवत और मनुस्मृतिआदि वैदिक ग्रंथों के उद्धरणों का दुरुपयोग कर उक्त कथन की पुष्टि करता है, और यह सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि मांस भक्षण किसी प्रकार निषिद्ध नहीं माना गया। बंगाली वैष्णव उक्त कथन का अनुमोदन करता है, और 'पराशरीय स्मृति' के आधार पर विधवा विवाह का समर्थन करता है। पुरोहित भी उक्त कथन की पुष्टि करता है। द्वितीय अंक में पूजागृह में राजा, मन्त्री, पुरोहित तथा भट्टाचार्य बैठे हैं। तत्क्षण वेदान्ती आते हैं। विदूषक के मांस खाने के प्रश्न पर वेदान्ती भृकुटि तान लेता है। भट्टाचार्य मत्स्य का खाना मांस भक्षण नहीं मानते हैं, इस पर वेदान्ती और भट्टचार्य में वैष्णव धर्म को लेकर वाद-विवाद होने लगता है। इसी बीच शैव तथा वैष्णव आते हैं। भट्टाचार्य शैव तथा वैष्णव मतों को वेद से परे बताते हैं। शैव इस वक्तव्य का खण्डन करते हैं, और प्रमाणित करते हैं कि वैष्णव तो मांस खाते ही नहीं, शैवों में बुद्धि-भ्रष्ट प्राणी ही मांस भक्षण करते हैं। इसी समय गंडकीदास वैष्णव ढोंगी प्रवेश करता है। उसके आते ही प्रसंग बदल जाता है, और शैव, वैष्णव तथा वेदान्ती अपने को उस सभा के उपयुक्त न समझकर वहाँ से चल देते हैं। तृतीय अंक में पुरोहित माला पहिने टीका दिये हाथ में बोतल लिए हुये उन्मत राजपथ पर जाता है। वह मदिरा पान तथा मांस भक्षण का समर्थन करता है, तथा वह उन्मत प्रलाप करता हुआ पीते-पीते बेसुध गिर पड़ता है। राजा तथा मन्त्री भी प्रलाप करते हुए नाचने लगते हैं।

अन्तिम अंक में यमपुरी का दृश्य है। यमराज के पास चित्रगुप्त खड़े हुये हैं, और चार दूत राजा, पुरोहित, मन्त्री, गंडकीदास, शैव और वैष्णव को पकड़कर लाते हैं। यमराज के सामने इन सब का न्याय होता है। शैव तथा वैष्णव को छोड़कर शेष सभी अपने दुष्कर्मों के परिणाम से बचने के लिये धर्म-शास्त्रों से प्रमाण उद्धृत करते हैं। इसी प्रकार कोई वेद को साक्षी बनाकर तथा कोई ईश्वर को पाप पुण्य का निर्देशक मानकर अपने पापों का समाहार करना चाहते हैं। यमराज चारों को नरक की यातना भोगने का दण्ड देते हैं, और शैव तथा वैष्णव को उनकी अकृत्रिम भक्ति के कारण कैलाश और बैंकुठ-वास की आज्ञा देते हैं।

प्रस्तुत कथानक की आबद्ध विभिन्न घटनाओं में नाट्यकार का केवल एक प्रयोजन निहित है। इन्द्रिय जन्य भोग की आकांक्षा तथा मांस, मद्य के प्रति आकर्षण मनुष्य को विलासी बनाकर विवेक भ्रष्ट कर देता है। इन्द्रियों को स्वाद लोलुपता में फंसकर वह अपने लौकिक तथा पारलौकिक दोनों जीवन के पक्षों का विनाश कर बैठता है। इसीलिये भरत वाक्य में नाट्यकार ने मानव समाज को अमूल्य सन्देश दिया है।

"निज स्वारथ को धरम दूर या जग सों होई।
ईश्वर पद में भक्ति करै छल बिनु सब कोई॥

खल के विष बैनन सों मत सज्जन दुख पावैं।
छुटै राजकर मेघ समय पर जल बरसावैं॥
कजरी ठुमरिन सों मोड़ि मुख, सत कविता सब कोई कहै।
यह कवि बानी बुध-बदन में रवि-ससि लों प्रगटित रहै॥"

प्रहसन की भाषा तथा भावों में लक्षणा मूलक प्रयोगों का समावेश पाया जाता है। कहीं-कहीं व्यंगात्मक उक्तियों का कोई प्रयोजन नहीं निकलता। प्रौढ़ विचार विनमय कहीं नहीं दृष्टिगोचर होता। प्रहसन का समस्त वातावरण समाज के दूषण इंगित करने के लिये बड़े ही निम्न कोटि का बनाया गया है। सामाजिक दुराचरण पर बड़े ही निर्भीक व्यंग किये गये हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि सारा प्रहसन इसी अभिप्राय को ही लेकर निर्मित किया गया है। विरोध के आवेश में नाट्यकार ने व्यक्तिगत आक्षेपों का भी उद्‌घाटन किया है, जो प्रहसन के संयत भावों को उच्छृङ्खल सा बना देता है। "चित्रगुप्त—महाराज, सरकार अंगरेज के राज्य में जो उन लोगों के चित्तानुसार उदारता करता है, उसको "स्टार आफ इण्डिया" की पदवी मिलती है।"

\+ \+ \+ \+

"मैं अपनी गवाही के हेतु बाबू राजेन्द्रलाल के दोनों लेख देता हूँ, उन्होंने वाक्य और दलीलों से सिद्ध कर दिया है कि मांस की कौन कहे गोमांस खाना और मद्य पीना कोई दोष नहीं, आगे के हिन्दू सब खाते-पीते थे। आप चाहिये एशियाटिक सोसाइटी का जर्नल मँगाकार देख लीजिये।"[1]

विचारों का असंयत व्यापार यत्र-तत्र उलझा सा प्रतीत होता है। कहीं-कहीं विषय चयन से विचार-धारा अलग खड़ी होकर अपना व्यक्तिगत रुचि-जन्य भाव बहाने लगती है। व्यक्त भावों के विभिन्न उपालम्भों से कलात्मकता की न्यूनता स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है।

वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति में सर्वत्र अभिनेय उपयोगिता का ह्रास नहीं पाया जाता है। कहीं-कहीं प्रहसन में रंगमंचीय योजना के लिये बड़े ही विनोदपूर्ण चित्र उपस्थित किये गये हैं। जिनमें अभिनेय गरिमा अलक्षरूप से विद्यमान प्रतीत होती है। तृतीय अंक में राजा, मन्त्री तथा पुरोहित मद्य पीकर उन्मत होते हैं। राजा तथा मन्त्री मद्यपियों का सा अभिनय कर एक दूसरे का हाथ पकड़कर नाचते हैं, और गाते हैं,

"पीले अवधू के मतवाले प्याला प्रेम हरी रसका रे।
तननुं तननुं तननुं तननुं में गाने का है चसका रे॥

१—वैदिकी हिंस हिंसा न भवति, पृष्ठ १३७

निनि धध पप मम गग रिरि सासा भरले सुर अपने बसका रे।
धिधिकर धिधिकर धिधिकर बाजा बाजै मृदंग थाप कसका रे।
पीले अवधू के०।

भट्ठी नहिं सिल लोढ़ा नहीं घोर घार।
पलकन की फेरन में चढ़त धुआँधार ॥
पीले अवधू के०।
कलवारिन मदमाती काम कलोल।
भरि भरि देत पियलवन महा.ठठोल ॥
पीले अवधू के०।
अरी गुलाबी गाल को लिये गुलाबी हाथ।
मोहि दिखाव मदकी झलक छलक पियालो साथ।
पीले अवधू के०।
बहार आई है भरदे वादए गुलगूं से पैमाना।
रहै लाखों बरस साकी तेरा आबाद मैखाना ॥
सम्हल बैठो अरे मस्तो जरा हुशियार हो जाओ।
कि साकी हाथ में मै का लिये पैमाना आता है।
उड़ाता खाक सिर पर झूमता मस्ताना आता है।
पीले अवधू के—अहां अहां अहां ॥"

उपर्युक्त रंगमंचीय अभिनय में पारसीक रंगमंच की सी छाया प्राप्त होती है, जिनका उद्देश्य केवल निम्न कोटि की जनता का उक्त अभिनयों द्वारा मनोरंजन करना ही रहा है। अभिनय तथा प्रयुक्त कथोपकथन में अश्लीलत्व दोष है। अभि-नय-कला के लिये नियोजित न होकर अभिनय का मूल प्रयोजन मनोरंजन ही दृष्टि-गत होता है।

प्रहसन होने के नाते हास्य रस प्रधान है। प्रयुक्त हास्य का वर्ण्य विषय कहीं तो तीखा व्यंग तथा कटाक्ष है, और कहीं निम्न कोटि की जनता का मनोरंजन प्रस्तुत करने वाला है। हास्य तथा विनोद का स्तर शिष्ट तथा बुद्धिवादी नहीं प्रतीत होता है।

वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति की रचना सामाजिक एवं धार्मिक जीवन के कुछ पक्षों की आलोचना करने की मूल प्रेरणा लेकर की गई थी। उसमें जितने भी पात्र हैं, सभी कुछ विशेष प्रवृत्तियों के प्रतीक मात्र हैं, और वे अपने मौलिक रूप में ही बने रहते हैं। ऐसी परिस्थिति में उनमें चारित्रिक विकास का अवसर बहुत कम प्राप्त हो सका है। चरित्र निर्माण तथा विकास में कथानक की क्रमबद्ध घटनाओं का

घात प्रतिघात तथा संघर्ष अधिक सहायक होता है। प्रहसन का नायक राजा है, जो अपने मन्त्री तथा पुरोहित की कुमन्त्रणा को धार्मिक उपालम्भ मानकर पापरत रहता है। राजा, मन्त्री, पुरोहित, भट्टाचार्य तथा गंडकीदास तमाच्छादित अज्ञान से प्रेरित दुराचरण करने वाले प्रतीक पात्र हैं। शैव, वैष्णव तथा वेदान्ती सद्ज्ञान के आलोक पाखण्ड रत तमिश्रा दूर करना चाहते है। यम तथा चित्रगुप्त न्याय और धर्म प्रतीक बन कृत्यों का लेखा-जोखा करते हैं। प्रहसन में यद्यपि दो विरोधी तत्व विद्यमान है, तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि संघर्ष बचाने का प्रयत्न किया गया है। घटनाओं में संघात उपस्थित न होने के कारण चारित्रिक विकास में बाधा उपस्थित हो गई है। अतः कलात्मक दृष्टि से पात्रों का चारित्रिक विकास नहीं हो पाया है, सभी पात्रों का चरित्र अविकसित सा प्रतीत होता है।

सम्वादों की दृष्टि से प्रहसन का द्वितीय अंक शेष अंकों से उत्कृष्ट कहा जा सकता है। विदूषक, शैव, वैष्णव तथा वेदान्ती के सम्वादों में भावाभिव्यंजन, गहन ज्ञान के परिमार्जित विचार उपस्थित हैं, जो कथित धर्म के ठेकेदारों के ढोंगी सिद्धांतों का खण्डन करते हैं। विदूषक के सम्वादों में प्राचीन संस्कृत नाट्य साहित्य के विदूषक परम्परा की गरिमा स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है।

विदूषक—"हे भगवान, इस बकवादी राजा का नित्य कल्याण हो, जिससे हमारा नित्य पेट भरता है। हे ब्राह्मण लोगो, तुम्हारे मुख में सरस्वती हंस सहित वास करे, और उसकी पूँछ मुख में न अटके।

(वेदान्ती आता है)

वेदान्ती—"अद्वैत के प्रकाश करने वाले भगवान शंकराचार्य इस माया कल्पित मिथ्या संसार से तुझको मुक्त करें।

विदूषक "क्यों वेदान्ती जी, आप मांस खाते हैं कि नहीं?

वेदान्ती—तुमको इससे कुछ प्रयोजन है।

विदूषक—नहीं कुछ प्रयोजन तो नहीं है। हमने इस वास्ते पूछा कि आप वेदान्ती अर्थात् बिना दांत के हैं सो आप भक्षण कैसे करते हैं।"

(वेदान्ती टेढ़ी दृष्टि से देखकर चुप रह जाता है, और सब हँस पड़ते हैं)[1]

ऐसे सम्वादों में विशुद्ध विनोद की मात्रा अधिक है, कलात्मकता की दृष्टि से स्वस्थ सम्वाद कहे जा सकते हैं, परन्तु इन सम्वादों की संख्या न्यूनतम है। व्यंगात्मक तीक्ष्ण कटाक्षों से भरे, भोंडे और सारहीन संवादों की संख्या अधिक है। नान्दी प्रस्तावना तथा अंकों का विभाजन देकर भारतेन्दु जी ने उक्त प्रहसन में प्राचीन नाट्य शास्त्रीय लक्षणों का अनुसरण करने का प्रयास तो किया है, परन्तु उन्हें इसमें

१—द्वितीय अङ्क, पृष्ठ ११३

पूरी सफलता प्राप्त नहीं हो सकी है, कहीं-कहीं प्राचीन प्रहसन के उद्देश्य के अनुसरण करने का प्रयत्न दिखाई देता है, परन्तु सामाजिक व्यंग्यों को प्रस्तुत करने तथा व्यक्तिगत कटाक्षों को उपस्थित करने के लिये कलात्मक प्रवृत्ति को छोड़ देना पड़ा। भारतेन्दु जी के उक्त प्रहसन में समन्वयवादी मनोवृत्ति का अनुकरण दिखाई देता है। यथार्थवादी व्यंग-चित्रों की आलोचना में हम पाश्चात्य कामेडी के से बीज पाते हैं, कहीं-कहीं विशुद्ध प्राचीन भारतीय नाट्य-प्रणाली का विनोद विदूषक की अवतारणा में विद्यमान दृष्टिगोचर होता है।

प्रेम योगिनी नाटिका चार गर्भाङ्कों की अपूर्ण नाटिका है। उक्त नाटिका में कलात्मकता का सर्वत्र अभाव है। कथानक के बजाय नाटिका में काशी स्थित सामाजिक जीवन के चार व्यंग चित्र से प्रतीत होते हैं। नाटिका में कोई निश्चित कथावस्तु न होने के कारण पात्रों का विकास भी नहीं दृष्टिगत होता। अतः नाटिका कलात्मक दृष्टि से अविकसित तथा अपूर्ण नाटिका है, नाट्यकार ने व्यक्तिगत तथा समसामयिक सामाजिक जीवन का व्यंग-चित्र खींचा है।

कथावस्तु के नाम पर चारों गर्भाङ्कों में चार विभिन्न रेखा-चित्र उपस्थित किये गये हैं। प्रस्तुत नाटिका के प्रस्तावना-अंश में नाटिकाकार ने सूत्रधार के द्वारा अपने व्यक्तिगत जीवन के सम्बन्ध में भी उल्लेख किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रेमयोगिनी की रचना-काल के समय नाटककार के जीवन में व्यक्तिगत संघर्ष थे, इसी कारण वह चिन्तित तथा खिन्न दिखाई देता है। समाज की उपेक्षा तथा तिरस्कार से प्रताडित स्वतन्त्र कलाकार समाज को अपने स्वयं की सत्ता के महत्व को उसके बाद में अनुभव करने की गर्वोक्ति करता है "कहेंगे सबै ही नैन नीर भरि-भरि पाछे, प्यारे हरिचन्द की कहानी रह जायगी।" सार भौमिक व्यापक दृष्टिकोण लेकर चलने वाला कलाकार समाज की आँखों का शूल बन जाता है। स्वतन्त्र सत्ता का उपासक किसी भी सम्प्रदाय विशेष के झंडे के नीचे नहीं रह सकता, महात्मा कबीर की भाँति भारतेन्दु जी ने समाज के ठेकेदार ढोंगियों को खुली चुनौती दी, और उनका भंडाफोड़ किया। यह मनोवृति नाटककार की कृतियों में आदि से अन्त तक मिलती है। आलोचना के आवेश में व्यक्तिगत दूषणों को भी कलाकार समाज के सामने रखने में भी किन्चित मात्र भी न हिचकता था। प्रेम योगिनी के प्रथम गर्भाङ्क में बाबू रामचन्द्र के रूप में नाटककार का व्यक्तिगत चरित्र आया है। भारतेन्दु जी का जीवन काव्य और संगीतमय था। वे विनोदी रसिक व्यक्ति भी थे। धन सम्पन्न होने के कारण दरबारी व्यक्तियों का सदैव जमाव लगा रहता था। समाज में कुछ लोग ऐसे भी थे, जो इनके इस वैभव तथा विलासिता से प्रसन्न न रहते थे। और इसे ईर्ष्या की दृष्टि से देखते थे। माखनदास तथा छम्मू जी के कथोपकथन से उक्त विचार-धारा की पुष्टि होती है।

माखनदास :—"सब, रात दिन हा-हा, ठी-ठी, बहुत भवा दुई चार कवित्त बनाय लिहिन बस होय चुका।

छम्मू :—"कवित्त तो इनके बापों बनावत रहे।......कवित्त बनाना कुछ अपन लोगन का काम थोरै हय।

माखनदास—"उन्हें तो ऐसी सेखी है कि सारा जमाना मूरख है, और मैं पंड़ित। थोड़ा सा कुछ पढ़ वढ़ लिहन है।[1]

समाज में विलासमय जीवन का चित्रांकन बालमुकुन्द और मल जी के कथोपकथन में यथेष्ठ रूप से मिलता है। एक दूसरे पर व्यंग प्रदर्शन से ही कथित धर्माचरित समाज की पोल खुल जाती है। काशी के गोसाइयों की भक्ति-भाव की ओट में विलास-भावना तथा स्त्री विषयक आशक्ति की कलई भारतेन्दु जी ने धनदास तथा बनितादास के वार्तालाप में खूब खोली है। सम सामयिक अधिकार प्राप्त नये आनरेरी मजिस्ट्रेटों की मनोवृत्ति का पता भारतेन्दु जी के बा० रामचन्द्र के कथन से भली प्रकार प्राप्त होता है।

रामचन्द्र :—"काशीप्रसाद अपनी कोठी वाली ही में लिखते हैं, सहजादे साहब तीन घन्टे में एक सतर लिखते हैं, उसमें भी सैकड़ों गलती।......और विष्णुदास बड़े कनिंग चैप हैं।...पर भाई मूर्खों को बड़ा अभिमान हो गया है, बात बात में तपाक दिखाते हैं, छः महीने को भेज दूँगा कहते हैं।"

दूसरे गर्भाङ्क में दलाल, गंगापुत्र, दूकानदार, भण्डेरिया, झूरीसिंह दिखलाई पड़ते हैं, इन लोगों के कथोपकथन में निठल्ले, अकर्मण्य तथा लफंगों के जीवन का परिचय मिलता है। काशी में यजमानों के बल पर आनन्द करने वालों की संख्या बहुतायत से पाई जाती है। परदेशी के काशी विषयक पद्यमय चित्रण में काशी के सामाजिक जीवन का यथार्थ चित्र चित्रित किया गया है। सुधाकर पंडित के निम्न कथन से उक्त जीवन की दयनीयता स्पष्ट दृष्टिगत होती है।

> "क्या इस नगर की यही दशा रहेगी? निष्कारण किसी को बुरा भला कहना। अनाब-सनाब जो मुंह में आया बक उठे, न पढ़ना न लिखना।"

तृतीय गर्भाङ्क में मुगल सराय स्टेशन का दृश्य है। सुधाकर जी तथा एक विदेशी पंडित का वार्तालाप होता है, सुधाकर बड़े लम्बे चौड़े वक्तव्य में काशी-महिमा का वर्णन करता है, नया यजमान देखकर दलाल को भी उत्सुकता होती है। नित्य नये यजमान को काशी भ्रमण कराकर उसने दान दक्षिणा के लोभ से पंडित जी के ठहरने के बारे में पूछता है। चौथे गर्भाङ्क में बुभुक्षित दीक्षित, गप्प पंडित, राम भट्ट, गोपाल शास्त्री, माधव शास्त्री आदि उपस्थित हैं। काशी के एक ऐसे वर्ग

१—प्रेम योगिनी प्रथम गर्भाङ्क

की चर्चा इस दृश्य में है, जिसका काम केवल यजमानों के यहाँ निमन्त्रण खाना तथा बूटी छानकर आनन्द करना है। काशी की यह परम्परा सम्भवतः कुछ वर्ग के लोगों में अब तक चली आ रही है।

वस्तुतः चारों गर्भाङ्कों में विभिन्न दृष्टिकोण के व्यंग-चित्र उपस्थित किये गये हैं, जिनका संकलित स्वरूप कोई सुनिश्चित कथानक नहीं निर्मित करता है। यह नाटिका कला की दृष्टि से बहुत कुछ असंबद्ध प्रतीत होती है।

प्रेम-योगिनी नाटिका के अन्तर्गत व्यंग्यात्मक और यथार्थवादी चित्रण है। पहिले भी इसे काशी की कुछ भली बुरी तस्वीरों के नाम से सम्बोधित किया गया था।

नाटिका में नाट्यकार की व्यंजना समाज के विभिन्न क्षेत्रों में कुछ चित्र लेकर उनके अकर्मण्य जीवन की आलोचना-पूर्ण टिप्पणी दी है। नाटिका की भाषा कई प्रकार के कलेवरों में अपना रूप बदलती हुई सी दिखलाई देती है। यथा स्थान स्वाभाविकता लाने का सतत् प्रयास किया गया है। उपयुक्त पात्रों द्वारा प्रयुक्त भाषा में कलाकार की सजगता का यथेष्ट परिचय प्राप्त होता है। काशी की स्थानीय भाषा के विभिन्न प्रयोग भारतेन्दु जी ने भिन्न-भिन्न पात्रों द्वारा करवाये हैं। निम्न कथोपकथनों में विभिन्न प्रकार की भाषा का निदर्शन स्पष्ट दिखाई देता है।

झपटिया—"काहो मिसिर जी, तोरी नींद नाहीं खुलती ? देखो शंखनाद होय गवा, मुखिया जी खोजत रहे।

मित्र—"चले तो आई थे, अधिये रात के शंखनाद होय तो हमका करें। तोरे तरह से हमहू के घर में से निकस के मन्दिर में घुस आवना होता तो हमहूँ जल्दी अउते। हियां तों दारा नगर से आवना पड़त है। अबही सुरजौ नाहीं उगे।

+ + + +

टेकचन्द—(मथुरादास की ओर देखकर) "कहो मथुरादास जी रूडा छो ?

मथुरादास—हाँ साहेब, अच्छे हैं। कहिये तो सही आप इतने बड़े उच्छव में कलकत्ते से नहीं आये। हियां बड़ा सुख हुआ था, बहुत से महाराज लोग पधारे थे। षट्रस छप्पन भोग में बड़े आनन्द हुए।

+ + + +

दलाल—(सुधाकर से) का गुरू। कुछ पंडित जी से बोहनी बाड़े का तार होय, तो हम भी साथै चलूँचै।

सुधा०—तार तो पंडित बाड़ा है, कुछ विशेष नहीं जान पड़ता।

दलाल—तब भी फौक सऊड़े का माल बाड़ा कहाँ तक न ले ऊचिये।

सुधा०—अब जो पलते पलते पलै ।

\+ + + +

महाश—दीक्षित जी ? आज ब्राह्मण जी अशी मारा मार झाली किमी मांही सांगू शकत नाहीं - कौण तो पचड़ा ।

बुभुक्षित दीक्षित—खरें, काय मारा मार झाली ? अच्छा पेतर बैठकेंत पण आखेरीस आमचे तड़ाची काय व्यवस्था ? ब्राह्मण आणलेश की नाहीं ? कां हात हलवीतच आलास ?"

भाषा गत देशज प्रयोगों में काशी की बनारसी भोजपुरी भाषा का प्रयोग है, तथा अन्य पात्रों में पात्रों के उपयुक्त अन्य प्रान्तीय भाषाओं का प्रयोग किया गया है ।

अभिनय की दृष्टि से नाटिका में कोई मार्मिकता नहीं आ पाई । तीसरे गर्भाङ्क में मुगल सराय स्टेशन का दृश्य रंगमंचीय दृष्टिकोण से अनुपयुक्त सा प्रतीत होता है । अन्य सभी गर्भाङ्कों में अभिनय कला का स्पष्ट विकास नहीं दृष्टि-गोचर होता है ।

नाटिका में व्यंग योजना की प्रधानता है, इसलिए इस नाटिका को हास्य रूपक की कोटि में ले सकते हैं । नाटिका के चार गर्भाङ्कों में भिन्न-भिन्न वातावरणों के चित्र अंकित किये गये हैं, कथावस्तु का निश्चित अवयव निर्मित हो सका है । प्रत्येक व्यंग चित्र अपना स्वतन्त्र प्रयोजन रखता सा प्रतीत होता है । चरित्रों का गठन तथा कथावस्तु का निश्चित आकार संघर्षों के प्रतिघातों से विकसित होता है । प्रेमयोगिनी में कथावस्तु के अभाव के कारण पात्रों का व्यक्तित्व निखर नहीं सका है । कहीं-कहीं नाटककार के जीवन की स्पष्ट झलक सी मिल जाती है । परन्तु वह व्यक्तित्व की ही रूप रेखा है, व्यक्तित्व के स्पष्ट प्रकाश का अवसर नहीं मिल पाता है । संवादों में भिन्न-भिन्न भाषाओं की नैसर्गिक छटा तो अवश्य दिखाई देती है, कहीं-कहीं संवाद तो इतना अधिक वर्णनात्मक स्वरूप ले लेते हैं कि एक लम्बा व्याख्यान का रूप बन जाता है । नाटिका अपूर्ण होने के कारण रूपक का विकास अवरुद्ध हो गया है ।

चन्द्रावली नाटिका काव्य-प्रधान भारतेन्दु जी की उत्कृष्ट रचना है, परन्तु कलागत दृष्टिकोण से एकांगी प्रतीत होती है । नाट्यकार के हृदय की भाव-प्रवणता की स्पष्ट झलक उक्त नाटिका में दिखाई देती है । प्रेम चर्या तथा भावुकता का अतीव हृदयग्राही निदर्शन चन्द्रावली नाटिका में अंकित किया गया है । कलाकार देशकाल की परिधि के परे होकर उन्मुक्तावस्था का अनुभव करता प्रतीत होता है । चित्तवृत्ति की एकोन्मुख द्रवता का मंगलमय एवं पुनीत चित्रण ही इस नाटिका का

लक्ष्य मालूम पड़ता है। चन्द्रावली में प्रेम का आदर्श और उसकी अवान्तर स्थितियों का रूप साकार हो उठा है।

[1] परिभाषा के अनुसार नाटिका उपरूपक का इतिवृत्त कवि कल्पना-श्रित होता है, और अधिकांश स्त्री पात्र होते हैं, नाटिका में प्रायः चार अंक होते हैं। नायक धीर ललित कोई प्रख्यात राजा होता है, और अंतःपुर से सम्बन्ध रखने वाली अथवा संगीत प्रेमी राज वंशीया कोई नवानुरागिनी नायिका होती है। महिषी (महारानी) के भय से नायक का प्रेम शंकायुत रहता है, और महारानी राजवंश की प्रगल्भा नायिका होती है, जो निरन्तर मान किया करती है। नायक और नायिका का मिलन उसी के निर्देश पर आश्रित रहता है। नाटिका में वृत्ति कौशिकी होती है, और अल्प विमर्शयुक्त अथवा विमर्श शून्य संधियाँ होती हैं।

नाटिका के उक्त गुण धर्म के अनुकूल अधिकांश विशेषतायें इस नाटिका में मिलती हैं। पौराणिक इतिहास की प्रामाणिकता से चन्द्रावली का इतिवृतात्मक स्वरूप का साम्य नहीं स्थिर होता है। कृष्ण तथा अन्य पात्रों से हम प्राचीन परम्परा से परिचित चले आते हैं। भागवत 'सम्प्रदाय तथा हिन्दी कवियों के आख्यानों में इस प्रकार के आख्यानों का बाहुल्य पाया जाता है। कथानक का क्रमिक उत्थान पतन तथा परिस्थिति योजना से इसे कवि कल्पना प्रसूत कहना ही उचित है। नाटिका पौराणिक कथा का आधार लेकर नहीं चलती है। पात्रों में स्त्री पात्र अधिक हैं, पुरुष पात्रों में प्रारम्भ में नारद तथा शुकदेव जी दृष्टिगत होते हैं। नायक धीर ललित हैं, उक्त नाटिका में नायक रूप कृष्ण ही पुरुष पात्रों का प्रतिनिधित्व करते हैं। महारानी का कृतित्व अथवा स्वरूप नहीं के समान है। प्रेमी-प्रेमिका के एकोन्मुख मिलन में कोई अन्तराय नहीं पड़ने पाया।

प्रेम तथा भक्ति के उन्माद में प्रवाहित कथोपकथनों का प्रवाह इतना असंयत हो जाता है कि नाटकीय सम्वादों का कलेवर छोड़कर एक लम्बे वक्तव्य का स्वरूप धारण कर लेता है। कथा वस्तु की दृष्टि से वस्तु व्यापार में प्रौढ़ता नहीं दृष्टिगत होती। भारतेन्दु जी की सर्वोत्कृष्ट भाव प्रधान नाटिका होते हुये भी कलात्मकता का अधिक विकास इसमें दृष्टिगत नहीं होता। काव्य और भाव पक्ष का आधिक्य पाया जाता है, तथा कलापक्ष उन्मुक्त भावाभिव्यंजना के कारण अर्ध विकसित सा रह गया है। नाटिका में जीवन दर्शन का प्रेम प्रधान पक्ष अभिव्यंजित किया गया है, जिसमें पार्थिव अपार्थिव तथा ज्ञात से अज्ञात में लय हो जाने का निर्देश पाया जाता है। समर्पण में उनके ही शब्दों की व्यंजना से स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है

१—नाटिका क्लृप्त वृत्ता स्यात्स्त्री प्राया चतुरंगिका।
प्रख्यातो धीर ललित स्तमस्यान्नायको नृपः॥

कि नाट्यकार का प्रेम भावना से क्या अभिप्राय है—"इसमें तुम्हारे उस प्रेम का वर्णन है, इस प्रेम का नहीं जो संसार में प्रचलित है।"[1]

प्रथम अंक में चन्द्रावली तथा उसकी अतरंग सखी ललिता के सम्वाद से कथा प्रारम्भ होती है। आत्मीयता पूर्ण और व्यक्तिगत बातचीत दोनों में चलती है। धीरे-धीरे चन्द्रावली अपने मर्म का अवगुंठन खोलती है, और अपने प्रेम के निश्चित लक्ष्य का स्पष्ट उल्लेख करती है। ललिता भी अपनी सखी की विवशता के कारण पूरी सहानुभूति के साथ उसे सहयोग देने का निश्चय करती है। द्वितीय अंक का सारा प्रसाद चन्द्रावली की विरहवस्था की कथा और मानसिक मनोवृत्ति का चित्रण है, विप्रलंभ की विविध अन्तर्दशाओं का सजीव काव्यमय वर्णन चित्र प्रस्तुत किया गया है। चन्द्रावली के विरहोन्माद की सहचरी बनदेवी, वर्षा और संध्या विरह का मर्म भेद प्रकट करती हैं। उन्मादिनी विरहिणी नायिका स्वयम् अपनी सखियों से अपनी व्यथा का रहस्योद्घाटन करती है। नाट्यकार की काव्यमय भावुकता इस अंक के सम्वादों में मुखरित प्रतीत होती है। प्रेम में उन्मत वह कभी अपनी विरह कथा कहने लगती है, कभी वृक्षों का आलिंगन करने लगती है, कभी चन्द्रोदय को ही कृष्ण का आगमन समझ कर प्रलाप करती है इसी अंक के अन्तर्गत अङ्कावतार में गुप्त पत्र का उद्घाटन होता है, जो प्रिय मिलन के लिये प्रेयसी के हृदय की व्याकुलता में प्रगल्भता के योग की सूचना देता है। रहस्योद्घाटन की योजना का रूप अधिक मौलिक प्रतीत होता है, गिरे हुये पत्र को चंपकलता उठाकर पढ़ती है, और यथास्थान पहुँचाने की सोचती है।

तीसरे अंक में चन्द्रावली अपनी अनेक सखियों के साथ उद्यान-विहार के लिये गई दिखाई देती है। इस अंक में भी मात्राधिक्य वर्तमान है, और विरह-विदग्धा नायिका के लिये प्रकृति की अपार सुषमा उद्दीपन का कार्य करती है। वर्षा और झूलें का प्रसंग चन्द्रावली के विरहाकुल हृदय को और व्याकुल कर देता है। नायिका लम्बे स्वगत भाषण में अपने प्रियतम को प्रेम उलहना सा देती है। भावुकता के प्रबल प्रवाह में बुद्धि पक्ष तथा रंगमंचीय गरिमा का लोप सा होता दिखाई देता है। प्रेम की मधुर व्यंजना का प्रसार स्वभावतः पाठक को डूबने नहीं देता। किसी विरहिणी की करुण स्थिति और उद्गार को सुनने में किसी को अरुचि दिखाने का अधिकार नहीं हो सकता। सहानुभूति प्रस्तुत करना नितान्त आवश्यक है। इस प्रकार के प्रसारगामी काव्यत्व और दुर्बल नाटकत्व से हम प्राचीन काल ही से परिचित हैं। इसी परम्परागत भावना का साकार स्वरूप हम इस नाटिका में देखते हैं। एक ओर नाटककार उद्दीपन प्रभाव से आकुल कर देता है, पर संविधानक

१—समर्पण चन्द्रावली नाटिका

की आकांक्षा का ज्ञान भी उसमें बना रहता है, फल प्राप्ति की आशा का विकास होता है। सखियाँ चन्द्रावली की दीनावस्था पर द्रवीभूत होकर उसके प्रियतम से मिलाने का उद्योग करती हैं। तीन सखियाँ मिलकर अपना-अपना क्षेत्र बाँट लेती हैं "हम तीनि हैं सो तीनि काम बांटिले। प्यारी जू के मनाइबे को मेरो जिम्मा। यही काम सब में कठिन है, और तुम दोउन में सो एक याके घरकेन सो याकी सफाई करावै, और एक लालजू सों मिलवे को कहै"। इस प्रकार सखी सेना मार्ग विरोध को अनुकूल बनाने की चतुर्मुखी योजना तैयार करती है, और कार्य सिद्धि की आशा प्रतीत होने लगती है।

चतुर्थ अंक में प्रत्याशा नियताप्ति में परिणित होती है, 'जोगिन के वेश में कृष्ण स्वयम् चन्द्रावली की बैठक में आते हैं। ललिता सखी जोगिन का स्वागत करती है, कृष्ण चन्द्रावली के प्रेम की व्याकुलता प्रत्यक्ष देखकर अत्यधिक द्रवीभूत हो उठते हैं। चन्द्रावली भी रूप माधुरी के प्रति आकृष्ट होती है। कुछ देर तक गोप्य गोपन क्रिया व्यापार चलता है, अन्त में चन्द्रावली "मन की कासों पीर सुनाऊँ" गाते गाते बेसुध गिरना चाहती है, श्रीकृष्ण जोगिन का वेष छोड़कर प्रिय सखी चन्द्रावली को अंकगामिनी बनाते हैं। यों तो इसके उपरान्त भी इस फलसिद्धि का विस्तार दिखाया गया है, पर यह सब व्यर्थ है। उसकी कोई विशेष उपादेयता नहीं है। इस प्रकार नाटिका का सारा कथानक विरह और मिलन की कहानी है। कथावस्तु विन्यास के आकार में अपूर्णता दिखाई पड़ती है, कलात्मक दृष्टि से कथानक का पूर्ण विकास प्रदर्शित नहीं किया गया है।

नाटिका की भाषा में पूर्ण रागात्मिका वृत्ति का प्रयोग किया गया है। भावों की तरल गति में शाब्दिक प्रवाह का अधिक वेग है। भावों के अनुकूल ही भाषा गठन प्रस्तुत किया गया है। भाषा क्रम भी पात्रों के ही अनुकूल भावों के प्रवाह में बहता चलता है। चन्द्रावली नाटिका में स्त्रियोचित मानसिक व्यापारों का निदर्शन मनः स्थिति के अनुकूल भाषा के विविध रूपों में किया है। भावावेग पूर्ण स्थलों की भाषा विदग्धता सराहनीय है। गतिवान स्फूर्तिमती शैली तथा भाषा का माधुर्य मनोरम है। नाटिका में ब्रजभाषा तथा खड़ी बोली मिश्रित सम्वादों की अवतारणा पाई जाती है, नाटिका में प्रस्तुत अधिकांश पद्यात्मक अंश ब्रज भाषा ही में प्रस्तुत किया गया है, रीति कालीन छन्द योजना का प्रभाव यथेष्ठ रूप से दिखाई देता है। नाटिका में नाटककार का व्यक्तित्व कवि के रूप में अधिक मुखरित दिखाई देता है। नाट्यकला का प्रदर्शन गौण स्वरूप में संकुचित होकर अन्तरमुखी सा दृष्टिगोचर होता है। कवि होने के नाते उनकी लेखनी में उनके भावुक व्यक्तित्व की स्पष्ट छाप यत्र-तत्र दिखाई देती है। चन्द्रावली में हर्ष तथा विषाद-पूर्ण

वातावरण की अभिव्यक्ति के लिये तदनुकूल भाषा का प्रयोग काव्य मय प्रयोजन से व्यंजित दृष्टिगत होता है। भाषा में भाव चित्रों की मंजुल छटा दिखाने की कुशल गरिमा दिखाई देती है। नाटिका भावुक भावावेश में बहकर लम्बे-लम्बे कथोपकथन में हिय में उत्पन्न भावमय प्रवाह प्रस्तुत करती है। वह कथोपकथन संवाद के रूप में प्रस्तुत नहीं वक्तव्य का रूप धारण कर लेता है, नाटकीय दृष्टि से संवादों के प्रवाह में नियन्त्रण नहीं है, जो कि नाट्यकला विधान की दृष्टि में असंयत से प्रतीत होते है, और नाटकीय प्रयोजन के अनुकूल नहीं दिखाई देते हैं। सम्वादों का प्रयोजन अभिनय मूलक नहीं जान पड़ता प्रत्युत यह प्रतीत होता है कि कलाकार अपने पात्रों द्वारा हृदय में उत्पन्न भावों का प्रबल उफान पाठकों के सामने प्रस्तुत करना चाहता है। चन्द्रावली के प्रेम तथा विरहोन्माद की कोमल व्यंजना निम्नांकित अवतरणों में कलाकार के कवित्व शक्ति तथा प्रतिभा की परिचायक है यह नयन अपने प्रियतम से बिछुड़ गये हैं इनकी विरहाकुल मनोदशा का कितना कारुणिक रूप प्रस्तुत है।

"मन मोहन से बिछुरी जब सों,
तन आंसुन सों सदा धोवती हैं।
हरिश्चन्द जू प्रेम के फंद परी,
कुल की कुल लाजहिं खोवती हैं।
दुख के दिन को कोऊ भांति बितै
बिरहागम रैन संजोवतीं हैं।
हमहीं अपनी दशा जानें सखी,
निस सोचती हैं कि धों रोवतीं हैं।"

नायिका अपने प्रियतम पर तन मन धन वार चुकी है, परन्तु नायक उसकी मार्मिक पीड़ा से द्रवीभूत होता नहीं दिखाई देता है, खीझकर नायिका उपालम्भ का आश्रय ग्रहण करती है :—

"हरिश्चन्द भए निरमोही इते निज,
नेह को यों परिनाम कियो।
मन मांहि जो तोरन ही की हुती,
अपनाई के क्यों बदनाम कियो।"

चन्द्रावली को कभी भी प्रियतम के प्रणय का सुख नहीं प्राप्त हुआ, कृष्ण का यह उपेक्षा-भाव उसे आज भी अखर रहा है, इस उपेक्षित व्यवहार के लिये अपने प्रियतम से प्रश्न करती है कि तुमने क्या कभी सुख भी दिया है, जिसका यह प्रतिदान ले रहे हो।

"सुख कौन सो प्यारे दियो पहिले,
जिहि के बदले यों सताय रहे।"

चन्द्रावली की प्रेम भावना बढ़ते-बढ़ते उसे बेसुध कर देती है, कृष्ण का वियोग उसकी चेतनमनःशक्ति पर भी प्रभाव डालता है। वह उन्मादिनी की भाँति उन्मत होकर प्रलाप करने लगती है। विरहाकुल नारी अपने प्रियतम का पता वन्यलता, वृक्षों से पूछने लगती है।

"अहौ कुञ्ज, वन-लता विरुद तृन पूछत तो सों।
तुम देखे कहुँ श्याम मनोहर कहहु न मों सों॥
अहो जमुना अहो खग मृग अहो गोवरधन गिरि।
तुम देखे कहुँ प्रान पियारे मन मोहन हरि।"

चन्द्रावली के जीवन की उत्कृष्ट प्रेम-भावना कहीं-कहीं ऐहिक जीवन का अतिक्रमण करती हुई जान पड़ती है। वह भौतिकता से हटकर अभौतिकता की ओर जाती हुई प्रतीत होती है। द्वितीय अंक के आरम्भ में ही कलाकार ने चन्द्रावली की प्रेम-भावनाओं का सम्यक् चित्रण दिया है, वह कहती है:—

'वाह प्यारे! वाह!! तुम और तुम्हारा प्रेम दोनों विलक्षण हैं, और निश्चय बिना तुम्हारी कृपा के इसका भेद कोई नहीं जानता, जाने कैसे? सभी उसके अधिकारी भी तो नहीं हैं। जिसने जो समझा है, उसने वैसा ही मान रक्खा है। पर प्यारे! तुम्हारा प्रेम इन दोनों से विलक्षण है, क्योंकि यह अमृत तो उसी को मिलता है, जिसे तुम आप देते हो।'

प्रेमभावना का उदात्त स्वरूप प्रारम्भ से अन्त तक समरस नहीं रह सका है, कहीं-कहीं पर हलका तथा अगम्भीरता का भी समावेश पाया जाता है। उछृंखलता तथा वासनात्मक भावनाओं का आधिक्य दृष्टिगत होने लगता है। वह तृतीय अंक में साधारण प्रेमिका की तरह प्रलाप करती पाई जाती है—

'सब को छोड़कर तुम्हारा आसरा पकड़ा था, सो तुमने यह गति की। हाय मैं किसकी होकर रहूँ, मैं किसका मुँह देखकर जिऊँ। प्यारे, मेरे पीछे कोई ऐसा चाहने वाला न मिलेगा। प्यारे, फिर दिया लेकर मुझको खोजोगे। हा! तुमने विश्वासघात किया।'

भावों में उहात्मक प्रज्ञा का बाहुल्य प्रतीत होता है, तथा असंयत उहात्मक प्रवाह नाटकीय नियोजन की दृष्टि से कलात्मक नहीं कहा जा सकता है। भाषा में ब्रज तथा खड़ी बोली दोनों ही का मिश्रण पाया जाता है, भाषा का बोधगम्य स्वरूप नाटकीय दृष्टि से लोक-प्रिय कहा जा सकता है। भाषा विषयक चमत्कार बनदेवी तथा चन्द्रावली के कथोपकथन में देखिये:—

बनदेवी:—(हाथ पकड़ कर) कहाँ चली सजि के?

चन्द्रावली :—पियारे सों मिलन काज—
बनदेवी :—कहाँ तू खड़ी है ?
चन्द्रावली :—प्यारे को यह धाम है।
बनदेवी—मैं हूँ कौन बोलो तो ?
चन्द्रावली :—हमारे प्रान प्यारे हौन !
बनदेवी :— तू है कौन ?
चन्द्रवली :—पीतम पियारे मेरो नाम है।

चन्द्रावली नाटिका के सम्वादों में न्यूनाधिक परिवर्तन के बाद रंगमंच के लिए उपयुक्त बनाया जा सकता है। लम्बे सम्वादों तथा तीन-तीन तथा चार-चार पृष्ठ के स्वगत कथनों को यदि पृथक् कर दिया जाय तो उक्त नाटिका अभिनय के लिये उपयोगी हो सकती है। नाटिका के लम्बे कथोपकथनों ने इसे अभिनेय तथा रंगमंचीय उपयोग से वंचित कर रखा है। नाटिका अभिनेय की अपेक्षा श्रव्य कही जा सकती है। समस्त नाटिका में शृंगार का वियोग पक्ष ही प्रधान प्रतीत होता है। यद्यपि अन्त में संयोग दिखाकर सुखान्त नाटिका के रूप में प्रस्तुत की गई है। आचार्यों ने शृंगार की सरसता का मर्मस्पर्शी उद्रेक विप्रलम्भ अवस्था में ही माना है, क्योंकि वह अवस्था संयोग की अभिलाषा एवं आशा से अनुप्राणित एक ओर तो अनुराग मंजिष्ठा की ओर प्रेरित करती है, और दूसरी ओर स्थूल रूप में प्रेमी के समीप न होने से उस अभाव के कारण उत्पन्न प्रणयव्याकुलता को नाना प्रकार से प्रस्फुरित करके अनुराग की उदीप्त भावना का मनोरम शृंगार किया करती है। प्रथम तीन अंकों में वियोग-जनित काम दशाओं का स्फुट रूप दिखाई पड़ता है। अभिलाषा, चिन्ता, स्मृति, गुण-कथन, उद्वेग, उन्माद, प्रलाप, व्याधि, जड़ता, और मूर्ति (मरण) की सभी दशायें यथा स्थान सुन्दर विस्तार में वर्णित मिलती हैं। इसमें एकांगिता का आक्षेप किया जा सकता है, पर उसमें दोष नहीं मानना चाहिये, क्योंकि वियुक्त स्थिति में ही व्यक्ति और परिस्थिति जन्य वैलक्षण्य का स्फुरण भली भाँति दिखाना सम्भव है। संयोग काल के विवरण अनुमान गम्य होने से विशेष आकर्षक नहीं प्रतीत होता है। इसीलिए तो नाट्यकार ने जिस उत्साह से वियोग पक्ष का चित्रण किया है, वैसा संयोग का नहीं है। यहाँ चन्द्रावली और कृष्ण आलम्बन विभाव हैं। उद्दीपन के अन्तर्गत वर्षा, घन, बिजली, संध्या, मोर, पपीहा, चन्द्रमा इत्यादि प्रकृति के नाना रूप और व्यापार आये हैं। अनुभावों का चित्रण तो अति सजीव प्रतीत होता है। स्थान-स्थान पर अश्रु, स्वर-भंग, प्रलय इत्यादि सात्विक अनुभावों का रूप दृष्टिगत होता है। इसके अतिरिक्त, आकुल भाव से दौड़ना. केशों का खुला होना, इत्यादि क्रियायें-कायिक अनुभाव तो सर्वत्र ही

मिलते चलते हैं, संचारी भावों की भी विविधता सम्पूर्ण नाटिका भर में फैली दिखायी पड़ती है। उन्माद, दैन्य, मोह, निर्वेद, चिन्ता, स्मृति इत्यादि अनेक संचारी भावों की यथा स्थान स्थापना की गई है, जो रस को संगठित करने में विशेष सहायक हुये हैं। इस प्रकार शृंगार रस की निष्पत्ति के सभी अवयव उपयुक्त स्थलों पर घटित हो गये हैं।

सम्पूर्ण नाटिका में चारित्रिक विश्लेषण का अभाव है, कहीं भी कोई चरित्र अपनी नैसर्गिकता के सत्व की रक्षा नहीं कर पाया। चरित्र-चित्रण की दृष्टि से चन्द्रावली का चरित्र ही विशेष रूप से विकसित दिखाई देता है, जो कि नाटिका की प्राण कही जा सकती है। शुकदेव जी, नारद, कृष्ण तथा अन्य सखियों के चारित्रिक विकास को यथेष्ट अवसर नहीं दिया गया है, जो कि नाटिका में केवल संकेत साधन के ही लिये नियोजित प्रतीत होते हैं। चन्द्रावली प्रस्तुत नाटिका में प्रारम्भ से ही वियोगिनी के रूप में उपस्थित की गई है। कृष्ण की अनन्य प्रेमिका उनकी अनुपस्थिति में अपने जीवन में वैराग्य जनित आकुलता एवं तड़पन अनुभव करती है। चन्द्रावली के व्यक्तित्व का क्रमिक विकास नहीं हो पाया है। चारित्रिक विकास के अन्तर्गत दशाओं में क्रमशः गम्भीरता, उच्छृंखलता और उन्मत्तता होना चाहिये था। जिसका कि पूर्ण रूप से निर्वाह नहीं हो सका है। सम्वादों में काव्य व्यन्जना का आधिक्य है, लम्बे सम्वादों की योजना सम्वादों को आकर्षण रहित कर देती है। सम्वादों में भावों का कतिपय उच्छृंखल प्रवाह तथा गम्भीर चिन्तन रहित विचार-धारा कथोपकथन का मध्यम कोटि का स्थान निर्धारित करती है। उक्त नाटिका के सम्वादों में केवल एक प्रकार का आकर्षण निहित है, वह है केवल गत्यात्मक भाव प्रवाह की स्फूर्ति जो कि भावना के उन्मत्त उन्मेष में रागात्मकता को आन्दोलित किया करती है।

प्रस्तुत रूपक नाटिका है, इसमें स्त्री पात्रों का बाहुल्य है। प्रारम्भ में शुकदेव जी तथा नारद जी आते हैं, जिनका कार्य केवल सूत्र निर्देश का सा रहता है। सारा कार्य व्यापार चन्द्रावली तथा अन्य सखियों द्वारा सम्पादित किया जाता है, अन्त में कृष्ण प्रथम बार ही जोगिन का रूप धरकर आते हैं। नाटिका के अनुसार नायक ज्येष्ठा नायिका के वशवर्ती होना चाहिये। परन्तु इस प्रयोजन की स्पष्ट झलक नहीं दिखाई देती, संकेतात्मक रीति ही में सखियों के कथोपकथन में "प्यारी जू के मनाईबो को मेरो जिम्मा" राधा ज्येष्ठा नायिका है, और ज्येष्ठा का मानवती नायिका होना नाटिका का लक्षण है, सभी बातों का निर्वाह स्पष्ट रूप से नहीं मिलता।

सती प्रताप पौराणिक आख्यायिका के आधार पर निर्मित अपूर्ण नाटक है,

भारतेन्दु जी उक्त नाटक के केवल चार ही अंकों का निर्माण कर सके। नाट्यकार का उद्देश्य वट सावित्री महोत्सव के व्रत का महत्व बतलाना था। भारतीय नारी समाज के लिये आदर्श रूप प्रस्तुत प्रयोजन से नाटक-रचना की गई थी, कलाकार का समाज में नारी वर्ग के लिये पतिव्रत धर्म का पालन एक सन्देश के रूप में उपस्थित दिखाई देता है। भारतेन्दु जी का यह गीति रूपक अधूरा रह गया, जिसका शेषांश बा० राधाकृष्णदास जी ने पूर्ण किया है।

यह चार अंकों में अपूर्ण कथानक है। जो कलात्मक आधार पर नितान्त अनुपयुक्त है। प्रथम अंङ्क में तृणलता वेष्टित एक उच्च टीले पर बैठी हुई तीन अप्सराओं में से प्रथम दो प्रतिव्रत धर्म की प्रशंसा में गान करती हैं, और अन्त में तीसरी अप्सरा ऋतु-पति आगमन से उत्पन्न होने वाले भीषण कोलाहल का वर्णन करती है। प्रथम अङ्क में आये तीन पात्रों का प्रयोग कथा-प्रसंग के महत्व को इंगित करने तथा मूल मन्तव्य को व्यक्त करने के ही प्रयोजन से किया गया है।

द्वितीय अंक में तपोवन के लता-मण्डप में बैठा हुआ सत्यवान दिखाया गया है। वह अपने पारिवारिक दयनीय स्थिति के कारण दुखी होता है, माता पिता की यथेष्ट सेवा न कर पा सकने के कारण उसका मन आन्दोलित हो रहा है। इसी समय सावित्री अपनी तीन सखियों मधुकरी, सुरबाला तथा लवंगी के साथ गाती हुई प्रवेश करती है। यहीं पर सत्यवान और सावित्री का प्रथम मिलन होता है। मधुकरी सत्यवान को प्रणाम करती है, सत्यवान उसे अपनी सखियों सहित उसका आतिथ्य स्वीकार करने का आग्रह करता है। सावित्री माता पिता की आज्ञा लेकर किसी अन्य दिन आतिथ्य स्वीकार करने को कहला भेजती है, और सखियों के साथ चल देती हैं।

तृतीय अंक में प्रथम दर्शन के बाद सावित्री सत्यवान के प्रति आकृष्ट सी जान पड़ती है। जयन्ती नगर की राज-कन्या सावित्री गृहोद्यान में सत्यवान के ध्यान में मग्न है। उसकी सखियाँ उसका ध्यान-भंग करना चाहती हैं, सावित्री उन पर क्रुद्ध होती है, वे माता पिता की आज्ञा से ऐसा करना कारण बताती हैं, परन्तु उनकी आन्तरिक इच्छा उसकी इच्छाओं के अनुकूल है।

चतुर्थ अंक में तपोवन में द्युमत्सेन का आश्रम दिखाया गया है, जहाँ सपत्नीक ऋषि बैठे हुए हैं। द्युमत्सेन अपनी निर्धनता के कारण अत्यन्त दुखी हैं। निर्धनता तथा अभाव के कारण किसी याचक की सेवा नहीं कर पाते, इसका उन्हें महान् पश्चात्ताप है। गणकों ने उन्हें उनके एक मात्र पुत्र को अल्पायु बताकर आशं-

कित कर दिया है, इसी चिन्ता के कारण वह सत्यवान को वैवाहिक बन्धन में न डाल सके, किन्तु नारद जी के आग्रह से वह अश्वपति की कन्या सावित्री से सत्यवान का विवाह करना निश्चित करते हैं। इस अधूरे कथानक का जितना स्वरूप भारतेन्दु जी ने प्रस्तुत किया है, उससे उनकी कलात्मक कुशलता का यथेष्ट परिचय मिलता है। नाटकीय प्रयोजन के साथ-साथ कलाकार ने भारतीय आदर्श-वादी प्रेम-पद्धति का सुन्दर रूप प्रस्तुत करने की चेष्टा भी की है।

प्रथम अंक में कलाकार ने भावात्मक प्रज्ञा का अनुसरण किया है। अप्सराओं के गीत में तथा प्राकृतिक मनोरम उपालम्भों का वर्णमय चित्र देने में कलाकार ने अपनी काव्य-कुशलता का परिचय दिया है। भाषा में रंगमंचीय गरिमा विद्यमान है, बोध-गम्य शब्दों का प्रयोग लिए हुए शुद्ध खड़ी बोली का प्रयोग है। रूपक के अपूर्ण होते हुए भी भाषा का प्रवाह रंगमंचीय वातावरण के अनुकूल दिखाई देता है। द्वितीय अंक में आश्रम स्थित सखियों का कथोपकथन तथा तृतीय अंक में सावित्री का ध्यान भंग करने में प्रयुक्त भाव और भाषा दोनों ही समान रूप से रंगमंचीय अभिनय व्यंजना लेकर चलते हैं। प्रस्तुत अपूर्ण रूपक में कलात्मक विकास का क्रम तो मिलता है, परन्तु अपूर्ण होने के कारण विश्लेषण करना नितान्त असम्भव है। प्रारम्भिक चेष्टाओं तथा गति विधि से भासित होता है कि यदि रूपक पूर्ण होता तो कलात्मकता के आधार पर सभी अंग पूरे विद्यमान रहते तथा अभिनय और रंगमंचीय दृष्टि से यह भारतेन्दु जी की उत्कृष्ट रचनाओं की कोटि में गिनी जाती। रूपक कथावस्तु, चरित्र-चित्रण तथा रस तीनों की दृष्टि से अपूर्ण और अविकसित प्रतीत होता है, अतः इसे कलात्मकता की कसौटी में कसना नितान्त असंगत सा प्रतीत होता है। परन्तु प्रस्तुत चार अंकों में कलात्मक सत्ता का विनिवेश स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है, यदि उक्त रूपक कलाकार द्वारा पूर्ण किया गया होता, तो कला की कसौटी पर खरी उतरने वाली उत्तम निधि होती।

नीलदेवी के कथानक का निर्माण ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि पर हुआ है। यह मुग़ल कालीन युग की क्षत्रिय वीरांगना का रेखाचित्र है। नाटककार ने नाटक के पूर्व वक्तव्य में स्वच्छंद वातावरण में विहार करने वाली अंग्रेज नारियों की तुलना में आधुनिक भारतीय नारी की दीन-हीन दशा पर प्रकाश डाला है। उसने विदेशी नारी समाज के स्वतंत्र आदर्श को लेकर आधुनिक भारतीय नारी को निर्भीक तथा स्वतन्त्र बनने का संदेश दिया है। उसका मन्तव्य यही है कि समाज में नारी केवल पुरुष की वासना तृप्ति का साधन न रहकर अपने चरित्र तथा पौरुष से वीरांगनाएँ बन कर स्वदेश तथा समाज के गौरव की रक्षा कर सकें। प्रस्तुत रूपक में नीलदेवी के चरित्र द्वारा एक ज्वलन्त प्रमाण के रूप उपस्थित चरित्र से नाट्यकार अपने

पाठकों को प्रेरणा देता प्रतीत होता है। सूक्ष्म रूप से कथानक इस प्रकार है कि अब्दुश्शरीफ सूर अधर्म युद्ध में पंजाब के राजा सूर्यदेव को हराकर बन्दी कर लेता है, किन्तु रानी हिम्मत न हारकर अपने पति की मृत्यु का बदला कूटनीति से लेना चाहती है। नर्तकी के वेश में सरदार की महफिल में जाकर उसका बध कर देती है। इस प्रकार स्वामी की मृत्यु का प्रतिशोध लेकर वह स्वयम् सती हो जाती है। कथानक की नायिका नीलदेवी है, और प्रतिनायक सरदार अब्दुश्शरीफ।

प्रस्तुत रचना गीति रूपक के रूप में है, यहाँ पर नाटककार ने स्वतंत्र परम्परा का प्रवर्तन किया है। प्रारम्भ में प्रस्तावना के स्थान पर पाश्चात्य नाटकों का सा कोरस गान अप्सराओं द्वारा कराया है, रूपक को दश दृश्यों में विभाजित करके कथानक का विकास दिखाया गया है।

प्रारम्भ में अप्सरायें भारत की क्षत्राणियों का चरित्र गान करती हैं। प्रथम दृश्य में युद्ध शिविर का दृश्य है, सरदार अब्दुश्शरीफ तथा काजी के मध्य कथोपकथन चल रहा है, यवनों में राजपूतों की वीरता का आतंक छाया हुआ है। सरदार को यह विश्वास हो गया है कि सामने लड़कर धर्म युद्ध में राजपूतों से विजय पाना असम्भव है, वह छल से हमला करने की योजना बनाता है। षड्यंत्र द्वारा विजय प्राप्त कर भारतवर्ष में इस्लाम के प्रचार का स्वप्न देखता है।

तीसरे दृश्य में राजपूतों के सैनिक कक्ष में राजा नीलदेवी तथा कुछ राजपूतों के साथ बैठे युद्ध की चर्चा करते हैं। नीलदेवी राजा को यवनों से सदैव सावधान रहने की सम्मति देती है। राजा और राजपूतों का विश्वास है कि धर्म-युद्ध में तो उन्हें इस पृथ्वी में कोई परास्त करने की क्षमता नहीं रखता है। राजा अपने सैनिकों को आदेश देता है कि जीते जी निज-मातृ-भूमि का उद्धार करो, और मर कर अमर पद पाओ।

चौथे दृश्य में मुगल सेना के दो सिपाही जो स्वभावतः कायर हैं, तथा आनन्द उपभोग के लिये यवन-सेना में आये हुये हैं, एक भटियारिन के यहाँ उपस्थित दिखाये जाते हैं, चपर गट्टू खाँ तथा पीकदान अली दोनों ही उन वीरों में से हैं, जो सदा "मारतों के पीछे और भागतों के आगे" रहते हैं, और आपत्ति आने पर अपनी कौम और दीन की मजम्मत और हिन्दुओं की तारीफ" करके पीछा छुड़ाने में नहीं हिचकते। दोनों सैनिकों में यवन-शिविर में होने वाले विजय-उत्सव के विषय में वार्ता होती है। भटियारिन उक्त अवसर पर मिलने वाले पुरस्कारों में उसका हिस्सा रखने को न भूलने के लिये कहती है। यहाँ नाटककार ने यवन सैनिक के चरित्र को गिरा दिया है, जो सभी को धोखा देकर मुफ्त में काम बनाना चाहता है।

पाँचवा दृश्य एक राजपूत सैनिक की मनोदशा का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण है, जोकि सैनिक शिविर में पहरा देते समय अपनी पत्नी तथा परिवार की याद करता है। क्षत्रिय रक्त में स्वामि-भक्ति तथा देश-प्रेम का प्रकाश मोहतम का नाश करता है। वह युद्ध में अदम्य साहस और उत्साह से लड़ने की आकांक्षा रखता है। इस दृश्य की गीत योजना बहुत ही ललित है, जो उक्त सैनिक द्वारा नाटककार ने प्रस्तुत कराई है। यवन सैनिकों की विलासिता और राजपूतों के कर्मनिष्ठ चरित्र दोनों ही पर नाट्यकार ने प्रकाश डाला है। अन्त में अचानक कोलाहल के बाद आक्रमण की सूचना प्राप्त होती है, तथा सूर्यदेव के बन्दी होने का संकेत मिलता है।

छठे दृश्य में सरदार, काजी तथा अन्य सैनिक विजय के उपलक्ष में प्रसन्न होते हैं, और इस्लामी विधि से इबादत करते हैं। सातवें दृश्य में सूर्यदेव को बन्दी-गृह में मूर्च्छितावस्था में पड़ा दिखाया जाता है। अलक्षित देवता द्वारा भारत भविष्य की ओर संकेत करते हुये एक गीत प्रस्तुत किया गया है। देवता के गीत से राजा की मूर्छा भंग होती है। वह अपनी अवस्था पर पश्चात्ताप करता है, और पुनः मूर्च्छित हो जाता है।

आठवें दृश्य में पागल वेश में राजपूत गुप्तचर प्रलाप करता है। मुग़ल वेश में द्वितीय गुप्तचर आता है, दोनों की बड़े ही नाटकीय ढंग से भेंट होती है। राजा सूर्यदेव के सत्ताइस यवनों को मारकर अंत में प्राण त्यागने की सूचना देता है। नवें दृश्य में उत्तेजित राजपूत तथा कुमार सोमदेव यवनों से अन्तिम युद्ध करने के लिये तैयार दिखाई पड़ते हैं। नीलदेवी उत्तेजना को शान्ति करके कूटनीति से काम लेने का आदेश देती है। सम्मुख युद्ध न करके कौशल से लड़ाई करने का प्रस्ताव सर्व मान्य होता है।

दसवें दृश्य में यवन-शिविर में विजयोत्सव का उल्लास दिखाई देता है। अमीर की मजलिस जमी हुई है, और शराब का दौर चल रहा है। इसी समय नीलदेवी चंडिका नर्तकी के रूप में प्रवेश करती है। नृत्य तथा गायन के आनन्द में बेसुध सरदार की अवसर पाकर वह हत्या कर देती है। तत्काल ही उसके सह-चर समाजी तथा राजपूतों के साथ कुमार सोमदेव आकस्मिक आक्रमण कर देते हैं। यवनों की पराजय होती है, और नीलदेव अपने पति का शव लेकर सती हो जाती है।

नाटककार ने सर्व-प्रथम ही एक वक्तव्य में भारतीय आधुनिक नारी समाज की अंग्रेजी नारी जगत से तुलनात्मक आलोचना करते हुये उसे पद-दलित बताया

है। इसके पश्चात् उसका भारतीय नारी जगत को आर्य ललना तथा वीरांगनाओं के आदर्श को अपनाने का सन्देश है। प्रथम ही दृश्य में अप्सरायें इतिहास प्रसिद्ध क्षात्राणियों की अमर वीरगाथा गाती हैं। समस्त कथावस्तु नीलदेवी की शौर्य-गाथा के रूप में नाट्यकार के मन्तव्य की परिपुष्टि करती है।

कथानक में यवनों के व्यवहार का आतंककारी एवं बर्बरता पूर्ण चित्र खींचा गया है। देशकाल की स्थिति देखते हुये उसमें अतिरंजना का समावेश पाया जाता है। यवनों की विलासिता तो स्वाभाविक हो सकती है, परन्तु समय और स्थान देखते हुये उसे अतिशयोक्ति पूर्ण कहना अनुचित न होगा। राजपूतों के शौर्य का विश्लेषण यत्र-तत्र कुछ शिथिल सा हो गया है। उनके स्वाभाविक दर्प, वीरता, उत्सर्ग आदि का चित्रांकन नाटकीय संवादों से पूरी तरह नहीं उतर पाया है। सातवें अंक में देवता के मुख से कहलायी जाने वाली भारत पर आने वाली भावी विपत्तियों व भारतीय जीवन की दयनीय अवस्था का चित्रांकन है। विजयोल्लासपूर्ण यवनों का हर्ष तथा ईश्वर को धन्यवाद देना युद्ध-भूमि में स्वाभाविक हो सकता है, परन्तु जिस प्रणाली का अनुसरण उक्त नाटक में किया गया है, वह मुग़ल कालीन यवनों के लिये स्वाभाविक थी, यह सन्देहास्पद है। लक्षित भावना में तो तादात्म पाया जा सकता है, परन्तु जिस प्रणाली का प्रयोग उक्त नाटक में है, उससे ऐसा प्रतीत होता है कि उन्हें प्रभु कृपा की स्वाभाविक अनुभूति नहीं हुई थी। इसी अंक में मुगल सरदारों का मोछों पर ताव देना वर्णित है, राजपूत परम्परा के लिये स्वाभाविक हो सकता है, परन्तु इस्लाम के अनुसार मूँछ कटवाना शुभ है। इसलिये इस कथन में ऐतिहासिक तथ्य की उपेक्षा सी है।

नाटक में पात्रोचित भाषा का प्रयोग किया गया है। कहीं-कहीं भाषा पात्रों के व्यक्तित्व के अनुशासन में इस संकीर्णता के साथ बाँध दी गई है कि पाठकों तथा दर्शकों को अत्यन्त दुरूह प्रतीत होती है। पात्रों के स्वभावानुकूल कहीं-कहीं विशुद्ध फारसी शब्दों का प्रयोग दिखाई देता है।

दूसरा सरदार :—"कुफ्फार सब दाखिले दोजख होंगे, और पयगम्बरे आखिरूलजमां सल्लल्लाह अल्लेहु सल्लमका दीन तमाम रुए जमीन पर फैल जाएगा।" (छठा दृश्य)

इसी प्रकार गीतों में जो यवन पात्रों द्वारा कहलाये गये हैं, उर्दूपन की बाहुल्यता है। भाषा के नैसर्गिक प्रयोग कहीं तो रुचिकर तथा बोधगम्य प्रतीत होते हैं, और कहीं उनकी नैसर्गिकता अभिशाप बनकर दुरूहता के दूषण में परिणत हो जाती है।

उक्त नाटक अभिनीत किया जा सकता है। नाट्यकार ने प्रारम्भ ही से रंगमंचीय उपयोगिता का ध्यान रक्खा है। पारसीक रंगमंच की भाँति अप्सराओं द्वारा कहलाया गया गान कोरस गायन के अभाव की पूर्ति करता है, बिना प्रस्तावना ही के विषय का सूक्ष्म परिचय प्राप्त हो जाता है। रंगमंच के अनुसार अभिनेयता की पूर्ति करने वाले प्रायः सभी दृश्य हैं, जिसमें अभिनय मूलक कोई बाधा उपस्थित होने की आशंका नहीं दिखाई देती है। अभिनय की दृष्टि से गम्भीर वातावरण में क्षणिक परिवर्तन लाने के लिये हास्य मूलक वातावरण की नितान्त आवश्यकता रहती है, अतः चौथे अंक में दो यवन सैनिक (चपरगट्टू खां तथा पीकदानअली) और भटियारिन का कथोपकथन अभिनेय गरिमा लिये हुये हैं। हास्य में अश्लीलत्व दोष आ गया है, जिसमें पारसीक रंगमंचीय छाया की झलक दिखाई देती है। छठे अंक में पागल का अभिनय संवाद की दृष्टि से अनर्गल प्रलाप सा प्रतीत होता है, परन्तु पात्र को पागल की संज्ञा देने पर उक्त कथोपकथन क्षम्य कहा जा सकता है, परन्तु सामान्यतः निम्न विचारों का द्योतक है। पात्रों में नीलदेवी, राजा सूर्यदेव तथा प्रतिनायक अमीर अब्दुश्शरीफ के संवादों में अभिनेय गरिमा मुखरित है। पांचवें दृश्य में राजपूत प्रहरी की मनोदशा का अंतरद्वंद अभिनेय कला की दृष्टि से उत्कृष्ट है, रंगमंचीय वातावरण में रोचकता का समावेश लाने के लिये नाटककार ने उसके द्वारा लोरी गीत की सुमधुर कल्पना दी है। स्वगत द्वंद का निदर्शन कलात्मक अभिव्यक्ति का परिचायक है।

प्रस्तुत रचना वियोगान्त ऐतिहासिक गीत रूपक है। जिसका नायक राजा सूर्यदेव नायिका नीलदेवी तथा प्रतिनायक अब्दुश्शरीफ है। सम्पूर्ण नाटक में वीर तथा करुण रस का परिपाक समाहित है। पागल के प्रलाप तथा दो यवन सैनिक चपरगट्टू तथा पीकदानअली के कथोपथन में हास्य की झलक दिखाई देती है।

रूपक के अन्तर्गत राजा सूर्यदेव नायक तथा नीलदेवी नायिका और अमीर अब्दुश्शरीफ को प्रति नायक के रूप में पाते हैं। नायक के चरित्र-चित्रण का अवकाश रूपक में नायिका और प्रतिनायक की अपेक्षा न्यून है। तृतीय अंक में सूर्यदेव अपने शिविर में राजपूत सैनिकों के बीच रानी सहित उपस्थित होता है, सूर्यदेव में देशप्रेम की भावना तथा धर्म युद्ध में अपने शौर्य पर विश्वास है। बन्दी होने पर भी वह अपने कर्तव्य से विमुख होता नहीं प्रतीत होता है, भारत की भावी दयनीय दशा की आशंकाओं से उसे मानसिक पीड़ा होती है। बन्दीगृह में देवता का गान सुनकर सिर उठा कर कहता है :—

"इस मरते हुये शरीर पर अमृत और विष दोनों एक साथ क्यों बरसाया, अरे ! अभी तो यहाँ खड़ा गा रहा था। अभी कहाँ चला गया ? ऐसा सुन्दर रूप और ऐसा मधुर सुर और किसका हो सकता है" ?

नीलदेवी का चित्रांकन निर्भीक भारतीय वीरांगना के रूप में प्रस्तुत किया गया है। वह तृतीय अंक में ही यवनों की मनोवृत्ति पर सन्देह करती है, और बड़े ही विनीत भाव से अपने स्वामी को उनकी नीति से सजग रहने के लिये कहती है। पति के बन्दी होने पर जरा भी विचलित नहीं होती है, नारी सुलभ कोमल स्वभाव के विपरीत वह अपने पति की मृत्यु का बदला नीति-कौशल से लेती है। नीलदेवी का व्यक्तित्व साहसिक वीरांगना के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। आदि से अन्त तक चारित्रिक विकास और शील निरूपण में नीलदेवी का चरित्र वीरांगना नायिका के रूप में मिलता है, अन्त तक चारित्रिक निर्वाह बहुत सफल रहा है।

प्रतिनायक की दृष्टि से अमीर का चरित्र भी स्वाभाविक है, तथा खलनायकत्व के आधार पर उसके चरित्र का विकास स्वाभाविक रूप से चलता है।

संवाद पात्रोचित स्वरूप से स्वाभाविक स्तर पर रखे गये हैं; भाषागत दुरूहता के कारण उनकी अभिनेय गरिमा का ह्रास सा होता प्रतीत होता है, परन्तु अभिनय तथा रंगमंचीय दृष्टि से संवादों को नितान्त अनुपयुक्त नहीं कहा जा सकता है।

उपर्युक्त नाटक गीति रूपक है।। प्रारम्भ में पाश्चात्य शैली का स्वरूप दिखाई देता है। तथा अन्य दृश्यांकों के निर्माण में नाटककार ने स्वतन्त्र शैली का अनुसरण किया है। इस स्वच्छंद प्रवाह में भारतीय तथा पाश्चात्य दोनों ही विधानों की स्वतन्त्र परम्परा के प्रवंतन का नवीन प्रयोग है।

भारत जननी एक ही दृश्य का एकांकी रूपक है। भारतेंदु जी ने इसे ओपेरा की संज्ञा देकर पाश्चात्य शैली की कोटि में रखने का प्रयास किया है। रूपक भारतीय समाज को सामयिक दैन्य का रेखा-चित्र है। राष्ट्र जन-नायक कलाकार उक्त प्रतीक रूपक में भारतीय समाज को अपनी वास्तविकता का अनुभव करने का सन्देश देता है। प्रारम्भ ही में सूत्रधार द्वारा भैरवी में "हे भारत भुवनाथ भूमि निज बूड़त आनि बचाओ" की प्रार्थना की गई है, भारत जननी के मन्तव्य का स्पष्ट प्रकाशन एक सन्देश रूप में करता है। "भारत भूमि और भारत सन्तान की दुर्दशा दिखाना ही इस भारत जननी की इति कर्तव्यता है, और आज जो यह आर्य्य वंश का समाज यह खेल देखने को प्रस्तुत है, उसमें से एक मनुष्य भी यदि इस भारत भूमि के सुधारने में एक दिन भी यत्न करें तो हमारा परिश्रम सफल है।" राष्ट्र प्रेमी कलाकार की देश-प्रेम की अलख जगाने का तथा पददलित राष्ट्र को चेतना प्रदान

करने का मूल मन्तव्य है। इस प्रकार की प्रचारात्मक सन्देश वाहिनी कृतियों में कलापक्ष का गौण स्थान रहता है।

प्रस्तुत एकांकी औपेरा का कथानक इस प्रकार का है, सर्व प्रथम एक सुविस्तृत भग्न खण्ड में एक टूटे देवालय के सहन में जीर्ण शीर्ण-अवस्था में अर्धनिद्रित सी भारत जननी बैठी है। भारत सन्तान इधर-उधर पड़े निद्रा में मग्न हैं, भारत सरस्वती आती है, और भारत जननी को निद्रा से जगाने का प्रयास करती है। उसे अन्तिम मिलन समय उनके न जागने पर खेद है, उनकी दीन-हीन अवस्था पर खेद प्रकट करती है, तथा विदेशियों का उसे भारत भूमि से लेजाने का सन्देश देकर चली जाती है। क्रमशः भारत दुर्गा और भारत लक्ष्मी प्रवेश करती हैं, भारतवर्ष में उनका अनादर होना तथा किस प्रकार विदेशियों द्वारा वह यहाँ से ले जाई जारही हैं, बताती हैं। सरस्वती, दुर्गा तथा लक्ष्मी, विद्या, शक्ति तथा धन की प्रतीक हैं, नाट्यकार ने प्रतीक उपादानों का आलम्बन कर यह प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया है कि भारतीय समाज की विद्या, शक्ति तथा धन सभी का पतन हो चुका है, इतना होते हुये भी सजग और चेतन नहीं है।

भारत जननी अपनी निद्रित सन्तानों को जगाना चाहती है, परन्तु दिग्भ्रम के कारण उन्हें चेतना नहीं आती, और वह विवश हो जाती है। स्वप्निल तन्द्रा टूटने पर सभी पश्चात्ताप करते हैं, और अपने भूतकालीन गौरव की वर्तमान से तुलना करने में उन्हें बड़ी पीड़ा का अनुभव होता है। भारत जननी का शोषण से रक्त-हीन शरीर देखकर बड़ी ही आत्म-ग्लानि होती है। अन्त में उन्हें राजराजेश्वरी महारानी, विक्टोरिया से दया की भीख माँगने का उपाय सूझता है, और दया के लिये स्तुति करते हैं। सहसा एक गौराङ्ग पुरुष आकर उनको धमकाता है, और तिरस्कृत शब्दों में कहता है "क्या इसी हेतु हमने तुम लोगों को ज्ञान-चक्षु दिया है? रे नराधम ? राज विद्रोही, महारानी को पुकारने में तुम लोगों को तनिक भय का संचार नहीं होता।" दूसरा अँग्रेज आकर प्रथम पुरुष के व्यवहार को लांछित करता है, और उसे उस स्थान से निकालता है, इस प्रकार दोनों साधक और सिद्धक के रूप में उपस्थित होते हैं। स्वयम् भारत जननी तथा सन्तानों को धैर्य बँधाकर सहानुभूति प्राप्त करना चाहता है। वह महारानी से प्रार्थना करने की सम्मति देकर चला जाता है। धैर्य आकर भारत जननी को सांत्वना देता है, और भारत सन्तानों को जाग्रत अवस्था में रहकर अभिमान, लोभ, अपमान, आत्म समाज प्रशंसा, परजात निन्दा को त्याग उन्नतिशील बनने के लिये प्रोत्साहित करता है। अन्त में भारत जननी अपने पुत्रों को प्रोत्साहित करती है, और उठने के लिये ललकारती है, ऐक्य और उत्साह के साथ अब भी अपनी बिगड़ी हुई स्थिति सँभालने के लिये प्रेरित

करती है। अन्तोगत्वा वह कामना करती है कि भारतीय समाज की उन्नति के साधन एकत्र हो जायँ :—

"बल कला कौशल्य अमित विद्या वत्स मेरे नित लहैं।
पुनि हृदय-ज्ञान प्रकाश ते अज्ञान-तम तुरतहिं दहैं।
तजि द्वेष ईर्ष्या द्रोह निन्दा देश-उन्नति सब चहैं।
अभिलाष यह जिय पूर्ववत् धन-धन्य मोहि सबहीं कहैं ॥

भारतेन्दु जी ने अपनी कृतियों द्वारा राष्ट्र चेतना की अलख जगाई थी। नाट्यकार ने राष्ट्र-चेतना का आन्दोलक विद्रोही कलाकार के रूप में न रहकर सुधारवादी मनोवृत्ति को लेकर समाज को चेतना प्रदान करने में सहयोग दिया है। नाटककार सर्व प्रथम ही सूत्रधार के शब्दों में भगवान को जगाकर भारतीय जन-समाज की दैन्य दशा को सुधारने की प्रार्थना करता है। भावों की अभिव्यक्ति में चेतना का सन्देश देकर वह कामना करता है कि यदि एक भी पाठक अथवा उक्त नाटक का दर्शक इससे प्रेरणा पाकर देश तथा समाज-सुधारक बनने में कटिबद्ध होता है, तो वह अपना मनोरथ सफल समझेगा।

आगे चलकर नाट्यकार भारत के अभाग्य को इंगित करते हुए अवनति की ओर क्रमशः उन्मुख होने वाले निश्चेष्ट समाज को ललकारता सा प्रतीत होता है।

भारत में मची है होरी।
इक ओर भाग अभाग एक दिसि होय रही झकझोरी।
अपनी अपनी जय सब चाहत होड़ परी दुहुँ ओरी ॥१॥
दुंद सखि बहुत बढ़ोरी ॥१॥

× × × ×

उठौ उठौ भैया क्यों हारौ आपुर रूप सुमिरोरी।
राम युधिष्ठिर विक्रम की तुम झटपट सुरत करोरी ॥
दीनता दूर धरोरी ॥

× × × ×

उठौ उठौ सब कमरन बाँधौ शस्त्रन सान धरोरी।
विजय निसान बजाहु बावरे आगेइ पाँव धरोरी।
छबीलिन रङ्ग रङ्गोरी ॥११॥

उक्त रूपक में नाट्यकार के भाव विद्रोही कलाकार की भाँति क्रान्तिकारी चेतना का बीज नहीं बोते, कलाकार निर्भीकता से हिचक कर राजाश्रय में अपने सुधारवादी उत्कर्षान्दोलन को पल्लवित करना चाहता है, अपने अधिकारों के लिये स्वयम् लड़-कर पाने की क्षमता न देखकर महारानी से दया की भिक्षा माँगना हितकर समझता है। दासता की बेड़ी में जकड़े जाने का स्वयम् को उत्तरदायित्वपूर्ण समझकर हृदय में मर्मातंक पीड़ा होती है। भारत वासियों को अपनी अवनति तथा अधोगति के समय सोते रहने का उलाहना देता है :—

पृथ्वीराज जैचन्द कलह करि जवन बुलायो।
तिमिर लंग चंगेज आदि बहु नरन कटायो।
अलादीन औरंगजेब मिलि धरम नसायो।
विषय वासना दुसह मुहम्मद सह फैलायो।।
तब लौ सोए बहु वत्स तुम, जागे नहिं कोऊ जतन।
अबतौ रानी विक्टोरिया, जागहु सुत भय छांड़िमन।

× × × ×

भारत जननी के करुणाद्र रुदन में नाट्याकार की अन्तरात्मा निहित सी प्रतीत होती है।

कहँ गये विक्रम, भोज, रामबलि, कर्ण युधिष्ठिर।
चन्द गुप्त चाणक्य कहां नासे करि के थिर।।
कहँ छत्री सब मरे बिनसि सब गए कितै गिर।
कहां राज को तौन साज जेहि जानत हे चिर।।
कहँ दुर्ग सैन घन बल गयो, धूरहि धूर दिखात जग।
उठि अजौं न मेरे वत्स गन रच्छहि अपुनों आर्य्य मग।

छोटे से एक दृश्य के रूपक में गद्य तथा पद्य दोनों ही भाषाओं का प्रयोग हुआ है। राष्ट्रीय भाव चेतना का प्रौढ़ काव्य कथोपकथन में बीच-बीच में नाट्यकार ने देकर अपनी मुखरित राष्ट्रवादी भाव-धारा का अपूर्व परिचय दिया है। गद्य की भाषा सुष्ठ, और प्रांजल है, देशज प्रयोगों से अछूती विशुद्ध अलंकृत भाषा का प्रयोग यत्र तत्र पाया जाता है। महारानी विक्टोरिया के लिये प्रयुक्त अलंकारों के तारतम्य की छटा देखिये :—

"तुम लोग अब एक बेर जगत् विख्याता ललना कुल कमलकलिका प्रकाशिका, राजनिचय पूजित पाद पीठा, सरल हृदया, आर्द्र चित्त, प्रजा रंजन-कारिणी एवं

दयाशीला आर्य्या स्वामिनी राज राजेश्वरी महारानी विक्टोरिया के चरण कमलों में इस दुःख का निवेदन करो ।[1]

× × ×

भारत माता अपनी स्वगत प्रशंसा भी उसी शैली की पदावली में करती है।

"अपने को रमणी-सरसरोजनी, रमणी कुल गर्व, रमणी धुरिकीर्तनीया, रमणी ललाट तिलक, रमणी शिरोभूषण, रमणी-मौक्तिकमणि समझ अपने भाग्य को सराहती थी..."

अभिनेय प्रयोजन के लिये उक्त रूपक मध्यम कोटि का कहा जा सकता है, यद्यपि नाट्यकार ने रंगमंचीय निर्देशों को भी संकेतात्मक विधि से देने का प्रयास किया है, जो निम्न प्रकार से है :—

स्थान—बड़ा भारी खण्डहर

१—(एक टूटे देवालय की सहन में एक मैली साड़ी पहिने बाल खोले भारत-जननी निद्रित सी बैठी है, भारत सन्तान इधर उधर सो रहे हैं। भारत सरस्वती आती है, सफेद चन्द्र जोत छोड़ी जाय, ठुमरी गाती हुई)

२—(भारत माता के पास जाकर कई बेर जगाकर गाती है)

३—(अन्त का तुक गति और रोते रोते भारत-सरस्वती जाती है)

४—(भारत दुर्गा आती है, लाल चन्द्र जोत छूटे)

५—(रोते रोते हाथ की तलवार को दो टुकड़े कर भारत दुर्गा जाती है, भारत लक्ष्मी आती है, हरीचन्द्र जोत छूटे) (तथा रोते रोते जाती है)

नाट्यकार ने सफल निर्देशक की भाँति रंगमंचीय वातावरण के अनुकूल रूपक प्रस्तुत करने की चेष्टा की है, परन्तु भाषा की अलंकृत दुरूहता कहीं-कहीं रंगमंचीय योजना से दूर कृत्रिम सी प्रतीत होने लगती है, अभिनेय उपयोगिता होते हुये भी उच्चकोटि की कला कृतियों में नहीं गिना जा सकता है। सम्पूर्ण दृश्य में करुण रस का परिपाक विद्यमान दृष्टिगत होता है।

प्रतीक रूपक होने के नाते न तो कथावस्तु का ही निश्चित स्वरूप निर्धारित किया जा सका है, और न पात्रों के चरित्रांकन का विकसित रूप ही दृष्टिगोचर होता है। संवादों में अभिनेय कला की न्यूनता है। संवादों को नाट्यकार के प्रचारात्मक अभिव्यक्ति का साकार रूप कहा जाय तो अनुचित न होगा।

१—पृष्ठ संख्या २४२

संवादों में कलात्मक प्रौढ़ता का अभाव है। रूपक साधारण कोटि का है। नाट्यकार के राष्ट्रवादी विचारधारा के भाव अवश्य नवीन शैली तथा मार्ग निर्देश करते दिखाई देते हैं।

भारत दुर्दशा ६ अंकों का हास्य रूपक है, भारत वर्ष के प्राचीन गौरव का स्मरण दिलाते हुये, वर्तमान हीन अवस्था की ओर लक्ष्य कर उद्धार की प्रेरणा से पूर्ण सुधारवादी मनोवृत्ति को दृष्टि में रखकर इस रूपक की रचना की गई है। सम-सामयिक राष्ट्रीय वातावरण को नाटकीय स्वरूप देने का प्रथम प्रयास कहा जा सकता है। भारत, भारत दुर्दैव, निर्लज्जता, आशा, सत्यानाश, रोग, आलस्य, मदिरा, अन्धकार, डिसलायलटी, भारत-भाग्य आदि प्रतीक पात्र हैं। सांकेतिक परम्परा का आधार लेकर पात्रों का मानवीकरण कर दिया गया है। उक्त नाटक में नाट्यकार की उन्मुक्त राष्ट्रीय भावना का यथार्थ ज्ञान मिलता है।

कथानक में नाट्यकार ने समसामयिक मनोवृत्तियाँ तथा वातावरण पर आलोचना पूर्ण विचार-विमर्श किया है। अतीत के गौरव तथा वर्तमान के अभाव और हीनता से संतुलित करने में उसे बड़ी निराशा का अनुभव होता है। यवनों की दासता से अंग्रेजी शासन को सुख-पूर्ण समझता है, और नाट्यकार का अनुमान है, कि इस काल में भारत वर्ष को सदियों से खोई हुई चेतना पुनः प्राप्त हो सकती है। शासक सभी शोषण की मनोवृत्ति लेकर आते हैं, अंग्रेज भी भारतीय समाज को कब उन्नतिशील देखना चाहते हैं? परतन्त्रता और मोह-निद्रा में पड़े देश-वासियों को अपनी युगान्तकारी भावनाओं से वह यदा-कदा सचेत करता रहता है। उसके करुणार्द्र रोदन का मन्तव्य समाज के दैनिक जीवन में आने वाली राजनीतिक विपत्तियों की ओर संकेत है—

'अंग्रेज राज सुख साज सजे सब भारी,
पै धन विदेस चलि जात इहै अति ख्वारी ॥
ताहू पै महँगी काल रोग बिस्तारी।
दिन दिन दूने दुख ईस देत हा हा री।
सबके ऊपर टिक्कस की आफत आई।
हा! हा!! भारत दुर्दशा न देखी जाई ॥

नाट्यकार समाज के प्रति उत्तरदायी कुसंस्कारों में परिष्कार करना चाहता है। वह अनुभव करता है, कि कलह, आलस्य, धार्मिक अन्धता, अज्ञानता और कुमति ने भारत को पतन के गह्वर में ढकेल दिया है, उस पर महँगी, भ्रष्टाचार, छुआछूत, मदिरापान, अपव्यय, अदालत तथा फैशन आदि सामाजिक दूषण सर्वस्व नाश की ओर ले जा रहे हैं।

पाँचवे अंक में देश के उद्धार के लिये योजना बनाने वाले लोगों की मन्त्रणा का उपेक्षापूर्ण व्यंग चित्रण है, जो निर्भीकता से सामाजिक कुरीतियों का सामना नहीं करना चाहते। सरकार के विरोध से मुँह चुराते हैं, तथा आपस में इस महती कार्य के लिये सहयोग नहीं देना चाहते हैं। नाट्यकार अपने निर्भीक आलोचक स्वभाव के कारण ही सरकार की अकृपा का शिकार बनता है।

'हम क्या करें, गवर्नमेन्ट की पालसी यही है। कवि-वचनसुधा नामक पत्र में गवर्नमेन्ट के विरुद्ध कौन बात थी, फिर क्यों उसके पकड़ने को हम भेजे गये ?"...

समस्त नाटक तटस्थ वृत्ति से लिखा गया दुखान्त रूपक है, नाट्यकार ने समाज-सुधारक के रूप में अपने प्रतीक पात्रों (निर्लज्जता, आशा, भारत दुर्दैव, सत्यानाश, रोग, आलस्य, तथा अन्धकार) द्वारा सन्देश बाहन किया है। उपर्युक्त भावों में नाट्यकार की राष्ट्रवादी भावनाओं का सहज ज्ञान प्राप्त होता है।

रूपक में पात्रोचित भाषा का प्रयोग मिलता है, रंगमंचीय दृष्टि से भाषा प्रयोगों का मूल्यांकन दर्शकों की रुचि के अनुकूल सरस तथा माधुर्य-पूर्ण है। संवादों में प्रचलित देशज मुहावरों तथा अन्य लोक-प्रिय प्रयोगों ने भाषा को सर्वप्रिय बना दिया है। व्यंगोक्तियों की भाषा भी बड़ी सरल प्रतीत होती है। नाट्यकार ने आलस्य के कथोपकथन में देशज प्रयोगों को भरभार सी करदी है।

"काजी जी दुबले क्यों, कहैं, शहर के अन्देशे से। अरे कोउ नृप होउ हमें का हानी, चेरी छांड़ि नहिं होइब रानी। आनन्द से जन्म बिताना। अजगर करैं न चाकरी, पन्छी करैं न काम। दास मलूका कहि गये सब का दाता राम। 'जो पढ़तव्यं सो मरतव्यं, जो न पढ़तव्यं सो भी मरतव्यं, तब फिर दंत कटाकिट किंकर्तव्यं ? भाई जात में ब्राह्मण, धर्म में बैरागी, रोजगार में सूद और दिल्लगी में गप सबसे अच्छी। घर बैठे जन्म बिताना, न कहीं जाना, और न कहीं आना। बस खाना, हगना, मूतना, सोना, बात बनाना, तान मारना, और मस्त रहना। अमीर के सर-पर और क्या सुरखाब का पर होता है, जो कोई काम नहीं करे वही अमीर। तवंगरी बदि लस्त न बमाल। दोई तो मस्त हैं, या माल मस्त या हाल मस्त।"[1]

भाषा में निम्न कोटि का व्यंग नहीं प्रतीत होता। सांकेतिक भाषा में नाट्यकार का प्रतीक पात्र अन्धकार के परिचय में परिभाषिक विश्लेषण की गम्भीर गरिमा निहित प्रतीत होती है।

"हमारा सृष्टि-संहार-कारक भगवान तमोगुण जी से जन्म है। चोर, उलूक और लंपटों के हम एक मात्र जीवन हैं। पर्वतों की गुहा शोकितों के नेत्र, मूर्खों के मस्तिष्क और खलों के चित्त में हमारा निवास है। हृदय के और प्रत्यक्ष, चारों

1— भा० दु० प्र० सं—४७४

नेत्र हमारे प्रताप से बेकाम हो जाते हैं। हमारे दो स्वरूप हैं; एक आध्यात्मिक और एक आधिभौतिक, जो लोक में अज्ञान और अंधेरे के नाम से प्रसिद्ध है।"[1]

भाषा बोधगम्य भावों को लेकर चलती है, नाट्यकार के भाव मय चित्रों में देश-प्रेम की ज्वाला-धधकती हुई प्रतीत होती है। सांकेतिक भावों में व्यंगोक्तियों की छटा नाट्यकार भारतेन्दु जी की भाषा का चमत्कार है।

अभिनेयता की दृष्टि से नाट्यकार ने रूपक में प्रत्येक संविधानों का एकत्रीकरण किया है। प्रत्येक अवस्था में उक्त नाटक में रंगमंचीय गरिमा पाई जाती है। नाट्यकार ने अभिनेय मूलक निर्देशन भी यत्र-तत्र किया है। जिससे उक्त रूपक का अभिनेय प्रयोजन स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। निम्नलिखित वातावरणों में अभिनेय निर्देशन प्रवृत्ति पाई जाती है :—

(१) दूसरे अंक में भारत के स्वरूप का वर्णन करते हुये नाट्यकार ने उसे फटे कपड़े पहिने, सिर पर अर्द्ध किरीट, हाथ में टेकने के लिये छड़ी तथा शिथिल मुद्रा में बताया है।

(२) निर्लज्जता का वर्णन करते हुये नाट्यकार ने जांघिया, सिर-खुला, ऊँची चोली, दुपट्टा ऐसा गिरता पड़ता कि अङ्ग तथा सिर खुला, खानगियों सा वेश का रूप प्रस्तुत किया है।

तीसरे अङ्क में भारत दुर्दैव के रूप में क्रूर आधा क्रिस्तानी आधा मुसलमानी वेष, हाथ में नङ्गी तलवार लिये व्यक्ति का वर्णन किया है।

चौथे अङ्क में आलस्य की कल्पना में मोटा आदमी जँभाई लेता हुआ, धीरे धीरे आता है। मदिरा के रूप में साँवली स्त्री लाल कपड़ा, सोने का गहना, पैर में घुँघरू पहिने हुए आती है। अन्तिम अङ्क में भारत-भाग्य का आत्मघात तथा जवनिका पतन आदि का प्रयोजन नाटक का रङ्गमंचीय स्वरूप प्रस्तुत करना है।

रूपक में करुण-रस का संचार है। तथा अन्त भी दुखान्त होता है। प्रतीक नाट्य होने के कारण व्यक्तिगत चरित्रों का कोई स्थान नहीं प्रतीत होता है। प्रतीक योजना के अनुसार भावनाओं का मानवीकरण किया गया है। मानवीय भाव-व्यापार की स्पष्ट झलक तो व्यंजित होती है, परन्तु व्यक्तित्वों में द्वंद के समाहार का अभाव है। अतः किसी भी व्यक्तित्व को चारित्रिक कसौटी पर कसना नितान्त दुष्कर प्रतीत होता है। काव्यात्मक नाटक में इसकी आवश्यकता भी नहीं है।

संवादों के प्रवाह से घटना-प्रवाह तथा द्वंदात्मक संघर्ष का कोई सम्बन्ध नहीं प्रतीत होता। सुधारक की मनोवृत्ति का प्रकाश करते हुये संवादों में नाट्यकार के

१—भा० दु० पृ० ४७६

व्यक्तिगत विचारों की छटा दिखाई देती है। पश्चिमी व्यंग्योक्ति पूर्ण नाट्य प्रणाली के नाट्यकार जार्ज बरनर्ड शा, इब्सन तथा गाल्सवर्दी की भाँति सहेतुक व्यंगों में सामाजिक परिष्कार का मंतव्य पूर्ण रूप से प्रकाशित कर देना उक्त नाटक के संवादों का विशेष चमत्कार है। रचना-पद्धति की दृष्टि से नाट्य-रासक के सम्पूर्ण लक्षण इसमें विद्यमान नहीं हैं। परन्तु विविध गान से सुसम्पन्न होने के कारण उसका लास्य रूपक नामकरण अधिक उपयुक्त कहा जा सकता है। लास्य का अधिकांश प्रयोजन संगीत से रहता है, रचना का आरम्भ मंगलाचरण से होते हुये भी उसमें पाश्चात्य नाट्य मनोवृत्तियों का समावेश दृष्टिगत होता है। विषय निर्वाचन, वस्तु सङ्गठन, अन्त; आदि सभी दृष्टियों से पाश्चात्य मनोवृत्ति का प्रभाव स्पष्ट झलकता है। दुखान्त की मूल प्रेरणा पाश्चात्य नाट्य रचना-विधान की देन है, वस्तु सङ्गठन में शैथिल्य का आभास दिखाई देता है। कथा वस्तु घटनाओं का समाहार लेकर द्रुति-गति से चलती है परन्तु चरमोत्कर्ष में पहुँचकर समाप्त हो जाती है, इससे ऐसा भासित होता है कि नैसर्गिक विकास का अवकाश नहीं मिल सका। अधूरा कथा-प्रसङ्ग बनकर रह गया है। सामान्य दृष्टि से उक्त नाटक में कलात्मक अवयव पाये जाते हैं। प्रतीकात्मक दृष्टि से चरित्र-सङ्गठन का विकास नहीं दृष्टिगत होता, अन्यथा यह रचना भारतेन्दु जी की उत्कृष्ट रचना होती।

कलात्मक विकास की दृष्टि से भारतेन्दु जी के नाटकों का विवेचन निम्न दृष्टिकोण लेकर किया जा सकता है—प्रथम कोटि के नाटकों में कलात्मक दृष्टि से अविकसित नाटक जो कि प्रारंभिक प्रयोगों के रूप में प्रस्तुत हैं, जिनका विषय चयन सामान्य तथा वस्तु व्यापार अविकसित कहा जा सकता है। इस प्रारम्भिक कोटि की रचनाओं में विषस्य विषमौषधम्, अन्धेर नगरी तथा वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति आदि प्रहसनों को लिया जा सकता है। द्वितीय कोटि के नाटकों में कलात्मक विकास का एकांगीपन पाया जाता है, जिस प्रकार चन्द्रावली नाटिका में प्रेम प्रधान व्यंजना का बाहुल्य होते हुये कथा प्रसंग में प्रौढ़ता नहीं प्रतीत होती है। उत्कृष्ट भाव प्रधान नाटिका होते हुये भी, कथोपकथन तथा वस्तु विन्यास की दृष्टि से रचना सर्वांग पूर्ण नहीं है। प्रेम योगिनी सामाजिक यथार्थवादी नाटिका होते हुये भी वस्तु व्यापार की अपूर्णता के कारण नाटिका के सम्पूर्ण लक्षणों का विकास दृष्टिगत नहीं होता।

राजनैतिक धरातल पर निर्मित नाटक राष्ट्र उन्नायक की प्रचारात्मक प्रवृति का इतिवृत्तात्मक चित्र है। प्रतीकवादी उपालम्भों की मानवीय अवतारणा देकर भी नाट्यकार कलात्मक प्रौढ़ता देने में असमर्थ रहा है। कथावस्तु तथा चरित्रों की योजना प्रतीक में कल्पित धरा पर विचरने वाले व्यक्तित्वों के निर्माण में प्रौढ़तम नहीं

बनाई जा सकती है। यद्यपि भारत जननी तथा भारतदुर्दशा कलात्मक दृष्टि से विकसित नाटक कहे जा सकते हैं, फिर भी कलात्मक प्रौढ़ता का अभाव है।

सती प्रताप एक पौराणिक रचना है, कथावस्तु तथा चरित्रों का उत्थान कलात्मक आधार पर हुआ है, परन्तु अपूर्ण रह जाने पर उसे कोई सुनिश्चित स्थान दे देना नितान्त असंगत है। यदि उक्त नाटक का कथानक भारतेन्दु जी द्वारा पूर्ण कर दिया गया होता तो निश्चय ही उसका कलात्मक विकास प्रौढ़ नाटकों की कोटि में होता।

नीलदेवी ऐतिहासिक धरातल पर विश्राम करने वाली उत्कृष्ट रचना है, कलात्मक दृष्टि से प्रथम कोटि की रचना कही जा सकती है। कथावस्तु का व्यवस्थित निर्माण चारित्रिक विकास का सहायक है। चरित्रों में व्यक्तिगत विकास की व्यंजना प्रचुरता से पाई जाती है, जोकि अन्य नाटकों में अभाव के रूप में प्रस्तुत है। नाटक में रस का नियोजन पात्रों के तथा वस्तु व्यापार के उत्कर्ष में समान गति से चलता है। रस परिवर्तन की योजना कथावस्तु तथा चारित्रिक विकास द्वारा प्रस्तुत की गई है। नीलदेवी नाटक कलात्मक सम्पूर्ण अंगों से पूरित नाटक के रूप में प्रौढ़तर कृति के रूप में कलाकार द्वारा प्रस्तुत की गई है।

कलात्मक विकास और विभाजन की दृष्टि से सम्पूर्ण मौलिक नाटकों का आकलन प्रस्तुत है। परन्तु वातावरण मूलक वर्गों में नाट्यकार भारतेंदु जी की विचारधारा को उपर्युक्त प्रकार के वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। भारतेन्दु-युग के नाटकों में मुख्यतः यही मनोवृत्ति पाई जाती है, जोकि मूल रूप से भारतेन्दु जी द्वारा ही निर्धारित समझी जानी चाहिये। भारतेन्दु जी अपने मौलिक नाटकों में मुख्य रूप से राजनीतिक, सामाजिक परिष्कार की भावना को लेकर चलते हैं। आदि से अन्त तक अपनी मौलिक कृतियों में राष्ट्र-चेतना, सामाजिक परिष्कार तथा धार्मिक रूढ़ि के प्रति विद्रोह इंगित करते हुए दिखाई देते हैं।

सम्पूर्ण नाटकों को विभिन्न शैली और वर्गों में विभाजित किया जा सकता है, सर्वप्रथम नाटक व्यंगात्मक प्रज्ञा को लेकर चलते हैं, उनका मूल मंतव्य सामाजिक तथा धार्मिक परिष्कार होता है, परन्तु उनमें हास्य की प्रचुरता होने के कारण प्रहसन की कोटि के हैं। विषस्य विषमौषधम्, अन्धेर-नगरी तथा वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति इसी वर्ग के नाटक हैं।

भारतेन्दु जी ने व्यंग्यात्मक यथार्थवादी चित्रों को नाटिका के रूप में प्रस्तुत किया है। प्रेम प्रधान नाटिका के प्रेमतत्व में भारतेन्दु जी की निज की मौलिक विचारधारा है। प्रेम के आध्यात्मिक चिन्तन में नवीन शैली का अन्वेषण किया

गया है। दो विभिन्न प्रकार की नाटिकाओं के रूप विभिन्न दृष्टिकोण से प्रस्तुत किये गये हैं। इस वर्ग में प्रेम योगिनी तथा चन्द्रावली नाटिका आती हैं।

तृतीय वर्ग पौराणिक तथा ऐतिहासिक नाटकों का है। जिसमें सती प्रताप तथा नीलदेवी को रखा जा सकता है, उक्त धारा को लेकर भारतेन्दु युग के अन्य कला कारों ने लेखनी उठाई और इसमें सन्देह नहीं कि अपने युग प्रवर्तक से भी उच्चकोटि की रचनायें प्रस्तुत हुई।

राजनीतिक तथा सामाजिक हित-चिन्ता का सुधारवादी आन्दोलन जोर पकड़ रहा था। विदेशी भारतीय समाज के शोषण में लगे हुये थे। भारतीय चेतना की अलख जगाने वाला राष्ट्र उन्नायक कलाकार के रूप में अवतरित हुआ। अपने रूपकों में सम-सामयिक स्थिति का यथेष्ट चित्रण देकर देश को अमर चेतना दी। भारत जननी तथा भारत दुर्दशा इसी भावधारा के शंखनाद के रूप में समाज के सामने प्रस्तुत किये गये थे, जिस भाव धारा को पुष्पित और पल्लवित कर भारतीय स्वतन्त्रता की कल्पना को साकार रूप में प्रस्तुत किया गया है।

अग्रिम अध्यायों में प्रत्येक वर्ग की विशद् विवेचना प्रस्तुत की जायगी, जिससे उक्त कला कृतियों का समुचित मूल्यांकन हो सके।

दशम अध्याय

मौलिक प्रहसन

नाट्य शास्त्र[1] में प्रहसन का विवेचन किया गया है। प्रहसन की अवतारणा हास्य व्यंजित अभिनय से हुई है। रूपक के दस भेदों में प्रहसन रस जनित रूपक भेद है। भाषण तथा प्रहसन के लक्षणों में अधिक भेद नहीं है। वीथी के सम्पूर्ण तेरह अंगों को प्रयोग किया जा सकता है। आरभटी वृत्ति तथा विष्कंभक और प्रवेशक का प्रयोग इसमें वर्जित है। प्रहसन के तीन भेद हैं। शुद्ध, विकृत और संकर।

शुद्ध प्रहसन में पाषंडी, सन्यासी, तपस्वी अथवा पुरोहित नायक के रूप में उपस्थित होते हैं। इसमें चेट, चेटी, विट आदि निम्न स्तर के पात्र भी प्रस्तुत किये जाते हैं। हास्य की व्यंजना वेश भूषा और कथोप-कथन के प्रवाह पर निर्भर रहती है। अभिनय में हास्य रस का संचार अधिकता से पाया जाता है, कथोपकथन में हास्य पूर्ण उक्तियों का होना आवश्यक है।

विकृत प्रहसन में नपुंसक, कंचुकी और तपस्वी आकर अपने स्वभाव के विपरीत विचारों को व्यक्त करते हैं, जो हास्यास्पद प्रतीत होते हैं। क्लीव की काम युक्त वार्ता में विरोधाभास तथा हास्यप्रद व्यंजना निहित होती है।

संकीर्ण प्रहसन में विनोद की मात्रा अधिक होती है। नायक धूर्त होता है, प्रपंच, छल, अधिबल, नास्तिकता असत्प्रलाप, व्याहार और मृदव आदि वीथ्यंगों का व्यवहार प्रचुरता से किया जाता है।

१—'प्रहसनमपि विज्ञेयं द्विविधं शुद्धं तथैव संकीर्णम्
तस्य व्याख्यास्ये अहं पृथक पृथक लक्षण विशेषान् ॥१०६
भगवत्ताप सभिक्षु श्रोत्रिय विप्रातिहास संयुक्तम्।
नीच जन सम्प्रयुक्तं परिहासा भाषण प्रायम् ॥१०७
अविकृत भाषाचारं विशेष हासोपहास रचितपदम्।
वियताति वस्तु विषयं शुद्धज्ञेयं प्रहसनंतु। १०८
वेश्या चेट नपुंसक धूर्तविटा वन्धकीचपात्र स्युः।
अभिमृत वेष परिच्छद चेष्टा करणातु संकीर्णम् ॥१०९
लोकोपचार युक्ता या वार्ता यश्य दम्भ संयोग।
तत्प्रहसनेप्रयोज्यं धूर्त विट विवाद सम्पन्नम् ॥११०
उद्धात्यकादिभिरिदं विथ्यंगे मिश्रित भवेन्मिश्रम्।
भाणास्यापि हि लक्षणमतः परं सम्प्रवक्ष्यामि ॥१११
(नाट्य शास्त्रम् पृष्ठ सं० २३४—२३५)

प्रहसन तथा वीथी का एक ही उद्देश्य है। दोनों ही समान रूप से समाजिकों की रुचि को अभिनय की ओर आकृष्ट करते हैं, अतएव साहित्य दर्पणकार के अनुसार वीथी के अंग प्रहसन के अंग भी सम्भव हो सकते है, परन्तु प्रहसन में उनकी सत्ता मूल रूप से ऐच्छिक होती है। किन्तु रसार्णव सुधाकर में प्रहसन के इन से भिन्न दस और अंग माने गये हैं। यथा—अवलगित, अवस्कंद, व्यवहार, विप्रलंभ, उपपत्ति, भय, अनृत, विभ्रांति, गद्गद् वाणी और प्रलाप इत्यादि।

(१) अवलगित में जिस आचरण को ग्रहण करना उक्तिसंगत है, उसी का मोह तथा अज्ञान के कारण त्याग देना बताया जाता है। (२) अवस्कंद में अनेक पुरुषों द्वारा किसी अयोग्य वस्तु के सम्बन्ध में उसके गुण के विपरीत प्रशंसा करना भाषित होता है। (३) व्यवहार दो से अधिक पुरुषों का हास्योत्पादक स्वसंवाद होता है। (४) विप्रलंभ में आधार रहित कल्पना को मनवाने के लिये बाध्य करना तथा अपने अनुकूल वातावरण पैदा कर लेना जिससे सत्य के भी विषय में भ्रम हो जाय। (५) उपपत्ति का प्रयोग उन स्थानों पर सम्भव है, जहाँ किसी प्रसिद्ध बात को लोक प्रसिद्ध युक्ति से हास्य का विषय बनाया जाय। (६) भय में नगर रक्षकों आदि से त्रस्त वातावरण की कल्पना की गई है। (७) अनृत में झूठी स्तुति करना तथा अपने मत की प्रशंसा का इच्छुक रहना उपहास जनित भाव रहता है। (८) वस्तु साम्य से उत्पन्न मोह को विभ्रांति कहते हैं। (९) झूठे रोने से मिले हुये कथन को गद्गद् वाक् कहते हैं। (१०) प्रलाप में अयोग्य का योग्यता से अनुमोदन करना प्रदर्शित किया जाता है।

उपर्युक्त सभी अंगों की मौलिक मनोवृत्ति से स्पष्ट है, कि प्रायः सब में हास्य रस का उद्रेक होता है। जो भारती वृत्ति के अनुरूप, सुनने वालों के हृदयों को चमत्कृत कर उन्हें आनन्द में निमग्न कर देते हैं। प्राचीन नाट्य परम्परा में वीथी और प्रहसन प्रस्तावना के ऐसे अंशों को सम्बोधित किया जाता था, जिनमें हास्य अथवा आमोद जनक चमत्कार पूर्ण उक्तियों की प्रधानता रहती थी, और जो सामाजिकों के चित्त को प्रसन्न कर अभिनय देखने के लिये उनकी रुचि को उत्कंठित करते थे। प्रहसन तथा वीथी वृत्तिभेदों के ही विकसित रूप माने गये हैं। जिस प्रकार ये प्रस्तावना से नाटक के सर्वाङ्ग में संक्रमित हुये इसी प्रकार नाट्यशास्त्रियों ने इन्हें मानवीय आमोद-विनोद प्रकृति के अनुकूल समझकर रूपक जगत में अपनी स्वतन्त्र सत्ता स्थापित कर दी। इसके पूर्व इन्हें प्रस्तावना का अंशमात्र समझा जाता था।

संस्कृत नाट्य साहित्य में विनोद की भावना लेकर नाट्यान्तर्गत विदूषक चेट, चेटी, विचक्षणा, विट आदि पात्र गम्भीर वातावरण में हास्य का प्रयोजन उपस्थित

करने के लिये प्रस्तुत किये जाते हैं। इन पात्रों का कार्य प्रहसन के विविध अंगों में कथोपकथन प्रस्तुत कर दर्शकों का मनोरंजन करना है।

पाश्चात्य साहित्य जगत में अरिस्टाटिल ने प्रहसन का मूलाधार असामंजस्य (Incongruity) माना है। खटकने वाली असमानता तथा बेतुकेपन से व्यंजित भावों में हास्य तथा प्रहसन की कल्पना की गई है. हास्य रहस्य का अन्वेषण करने वाले एम. वर्गसन (M. Burgson) ने आटोमेटिज़्म (Automatism) को हास्य की व्यंजना का एक स्वरूप माना है। परिस्थितियों की परवशता में हास्यास्पद कार्य का होना या करना इससे ध्वनित होता है। इन्हीं दोनों हास्य मूलक मनोभावों के अनुरूप ही मुक्त भावना (Sense of liberation) भी हास्य व्यंजना प्रतिपादित करता है परन्तु उसमें उच्छृङ्खल वेग होता है। इस प्रकार के प्रहसनों का नाट्य रूप निम्न कोटि का कहा गया है। अतः उपर्युक्त तीन प्रकार के हास्य रहस्य अर्थात् बेतुकापन, परिस्थिति-परवशता, और उच्छृङ्खल व्यवहार, कठपुतलीपन हास्य तत्वान्वेषकों के मतानुसार मूल प्रेरणायें थीं।

प्रहसन में तीन मुख्य मनोवृत्तियाँ काम करती हैं। (१) विनोद (Humour), (२) बुद्धि कौशल, (Wit) (३) कटाक्ष (Satire), विनोद में हास परिहास की भावना रहती है, जिसमें हँसाने वाला पात्र अपने कार्य पर स्वयं भी हँसता है, और दूसरों को हास्य का आनन्द लेने का अवसर देता है। यहाँ पर दर्शकों के साथ मिलकर हँसने की भावना कार्य करती प्रतीत होती है। विनोद में आमोद की प्रचुरता का प्रकाशन रहता है।

बुद्धि-कौशल (Wit) तात्कालिक हास्य मूलक संवाद में जहाँ हाजिर जवाबी की होड़ सी लग जाती है, और उक्त प्रसंग के सुनने तथा देखने वाले उससे आनंद प्राप्त करते हैं। इसमें बुद्धि-व्यापार के प्रयोग से व्यंगोक्तियों को एक दूसरे पर घटित किया जाता है, यह हास्य युक्तियों का आक्रमण प्रत्याक्रमण करने वालों का संघर्ष प्रथम पुरुष तथा मध्यम पुरुष को इतना आह्लाद नहीं पहुँचाता, जितना कि अन्य पुरुष इसका आनन्द प्राप्त करते हैं। व्यंग्य का एक भाव बदलकर आक्षेप की सीमा तक पहुँच सकता है। आक्षेप मूलक व्यंगभावना का नामकरण पाश्चात्य मनोवेत्ताओं ने आइरनी (Irony) के रूप में किया है।

तृतीय वर्ग की मनोवृत्ति कटाक्ष (Satire) के रूप में प्रस्तुत की गई है। आक्षेप मूलक मनोवृत्ति में तीव्रता तथा कटुता का भाव आ जाता है, तो वह कटाक्ष समझना चाहिये। कटाक्ष में आलोचना की मनोवृत्ति अधिक तीव्रता से जाग्रत दिखाई देती है। व्यंग्य में तो केवल उपहास का ही भाव रहता है, परन्तु कटाक्ष में

उपहास के साथ उपेक्षा का भाव निहित रहता है। ऐसा कटाक्ष हास्य की सीमा से बाहर निकल जाता है। कटुता पैदा करने वाले हास्य में प्रहसनगत सौन्दर्य नहीं रहता, उक्त दोष से बचने का नाट्यकार सदैव प्रयत्न करता है।

पाश्चात्य नाट्यकारों ने इन्हीं दृष्टिकोणों का अपने प्रहसनों में समावेश कराने का प्रयत्न किया है। शेक्सपियर के नाट्य कथानकों में (Clowns) क्लाउन्स विदूषकों की कल्पना तथा उनके चारित्रिक व्यापार में इन्हीं तीनों मनोवृत्तियों का समावेश मिलता है।

हिन्दी नाट्य साहित्य का आरम्भ संस्कृत नाट्यानुवादों से प्रस्तुत किया गया है। प्रारम्भिक हास्य शैली का प्रभाव अनूदित नाटकों द्वारा प्राप्त प्रेरणा से ही मिलता है। अनुवादों में प्रयुक्त विदूषक वार्ता ही हास्य रस संचारी मनोवृति थी। प्रारंभिक रूप में स्वतन्त्र प्रहसन का स्वरूप हिन्दी में दृष्टिगोचर नहीं हो सका। प्रहसन के प्रथम स्वरूप का स्वतन्त्र दर्शन भारतेन्दु युग में ही होता है। प्रहसन प्रणाली के जनक हिन्दी नाट्य साहित्य में भारतेन्दु जी ही हैं। कलाकार युग-द्रष्टा होता है। सम-सामयिक परिस्थिति का मूल्यांकन ही उसकी अनुभूति से अर्जित लेखनी का प्रतिफल है। भारतेन्दु जी के व्यंग्यों का आधार सामयिक, धार्मिक, सामाजिक तथा राजनीतिक पृष्ठ-भूमि है। कलाकार अपने व्यंग्य बाणों का संधान केवल इसलिए नहीं करता कि उक्त व्यंग्योक्तियों का शिकार मर्माहत होकर भ्रमित हो जाय। समाज के दूषणों को समाज के सामने स्पष्ट रूप से लाने में कलाकार का मन्तव्य सुधार-भावना से प्रेरित होता है। उसका विरोध केवल विरोधी पैदा करने के लिए नहीं है, प्रत्युत अपनी कमजोरियों को पहिचानने की क्षमता उत्पन्न कराने में है।

भारतेन्दु जी के प्रहसनों में विनोद तथा हास्य के अतिरिक्त सामाजिक परिष्कार की भावना निहित है। रूढ़िवादी परम्परागत दूषण तथा कर्म के नाम छद्म-वेश को कलाकार स्पष्ट रूप से रख देना चाहता है, जिससे समाज उनके इन्द्रजाल में न आ सके। प्रहसनों में हास्य का प्रयोजन द्वैअर्थक है, जिसमें उपहास की मनोभावना में सामाजिक दूषणों से बचने के लिए एक चेतावनी भी प्रस्तुत की जाती है।

भारतेन्दु जी का युग सामाजिक नवोत्थान का युग था, समाज-नायक ने एक चेतना-पूर्ण आन्दोलन को नया रास्ता दिखाया, जिसमें समसामयिक कलाकारों का यथेष्ट सहयोग प्राप्त हुआ। इस युग के कलाकारों की मनोवृति में हम युग-नायक की छाप पाते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि सुधारवादी आन्दोलन चल पड़ा था, और समाज सुधारक भारतीय समाज में नव-चेतना का भाव जाग्रत करना चाहते थे। यों तो भारतेन्दु जी के सम्पूर्ण मौलिक नाटकों में सुधारवादी मनोवृत्ति है, परन्तु प्रहसन

केवल निरर्थक हास्य प्रेरक तथा विनोद केवल आनन्द के प्रयोजन से नहीं रखे गये हैं। उक्तियों के व्यंग्य फिसलते हुये समाज को दृढ़ होकर तथा सँभल कर खड़े हो जाने की प्रेरणा प्रदान करते हैं।

भारतेन्दु जी की हास्य-गरिमा मूल रूप से तीन मौलिक रूपकों—विषस्य विषमौषधम्, अंधेर नगरी तथा वैदिकी हिंसा हिन्सा न भवति—में पाई जाती है। प्रथम तो राजनीतिक दुर्घटना के आधार पर एक व्यंग चित्र खींचा गया है। नीरस तथा अरुचिकर घटना के उल्लेख में घटना के प्रमाणित कथन का ही उद्‌घाटन करना उद्देश्य नहीं है, परन्तु उस कोटि के लोगों को एक प्रकार की चेतावनी से सचेत कर देने की व्यापक प्रेरणा कार्य करती प्रतीत होती है। अंधेर-नगरी के कथानक का मूल प्रयोजन दुर्बुद्धि शासक की अयोग्यता प्रदर्शित करना है। ऐसी अवस्था में अत्याचार तथा स्वेच्छाचारिता बढ़ती है, रक्षक का रूप भक्षक में परिणत हो जाता है। समाज का जीवन कभी भी सुरक्षित नहीं रह सकता। ऐसे राज्यपालक से यदि उस राज्य नियन्त्रक का लोप ही हो जाय, तो अधिक सुखकारी है। वेदों के नाम पर, धर्म के नाम पर अधर्म करने वालों के द्वारा समाज सहज ही पथ-भ्रष्ट किया जा सकता है, ऐसी सम्भावना प्रायः रहती है। इस प्रकार के समाज के ठेकेदार जो धर्माचरण का कलेवर पहनकर अधर्म रत रहते हैं, समाज के लिए अत्यधिक घातक सिद्ध हो सकते हैं, अतः समाज के सामने उनके समस्त कार्य-कलाप प्रस्तुत कर देना कलाकार का कर्तव्य हो जाता है। इसी कर्तव्यवश प्रेरित समाज के उन्नायक के रूप में भारतेन्दु जी ने प्रहसन के रूप में समाज को भ्रमित करने वालों की कलई खोली है।

विषस्य विषमौषधम् भाण रूपक है। भाण रूपक के लक्षणों में निम्न बातें आवश्यक हैं। उसमें एक अंक और एक ही पात्र होता है, यह पात्र कोई बुद्धिमान विट होता है, जो अपने तथा दूसरों के धूर्तता पूर्ण कृत्यों को वार्तालाप के रूप में प्रकाशित करता है। वार्तालाप किसी कल्पित व्यक्ति के साथ होता है। रंगमंच पर आकर नायक आकाश की ओर देखता हुआ, सुनने का नाट्य करता हुआ कल्पित पुरुष की उक्तियों को स्वयम् दोहराता है, और उनका उत्तर देता है। इस प्रकार की उक्ति प्रत्युक्ति आकाश-भाषित कही जाती है। रंगमंच पर वह पात्र स्वयम् ही प्रश्न करता है, और स्वयमेव उत्तर देता है, तथा शौर्य एवं सौन्दर्य के वर्णन से वीर और शृङ्गार रस का आविर्भाव करता है। भाषा में प्रायः भारतीय वृत्ति का आश्रय लिया जाता है, कहीं-कहीं कैशिकी का भी प्रयोग मिलता है, इसमें अंगों के सहित मुख और निर्वहण दो संधियाँ होती है। नाट्य शास्त्रकार ने भाण के लक्षणों के विषय में निम्न विचार प्रस्तुत किये हैं :—

"धूर्त विट सम्प्रयोज्यो नानावस्थान्तरात्मक श्चैव ।
एकांको बहुचेष्टः सततं कार्यो बुधैर्भाणः ॥ ११४
भाण स्यापिहि निखिलंलक्षण मुक्तं तथागमानुगतम् ।
वीथ्याः सम्प्रति निखिलं कथयामि यथाक्रमंविप्नाः ॥[1]

उपर्युक्त लक्षणों के अनुरूप ही विषस्य विषमौषधम् में एक ही पात्र की कल्पना है। भण्डाचार्य के कथोपकथन में ऐतिहासिक घटना विशेष के कुछ रहस्यों का उद्घाटन मिलता है। बड़ौदा नरेश की शासन अव्यवस्था तथा चारित्रिक हीनता के रहस्यों का उल्लेख करता है। आकाश-भाषित सम्वादों में स्वयम् ही प्रश्न करता है, और उन्हीं प्रश्नों के आधार पर रहस्य मूलक घटनाओं का उल्लेख करता है, और पतन का कारण बताता है। नौ पृष्ठों का सम्पूर्ण भाण भण्डाचार्य का नाटकीय वक्तव्य है। दुर्व्यसनी बड़ौदा नरेश से असन्तुष्ट होकर ब्रिटिश शासन-कर्ताओं ने उन्हें पद्च्युत कर दिया। इसी प्रसंग को लेकर व्यंग्यात्मक ध्वनि में कुशासन तथा अत्याचार की परिधि का उलंघन कर असह पीड़ा पहुँचाने वाले स्वेच्छाचारी शासक के पतन का दृष्टान्त समाज के समक्ष प्रस्तुत किया गया है।

प्रारम्भ में जहाँ से भण्डाचार्य स्त्री सम्बन्धी वचनों के बाद ही महाराज मल्हारराव के सुख के सम्बन्ध में चर्चा करते हैं, वही कथा का आरम्भ, बीज तथा मुख-सन्धि है। मल्हारराव का पतन ही फल है, और यहीं फल के योग से निर्वहरण सन्धि भी होगी।

विषस्य विषमौषधम् की भाषा में व्यंग्य और कटाक्ष का समावेश यत्र तत्र पाया जाता है, कथा के स्वरूप को आकाश-भाषित शब्दों में ही प्रस्तुत किया गया है। शीर्षक के अनुरूप कथावस्तु का सम्बन्ध उस उल्लेख से है, जहाँ मल्हारराव अपने शासन सम्बन्धी कार्यों में हस्तक्षेप करने वाले रेजी-डेण्ट की मृत्यु का षड्यंत्र करवाते हैं और उसे विष देकर मरवा देना चाहते हैं। उक्त घटना का भण्डाफोड़ हो जाने पर उनका कुचक्र उन्हीं के लिये स्वयम् विष के रूप में परिणत हो जाता है, इस प्रकार शीर्षक के कथन की पुष्टि हो जाती है।

वक्तव्यों के रूप में अनेक ऐतिहासिक उल्लेखों का समाहार है। कथानक का नगण्य रूप तथा एकांकी पात्र योजना में कथावस्तु निर्माण तथा चारित्रिक विकास का होना नितान्त असम्भव सा प्रतीत होता है। ऐसी अवस्था में रस की स्थिति भी दुष्कर हो जाती है। भाण की भाषा में व्यंग्य योजना का आधिक्य है। व्यंग्यात्मक कटाक्षों में मल्हारराव के पतन का उल्लेख किया गया है।

१—नाट्यशास्त्र—११४, ११६, पृष्ठ सं० ५३५

"पर नारी पैनी छुरी ताहि न लाओ अंग।
रावन हू को सिर गयो पर नारी के संग॥

हमारी दशा भी रावण की सी हुआ चाहती है, तो क्या हुआ होय,

रावन ने दस सिर दिये जनक-नन्दनी काज।
जो मेरो एक सिर गयो तो यामे कहं लाज॥

"देखो पर स्त्री संग से चन्द्रमा यद्यपि लांछित है, तो भी जगत को आनन्द है, वैसे ही (मोछों पर हाथ फेर कर) हम बड़े कलंकित सही, पर हमीं इस नगर की शोभा हैं। भला दुष्ट बाबा भट्ट ! क्या हुआ, तुमने हमारा सब भेद खोल दिया, यह भेद खुलने पर भी हमने तुम्हें और कृष्णा बाई को न छकाया, तो मेरा भण्डाचार्य नाम नहीं।"

ऊपर के कथन में भण्डाचार्य ने किसी की कृत्याकृत्य गोपन मनोवृत्ति को लेकर भेद खुल जाने पर उसके प्रतिशोध की चेतावनी दी। वर्ण्य विषय को प्रकाश में लाने के लिये भाणकार ने संकेतात्मक शैली का प्रयोग किया है। जिसमें व्यंग्यात्मक व्यंजना तथा कटाक्ष दोनों का ही समावेश पाया जाता है। कुछ ऐतिहासिक तथ्यों का उल्लेख करते हुये अंग्रेजी शासन के उत्कर्ष पर आश्चर्य प्रगट कर उनकी बुद्धि और सुशासन की प्रशंसा की है। "धन्य है ईश्वर ! सन् १५६६ में जो लोग सौदागरी करने आये थे, वे आज स्वतन्त्र राजाओं को यों दूध की मक्खी बना देते हैं।" ऐसा प्रतीत होता है कि मल्हारराव की शासन-व्यवस्था अत्यन्त दयनीय परिस्थिति को पार कर गई थी। इसीलिये यहाँ लेखक को भारतीय राजाओं के पतन के बाद अंग्रेजी प्रभुत्व के स्थापन पर किसी प्रकार का दुःख नहीं है। वह भारत की कल्याण कामना करता हुआ निम्नलिखित भरत-वाक्य भी उपस्थित करता है :—

"परतिय पर-धन देख न नृपगन चित्त चलावैं,
गाय दूध बहु देयँ, मेघ सुभ जल बरसावैं।
हरिपद में रति होय न दुख कोऊ कहँ व्यापै॥
अँगरेजन का राज ईश इत थिरकरि थापहि।
श्रुति पंथ चलैं सज्जन सबहि सुखी होय तजि दुष्ट भय,
कवि-बानी थिर रस सों रहै, भारत की नित होय जय॥

वास्तव में इतिहास और राजनीति सम्बन्धी विचारों से भारतेन्दु जी की देश-वत्सलता और देश-हितैषिता में कोई अन्तर नहीं पड़ता। वे भारत में अंग्रेजी राज्य की स्थापना को ऐतिहासिक घटनाचक्र द्वारा उत्पन्न परिस्थितियों के अनुकूल समझते थे, और उस समय की विचार-धारा के अनुसार अंग्रेजी राज्य में दोष

देखते हुए और उन दोषों की कटु आलोचना करते हुये भी भारतेन्दु जी की देश-वत्सलता में राज्य-भक्ति का भी यथेष्ट पुट विद्यमान था। इस भाण की रचना नाट्यशास्त्र के सिद्धान्तों के अनुसार हुई। एक दुश्चरित्र के व्यक्तित्व के चरित्र-चित्रण में सामाजिकों को हँसाने और वैसे आचरण से दूर रखने के मन्तव्य से विषस्य विषमौषधम् चेतावनी के रूप में प्रस्तुत की गई है। एक ही अंक में आकाश की ओर देखकर आकाश-भाषित कथनों को लम्बे-लम्बे वक्तव्यों के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

अन्धेर नगरी शुद्ध प्रहसन है, इसमें विष्कंभक तथा प्रवेशक का प्रयोग नहीं किया गया है, इसका नायक सन्यासी है, और इसमें हास्यपूर्ण उक्तियों का बाहुल्य है। प्रथम अंक में ही महन्त द्वारा लोभ न करने के आदेश के अन्तर्गत बीज माना जा सकता है। फलतः यहीं मुख-संधि सम्भव होगी। अन्तिम अंक में फाँसी के लिये गोवर्धनदास तथा गुरु में होड़ का प्रसंग निर्वहण सन्धि के अन्तर्गत माना जायेगा, और राजा का फाँसी पर चढ़ना फलागम होगा।

कथावस्तु अत्यन्त मध्यम कोटि की है, जिसका एक मात्र उद्देश्य मनोरंजन ही प्रतीत होता है, किन्तु मनोरंजन भी उच्चकोटि का नहीं है। कथानक में अविकसित मस्तिष्क को रुचिकर घटनाओं का उल्लेख है। साथ ही कथानक में लोक-रुचि के अनुकूल हास्य-रस की घटनाओं का उल्लेख है। स्वर्ग मिलने वाली गुरु की बात को सत्य मानकर राजा का फाँसी पर चढ़ना हास्य का प्रधान हेतु है। अन्त में गुरु के शब्दों में लेखक का मत है कि जीवन तथा राष्ट्र को सुरक्षित रखने के लिये धर्म, नीति और बुद्धि की महती आवश्यकता होती है।

प्रहसन घटना प्रधान है, और प्रत्येक पात्र पाठकों के मनोविनोद का प्रयोजन पूर्ण करता हुआ दिखाई देता है। राजा के चौपट होने का परिचय तो प्रारम्भ में ही मिल जाता है। राजा निर्बुद्धि तथा स्वेच्छाचारी है। स्वर्ग के लोभ में फाँसी के लिये प्रस्तुत हो जाने से वह गुणों की सार्थकता सिद्ध कर देता है। प्रहसन के प्रत्येक पात्र, विशेषतः राजा के चरित्र में हास्य की अवतारणा में अतिरंजना का समावेश मिलता है। प्रहसन हास्य रस प्रधान है।

प्रहसन में हास्य तथा विनोद की व्यंजना आदि से अन्त तक रहती है। [१] राजा के चरित्र में नाट्यकार ने विनोद की नैसर्गिक सीमा को तोड़ दिया है।

१—राजा (पीनक से चौंक के घबड़ा कर उठता है) क्या कहा ? सुपनखा आई, आईए महाराज (भागता है)

\+ \+ \+ \+

राजा—अच्छा चुन्नीलाल को निकालो, भिश्ती को पकड़ो। (चूने वाला निकाला जाता है, भिश्ती लाया जाता है) क्यों बे भिश्ती ? गंगा जमुना की किश्ती, इतना पानी क्यों दिया कि इसकी बकरी गिर गई और दीवार दब गई।

यहाँ विनोद केवल विनोद की दृष्टि से ही उपस्थित जान पड़ता है। नाटकीय कथोपकथन में क्षणिक विनोद की सामग्री तो अवश्य है, परन्तु बुद्धिवादी हास्य और विनोद की दृष्टि से मध्यमकोटि के प्रयोग हैं, जिनको प्रौढ़ हास्य सामग्री की कोटि में नहीं रखा जा सकता।

विनोद तथा व्यंग्य संमिश्रित कथोपकथन में ऐसे पूज्य की कल्पना की गई है, जहां विवेक तथा अविवेक, न्याय और अन्याय का विवेचन करना कठिन है, जहाँ धर्म और न्याय का नियन्त्रण नहीं है, उस स्थान पर रहना नाट्यकार के शब्दों में असुरक्षित है।

"सेत सेत सब एक से जहां कपूर कपास।
ऐसे देश कुदेश में कबहुँ न कीजै वास॥
कोकिल बायस एक सम, पंडित मूरख एक।
इन्द्रायन दाड़िम विषय जहाँ न नेकु विवेक॥
बसिए ऐसे देश नहिं कनक-वृष्टि जो होय।
रहिए तो दुख पाइए प्रान दीजिए रोय॥" (७०)[२]

लौकिक आधार पर प्रहसनकार ने ऐसे देश की कल्पना की है, जहाँ सभी धान बाइसपसेरी के बिकते हैं, जहाँ ज्ञान-अज्ञान का विवेचन नहीं होता। इस प्रकार की ध्वन्यार्थ व्यंजना सम्भवतः सम-सामयिक शासन की स्थित देखकर उत्पन्न हुई होगी। निरीह सामाजिक बात-बात में कष्ट पाता था, अपने कष्टों पर प्रतिवाद करने वाले को समुचित न्याय भी नहीं मिलता था।

प्रहसनकार ने अपने असन्तोष को स्पष्ट रूप में पाँचवें अंक में गोवर्धनदास द्वारा निम्न गीत के रूप में कहलाया है :—

"अन्धेर नगरी अनबूझ राजा। टका सेर भाजी टका सेर खाजा।
नीच ऊँच सब एकहि ऐसे। जैसे भडुँए पडित तैसे॥
कुल-मरजाद न मान बड़ाई। सबै एक से लोग लुगाई॥
जात-पाँत पूँछै नहिं कोई। हरि को भजै सो हरिका होई॥

\+ + + +

साँचे मारे मारे डोलैं। छली दुष्ट सिर चढ़ि चढ़ि बोलैं॥
प्रगट सभ्य अन्तर छल धारी। सोई राजसभा बल भारी॥
साँच कहैं, ते पनहीं खावैं। झूठे बहु विधि पदवी पावैं।
भीतर होय मलिन की कारो। चहिए बाहर रँग चटकारो॥

१—भा० ना० प्रा० पृष्ठ ५५६

धर्म अधर्म एक दर साई। राजा करे सो न्याय सदाई ॥
भीतर स्वाहा बाहर सादे। राज करहिं अमले अरु प्यादे ॥
अन्धा धुन्ध मच्यौ सब देशा। मानहुँ राजा रहत विदेशा।

स्पष्ट है कि उपरोक्त गीत की उद्भावना से अंग्रेजी शासन की अव्यवस्थित साम्राज्य-शाही नीति की कटु आलोचना व्यंग्य रूप में प्रस्तुत की गई है। नाट्यकार स्पष्ट आलोचक था, [१] ब्रिटिश सरकार ने चाटुकार अमीर तथा अयोग्य लोगों को सदैव प्राथमिकता दी है जिसकी आलोचना भारतेन्दुजी ने सदैव की, जिस कारण उन्हें सरकार का कोप भाजन बनना पड़ा।

मौलिक प्रहसनों में अन्धेरनगरी सर्वाधिक लोकप्रिय प्रहसन है, शीर्षक तो इतना व्यापक है कि देशज प्रयोगों में भी लोग अन्याय पूर्ण वातावरण में इसी को मुहावरे के रूप में प्रयोग में लाते हैं। ऐसा जान पड़ता है कि परम्परा से उक्त शीर्षक का प्रयोग उक्त अर्थ में करते आये हैं। प्रहसन-गत गीतों में लोक-प्रिय व्यञ्जना है। बोधगम्य भाषा में अपने मन्तव्य को रखा गया है। घासीराम तथा पाचक के लटके अब भी बड़े ही मनोयोग से चने अथवा चूरन बेचने वालों द्वारा कहे जाते हैं। सम सामयिक स्थिति का प्रकाश येन केन प्रकारेण नाट्यकार की कलाकृतियों में मिलता है, इसी लिये विनोदात्मक चित्रों का उल्लेख पद्यांशों में भी मिलता है। मध्यम कोटि के विनोदशील प्रहसन में नाट्यकार का व्यक्तित्व काव्य मर्मज्ञ के रूप में स्पष्ट दिखाई देता है। अश्लीलत्व दोष होते हुये भी भाव-व्यंजना का निम्नपद में अच्छा निदर्शन मिलता है :—

"मछली वाली :— मछरी ले मछरी।
मछरिया एक टके कै बिकाय।
लाख टका कै बाला जोबन, गाहक सब ललचाय।

१—प्रस्तुत रचना बङ्गला के किसी सुप्रसिद्ध राजनीतिक नाटक के आधार पर रचित बताई गई है, परन्तु कोई प्रमाण प्रस्तुत नहीं है।

\+ \+ \+ \+

२—देशी राजाओं में निरंकुशता स्वेच्छाचारिता तथा विलास प्रियता बड़ी तीव्रता से घर कर रही थी, इसीलिये वह अकर्मण्य तथा अयोग्य प्रमाणित होकर पदच्युत भी किये जा रहे थे, इस पर पूर्व ही प्रकाश डाला जा चुका है। सम्भवतः व्यक्ति विशेष पर आक्षेप न होकर व्यापक नीति की आलोचना है

\+ \+ \+ \+

३—देश प्रेम का उत्साही कलाकार जन जागरण को समुचित स्वरूप न दे पाया, जीवन-पर्यन्त उसे असन्तोष तथा नैराश्य भावनायें व्यथित करतीं रहीं। नाट्यकार की भावनाओं का साकार रूप विद्यमान दृष्टिगत होता है।

नैन—मछरिया रूप जाल में, देखत ही फँसि जाय।
बिनु पानी मछरी सो बिरहिया, मिले बिना अकुलाय।"

अभिनेय दृष्टि से गेय पद उत्कृष्ट भावाभिव्यंजना का रूपक है। यदि इसके ग्राम्यत्व, पर दृष्टिपात न किया जाय तो अवश्यमेव भाव सादृश्य का अनुपम उदाहरण है।

अन्धेर नगरी प्रहसन का हास्य मध्यम कोटि का है। रचना-पद्धति के आधार में यह मध्यम कोटि का प्रहसन कहा जा सकता है। प्रहसन की कथा वस्तु साधारण कोटि की है, कहीं-कहीं पर ऐसे अंश विद्यमान हैं, जो देश की तत्कालीन अवस्था पर प्रकाश डालते हैं। प्रहसन में कोई ज्वलंत उद्देश्य नहीं प्रतीत होता। प्रहसन के अन्तर्गत अति नाटकीयता अस्वाभाविकता है।

वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति भारतेन्दु जी का शुद्ध प्रहसन है। इसमें शुद्ध प्रहसन के सभी लक्षण विद्यमान हैं। नाटकीय दृष्टि से यह प्रहसन कुछ शिथिल सा प्रतीत होता है। प्रत्यक्षतः इस रचना का नायक राजा (गृद्धराज) है, अतः फल का भोक्ता उसी को होना चाहिये, किन्तु फलोदय का आभास नहीं दिखाई देता, इसलिये यह कहना नितान्त दुष्कर है कि नायक की कोटि में कौन सा पात्र आता है।

प्रस्तुत प्रहसन में कथोद्धात नाम्नी प्रस्तावना है। यहाँ सूत्र धार के भाव लेकर पात्र रंगमंच पर आता है। प्रथम अंक में राजा और पुरोहित के कथोपकथन में बीज का आरम्भ पाया जाता है। पुरोहित के कथन में "हाँ हाँ ! हम कहते हैं, और वेद, शास्त्र, पुराण, तन्त्र सब कहते हैं। "जीवो जीवस्य जीवनम्" वह इसे शास्त्र सम्मत मानता है, और उसी को अंत तक प्रतिपादित करता है। अतः यहीं बीज के साथ ही मुख सन्धि का होना पाया जाता है।

अन्तिम अंक में यमराज के दूत संयमी पुरी की प्रजा का यह सन्देश यमराज को देता है कि मृत्युलोक से लाये गये जीवों को शीघ्र ही नरक भेजा जाय, अन्यथा उनकी दुर्गन्धि से उनके प्राण निकल रहे हैं, यहीं निर्वहण सन्धि है। राजा, मन्त्री, पुरोहित तथा गंडकीदास को नरक यातना देना फल की प्राप्ति है।

उक्त प्रहसन कुछ सीमा तक प्राचीन नाट्य शास्त्रीय लक्षणों से अनुशासित है। परन्तु इस प्रहसन का प्रयोजन केवल विनोद के लिये विनोद नहीं है। इसमें समाज की निन्दनीय बातों पर व्यंग का तीव्र वज्राघात है। भारतेन्दु जी ने अपने प्रहसन में पाश्चात्य कामेडी की शैली का अनुकरण किया है, उन्होंने तत्कालीन धार्मिक और सामाजिक समस्या को लेकर उनके दौर्बल्य पर तीव्र व्यंग कसे हैं।

धर्म का आश्रय लेकर हिंसा करने वाले लोगों की उपर्युक्त रूपक में तीव्रतम

आलोचना की गई है। व्यंग्यात्मक कटाक्षों में धार्मिक तथा सामाजिक वितण्डावाद का नग्न चित्र प्रस्तुत किया गया है। व्यंग्य की शैली की प्रेरणा का स्रोत पाश्चात्य अनुकरण मालूम होती है।

वेद, शास्त्र, पुराण तथा तन्त्र के अर्थों को भ्रान्ति मूलक बनाकर पिस्ट पेषण किया गया है।

"लोके व्यवायामिष मद्य सेवा
नित्यास्ति जन्तोनहि तत्र चोदना ॥"

उपर्युक्त कथन भागवत में लिखित बताया गया है। असंगत प्रयोग है। पुरोहित तथा मन्त्री के कथन में इसी प्रकार की विवाद पूर्ण मनगढ़न्त सूत्रों का उल्लेख है, जोकि असंगत प्रसंग हैं। परन्तु उनमें व्यंग्य की गरिमा विद्यमान है। धर्म के नाम पर भोग-विलास युक्ति-संत बताने वालों के तर्क पर विचार कर देखा जाय तो कथन केवल उपहासकारी प्रयोजन से ही कहा गया प्रतीत होता है, गम्भीरता का अभाव है। निम्न कथोपकथन में प्रहसन की व्यंग्यात्मक व्यञ्जना का यथेष्ठ परिचय मिलता है।

पुरोहित—"सच है और देवी की पूजा नित्य करना इसमें सन्देह नहीं है, और जब देवी की पूजा भई तो मांस-भक्षण आ ही गया। बलि बिना पूजा होगी ही नहीं, और जब बलि दिया तब प्रसाद अवश्य लेना चाहिये। अजी भागवत में बलि देना लिखा है, जो वैष्णवों का परम पुरुषार्थ है।"

"धूपोपहार बलिभिः सर्व काम वरेश्वगी"

मन्त्री—और 'पञ्च पंचनखा भक्ष्याः' यह सब वाक्य बराबर से शास्त्रों में कहते ही आते हैं।

पुरो०:—"हाँ हाँ जी, इसमें भी कुछ पूँछना है, अजी साक्षात् मनु जी कहते हैं":—

"न मांस भक्षणे दोषो न चमैथुने"
और जो मनु जी ने लिखा है कि—
"स्वमांसं परमांसेन यो वर्द्धयितुमिच्छति"
सो वहीं लिखते हैं :—
"अनभ्यर्च्य पितृनं देवान्"

इससे जो खाली मांस भक्षण करते हैं उनको दोष है। महाभारत में लिखा है कि ब्राह्मण गोमांस खा गये पर पितरों को समर्पित था इससे उन्हें कुछ भी पाप न हुआ"।

इस कथोपकथन से स्पष्ट ध्वनित होता है कि नाट्यकार उक्त विचारधारा के लोगों का उपहास करना चाहता है। तर्कों में किसी प्रकार की सार्थकता व्यञ्जित नहीं की गई है। केवल धर्म के नाम पर असंयत बातों का उल्लेख कर उद्धरणों का दुरुपयोग किया गया है।

प्रस्तुत प्रहसन हिन्दू जाति की सामाजिक कुप्रथाओं पर तीखा व्यंग्य है। वैभव मानव हृदय में विलास के प्रति आकर्षण उत्पन्न करता है, और अन्ततोगत्वा उसे विलासी बनाकर उसका लौकिक एवं पारलौकिक जीवन दोनों ही पतनोन्मुख कर देता है। मानव मन इतना निर्बल है कि वह भोग-लिप्सा की लालसा से अपने दोष नहीं देख पाता। जो कुछ करता है, उसे न्यायोक्ति मानकर कर बैठता है। उसकी मानसिक दुर्बलता कभी भी उसे अपने दोषों को स्वीकार नहीं करने देती। वह अपने पापों के औचित्य समाधान के लिए शास्त्रों की दुहाई के प्रमाण खोजने लगता है। यदि कहीं भी अन्य प्रसंगवश भी प्रमाणों में शिथिल प्रयोग मिल जाते हैं, तो आत्म परितुष्टि के लिये उनका आश्रय लेने लगता है। मानव स्वभावतः दुर्गुणों की ओर अधिक आकृष्ट होता है, उनमें क्षणिक आनन्द की आभा झलकती है। उसी लालसा से वह उन्हें कथित गुण अथवा सद्कार्य समझकर दौड़ पड़ता है, परन्तु उनके उसे परिणाम अत्यन्त भयंकर भोगने पड़ते हैं। मूल रूप में अच्छाइयाँ मानव हृदय में बहुत कम ठहर पाती हैं।

भोग और वैभव की लालसा के वशीभूत पुरोहित को धर्म के विरुद्ध व्यवस्था देनी पड़ती है, और दूसरों को अन्धकार में रखकर अनाचार करवाते हैं, केवल स्वार्थ साधन की भावना से प्रेरित होकर उन्हें ऐसा करना पड़ता है। जान बूझकर अन्धकार के कूप में कूदने वाले तथा पापाचरण की व्यवस्था देने वाले सामाजिक जीवन के कलंक स्वरूप हैं, इनसे बचते ही रहना कल्याणकारी है।

धर्म के रूप में अव्यवस्था का साम्राज्य देखकर स्वार्थलोलुप मन्त्री भी छल-कपट युक्त जीवन व्यतीत करता है, सुमंत्रणा के बजाय कुमंत्रणा ही को राजा के लिये उपयुक्त समझता है। इस आचरण में उसके स्वार्थ-साधन का आवरण कार्य कर रहा है, जो उसे सन्मार्ग पर चलने नहीं देता, और पापरत रहने के लिए प्रोत्साहित करता है। मनमानी व्यवस्था देकर धर्म के ठेकेदारों ने धार्मिक सम्प्रदायों को क्रीड़ा-केन्द्र बना लिया है, और समाज के निरीह प्राणियों को कुत्सित व्यवस्था देकर पथभ्रष्ट करते रहते हैं। उनका बाह्य आडम्बर त्रिपुंड धारी गंडकीदास की तरह रहता है, परन्तु उनके कार्य एक विलास-प्रिय बेश्या प्रेमी से कम नहीं रहते। नाट्यकार के कतिपय आक्षेप समाज के कथित ठेकेदारों का यथार्थ व्यंग चित्र है। प्रहसन के रूप में कलाकार ने धर्म के नाम पर ढोंग करने वाले धर्म के ठेकेदारों को खुले शब्दों में ललकारा है।

नाट्यकार सामाजिक व्यंग्यों के कटाक्ष से हटकर कहीं-कहीं व्यक्तिगत आक्षेपों की ओर इंगित करता प्रतीत होता है।

चित्र०—'महाराज, सरकार अंगरेज के राज्य में जो उन लोगों के चित्तानुसार उदारता करता है, उसको 'स्टार आफ इण्डिया' की पदवी मिलती है।

यम०—'अच्छा ! तो बड़ा ही नीच है, क्या हुआ मैं तो उपस्थित हूँ।

'अंतः प्रच्छन्न पापानांशास्ता वैवस्वतो यमः'

तत्कालीन अंगरेज सरकार की चाटुकारी के उपलक्ष में पाये हुये उपाधिधारियों के प्रति उनका यह व्यंग्य वाण प्रतीत होता है, जो उदारता का ढोंग रचकर उससे ख्याति की कामना रखते थे।

तृतीय अंक के निम्न कथन में नाट्यकार के व्यक्तिगत जीवन की झलक मिलती है।

'उसमें जिन हिन्दुओं ने थोड़ी भी अंगरेजी पढ़ी है व जिनके घर में मुसलमानिन स्त्री है, उनकी कुछ बात नहीं, आजाद हैं।'

नाट्यकार की इस गर्वोक्ति में स्पष्ट भाषण तथा निर्भीकता का आभास मिलता है। नाट्यकार ने अपनी चिरपरिचित प्रेयसी को जो परिस्थितिवश हिन्दू स्त्री से धर्म परिवर्तित कर मुसलमान हो गई थी, शुद्ध करवाकर अपने आश्रय में रखा, जिस कारण विद्रोही कलाकार को समाज का विरोध सहना पड़ा। उक्त भावों में समाज के प्रति व्यंग्य उलहने के रूप में प्रस्तुत दिखाई देता है।

कथावस्तु के अन्तर्गत शैव तथा वैष्णव का भी प्रसंग आया है, यद्यपि इनके प्रसंग की कोई विशेष आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। फिर भी इन्हें धर्म और अधर्म के सन्तुलन के लिये रखना आवश्यक प्रतीत होता है। चतुर्थ अंक में इन्हीं का आश्रय लेकर नाट्यकार धर्म तथा सत्य और अधर्म तथा मिथ्या का विवेचन करता है। परन्तु घटनाओं का घात-प्रतिघात बढ़ाकर दो विरोधी तत्वों में संघर्ष दिखाना उपयुक्त समझा। फिर अंत में धर्म की विजय शैव तथा वैष्णव को आदर तथा राजा, मन्त्री, पुरोहित तथा गंडकीदास को दण्ड देना उपयुक्त है। घटनाक्रम के विकास में शीघ्रता से काम लिया गया है, और आलोचनात्मक दृष्टिकोण रखकर एकांगी बना दिया गया है। इसमें दोनों विरोधी तत्वों के संघर्ष का कम संयोग मिलता है, जो कि उक्त प्रहसन की रोचकता को न्यून कर देता है। यदि धर्म और अधर्म दोनों के संघर्ष के बाद धर्म की प्रतिष्ठा तथा विजय की कल्पना की गई होती, तो निम्न भरत वाक्य की उपयोगिता तथा महत्व अधिक दृष्टिगोचर होता :—

"निज स्वारथ को धरम दूर या जग सों होई।
ईश्वर पद में भक्ति करें छल बिनु सब कोई ।।
खल के विष बैनन सों मत सज्जन दुख पावैं।
छुटै राज कर मेघ समय पै जल बरसावै ।।
कजरी ठुमरिन सों मोड़ि मुख, सत कविता सब कोई कहै।
यह कवि बानी बुध-बदन में रवि ससिलौं प्रगटित रहै ।।"

प्रारम्भ से लेकर अंत तक प्रहसन में एक ही लक्ष्य का समावेश पाया जाता है। घटना क्रम में नैसर्गिक घात-प्रतिघात नहीं दृष्टिगोचर होता, कथावस्तु की न्यूनता तथा एकांगीपन खटकता है। घटनाओं के अभाव और वस्तु कथा के संकुचित निदर्शन के कारण चारित्रिक विकास को कम अवसर प्राप्त हो सका है। प्रहसन में हास्य और व्यंग्य की गरिमा का अच्छा सामंजस्य है।

वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति भारतेन्दु जी का उत्कृष्ट प्रहसन है। प्रहसन-गत आया हुआ हास परिहास बौद्धिक है। समाज की वास्तविक कुरीतियों का बुद्धिवादी तर्कों में व्यंग्य रूपक देना नाट्यकार की कलात्मक सिद्धहस्तता का परिचायक है। भारतेन्दु जी के अन्य प्रहसनों से उक्त प्रहसन में उच्चकोटि का हास्यविनोद तथा व्यंग्य उपस्थित किया गया है। भारतेन्दु जी का उक्त प्रहसन युग के उत्कृष्ट व्यंग्य चित्रों में से है।

एकादश अध्याय

यथार्थवादी सामाजिक चित्र (प्रेम योगिनी) तथा प्रेम प्रधान नाटिका (चन्द्रावली)

प्रेम योगिनी :—

भारतेन्दु जी ने प्रेम योगिनी नाटिका के रूप में सामाजिक व्यंग्य चित्र प्रस्तुत किया है। समसामयिक सामाजिक वातावरण तथा उसकी प्रवृत्तियों का यथेष्ट चित्रण उक्त अपूर्ण नाटिका के रूप में पाया जाता है। सर्व प्रथम काशी के कुछ भले-बुरे चित्र शीर्षक में इसके प्रथम दो अंक प्रकाशित किये गये थे। नाटिका का महत्व नाट्यकार की व्यक्तिगत अभिरुचि को प्रकाशित करने में भी है। नाटिका के प्रारम्भ में नाट्यकार की अंतर्वेदना का यथेष्ट निदर्शन मिलता है। सामाजिक उपेक्षा से त्रस्त कलाकार की आत्मा कराह उठती है, और वह अपने व्यक्तित्व को भ्रांतिमूलक अप्रतिष्ठा देने वाले समुदाय की ओर इंगित करके कहता है—

कहैंगे सबै ही नैन नीर भरि भरि पाछे,
प्यारे हरिचन्द की कहानी रह जायगी।

सूत्रधार के शब्दों में नाट्यकार की आत्मा बोल उठी है। नाट्यकार के जीवन का यह वह काल रहा था जबकि कलाकार एक आर्थिक संकटापन्न स्थिति से गुजर रहा था, वह सामाजिक स्तम्भों द्वारा तिरस्कृत किया गया था।

"मित्र जानता हूँ कि तुम पर सब आरोप व्यर्थ हैं, हाँ! बड़ा विपरीत समय है (नेत्र से आँसू बहाता है")

कलाकार स्पष्टवादी था, निर्भीक आलोचक की भाँति वह सामाजिक दम्भियों को आड़े हाथों लेता है। फलतः वह सामाजिक कोप का शिकार बना।

चार गर्भांकों में काशी के चार पृथक सामाजिक चित्र प्रस्तुत किये हैं। इनमें समसामयिक सामाजिक जीवन का यथार्थ के नीड़ पर विश्राम करने वाले अनुपम व्यंग्य चित्र हैं। नाट्यकार उक्त व्यंग्य नाटिका में अपने व्यक्तित्व को भी समाज की एक इकाई मानता है और रामचन्द्र के व्यक्तित्व में व्यक्तिगत जीवन का भी कुछ उल्लेख करने का प्रयास किया है। कलाकार यदि यथार्थ की धरा पर सामाजिक रहस्यों को उद्‌घाटित करना चाहता है, तो उसी निर्भीकता से अपने दूषणों को

स्पष्ट प्रकाश में लाने में भी नहीं हिचकता, अपने दैनिक जीवन का जन-साधारण सामाजिकों पर क्या प्रभाव था यह उसने स्पष्ट व्यक्त कर दिया है।

प्रथम गर्भाङ्क में मन्दिरादर्श के रूप में गुसाइयों तथा संभ्रान्त नागरिक कहे जाने वाले लोगों की दूषित मनोवृत्ति का सजीव चित्रण है। काशी की मूल-देशज भाषा का सजीव प्रयोग पात्रों द्वारा कराया गया है। भाषागत प्रयोग में स्वाभाविकता लाने का प्रयास किया गया है। झपटिया, मिश्र, छम्मू जी, माखनदास मलजी, मथुरादास, वनितादास, वनदास तथा रामचन्द्र के कथोपकथन में सम-सामयिक सामाजिकता तथा तात्कालिक रुचि का परिचय मिलता है। पात्रों के विचारों का तत्कालीन नागरिक जीवन और उनकी विचार-धारा तथा दैनिक चर्या का यथेष्ट ज्ञान प्राप्त होता है।

काशी के नागरिकों की रसिकता का क्षेत्र व्यापक था, उनका धर्म-कर्म भी उनकी रसात्मक भावना का परितोषक था, उक्त पात्रों के कथोपकथन से व्यंजित होता है। रामचन्द्र के रूप में कलाकार का जीवन तथा दैनिक चर्या का उल्लेख हुआ है। उक्त पात्रों द्वारा नाट्यकार ने रामचन्द्र के विषय में जो सम्मतियाँ प्रकट की हैं, कलाकार ही के जीवन से सम्बन्ध रखती हैं। काशी के मध्यम तथा उच्च वर्ग के व्यवसायियों का रहन-सहन, विचार तथा मनोवृत्ति के समाहार का यथार्थ रूप प्रेमयोगिनी के प्रथम गर्भाङ्क में प्रस्तुत किया गया है। यथार्थ के धरातल पर पल्लवित होने वाला व्यंग्य-चित्र अपनी मनोहर झांकी उपस्थित करता है।

दूसरे गर्भाङ्क का "गैब्री-ऐब्री" नामकरण किया गया है। यहाँ काशी के दो प्रसिद्ध स्थानों का संकेत है। एक छोटी गैबी कहलाता है, और दूसरा बड़ी गैब्री। सायंकाल प्रायः काशी निवासी यहीं एकत्र होते हैं। दलाल, गंगापुत्र, दुकानदार, भंडेरिया, झूरीसिंह, यात्री तथा सुधाकर के कथोपकथन में काशी के उस कोटि के लोगों के दैनिक जीवन का विवेचन है, जो धर्म कर्म के नाम पर पण्डागीरी तथा बात बनाकर यात्रियों से पैसा ठगते हैं। स्पष्ट कहने पर लड़ने तक के लिये तैयार हो जाते हैं। यहाँ काशी का पद्य मय चित्रण यात्री द्वारा कराया गया है।

तीसरे गर्भाङ्क का नामकरण "प्रतिच्छवि वाराणसी" है। इसमें मुगल सराय स्टेशन का दृश्य है। भारतेन्दु जी के समय में काशी तक रेल का मार्ग न बन सका था। यात्रियों को गंगा पर पुल न होने के कारण यहीं उतरना पड़ता था। काशी के तीर्थ-यात्रियों के लिये पण्डे यहीं एकत्र हुआ करते थे। वे परदेशियों को काशी के परिचय में अनेकानेक विचित्र किंवदन्तियों को बताकर इसकी ऐतिहासिक प्रतिष्ठा को रोचक तथा गौरवान्वित बनाने में अपनी वाक्पटुता का प्रदर्शन किया करते थे। इसी प्रकार यात्रियों को अपनी ओर आकृष्ट करने की प्रणाली परम्परा से चली आ रही थी। विशेषतः रेल यात्रियों को पण्डों के गुमाश्ते दूर-दूर से पटाकर लाते थे, उन्हें अपने

यहाँ ठहरने का स्थान तथा सुविधा देकर उनसे यथा शक्ति ठगते थे, जो क्रम आज भी चला आता है। उक्त दलालों की देशज पारिभाषिक भाषा भी होती है, जो वे आपस में बोल लिया करते हैं, और यात्री नहीं समझ पाता। उस समय भी यात्रियों को ठगने का व्यापार इसी प्रकार खुलेआम चलता था। उक्त सामाजिक जीवन जिसका नाट्यकार ने यथार्थ रूप प्रस्तुत किया है, उस क्षेत्र में आज भी विद्यमान है। सुधाकर, विदेशी पण्डित तथा दलाल आदि पात्रों के कथोपकथन में उपर्युक्त भावों की व्यञ्जना यथेष्ट रूप में मिलती है।

चौथा गर्भाङ्क "घिस्स घिस द्वित कृत्य निकर्तक" दृश्य नाम का है। इसमें काशी वासी दक्षिणात्यों के दैनिक जीवन का चित्र चित्रित किया गया है, जो कि यजमानों के निमन्त्रण पर अवलम्बित रहते हैं। यही उनका व्यवसाय है, उनके विचार विनिमय की मुख्य चर्चा भाँग बूटी और भोजन का निमन्त्रण आदि ही रहती है। अकर्मण्य निश्चिन्त समाज निष्क्रिय रहकर लम्बी-चौड़ी बातों के सिवा कुछ अन्य कार्य नहीं करता। सुस्वादु पुष्ट तथा तरल पदार्थों का भोजन तथा दूधिया भाँग छानने की सदैव लालसा रहती है। व्यर्थ में समय काटने के लिये शास्त्र चर्चा का ढोंग रचे रहते हैं। इस वर्ग के भी लोगों की भारतेन्दु जी के समय में कमी न थी।

कोई न कोई धनी यजमान किसी भी बहाने भोज आयोजित कर देता था। तत्कालीन धनिक वर्ग में भोज तथा उद्यानों में आहार-विहार के आयोजन के निमंत्रणों की प्रथा प्रचलित थी। सामाजिक प्रतिष्ठा प्रतिपादित करने के लिये भोज तथा रासरंग समाज के धनिक वर्ग के लोग कराया करते थे। सामाजिक झूठी प्रतिष्ठा पाने के लिये इस वर्ग के लोगों में प्रायः होड़ हुआ करती थी, ऐसे अवसरों पर निमंत्रण भोगी ब्राह्मणों की बन आती थी। उक्त निमन्त्रणों के लिये वर्ग बनाकर रहने की परम्परा अब भी इन ब्राह्मणों में दृष्टिगत होती है। नाट्यकार ने इस वर्ग के दैनिक जीवन तथा मनोवृत्ति का बड़ा अंतरंग अध्ययन किया था। यह चित्र कलाकार के सूक्ष्म पर्यवेक्षण ज्ञान का द्योतक है।

संक्षेप में प्रेमयोगिनी में चार पृथक् चित्र दिये गये हैं, इसके अतिरिक्त कोई कथावस्तु नहीं है। निःसन्देह जीवन के विभिन्न पक्षों का चित्रमय प्रदर्शन इस अपूर्ण नाटिका में वर्तमान है। हिन्दी नाट्य साहित्य में यथार्थवाद का सर्व प्रथम प्रयोग उक्त रचना को लेकर भारतेन्दु जी द्वारा किया गया है। यदि यह नाटिका सम्पूर्ण हो पाती तो निश्चय ही यह एक सुन्दर दृश्य चित्रण के रूप में प्रस्तुत होती। कथावस्तु का अभाव पात्रों के चारित्रिक उत्थान की गति-विधि में गत्यवरोध कर देता है। विभिन्न रेखाचित्रों में पात्रों की झलक भर मिलती है। व्यंग्यात्मक उक्तियों में हास्य-रस का समावेश पाया जाता है।

नाटिका के लक्षणों के अनुसार प्रेमयोगिनी अपेक्षाकृत शिथिल नाटिका दृष्टिगोचर होती है। इसे नाटिका के रूप में न लेकर यदि प्रहसन के रूप में रखा जाता तो सम्भवतः अधिक उपयुक्त रहता। पात्रों में भाषागत सजीवता होते हुये विकास की न्यूनता पाई जाती है। देशज प्रयोगों का स्वाभाविक स्वरूप-उतर आया है।

प्रेम-प्रधान नाटिका (चन्द्रावली) :—

प्रस्तुत नाटिका में चार अंकों का प्रयोग हुआ है। इसमें स्त्री पात्रों का आधिक्य है। प्रारम्भ में शुकदेव जी तथा नारद जी का कथोपकथन प्रस्तुत किया गया है। आगे इनकी कोई चर्चा नहीं मिलती है। कृष्ण केवल एक ही बार अन्त में जोगिन के रूप में दिखाये जाते हैं। कथा का समस्त कार्य व्यापार चन्द्रावली तथा उसकी सखियों के बीच में घटित होता है। इसकी नायिका चन्द्रावली है। नियमानुसार नायक को ज्येष्ठा नायिका राधा का वशवर्ती होना चाहिये था, परन्तु ऐसा पूर्णतः घटित नहीं हुआ है। नाटिका के नियमानुसार ज्येष्ठा को पदे-पदे मानवती होना चाहिये, परन्तु ऐसा भी नहीं प्रदर्शित किया गया है।

नान्दी पाठ में चार पदों का प्रयोग हुआ है, इन्हें पृथक-पृथक रखकर अष्टपदी नांदी की जा सकती है। सम्भवतः इसी का प्रयोग भी किया गया है।

प्रस्तावना के अन्तर्गत सूत्रधार तथा पारिपार्श्वक के कथोपकथन द्वारा नाट्यकार विषय प्रवेश कराता है। यहीं पर नाट्यकार का सूक्ष्म परिचय भी दिया गया है, जो नाट्य रचनानुसार अधिक आवश्यक नहीं था।

विष्कंभक के अन्तर्गत शुकदेव जी का निम्नांकित कथन, "धन्य है, धन्य है! कुल को, वरन जगत को अपने निर्मल प्रेम से पवित्र करने वाली है।" यहीं से बीज का आभास मिलता है। आगे चलकर चंद्रावली तथा ललिता में प्रेम सम्बन्धी वार्ता होती है, यहाँ पर बीज स्पष्ट रूप से अंकुरित हो उठता है। प्रकरी के अन्तर्गत झूला झूलने के दृश्य का वर्णन लिया जा सकता है।

चतुर्थ अंक में जोगिन चन्द्रावली से गीत गाने के लिये आग्रह करती है। चन्द्रावली जोगिन को देखकर मन में कह बैठती है। "हाय प्राणनाथ कहीं तुम्हीं तो जोगिन नहीं बन आए हो।" कथा के इसी स्थल से कार्य प्रारम्भ होता है।

कार्य व्यापार की अवस्थायें तथा संधियों के अन्तर्गत-प्रथम अंक में ललिता चंद्रावली से उसके प्रेम के विषय में पूँछती है। चंद्रावली अपने प्रेम को छिपाना चाहती है, परन्तु यह गोप्य गोपन व्यापार अधिक देर तक टिक नहीं पाता। रहस्योद्-

घाटन हो जाता है। इसी वार्तालाप के बीच ही कथा का आरम्भ होता है, और यहीं मुख सन्धि भी मानी जा सकती है।

द्वितीय अंक में जहाँ चन्द्रावली कहती है "प्यारे तुम बड़े निरमोही हो। हा! तुम्हें मोह भी नहीं आता।" यहाँ वह अपने कथन द्वारा अपने प्रिय के पाने का प्रयत्न करती है। अतः कथा के इस अंश में यत्न माना जायगा, और यहीं प्रतिमुख संधि भी होगी।

तीसरे अंक में कामिनी तथा माधुरी के कथोपकथन में जहाँ चन्द्रावली का प्रसंग आता है कि 'हाँ चन्द्रावली बिचारी तो आप ही गई बीती है, उसमें भी अब तो पहरे में है, नजर बन्द रहती है, झलक भी नहीं देखने पाती है 'यहाँ पर चन्द्रावली के सम्बन्ध में विफलता की भी आशंका है। अतः यहाँ पर प्राप्त्याशा मानी जायगी। आगे चलकर कामिनी चन्द्रावली को कृष्ण से मिलाने के लिये प्रयत्नवान प्रतीत होती है। अतः इस कथा के बीच में गर्भसन्धि मानी जा सकती है

तृतीय अंक में ही चन्द्रावली तथा माधवी की बातचीत में नियताप्ति मानी जायगी। नियमानुसार नाटिका में विमर्श संधि नहीं होनी चाहिये। किन्तु यहाँ पर बीज के फलोन्मुख होने में विघ्न पड़ते हुये प्रतीत होते हैं। अतः यहाँ पर विमर्श सन्धि आ जाती है।

चतुर्थ अंक में जोगिन चन्द्रावली से गीत सुनाने के लिये आग्रह करती है। चन्द्रावली को सन्देह होता है कि यही जोगिनी तो कृष्ण नहीं है। अतः यहीं से फलागम माना जाना चाहिये। चन्द्रावली 'मन की कासों पीर सुनाऊँ' गीत गाती है, और बेसुध होकर गिरा चाहती है, कि कृष्ण उसे उठाकर गले लगा लेते हैं। यहीं पर निर्वहण सन्धि मानी जायगी।

नाटिका के नायक श्री कृष्ण हैं। प्रस्तावना के बाद ही विष्कंभक के अन्तर्गत शुकदेव जी तथा नारद जी के बीच कथोपकथन कराया गया है। शास्त्रीय विचार से अंक के प्रारम्भ होने के प्रथम ही विष्कंभक का प्रयोग नहीं होना चाहिये। नाटकीयता की दृष्टि से इसके अन्तर्गत कथोपकथन अत्यन्त लम्बे होने के कारण अनुपयुक्त प्रतीत होते हैं।

चन्द्रावली की कथावस्तु अत्यन्त सरल गति से विकसित होती हुई अपने अन्तिम ध्येय तक पहुँच जाती है। उसमें कथा वैचित्र्य का अभाव है। समान गति से चलने के कारण उसका प्रभाव मन्द अवश्य पड़ जाता है, किन्तु अभाव की पूर्ति कथा की रसात्मकता से हो जाती है।

सम्पूर्ण कथावस्तु का संगठन प्रेम, विरह तथा मिलन में केन्द्रीभूत है। इसी क्रमानुसार सुश्रृंखलित स्वरूप उपस्थित प्रतीत होता है। निस्पृह देवी प्रेम का सजीव चित्रण सच्चे प्रेमीभक्त द्वारा हुआ है। चन्द्रावली के प्रेम में हृदय की समस्त गहनता के साथ अनुराग है, जो सांसारिक वातावरण में रहते हुये भी उससे परे दृष्टिगोचर होता है। प्रकृति के साहचर्य से उस अनुराग में और भी तीव्रता उत्पन्न की गई है। प्रकृति को जीवन का पूरक मान कर हृदय की सात्विकता के उन्मेष के लिये उसका प्रयोग किया गया है। यही कारण है कि योगिनी-रूप श्री-कृष्ण और चन्द्रावली के मिलन से यमुना की शोभा का वर्णन कर एक पवित्र वातावरण उत्पन्न किया गया है। इस प्रकार भारतेन्दु जी ने हृदयगत अनुराग को प्रकृति के रेखा-चित्र में अंकित कर घटना को अलौकिक रूप दिया है, और उसमें समस्त रागात्मक अनुभवों का स्पष्टीकरण किया है, जो पुष्टिमार्ग की साधना में पूर्णरूप से घटित होते हैं। आत्मसमर्पण और आत्मोत्सर्ग की दृष्टि से चन्द्रावली अपने व्यक्तित्व तक को भुला बैठती है। यहाँ तक कि वह अपना परिचय प्रियतम के रूप में देने लगती है। यह अद्वैत भावना प्रेम की पराकाष्ठा है। इस प्रकार भारतेन्दु जी ने प्रकृति का आश्रय लेकर रागात्मकता की परिणति अलौकिक अनुभूति के रूप में की है। साथ ही काव्य तत्व ने उनके दृष्टिकोण को और भी सौन्दर्यपूर्ण बना दिया है। कोमल और स्निग्ध भावनाओं को संगीत का आश्रय मिला है, और भावनायें और भी अधिक विशद हो उठी है।

चन्द्रावली की कथा में अनुराग, प्रकृति और काव्य के सम्मिश्रण से भावनाओं के चित्र उभर आये हैं, और यही उसका सौन्दर्य है। उसमें अनुकृति और रस का अपूर्व सम्मिलन है। जिस कारण एक अनुपम काव्यात्मक प्रेमाख्यान बन गया है। किन्तु काव्य तत्व और रसात्मकता के कारण कथानक के प्रवाह और कार्य-व्यापार को आघात पहुँचता है, यह अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा। प्राचीन नाट्यशास्त्र की दृष्टि से वस्तु-विन्यास के लगभग सभी आवश्यक अंग उसमें मिल जाते हैं। कथावस्तु का विभाजन चार अंकों में है, और कथा उत्पाद्य है। सम्पूर्ण कथा में स्त्री पात्रों की ही प्रधानता है। नायक (कृष्ण) अन्त में आते हैं, वह भी पहले जोगिन के वेष में। नायक और नायिका का मिलन ज्येष्ठा की आज्ञा से होता है। पूर्व रंग, प्ररोचना तथा प्रस्तावना और अन्त में भरत वाक्य के अतिरिक्त अर्थ प्रकृतियों, कार्यावस्थाओं और सन्धियों का सुन्दर निर्वाह मिलता है। नाटिका में विष्कंभक का प्रयोग तो उचित प्रतीत होता है, किन्तु दूसरे अंक के अन्तर्गत अंकावतार सदोष है। सम्भवतः उसका प्रयोग अन्त सन्धि के रूप में हुआ है। सम्पूर्ण नाटिका में कौशिकी वृत्ति का प्रयोग है, और उसके चारों भेद क्रमशः चारों अंकों में आरोपित हैं।

वस्तुविन्यास में भारतीय नाट्यशास्त्र के सिद्धान्तों के घटित होने के अतिरिक्त पाश्चात्य पद्धति के अनुसार समय, स्थान और कार्य सम्बन्धी संकलन-त्रयी का भी अच्छा निर्वाह हुआ है।

कथावस्तु के आधार पर केवल चन्द्रावली का चारित्रिक विकास दिखाया जा सकता है। चन्द्रावली का ही चरित्र नाटिका का प्राण है। चन्द्रावली नाटिका में प्रारम्भ ही से वियोगिनी के रूप में आती है। सर्व प्रथम विष्कंभक में शुकदेव जी तथा नारद जी के कथोपकथन में बिरहिणी चन्द्रावली का वर्णन आता है।

"नारद—विशेष किसका कहूँ, और न्यून किसका कहूँ, एक से एक बढ़कर हैं। श्रीमती की कोई बात ही नहीं वे तो श्री कृष्ण ही हैं। लीलार्थ दो हो रही हैं, तथापि सब गोपियों में श्री चन्द्रावली के प्रेम की चर्चा आजकल ब्रज के डगर डगर में फैली हुई है।"

कृष्ण की अनन्य प्रेमिका चन्द्रावली उनके वियोग में आकुलता एवं तीव्र विरह वेदना अनुभव करती है। वह स्वयम् प्रेम के फन्दे में पड़कर व्यथा से बोझिल आँखों की दशा का वर्णन करती है।

मन मोहन ते बिछुरी जब सो,
तन आंसुन सों सदा धोवती हैं।
हरिचन्द जू प्रेम के फन्द परी,
कुल की कुल लाजहिं खोवती हैं।
दुख के दिन को कोऊ भाँति बिते
विरहागम रैन संजोवती हैं।
हम हीं अपनी दशा जानैं सखी,
निस सोवती हैं किधौं रोवती हैं।

विरह में प्रेम के उत्पीड़न की स्वभावोक्ति सी जान पड़ती है, प्रियतम के विरह में तड़पने वाली प्रेमिका का समाधान नहीं हो पाता। विरह-वेदना दृश्य की दावा को और अधिक प्रज्वलित कर देती है। वियोगमयी भावना का आधिक्य होने के कारण रातदिन चैन नहीं मिलता। चन्द्रावली उन्मादिनी की भाँति विरह की दावा में झुलसा करती है।

"राति न सुहात न सुहात परभात आली,
जब मन लागि जात काहू निरमोही सों॥"

× × ×

सखी ये नैना बहुत बुरे।
तब सों भए पराये, हरि सों जबसों जाइ जुरे॥

मोहन के रस बस ह्वै डोलत तलफत तनिक दुरे।
मेरी सीख प्रीति सब छाँड़ी ऐसे ये निगुरे ।।
जग खीझ्यौ बरज्यौ पै ये नहिं हठ सौं तनिक मुरे।
अमृत भरे देखत कमलन से विष के बुते छुरे ।।"

स्वयम् कृष्ण से प्रेम करती है, परन्तु विरह की मर्मान्तिक पीड़ा को असह्य जानकर वह कृष्ण को अपना वियोगी नहीं बनाना चाहती है, यहाँ प्रेम और विरह की सुन्दर सुकुमार व्यञ्जना है।

चन्द्रावली :— "नहीं सखी। ऐसा नहीं है। मैं जो आरसी देखती थी, उसका कारण दूसरा ही है। हा (लम्बी सांस लेकर) सखी! मैं जब आरसी में अपना मुँह देखती और अपना रंग पीला पाती थी, तब भगवान से हाथ जोड़कर मनाती थी कि भगवान मैं उस निर्दयी को चाहूँ पर वह मुझे न चाहे हा! (आँसू टपकाती है।)"

चन्द्रावली के प्रेम में प्रतिदान की भावना नहीं है। वियोगिनी नायिका का प्रेम पुनीत निष्काम भावना को लेकर चलता हुआ दिखाई देता है। समर्पण में आत्मत्याग की गरिमा निहित दिखाई देती है। वह कृष्ण को स्वतः प्रेम करना चाहती है, इसलिये कि वह आराध्य देव हैं, और वह उसे प्रिय हैं, परन्तु यह प्रेम प्रतिदान की भावना से प्रेरित नहीं दिखाई देता। प्रेम जन्य पीड़ा को वह अपने ही में केन्द्रित रखकर एकांगी बनाये रखना चाहती है। वह नहीं चाहती कि उसका प्रिय भी वियोग की दावा में इसी प्रकार पीड़ित हो।

आत्म-विस्मृति प्रेममय जीवन की एक अत्यन्त पुण्य दशा है,। प्रेमी इस अवस्था में संसार को भूलकर प्रियतममय हो जाता है, उसके रूप का दर्शन सर्वत्र पाता है, यह आत्म-विभोरावस्था प्रिय प्रियतम के एकाकार की बलवती स्पृहा उत्पन्न कर देती है। चन्द्रावली भी ऐसी ही अवस्था को प्राप्त जान पड़ती है। वह प्रिय चिन्ता में इतनी तन्मय है कि अपने देह गेह का किञ्चित् मात्र भी भान नहीं है। द्वितीय अंक में बनदेवी के निम्न कथन से इसकी पुष्टि होती है।

"...हाय! यह तो अपने सों बाहर होय रही है, अब काहे को सुनैगी।"

चन्द्रावली प्रेमातिरेक के कारण इतनी वेसुध हो जाती है कि उसे जड़-चेतन प्रकृति में किसी प्रकार अन्तर नहीं प्रतीत होता है, और वह मधुवन के वृक्षों से प्रियतम का पता पूछने लगती है :—

"अहो अहो बन के रूख कहुँ देख्यौ प्रिय प्यारो।
मेरो हाथ छुड़ाई कहौ वह कितै सिधारो ।।

अहो कदंब अहो अंब-निंब अहो बकुलन माला।
तुम देख्यौ कहुँ मनमोहन सुन्दर नँद लाला ॥"

विरह-उन्मादिनी चन्द्रावली को सब कुछ कृष्णमय दिखाई देता है। उसके जीवन के समस्त व्यापार कृष्णोन्मुख हैं। बनदेवी और चन्द्रावली के कथोपकथन से उक्त तथ्य की पुष्टि होती प्रतीत होती है :—

"बनदेवी :— (हाथ पकड़कर) कहाँ चली सजि कै ?
चन्द्रावली— पियारे सों मिलन काज।
बनदेवी— कहाँ तू खड़ी है ?
चन्द्रा० :— प्यारे ही को यह धाम है,
बनदेवी— मैं हूँ कौन बोलो तो ?
चन्द्रा०— हमारे प्रान प्यारे हौ न ?
बनदेवी— तू है कौन ?
चन्द्रा०— प्रीतम पियारे मेरो नाम है।

वियोगिनी नायिका के जीवन की उत्कट प्रेम भावना कहीं-कहीं ऐहिक जीवन का अतिक्रमण करती हुई जान पड़ती है, वह सांसारिक भावना से हटकर अभौतिकता की ओर उन्मुख प्रतीत होती है। द्वितीय अंक के प्रारम्भ में ही उसके कथन में उपर्युक्त व्यञ्जना ध्वनित होती है।

"वाह प्यारे! वाह! तुम और तुम्हारा प्रेम दोनों विलक्षण है, और निश्चय बिना तुम्हारी कृपा के इसका भेद कोई नहीं जानता, जाने कैसे? सभी उसके अधिकारी भी तो नहीं हैं, जिसने जो समझा है, उसने वैसा ही मान रक्खा है। "पर प्यारे! तुम्हारा प्रेम इन दोनों से विलक्षण है, क्योंकि यह अमृत तो उसी को मिलता है, जिसे तुम आप देते हो।"

परन्तु चन्द्रावली के प्रेम का यह उदात्त-भाव आदि से अन्त तक समरस दृष्टिगत नहीं होता। कहीं-कहीं पर गम्भीर तथा उच्छृङ्खल भावों का सामंजस्य दिखाई देता है, और विरोधी उक्तियों के भीतर एक ही भाव-दशा व्यञ्जित है। चन्द्रावली का प्रलाप ऊपर से असम्बद्ध किन्तु अन्तरङ्ग में अत्यन्त स्वाभाविक हुआ है।

चन्द्रावली में वियोग शृङ्गार की प्रधानता है। चन्द्रावली का कृष्ण के प्रति प्रेम या रति ही स्थायी भाव है। कृष्ण आलम्बन है। आलम्बन में श्रवण, चित्र, स्वप्न और प्रत्यक्ष दर्शनों में से चन्द्रावली में श्रवण-दर्शन और प्रत्यक्ष-दर्शन है। सखियों की उपस्थिति बन, उपवन, वर्षा, हिंडोला आदि उद्दीपन है। साथ ही स्थायी भाव को पुष्ट करने वाले संचारी भावों का भी अभाव नहीं है। रस की पोषक चन्द्रावली आश्रय है। वियोग के पाँच कारणों (पूर्वानुराग, प्रवास, ईर्ष्या, विरह,

शाप) में से चन्द्रावली में पूर्वानुराग पाया जाता है। इसके अतिरिक्त उसमें अभिलाषा, चिन्ता, स्मरण, गुणकथन, उद्वेग, प्रलाप आदि विरह की समस्त दशाओं का समावेश पाया जाता है। प्रारम्भ में नारद और शुकदेव जी के कथोपकथन में शान्त रस है, और सखियों के हास-परिहास में शृंगार तथा हास्य रस व्यञ्जित है।

प्रकृति के विस्तृत प्रांगण में मानव जीवन का विकास हुआ है। अपने सुख दु:ख के समाहार को जीवन और प्रकृति में निहित पाकर मानवीय भावनाओं को शांति की अनुभूति होती है। वन्य सुषमा, निर्झर आदि प्राकृतिक समस्त उपकरण विभिन्न रूप से अलौकिक आकर्षण द्वारा मानवीय उहापोह को अपनी ओर आकर्षित करते हैं। प्राकृतिक वस्तु-व्यापार कभी-कभी मानव भावनाओं को आन्दोलित कर देते हैं, मानव उनका तादात्म उन उपकरणों में चाहता है। कलाकार कभी मानवीय प्रक्रिया को प्रकृति में तथा प्रकृति का स्वभाव-गत व्यापार मानवीय रूपों में देखना चाहता है।

रीति कालीन कलाकारों ने प्राकृतिक उपकरणों को शृंगार का उद्दीपन माना है। मानवीय हर्ष एवं विषाद के उद्दीपन प्रकृति की अमराई में केन्द्रित से जान पड़ते हैं। भारतेन्दु जी रीतिकालीन छाया लिये हुए युग सन्धि पर खड़े कलाकार थे। प्राकृतिक-व्यापारों के सूक्ष्म पर्यवेक्षण की ओर अधिक आकृष्ट न होकर जीवन सम्बन्धी बाह्य कृत्रिमता से उन्होंने अधिक सम्बन्ध जोड़ा है। नायक नायिका के आह्लाद या सन्ताप के बीच ही प्रकृति के रूपों को यत्र-तत्र देखने का प्रयत्न किया है।

चंद्रावली नाटिका का प्रकृति चित्रण इसी धरातल पर दृष्टिगत होता है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल के शब्दों में "भारतेन्दु जी का जीवन एकदम नागरिक था। मानवी प्रकृति में ही उसकी तल्लीनता अधिक पाई जाती है, बाह्य प्रकृति के साथ उनके हृदय का वैसा सामंजस्य नहीं पाया जाता।"

भारतेन्दु जी की प्रेम-भावना रीतिकालीन परम्परा से प्रभावित है। कथन की शैली रीतिकालीन भावना से पूरा पूरा साम्य रखती है। भारतेन्दु जी ने प्रेम-विकास के लिये अनुकूल परिस्थितियाँ तथा वातावरण उपस्थित किया है।

ब्रज का कण-कण कृष्णानुराग से प्लावित है; नाटिका के आरंभ ही में नाट्यकार ने नारद तथा शुकदेव जी के संवाद में नारद जी की भावनाओं का सुन्दर चित्र उपस्थित किया है।

"ब्रज के लता पता मोहिं कीजै,
गोपी-पद-पंकज-पावन की रज जा में सिर भीजै॥

आवत जात कुंज की गलियन रूप-सुधा नित पीजै।
श्री राधे राधे मुख, यह वर मुँह माँग्यो हरि दीजै।"

कृष्ण-प्रेमानुराग से रंजित ब्रज के वातायन का स्वरूपांकन किया गया है।

तीसरा अंक वर्षावर्णन से प्रारम्भ होता है। प्रेमियों के जीवन में पावस का विशेष महत्व है। प्रेम के संयोग और वियोग दोनों ही व्यापारों को ऋतु विशेष का वातावरण महत्व मूलक होता है। वर्षा कालीन दृश्य नदी, नाले, झरने, बादल अमराई आदि कहीं-कहीं तो आलम्बन का कार्य करते दीख पड़ते हैं, और कहीं आश्रय का। प्रकृति को उद्दीपन के रूप में भी देखा गया है। प्रकृति-वर्णन अनावश्यक रूप से बढ़ा दिया गया है। इससे नाटक की स्वाभाविक गति में व्याघात आता है और साथ ही अपेक्षित रसात्मकता भी नहीं आ पाती। भारतेन्दु के इन प्रकृति-वर्णनों पर रीति-परम्परा की पूरी छाप है।

"सखी देख बरसात भी अब की किस धूम-धाम से आई है, मानों कामदेव ने अबलाओं को निर्बल जानकर इनके जीतने को अपनी सेना भिजवाई है। धूम से चारों ओर से घूम-घूम कर बादल परे के परे जमाए, वगपंगति का निशान उड़ाए लपलपाती नंगी तलवार सी विजली चमकाते गरज-गरज कर डराते बान के समान पानी बरसा रहे हैं, और इन दुष्टों का जी बढ़ाने को मोर करखा सा कुछ अलग पुकार-पुकार गा रहे हैं। कुल मरजाद ही पर इन निगोडों की चढ़ाई है। मनोरथों से कलेजा उमगा आता है, और काम की उमंग जो अंग-अंग में भरी है, उनके निकले बिना जी तिलमिलाता है। ऐसे बादलों को देखकर कौन लाज की चद्दर रख सकती है, और कैसे पतिव्रत पाल सकती है।"

इस कथन में उत्प्रेक्षा और उपमा द्वारा नाट्यकार ने प्रकृति के व्यापारों को उद्दीपन का रूप प्रदान किया है। यहाँ पर प्रकृति का स्वरूपांकन न होकर हृदय की विरह-भावना की अभिव्यक्ति ही प्रधान रूप से प्रस्तुत की गई है।

मानव प्रकृति के साथ संबन्धित वर्षा का स्वाभाविक चित्रण कामिनी के शब्दों में पुनः दिया गया है :—

"देख भूमि चारों ओर हरी-हरी हो रही है। नदी-नाले बावली तालाब सब भर गये। पक्षी लोग पर समेटे पत्तों की आड़ में चुपचाप सकपके से होकर बैठे हैं। सर्प निकल-निकल कर अशरण से इधर-उधर भागे फिरते हैं, मार्ग बन्द हो रहे हैं। परदेशी जो जिस नगर में हैं वहीं पड़े-पड़े पछता रहे हैं, आगे बढ़ नहीं सकते। वियोगियों को तो मानो छोटा प्रलयकाल ही आया है।"

बाह्य प्रकृति के स्वरूप का प्रत्यक्षीकरण ही नाटककार का ध्येय प्रतीत होता है। प्रकृति के वर्षा कालीन व्यापारों को खुले नेत्रों अवश्य देखा है, परन्तु उसकी मूल प्रेरणा आभ्यंतर की अपेक्षा वाह्य सौन्दर्य तक ही सीमित रह गई। प्रकृति केवल भावोदय करती है पर रसवत्ता के लिये भाव में स्थायित्व का होना अनिवार्य है, और वह बिना मानव और प्रकृति के संयुक्त हुये नहीं हो सकती। अतः उद्दीपन के प्रयोजन से प्राकृतिक दृश्यों की अवतारणा करना दोष नहीं है, किन्तु जब प्रकृति का कार्य केवल प्रेम का उत्ताप और उन्माद बढ़ाना ही रह जाय तो नैसर्गिक सजीवता एवं प्रभावमयता नष्ट हो जाती है। प्रकृति तथा मानव को निकटतम लाने के लिये भाव-तन्मयता तथा चेतनशील भावधारा के प्रवाह की नितान्त आवश्यकता है। प्रकृति और मानवी व्यापारों के अन्तस का समन्वय ही प्रकृति का सजीव तथा रसमय चित्रण खींचना है।

चन्द्रावली में प्रकृति-वर्णन नाटिका के आकार-प्रकार के विचार से आवश्यकता से अधिक लम्बा हो गया है। चतुर्थ अंक में ललिता यमुना की शोभा का वर्णन करती है। अधिकांश भाग पद्य मय चित्र बन गया है, नाटिका में असंगत प्रयोग सा प्रतीत होता है। रीतिकालीन वर्णमय चित्र तथा अलंकार-प्रियता की झलक अधिकता से दिखाई देती है। अपनी भावाभिव्यक्ति के लिये सन्देहालंकार का आश्रय ग्रहण किया है :—

"कै पिय-पद उपमान जानि एहि निज उर धारत।
कै मुख करि बहु भृङ्गन मिस अस्तुति उच्चारत॥
कै ब्रज-तियगन-बदन कमल की झलकत झाईं।
कै ब्रज हरिपद-परस हेत कमला बहु आईं॥
कै सात्विक अरु अनुराग दोउ, ब्रज मण्डल बगरे फिरत।
कै जानि लच्छमी-भौन एहि, करि सतधा निज जल धरत॥"

नाटिका में प्रकृति-चित्रण का प्रयोजन अस्वाभाविक सा प्रतीत होता है। ऐसा जान पड़ता है कि नाट्यकार ने उक्त प्रसंगों को अपने काव्य चमत्कार प्रदर्शन के लिये रखा है। उत्प्रेक्षा के प्रयोग के लिये अप्रासंगिक चित्रणों को महत्व दिया गया है। नाटिका से यमुना की बालू का कोई सीधा संबन्ध नहीं है। फिर भी काव्यगत चमत्कार प्रदर्शित करने के लिये वर्णन किया गया है।

"कहूँ बालुका विमल सकल कोमल बहु छाई।
उज्जल झलकत रजत सीढ़ि मनु सरस सुहाई।
पिय के आगम हेत पांवडें मनहुँ बिछाए।
रत्न रासि करि चूर कूल मैं मनु बगराये॥

मनु मुक्त माँग सोभित भरी, श्याम नीर चिकुरन परसि।
सतगुन छायो कै तीर मैं ब्रज निवास लखि हिय हरसि ॥

सानुप्रासिक सौन्दर्य विधान के प्रति भी नाट्यकार का अनुराग जान पड़ता है। समस्त वर्णनों में नाट्यकार की अलंकार-प्रियता, शब्द-मैत्री आदि के ही विशेष प्रमाण मिलते हैं, पर चित्रमयता तथा सजीवता का अभाव खटकने वाला है। यत्र-तत्र स्थलों में अपवाद स्वरूप मानवी व्यापार तथा विंब प्रतिविंब चित्रण अवश्य चित्रित हुये हैं, परन्तु प्रकृति के अन्तस्तल तक बैठ कर सूक्ष्म पर्यवेक्षण तथा मानव तथा प्रकृति का एकीकरण कर देने वाली प्रवृत्ति दृष्टिगोचर नहीं होती।

साधारणतः कलाकार का जीवन पूर्णरूपेण नागरिक था। प्रकृति की विस्तृत लीला-भूमि में संचरण करने की ओर या तो उनकी रुचि ही नहीं थी प्राकतिक सौंदर्य में उनकी अनुभूति का इतना अधिक तादात्म्य न हो सका था। डा० श्यामसुन्दर दास के कथनानुसार "उनके प्रकृति-चित्रण केवल उद्दीपन कार्य करते हैं। कहीं भी इन प्राकृतिक दृश्यों का चंद्रावली के मानवी जीवन का अंग बनाकर प्रकृति का और उसके हृदय का सामंजस्य स्थापित करने का उद्योग नहीं किया गया है।"

चन्द्रावली में भक्ति परम्परा और प्रेम तत्व :—

आचार्य वल्लभ ने नारद भक्ति सूत्र (सू. सं०. ८१) के आधार पर ग्यारह प्रकार की भक्ति प्रचलित की थी :—गुण माहात्म्यासक्ति, रूपासक्ति, पूजासक्ति, स्मरणासक्ति, दास्यासक्ति, सख्यासक्ति, कांतासक्ति वात्सल्यासक्ति, आत्म निवेदनासक्ति, तन्मयतासक्ति, और परम विरहासक्ति। श्रीमद्भागवत (श्री मद्भागवत-७।५।३३) में नवधा भक्ति का वर्णन पाया जाता है। जिसमे श्रवण और कीर्तन का समावेश गुण महात्म्य में हो जाता है। अर्चन, चरण-सेवन और बन्दन पूजाशक्ति में आ जाते हैं। स्मरण स्मरणासक्ति में दास्य दास्यासक्ति में, आत्मनिवेदन आत्म-निवेदनासक्ति में और सख्य सख्यासक्ति में लय हो जाती है, रूपासक्ति, कान्तासक्ति और वात्सल्यासक्ति के साथ प्रेमाभक्ति का रूप धारण कर लेती है, जो सगुण भक्ति का मुख्य अंग है।

वैष्णव भक्ति सम्प्रदाय में भक्ति दो धाराओं में उन्मुक्त विचरती दृष्टिगत होती है। भक्ति के दो स्वरूपों में (१) वैधी तथा (२) रागानुगा दो भिन्न मार्ग हैं। वैधी भक्ति शास्त्रों के विधि-निषेध का अनुसरण करती हुई चलती है, पर रागानुगा-भक्ति शुद्ध रूप से भावना, राग अथवा प्रेम पर अवलम्बित है।

रागाुनगा भक्ति को दो वर्गों में विभक्त किया गया है, प्रथम कामरूपा जिसमें गोपियों की कृष्ण के प्रति भक्ति भावना का प्रदर्शन कृष्ण सुख के अतिरिक्त

अन्य भावना का उदय नहीं होता है। द्वितीय सम्बन्धरूपा जो उपासक का उपास्य के प्रति सम्बन्ध इंगित करती है। चार प्रकार के सम्बन्ध सम्भव प्रतीत होते हैं—दास्य, सख्य, वात्सल्य, और दाम्पत्य।

साम्प्रदायिक दृष्टि से भारतेन्दु जी नाटिका में निष्काम प्रेम, एकान्त भक्ति साधना तथा अपने को हीन बताकर पूर्ण रूप से कृष्ण के अनुग्रह पर निर्भर रहना आदि पुष्टिमार्गीय धारणाओं का प्रतिपादन करते हुए से प्रतीत होते हैं। रागानुगा भक्ति परम्परा का अनुसरण इनके भावों में मिलता है। उसमें भी सम्बन्धरूपा की दास्य तथा दाम्पत्य भावना का सम्पूर्ण नाटिका में नायिका के उद्गारों में प्रतिफलन दीखता है। यद्यपि हम यह नहीं कह सकते कि चन्द्रावली नाटिका में भारतेन्दु जी ने पूर्णरूपेण पुष्टिमार्गीय पद्धति और वल्लभाचार्य संप्रदाय का अनुगमन किया है। तथापि यह स्पष्ट है कि उनमें वैष्णव भक्ति परम्परा की छाप थी।[1]

चन्द्रावली में वर्णित प्रेम का स्वरूप भक्ति के कामरूपा अंग के अन्तर्गत आता है। ऐसा प्रतीत होता है, कि नाट्यकार का हृदय ब्रज-भूमि के भक्तिपूर्ण वातावरण से अत्यधिक प्रभावित है। वह कृष्ण के प्रति सायुज्य की भावना का अनुभव कर ब्रज-भूमि के लीला निकेतन का रसास्वादन करना चाहता है।

पुष्टिमार्गीय भक्ति में लीला का विशेष स्थान है, इसके अनुसार गोप लीला आध्यात्मपक्ष में मानव की चितरञ्जन वृत्ति का नाम है। कृष्ण का गोपियों के साथ रासलीला करना इसी चित्तरञ्जनी वृत्ति का विकास रूप परिणाम है। यही वृत्ति आगे चलकर ईश्वरोपासना के रूप में परिवर्तित हो जाती है। एक पक्ष में पावन प्रकृति का समस्त सौन्दर्य और दूसरी ओर विश्व को विमोहित करने वाली रास लीला। इन्हीं दोनों के मध्य की जड़-जंगम, चर-अचर, सभी को आकृष्ट कर लेने वाली मधुर संगीत माधुरी, भारतेन्दु जी का भक्त हृदय भी इसी लीला के सुमधुर आनन्द से आविर्भूत कल्पना में खो जाता है।

"नैना वह छवि नाहिन भूले।
दया भरी चहुँ दिसि की चितवनि नैन कमल-दल फूले॥

१—(१) भारतेन्दु जी ने स्वयम् तदीय नामांकित अनन्य वीर वैष्णव कि पदवी लेकर वैष्णवों की पृथक परम्परा का प्रवर्तन किया। उपर्युक्त समाज के अनुसार निम्न परम्परा का निर्वाह किया है।

(१)—राधिका रमण में प्रेममयअनुरक्ति (२) निष्काम भक्ति (३) जुगल स्वरूप में दृष्टि भेद न देखना, (४) वैष्णव में हम जाति बुद्धि न करेंगे (५) वैष्णव सम्प्रदाय के सब आचार्यों पर आस्था रखना (६) अहिन्सा पालन (७) गीता तथा श्री भागवत पर आस्था, (८) प्रभु और आचार्य पर श्रद्धा, (९) वैष्णव धर्म के विरुद्ध श्रौतस्मार्त वा लौकिक कर्म न करना। (भारतेन्दु हरिश्चन्द्र बा० ब्रजरत्नदास पृष्ट सं० ११६)

वह आवनि, वह हँसनि छबीली, वह मुसकनि चित चोरैं।
वह बतरानि, मुरनि हरि की वह, वह देखन चहुँ कोरैं॥
वह धीरी गति कमल फिरावन करलै गायन पाछे।
वह बीरी मुख बेनु बजावनि पीत पिछौरी काछे॥
परवस भए फिरत है नैना इकछन टरत न टारें।
हरि ससि-मुख ऐसी छवि निरखत तन-मन-धन सब हारे॥"

प्रभु की कृपा की प्राप्ति ही पुष्टिमार्ग के अनुसार चरम लक्ष्य है। लीला में रुचि भगवत कृपा की ही द्योतक है, जिस पर महती कृपा रहती है, वही लीला का नैसर्गिक आनन्द प्राप्त कर सकता है। द्वितीय अंक में चन्द्रावली के कथोपकथन के अनुसार प्रभु की कृपा का वरद्हस्त विशिष्ट लोगों पर ही रहता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट ध्वनित है कि भारतेन्दु जी ने चन्द्रावली नाटिका में भक्तिमयी भावनाओं का प्रकटीकरण किया अवश्य है। कवि ने जिस प्रेमभक्ति का अवलम्बन ग्रहण किया है, उसके लिये उसे प्रेममयी भावनाओं के साथ तदाकार होना नितांत आवश्यक था। उसकी प्रेम संबंधिनी भावनाओं को पढ़कर ऐसा भी ज्ञात होता है कि भारतेन्दु को वैयक्तिक प्रेम कल्पना और शृङ्गारिक अनुभूतियों का भी इसमें योग है। शृङ्गार भावना लौकिक शृंगारानुभूति से उत्पन्न चित्रण प्रस्तुत करती दृष्टिगोचर होती है। प्रेम की चार मुख्य अवस्थाओं में पूर्वराग, संयोग, मान और विप्रलम्भ आदि में से प्रस्तुत नाटिका में पूर्वराग और विप्रलम्भ के ही चित्र विशेष रूप से दृष्टिगोचर होते हैं। संयोग का अवसर तो केवल अन्त में ही प्राप्त होता है। यह नितांत सत्य ही है कि प्रेम के चरम विकास का निदर्शन विप्रलम्भ में ही आंका गया है। भारतेन्दु जी का विप्रलम्भ मानवीय मनोव्यापारों पर भी स्थिर है, केवल शास्त्रीय आधार पर नहीं। भक्ति पद्धति में कृष्णोपासना के रूप में दाम्पत्य प्रेम भावना को विशेषता प्रदान की गई है। यह भावना विभिन्न स्वरूपों में अङ्कित है— विशुद्ध दाम्पत्य संयोग भावना, विशुद्ध दाम्पत्य वियोग भावना, और सख्य भावना। चन्द्रावली में तीनों भक्ति भावनाओं से उद्भूत विचारधारा का समावेश मिलता है। पर साथ ही रीतिकालीन शृंगारिकता तथा अलंकारिकता के भी प्रभाव दिखाई देते हैं।

केहि पाप सों पापी न प्रान चलैं,
अटके कित कौन विचार लयो॥

\+ + +

हत भागिनी आंखिन कों नित के,
दुख देखिबे को फिर भोर भयो॥

(द्वितीय अंक)

कहा करौं का जतन विचारौं विनती केहि विधि भाखौं।
हरीचन्द प्यासी जनमत की अधर सुधा किमि चाखौं ॥

(चौथा अंक)

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि चन्द्रावली के प्रेम कल्पना में एक ओर वैष्णव भक्ति के आदर्शों और विशेषकर आचार्य वल्लभ के पुष्टिमार्गीय प्रक्रियाओं का स्थान तो है ही, रीतिकाल की श्रृङ्गार भावनाओं का भी संनिवेश है, और साथ ही भारतेन्दु जी की भक्तिगत प्रेमानुभूति के निदर्शन भी पाये जाते हैं। इस दृष्टि से नाटिका की प्रेम कल्पना में तीन विशिष्ट धाराओं का संगम हुआ है।

वियोग की उच्छृङ्खल गति के अनुसार यदि चन्द्रावली प्रौढ़ा नायिका नहीं है, तो मुग्धा के रूप में अवश्य रखा जा सकता है। नायिका में कहीं-कहीं आवेश-पूर्ण श्रृङ्गारिकता भी झलकती है, परन्तु उसका प्रभाव श्रृङ्गारिक उत्तेजना उत्पन्न करना नहीं है। विरहोन्माद के उच्छृङ्खल प्रमादवश यदि भक्त अपने प्रभु के प्रति प्रलाप भी करता है, तो क्षम्य माना जायगा।

कलाकार का व्यक्तित्व अपनी कलाकृति में प्रतिबिंबित दृष्टिगोचर होता है। भक्ति भावना के साथ ही प्रेम के वाह्य आकर्षणों ने नाट्यकार को अत्यधिक प्रभावित किया था। इसीलिये उनके प्रेम चित्रों में वर्षाकालीन सरिता का सा वेग है। नाट्यकार ने विप्रलम्भ का एकांगी स्वभाव पीड़ा को ही प्रधान रूप से प्रदर्शित किया है, माधुर्य भाव का संयोग न्यून दिखाई देता है। चन्द्रावली वियोग को ही प्रेममय जीवन की परम निधि मानकर उसका आलिंगन किये हुये प्रतीत होती है। यह भी भारतेन्दु की प्रेम सम्बन्धी व्यक्तिगत अनुभूति का ही दिग्दर्शन है।

समस्त कथानक चन्द्रावली की करुणा विगलित आसुओं की करुण कथा है। उसकी समस्त अनुरागमयी भावनायें कृष्णार्पणमस्तु हैं। कृष्ण के वियोग में वह विरहिणी अहर्निशि उसके दर्शन की ही याचना करती है, उपालम्भ देती है, और कभी-कभी अपने हृदय के स्वाभाविक अक्रोश को भी व्यक्त करती है। इस नाटिका की रचना के मूल में भारतेन्दु जी की प्रेममयी भावना के उद्‌गारों का प्रस्फुटन पाते हैं। यद्यपि भारतेन्दु जी ने इस नाटिका में अपनी प्रेम धारणा को भी व्यक्त किया है, और विशेषकर प्रेम की निराशामयी कल्पना उनकी निज की अनुभूतियों का ही परिणाम है। परन्तु मुख्यतः उन्होंने इस रचना में परम्पराभक्ति के आदर्श को ही सन्निहित करना चाहा है। विशेषतः नाटक के आदि और अन्त में वे अपने इस उद्देश्य को व्यक्त भी करते हैं। समर्पण के पूर्व लिखा गया निम्नपद उपर्युक्त कथन का प्रमाण है।

"काव्य, सुरस सिंगार के दोउ दल, कविता नेम।
जग-जग सों कै ईस सों कहियत जेहि पर प्रेम ।।
हरि-उपासना, भक्ति वैराग, रसिकता ज्ञान ।
सोधैं जग जन मानिया चन्द्रावलिहि प्रमान ।।"

समर्पण की पंक्तियों में नाट्यकार के कथन में अलौकिक प्रेम की पुष्टि होती है ।

"प्यारे लो तुम्हारी चन्द्रावली तुम्हें समर्पित है इसमें तुम्हारे उस प्रेम का वर्णन है, इस प्रेम का नहीं, जो संसार में प्रचलित है । हाँ एक अपराध तो हुआ जो अवश्य क्षमा करना होगा । वह यह कि यह .प्रेमदशा छापकर प्रसिद्ध की गई है । वा प्रसिद्ध करने ही से क्या जो अधिकारी नहीं है, उनकी समझ ही में न आवेगी ।"

(समर्पण)

उपर्युक्त पंक्तियों में नाट्यकार ने स्पष्ट रूप से अलौकिक प्रेम का वर्णन किया है । जिसकी अनुभूति जन साधारण में नहीं सम्भव हो सकती है । उस अन्तरानुभूति का रसास्वादन उन्हीं निवृत्ति-परायण महानुभावों ने किया है, जो संसारिकता से विरक्त होकर प्रभु के अनुराग में अपने को अनुरन्जित कर चुके हैं । इस अध्यात्म-चिन्तन का सहज ज्ञान नान्दी पाठ की निम्न पंक्तियों में भी दृष्टिगोचर होता है ।

"नेति नेति तत्-शब्द प्रतिपाद्य सर्व भगवान ।
चन्द्रावली-चकोर कृष्ण करौ कल्याण ।।"

चन्द्रावली नाटिका में रतिभाव का जैसा वर्णन हुआ है, उससे इतना तो अवश्य ही स्पष्ट हो जाता है कि कृतिकार ने चन्द्रावली के प्रेम के द्वारा एक आदर्श की स्थापना की है । एकनिष्ठ प्रेम और निष्कामरति की जैसी विवृति चन्द्रावली में दिखाई गई है, वह परम तत्व और पारमात्मिक प्रेम की ओर संकेत करती है । उसकी ऐकांतिक तन्मयता और आत्म-समर्पण में आध्यात्मिक पूर्णता की ध्वनि है। डा० श्यामसुन्दरदास जी का निम्न निष्कर्ष औचित्यपूर्ण है कि "इस नाटिका में जिस प्रेम का चित्र अंकित किया गया है, वह भारतेन्दु जी के भक्तिभाव का प्रतिबिम्ब है ।" नाट्यकार स्वयम् गोपाल की साम्प्रदायिक भक्ति से अनुरक्त था, जोकि उसके वंश परंपरा को धार्मिक प्रतीक रूप में प्रतिष्ठापित थी । उसी संप्रदाय विशेष की भावनाओं की छाप नाट्यकार की कलाकृति में प्रतिविम्बित दृष्टिगोचर होती है । इस आधार पर चन्द्रावली नाटिका का प्रतिपाद्य विषय स्पष्ट दृष्टिगत हो जाता है...,।

परन्तु साथ ही इस नाटिका के मूल में निहित भारतेन्दु जी की प्रेम सम्बन्धी वैयक्तित अनुभूतियों को भी भुलाया नहीं जा सकता है। हम इस निबन्ध में ऊपर कह आये हैं कि चन्द्रावली नाटिका के प्रेमादर्श में नाटककार की मुख्यतः तीन प्रवृत्तियाँ काम करती हैं। पहली और प्रधान प्रवृत्ति भक्ति परम्परा से गृहीत प्रेम की अलौकिकता का निर्वाचन करती है। दूसरी प्रवृत्ति रीतिकालीन शृंगारिकता के उपकरणों को भी नाटिका में सन्निहित करने की है। रचना में ऐसे शृंगारिक निर्देश स्थान स्थान पर दिखाई देते हैं। विशेषकर प्रेमोन्माद की अनेक दशायें तो मानों रीति ग्रन्थों से ही उधार ली गई हैं। तीसरी प्रमुख प्रवृत्ति भारतेन्दु जी की निजी प्रेम-धारणा और प्रतिक्रियाओं को व्यक्त करती है विशेषतः प्रेम के निराशामूलक और उपालम्भ प्रधान उद्‌गार, भारतेन्दु जी की निजी प्रेमानुभूति को व्यक्त करते हैं।

———

द्वादश अध्याय

पौराणिक तथा ऐतिहासिक मौलिक नाटक
(सती प्रताप तथा नीलदेवी)

सतीप्रताप :—

'सतीप्रताप' पौराणिक आख्यायिका है। सती के महत्व को प्रधानता देने और भारतीय संस्कृति में पतिव्रत धर्म पालन करने का निदर्शन करने के निमित्त इस नाटक की रचना हुई है। नारी समाज में व्यापक सदाचार इसका मूल सन्देश है। जिसके प्रतीक स्वरूप आज भी वट-सावित्री पूजन का विधान चला आता है। सती-सावित्री के इसी पौराणिक महत्व का उद्‌घाटन करते हुये, भारतेन्दु जी ने उसे 'सती प्रताप' नाम से नाट्य रूप में आबद्ध किया है। नाटक अपूर्ण है, नाट्यकार केवल चार ही अंक प्रस्तुत कर पाया था, वह उसे पूर्ण नहीं कर सका।

इसके पूर्व ही लाला श्री निवासदास जी की एक नाट्यकृति 'तप्ता संवरण' इसी भाव धारा को लेकर प्रकाशित हुई थी। उक्त नाट्य प्रेरणा से प्रभावित भारतेन्दु जी ने सती प्रताप नाटक प्रस्तुत करने का विचार किया जो कि अपूर्ण रह गया था। कालान्तर में उसके शेष भाग की पूर्ति बाबू राधाकृष्ण दास द्वारा हुई।

कथावस्तु के अन्तर्गत अपूर्ण कथानक केवल प्रारम्भिक अवस्था में रह जाता है। प्रथम अंक में अप्सराओं का गायन कथा की प्रस्तावना का कार्य करता है। पतिव्रता आर्य ललनाओं का यशोगान और उनका सामाजिक महत्व बताते हुये कीर्ति कौमुदी का विस्तार किया गया है। तीसरी अप्सरा के गायन में प्रकृति के रम्य वातावरण का वर्णमय चित्र हैं।

द्वितीय दृश्य में तपोवन में लता-मण्डप के मध्य बैठा हुआ सत्यवान विगत जीवन तथा वर्तमान के वैषम्य के विचारों में तन्मय प्रतीत हो रहा है, सावित्री तथा अन्य सखियाँ प्रवेश करती हैं, यहीं पर प्रथम दर्शन और प्रेमानुराग अंकुरित होता है। वह आतिथ्य स्वीकार करने का आग्रह करता है, परन्तु माता-पिता की आज्ञा पाकर अन्य दिन आतिथ्य स्वीकार करने का बचन मिलता है।

तृतीय दृश्य में सत्यवान के ध्यान में मग्न नवीन जोगिन के वेश में अपने दृढ़ संकल्प को सावित्री प्रकाशित करती है। सखियाँ आकर हास-परिहास करना चाहती हैं, परन्तु सावित्री को रुचिकर नहीं प्रतीत होता है, वह उन पर कुपित होती

है, सखियाँ उसके मनोरथ के पूर्ति की कामना करती हैं और माता के पास चलकर उसके मन्तव्य को प्रकाशित करने की योजना बनाती हैं।

चौथे दृश्य में द्युमत्सेन अपने आश्रम में बैठे आश्रमवासियों से वार्तालाप कर रहे हैं, उन्हें अपने अभाव तथा विपन्नता के कारण दूसरों की सेवा न कर पाने में बड़ा ही आन्तरिक क्लेश है। पुत्र के अल्पायु होने का बड़ा ही सन्ताप है। सहसा नारद जी आकर सत्यवान के विवाह स्थिर करने की चर्चा करते हैं, भविष्य कल्याणकारी बताकर चले जाते हैं। चार दृश्यों के अपूर्ण कथानक में न तो कथा-वस्तु का ही विकास हो सका है, और न चारित्रिक विकास का अवसर प्राप्त होता है। अतः नाटकीय विवेचन असम्भव सा प्रतीत होता है।

भारतेन्दु जी ने उक्त नाटक को गीतिरूपक की संज्ञा दी है। नाटक में स्थान-स्थान पर गीत योजना का बाहुल्य है, रंगमंचीय दृष्टि से संगीत प्रणाली उपयुक्त प्रतीत होती है, नाट्यकार ने विभिन्न राग रागनियों का प्रयोग उक्त चार दृश्यों में किया है। रंगमंचीय महत्व से उनका बहुत बड़ा उपयोग है। तृणलता-वेष्टित एक टीले पर बैठी हुई तीन अप्सराओं का गायन नाटक की पृष्ठिभूमि में प्रस्तावना का सा कार्य करता है। रंगमंच में दृश्यांकन कला की अनुपम कुशलता का यथेष्ट परिचय कलाकार के विभिन्न दृश्यांकन (Scene setting) से प्राप्त होता है।

दूसरे दृश्य में सत्यवान के तापस-वेश की भूमिका में नेपथ्य गायन देकर[1] सारे दृश्यांकन को सजीव बना दिया है। पुष्प चयन के दृश्य के समय गीत परम्परा रंगमंचीय नाटकों की स्वभावगत विशेषता है। प्रायः संगीत का वर्ण्य विषय शृंगारिक होता है। नव पल्लवित यौवन में मदमाती अँगड़ाई लेने वाली अमराई की आम्र-मन्जरियों पर रीझने वाले भौंरों का वर्णन यहाँ भी प्रस्तुत किया गया है—

सखीजन :—
'भौंरा रे बौरान्यो लखि बौर।
लुब्ध्यो उतहि फिरत मडरान्यो, जात कहूँ नहिं और।
भौंरा रे बौरान्यो'।

× × × ×

१—क्यों फकीर बन आया रे, मेरे बारे जोगी।
नई वैस कोमल अङ्गन पर काहे भभूत रमाया रे॥
किन वे मात-पिता तेरे जोगी जिन तोहि नाहिं मनाया रे।
कांचे जिय कहु काके कारन प्यारे जोग कमाया रे॥
(द्वितीय दृश्य)

काव्यरूपक की मनोहर तथा हृदयग्राही व्यञ्जना कलाकार के शब्दों में कितनी सुन्दर ध्वनित होती है, लता-मण्डप के हिलने तथा उनके किसलयों के कम्पन में रीतिकालीन गरिमा लिये हुये सुन्दर भावाभिव्यक्ति की गई है—

'पवन लगि डोलत बन की पतियाँ।
मनहुँ पथिकन निकट बुलावहिं कहन प्रेम की बतियाँ।
अलक हिलत फहरत तन सारी होत हैं सीतल छतियाँ।
यह छवि लखि ऐसी जिय आवति इतहिं बितैये रतियाँ।

सावित्री तथा सखियों के कथोपकथन में नायिका को प्रथम दर्शन में ही अत्यधिक उच्छृंखल कर दिया गया है। सतृष्ण दृष्टिपात तथा सखियों की आलोचना पर उसके यह भाव कि "विधाता ने जिस भाव में राजपुत्र को सिरजा है, उसी भाव में मुनि-पुत्र को', और फिर राजधन से तपोधन कुछ कम नहीं होता"। नायिका के स्वाभाविक चित्रण की मर्यादा के अनुरूप ही है। सखियों के वार्तालाप हास-परिहास की योजना अत्यन्त स्वाभाविक तथा रंगमंचीय आकर्षण को बढ़ाने वाली प्रतीत होती है।

तृतीय दृश्य में वैतालिक के कथन में प्रकृति चित्रण तथा वियोगिन जोगिन का काव्य चित्रण विशेष सुन्दर बन पड़ा है। उक्ति-वैचित्र्य तथा रूपकालंकार में भारतेन्दु जी भी देव तथा सेनापति के समकक्ष पहुँच जाते हैं। यहीं पर महाकवि देव के सुन्दर छन्द[1] को उद्धरण के रूप में प्रस्तुत किया गया है। सम्वादों में पद्य योजना सखियों तथा सावित्री के मध्य दिखाकर गीति-रूपक की सार्थकता का परिचय दिया गया है। गेय पदों में संगीतात्मक मनोवृत्ति का आधिक्य पाया जाता है। ठुमरी, लावनी, राग सोरठ, राग गौरी, पीलू, धमार, और बहार आदि का परिचय देकर नाट्यकार की संगीत प्रियता का यथेष्ट ज्ञान मिलता है। गेय पद्यों में राग रागनियों के आधार पर निर्देश भी दिये गये हैं।

यद्यपि नाटक का क्रमिक उत्थान नाटकीय नियोजन के आधार पर अत्यधिक आकर्षक रहा है। रंगमंचीय दृष्टि से भी उसके सफलता प्राप्त करने की सम्भावना दृष्टिगत होती थी, परन्तु अपूर्ण रह जाने के कारण नाट्यकार का मन्तव्य सफल नहीं हो पाया। तथापि अपूर्ण अंश में ही कलाकार के कलाकौशल का यथेष्ट परिचय मिलता है। यदि यह नाटक पूर्ण होता तो भारतेन्दु जी की अनुपम कलाकृति होती, और साहित्य के उत्कृष्ट नाटकों को कोटि में गिना जाता।

१—बरुनी बघंबर मैं गुदरी पलक दोऊ, कोए राते बसन भगौहैं भेख रखियाँ।
बूड़ी जल ही मैं दिन-जामिनी हूँ जागैं भौंह, धूम सिर छायो बिरहानल बिलखियाँ।
दीजिए दरस 'देव' कीजिये संजोगिनी ये, जोगिनो ह्वै बैठीं हैं वियोगिन की अखियाँ।

नील देवी ऐतिहासिक घटना प्रधान नाटक

प्रस्तुत रचना ऐतिहासिक कथानक के आधार पर लिखी गई है। परन्तु इसकी प्रामाणिकता की स्थिति अब भी चिंत्य है। नाटककार के मस्तिष्क में ऐतिहासिक वातावरण का मानचित्र अवश्य बना रहा है, जिसके आधार पर उक्त रूपक प्रस्तुत किया गया है। आठवीं शताब्दी में सर्व प्रथम यवनों का आक्रमण सिंधप्रांत में हुआ था। इसके पश्चात् निरन्तर धार्मिक जेहाद के नाम पर भारतवर्ष की विपुल सम्पत्ति तथा वैभव की कहानियाँ सुनने वाले यवन लुटेरे भारत की पवित्र भूमि को पदाक्रान्ति करते रहे। यवनों की मूल मनोवृत्ति धर्म प्रवर्तन तथा संपति लूटकर ले जाना था। इसी काल से भारत तथा यवनों के मध्य धर्म संघर्ष का प्रारंभ होता है। राजपूत काल के पतन के पश्चात् मुंगल साम्राज्य की नींव की प्रारंभिक भूमिका तैयार हो जाती है। यवनों से चिरकाल तक लड़ते रहने का कार्य राजपूतों ने किया। शासन और सुरक्षा के साथ-साथ धर्म की रक्षा का सबसे बड़ा उत्तरदायित्व इन्हीं के कन्धों पर पड़ा, जिसे राजपूतों ने बाहरी विपत्तियों का सामना करते हुये पूरा किया।

भारतेन्दु युग में राजपूत वीर गाथाओं द्वारा राष्ट्रीयता की सुप्त शक्ति को पुनः चेतना पूर्ण करने के लिये हठी हम्मीर, वीर दुर्गादास, अमरसिंह राठौर तथा रानी दुर्गावती के चरित्रों को रंगमञ्चीय कलेवर देकर जनता के सामने प्रस्तुत किया गया, जो कि नव जागरण के लिये वीर-रस प्रधान वातावरण प्रस्तुत कर देते हैं। नाट्यकार राजपूत काल के अतीत गौरव को पुनः समाज के संमुख उपस्थित करना चाहता था। भारतीय समाज में नारी का स्थान अत्यन्त गौरव पूर्ण रहा है। भारतीय समाज में नारी शक्ति स्वरूपा थी, इसी कारण उसे संमानित किया जाता था। शनैः शनैः युग ने करवट बदला, कलाकार आधुनिक भारतीय नारी की दयनीय दशा न देख सका, और उसने समाज में नारी समुदाय के पुनरोत्थान के लिये आदर्श नारी का स्वरूप नीलदेवी के व्यक्तित्व में प्रस्तुत किया।

आरंभ ही में वक्तव्य के रूप में "मातृ-भगिनी सखी तुल्य आर्य ललनागण" नाट्यकार का संबोधन है। नाट्यकार जन-जागरण के साथ भारतीय नारी का पुनः वही स्थान देखना चाहता है, जो पूर्वकाल में था। उसका मूल प्रयोजन यही है कि विदेशी स्त्री समाज से किसी भी बात में भारतीय नारी पीछे न रह सके, और सभी सामाजिक कार्यों में बराबर भाग लेकर देश की मर्यादा को गौरवान्वित करे। इसी प्रेरणा से प्रेरित कलाकार की लेखनी ने नीलदेवी के साहसिक चरित्र की सृष्टि की है।

यह गीतरूपक दस दृश्यों में संगठित है। प्रथम दृश्य में भारतीय क्षत्राणियों के यशोगान में अप्सराओं के सम्मिलित गायन की योजना की गई है। तीन अप्सराओं के गायन की योजना पाश्चात्य परंपरा की छाया लिये हुये है। द्वितीय दृश्य में यवनों का युद्ध शिविर दिखाया गया है। शिविर के अन्दर अमीर अब्दुश्शरीफ सूर बैठा हुआ है। काजी, अमीर तथा मुसाहिबों के बीच युद्ध सम्बन्धी चर्चा चलती है। राजपूतों की वीरता की शत्रु भी प्रशंसा करता है, और उन्हें युद्ध कौशल से नहीं परन्तु युक्ति कौशल से जीतने की योजना बनाते हैं, तीसरे दृश्य में राजपूतों का मण्डल उपस्थित है। राजा सूर्यदेव. नीलदेवी तथा अन्य राजपूत आपस में वार्तालाप कर रहे हैं। नीलदेवी यवनों की युद्ध नीति पर सन्देह करती है, और सावधान रहने का निर्देश करती है। सूर्यदेव धर्म-युद्ध में अपने को अजेय बताता है, और सैनिकों को सावधान रहने के लिये प्रोत्साहित करता है। चौथे दृश्य में घटना क्रम से कुछ विलग सराय का दृश्य अंकित किया गया है, जिसमें दो यवन सैनिकों की वार्ता तथा भटियारिन के कथोपकथन से यवनों के दुराचारपूर्ण जीवन की रूपरेखा का परिचय मिलता है। नाटकीय गम्भीरता को तोड़ते हुये नाटक में हास्य की योजना प्रस्तुत की गई है। यह कदाचित पारसी रङ्गमञ्च और नाट्य-पद्धति का भारतेन्दु पर अवशिष्ट प्रभाव था। पाँचवाँ दृश्य राजपूत शिविर के बाहरी प्रान्त का है, राजपूत सैनिक के अन्तर द्वन्द्व का सम्यक स्वरूप तथा विचारों में स्वामिभक्ति तथा देश के लिये कर्तव्य परायण रहने की भावना का सुन्दर सामंजस्य पाया जाता है। रात्रि के समय यवन आक्रमण का निर्देश भी इसी दृश्य में प्राप्त होता है। छठे दृश्य में अमीर, काज़ी तथा अन्य सरदार विजयोल्लास में एक दूसरे को बधाई देते हैं, और अभिवादन करते हैं। सातवें दृश्य में कारागार में मूर्छित पड़े हुये राजा सूर्यदेव के सामने अदृश्य देवता भारत की भावी दयनीय दशा के विषय में लावनी गाता है। राजा दुखित उक्त भविष्य वक्ता को देखने का प्रयत्न करता है, परन्तु पुनः मूर्छित होकर गिर पड़ता है।

आठवें दृश्य में दो गुप्तचर पागल तथा यवन के वेश में आते हैं। पागल का अनर्गल प्रलाप हास्य व्यञ्जक भावनाओं का प्रेरक है। पागल वेशी गुप्तचर द्वारा राजा की मृत्यु का समाचार प्राप्त होता है। नवें दृश्य में राजा की मृत्यु का समाचार सुनकर रानी नीलदेवी किंचित भी विचलित नहीं होती, उत्तेजित राजकुमार तथा राजपूतों को बुद्धि कौशल से युद्ध करने की मन्त्रणा देती है। वह सम्मुख युद्ध में प्राण गवाँ देने के पक्ष में नहीं है।

अन्तिम दृश्य में विजय में उन्मत्त अमीर की मजलिस लगती है। शराब का दौर चल रहा है, नीलदेवी नर्तकी के छद्मवेश में प्रवेश करती है, मदिरा में

मद्होश अमीर की अवसर पाकर हत्या कर देती है, उसके साथ के सहचर समाजी के रूप में राजपूत सैनिक तलवार लेकर पिल पड़ते हैं, और बाहर से राजकुमार आक्रमण कर देता है। नीलदेवी पति की हत्या का बदला लेकर सती हो जाती है।

उपर्युक्त कथावस्तु में नायिका नीलदेवी है, जो कथा की केन्द्रीय पात्र मानी जा सकती है। राजा सूर्यदेव इसका नायक है, तथा कथावस्तु में घात-प्रतिघात तथा संघर्ष पैदा करने वाला प्रतिनायक अमीर अब्दुश्शरीफ है। अन्य सभी पात्र गौण रूप में आते हैं। उपपात्रों में काज़ी, चपरगट्टू खाँ, पीकदान-अली, देवीसिंह, पागल, कुमार सोमदेव, मुसाहिब तथा अन्य राजपूत आदि आते हैं।

सम्पूर्ण नाटकीय प्रयोजन नीलदेवी के चरित्र में केन्द्रित है, नीलदेवी निर्भीक नीतिकुशल राजपूत रमणी है। भारतीय सांस्कृतिक परम्परा के अनुरूप ही साहसिक चरित्रांकन किया गया है। तृतीय दृश्य में नीलदेवी अपने पति को यवनों से सचेष्ट रहने की सलाह देती है, उनके विषय में उसकी संशयात्मक वृत्ति जाग्रत हो उठती है।

"तो भी इन दुष्टों से सदा सावधान ही रहना चाहिये। आप लोग सब तरह चतुर हो, मैं इसमें विशेष क्या कहूँ। स्नेह कुछ कहलाये बिना नहीं रहता।"

उपर्युक्त भावधारा नारी सुलभ स्नेह से विचलित मन की संशयात्मक-मनोवृत्ति का निदर्शन है। जहाँ नीलदेवी निर्भीक तथा नीति कुशल रमणी के रूप प्रस्तुत है, वहीं नारी सुलभ दुर्बलतायें भी उपस्थित हैं। राजा की मृत्यु के पश्चात् नीलदेवी विलाप करती हुई तथा करुणाजन्य वेदना का प्रकाशन करती हुई देख पड़ती है।

"प्यारे क्यों सुधि हाय विसारी ?
दीन भई बिड़री हम डोलत हा हा होय तुमारी।
कबहुँ किये आदर जातन को तुम निज हाथ पियारे।
ताही की अब दीन दसा यह कैसे लखत दुलारे॥
आदर के धन सम जा तन कहँ निज अंकम तुम धार्यौ।
ताही कहँ अब पर्यौ धूर में कैसे नाथ निहार्यौ।"

उसकी करुणा विगलित पुकार अत्यन्त मार्मिक है। परन्तु वह इतने पर भी अपने मस्तिष्क का सन्तुलन नहीं खोती, उत्तेजित राजकुमार तथा राजपूत सैनिकों को सामने से युद्ध न करने का आदेश देती हुई कहती है कि "मेरी बुद्धि में यह बात आती है कि इनसे एक बेर संमुख युद्ध न करके कौशल से लड़ाई करना अच्छी बात है"

उत्तेजित राजकुमार को इतनी भीषण विपत्ति में भी शांतिपूर्वक अपने आदेश को पालन करने की आज्ञा देती है।

रानी नीलदेवी प्रतिशोध की भावना से ही प्रेरित होकर नर्तकी के रूप में अमीर की महफिल में जाती है और उसका बध करने में समर्थ होती है, बाद में अपने मन्तव्य के पूर्ण हो जाने पर सती हो जाती है। नाट्यकार ने नीलदेवी के रूप में भारतीय नारी के अनुकरणीय आदर्श प्रस्तुत किये हैं।

राजा सूर्यदेव राजपूत क्षत्रिय है, शौर्य और साहस की अदम्य क्षमता उसमें विद्यमान है। धर्म युद्ध में उससे विश्व में कोई नहीं जीत सकता, यह उसकी सहज गर्वोक्ति है। युद्ध से वह तनिक भी आतंकित नहीं प्रतीत होता परन्तु उसमें धर्म-भीरुता तथा धर्माधर्म के विवेचन की मात्रा भी है। अपनी पत्नी के संशय पर वह कहता है कि "वे अधर्म से लड़ें, हम तो अधर्म नहीं कर सकते। हम आर्यवंशी लोग धर्म छोड़कर लड़ना क्या जानें? यहाँ तो सामने लड़ना जानते हैं। जीते तो निज भूमि का उद्धार और मरे तो स्वर्ग। हमारे तो दोनों हाथ लड्डू हैं, और यश तो जीतें तो भी हमारे साथ है, और मरें तो भी।"

अपने आत्म विश्वास पर अवलम्बित नायक भावी विपत्तियों की आशंका नहीं रखता और कह बैठता है। "प्यारी, कुछ चिन्ता नहीं है, अब तो जो कुछ होगा, देखा ही जायगा न।" निश्चिन्त मन अपने कर्तव्य में रत रहता है। भावी-आशंकाओं की मरीचिका में नहीं फँसता। शत्रु के पंजे में फँसकर भी देशभक्ति तथा कर्तव्यपरायणता उसमें विद्यमान है। लौह पींजरे में बन्दी के रूप में होते हुये भी वह देश की हित-चिंता करता है। देवता के उक्त गान में अपने भावों का साम्य स्थापित करता है। देश के भावी पतन की आशंका से आतंकित वह चेतनता आने पर कहता है, इस मरते हुये शरीर पर अमृत और विष दोनों एक साथ क्यों बरसाया। अरे अभी तो यहाँ खड़ा गा रहा था। अभी कहाँ चला गया, ऐसा सुन्दर रूप और ऐसा मधुर सुर और किसका हो सकता है।"

वीर सैनिक की भाँति निर्भीकता से बर्बरता का सामना करता है। बन्दी होते हुये भी जब काजी तथा अमीर इस्लाम धर्म मान लेने को कहते हैं, तो वह धर्म और देश के गौरव के लिये मरना अधिक श्रेयष्कर समझता है। आवेश में आकर लौह शलाकायें तोड़ यवनों पर प्रहार करता है, और एक साथ सत्ताईस यवनों को मारकर वीरगति प्राप्त करता है।

अमीर अब्दुश्शरीफ नाटक का प्रतिनायक है। नाटकीय गति में घात प्रति-घात और संघर्ष का कारक यही पात्र है। अमीर स्वभावतः क्रूर, कूटनीतिज्ञ, खुशामद

पसन्द तथा विलासी है। शंका से आतंकित तथा राजपूतों की वीरता से भय-त्रस्त कह उठता है। "सूरजदेव एक ही बदबला है। इहातए पंजाब में ऐसा बहादुर दूसरा नहीं" शत्रु की प्रशंसा की प्रवृत्ति का यहाँ भाव नहीं है, परन्तु सतर्कता और येनकेन प्रकारेण उसे पराजित करने के लिये अपने सैनिकों को सतर्क रहने का आदेश देता है।

वह अपनी विजय के लिये नीच से नीच कार्य करने को तत्पर हो सकता है। छल से रात्रि को राजपूत शिविर में आक्रमण कर राजा को बन्दी कर अपनी नीच मनोवृत्ति पर गर्व प्रकट करता है। विलासी यवन युद्ध क्षेत्र में भी संयम नहीं रख पाते, विजयोल्लास में मदिरा पान आदि के ही कारण उनका विनाश होता है, और नीलदेवी की योजना को सफलता प्राप्त होती है। कामान्धता के वशीभूत उसे यह विवेक नहीं रह जाता कि इस युद्ध में उसके छल और अत्याचार का प्रतिशोध भी किया जा सकता है। वह खुशामद पसन्द प्रतीत होता है।

अन्य पात्रों में पागल का चरित्र भी अत्यन्त सजीव और स्वाभाविक है। उसका प्रलाप केवल हास्योत्पादक प्रलाप मात्र न होकर सारगर्भित और सोद्देश्य हुआ है। भटियारी, चपरगट्टू खाँ, और पीकदानअली का प्रसंग हास्य की अवतारणा प्रस्तुत करता है।

सम्पूर्ण नाटक में वीर रस का परिपाक मिलता है, परन्तु चौथे तथा आठवें दृश्य में हास्य की रसानुभूति व्यंजित है, तथा अन्तिम दो दृश्यों में करुण रस का संचार मिलता है। रूपक दुखान्त घटनाचक्र को लेकर चलता प्रतीत होता है। सारा कथानक अत्यन्त प्रभावोत्पादक ढंग से रखा गया है। दृश्यों के परिवर्तन में कथा का विकास आरम्भ होता है, क्रमशः नाट्यकार ने कथावस्तु संगठन के लिये सूक्ष्म से सूक्ष्म प्रसंग का उल्लेख एक विशिष्ट प्रयोजन से किया है। पागल का प्रलाप भी सार्थक तथा प्रयोजन पूर्ण प्रतीत होता है। पागल गुप्तचर के रूप में राजा की मृत्यु का समाचार लाता है।

सम्पूर्ण कथा में गीतों का विशेष स्थान है। पहिले सूर्यदेव फिर अन्त में अमीर की मृत्यु होती है। रंगमंच पर वध का दृश्य दिखाया जाना भारतीय नाट्य-शास्त्र के अनुसार निषिद्ध है, परन्तु उक्त रूपक में वध तथा मृत्यु के दृश्य का उल्लेख मिलता है। भारतेन्दु जी ने उक्त गीत रूपक में कुछ पाश्चात्य पद्धतियों का अनुकरण किया है। वस्तुसंगठन, अन्त, उद्देश्य आदि में प्राचीन नाट्य प्रणाली का निर्वाह नहीं पाया जाता। पाश्चात्य परम्परा का आकर्षण अधिक विद्यमान प्रतीत होता है। गीतिरूपक प्रणाली आधुनिकतम प्रयोग प्रतीत होता है, जो शास्त्रीय नियमों से उन्मुक्त सा दृष्टिगत होता है। यद्यपि आधुनिक नाट्य प्रणाली में बीज, विन्दु तथा

मुख संधियों का कोई स्थान नहीं है, फिर भी कथावस्तु के विकास को निम्न प्रकार से प्रस्तुत किया जा सकता है।

रूपक में प्रस्तावना का प्रयोग नहीं किया गया है, प्रथम दृश्य में अप्सराओं का गायन (सम्मिलित-गान)[1] के रूप में प्रस्तुत है, प्रारम्भ में ही पाश्चात्य परिपाटी का प्रयोग प्राप्त होता है। तीसरे दृश्य में नीलदेवी के कथन में कि "तो भी इन दुष्टों से सदा सावधान रहना चाहिये" कथा का बीज प्रस्तुत दिखाई देता है। पांचवें अंक में यवन आक्रमण की घटना बिन्दु के अन्तर्गत मानी जायगी। पागल के अभिनय तथा राजा की मृत्यु के समाचार का दृश्य प्रकरी के रूप में लिया जा सकता है। अमीर का बध करके तथा महाराज की मृत्यु का बदला लेकर अपने सतीत्व की रक्षा करना कार्य कहलायेगा।

कार्य व्यापार तथा सन्धि अवस्था निम्न प्रकार से घटित होती हैं। दूसरे अङ्क के प्रारम्भ में ही शरीफ राजपूतों के सम्बन्ध में अपने मुसाहिबों से होशियार रहने के लिए कहता है।

...सूरजदेव एक ही बदबला है। इहातए पञ्जाब में ऐसा बहादुर दूसरा नहीं है। यहीं आरंभांश है, तथा तीसरे अङ्क में बीज के संयोग में पहुँचने पर मुख संधि प्रारम्भ हो जाती है। पाँचवें दृश्य में यत्न प्रारम्भ होता है, अतः यहीं प्रतिमुख संधि है। सातवें दृश्य में राजा एक लोहे के पिंजड़े में मूर्छित पड़ा है। एक देवता सामने खड़ा होकर गीत गाता है। राजा सर उठाकर उसके गीत के सम्बन्ध में विचार करता है। यह स्थल प्राप्त्याशा का है, और यहीं गर्भसन्धि होगी। आठवें में पागल यवन शिविर की गतिविधि की सूचना देता है कि "कल सब शराब पीकर मस्त होंगे"। (चारों ओर देखकर) "कल ही अवसर है" इस स्थान से विमर्षसन्धि प्रारम्भ होती है। नीलदेवी कौशल से युद्ध करना निश्चय करती है। अतः यहाँ से नियताप्ति का अंश माना जायगा। दसवें अंक में नीलदेवी अमीर का वध कर डालती है, और कहती है, महाराज के वध का बदला ले लिया, यहीं फलागम और यहीं निर्वहण सन्धि का उदय दिखाई देता है।

नाटक में पात्रोचित भाषा का ध्यान रखा गया है। भाषा गत शब्द योजना में अधिक पात्रानुरूपता लाने के प्रयोजन ने उसमें कहीं-कहीं दुरूहता ला दी है,

---

१—सम्मिलित गान—नांदी प्रस्तावना तथा कोरस दोनों ही के संयुक्त लक्षण विद्यमान रहते हैं, पर प्रस्तावना की भाँति सूत्रकथन अथवा नट नटी सम्वाद नहीं होता। गेय पद्धति में संकेतात्मक प्रारम्भिक गीत कई पात्रों द्वारा गाया जाता है, जो कथावस्तु पर प्रकाश डालता है, वह पात्र पुनः किसी अङ्क में नहीं आते पाश्चात्य तथा प्राच्य परम्परा का संयोग उपस्थित किया जाता है।

कहीं पाठकों तथा दर्शकों के लिए भाषा यत्र-तत्र दुरूह हो गई है। रंगमंचीय दृष्टि से भाषा का बोधगम्य होना अत्यन्त आवश्यक है। परन्तु यवन पात्रों द्वारा फसीह उर्दू का प्रयोग किया गया है। छठे दृश्य में अमीर काजी तथा अन्य सरदारों के वार्तालाप में प्रयुक्त भाषा में दुरूह तथा अस्वाभाविक शब्दावली का प्रयोग है, जो रंगमंच तथा हिन्दी भाषी जनता की समझ के परे दिखायी देती है।

दूसरा सरदार—कुफ्फार सब दाखिले-दोजख होंगे, और पयगम्बरे आखिरूल्जमाँ सल्लल्लाह अल्वेहुसल्लम का दीन तमामरुए जमीन पर फैल जायगा।

अमीर—आमीं आमीं

काजी—मगर मेरी राय है कि और गुफ्तगू के पेश्तर शुक्रिया अदा किया जाय, क्योंकि जिस हक्कतआला की मिहरबानी से यह फतह हासिल हुई है, सबके पहिले उस खुदा का शुक्र अदा करना जरूरी है।" (छठा दृश्य प्र० सं० ५१८-५१६)

अन्य पात्रों की भाषा यथोचित है, सामान्यत: भाषा रंगमंच के अनुकूल है। अभिनेय उपयोगिता के आधार पर नीलदेवी उत्कृष्ट रचना कही जा सकती है, नाटकीय सभी तत्वों के स्वरूप उक्त गीति-रूपक में दिखाई देते है। पाश्चात्य तथा प्राच्य नाट्य परम्परा के संयोग से नवीन तथा स्वतन्त्र नाटकीय शैली का सुन्दरतम प्रयोग कहा जा सकता है, जिसमें नाट्यकार की सफलता तथा कला कुशलता का सुन्दर समाहार मिलता है। नाट्यकार ने पात्रों के अनुकूल वातावरण प्रस्तुत करने का यथासम्भव प्रयास किया है। कहीं-कहीं परिस्थिति का उचित मूल्यांकन करते हुये कार्य व्यापार यथार्थ से दूर और भावना की अतिरंजित प्रवृत्ति के अति निकट दृष्टिगोचर होता है।

नीलदेवी गीति रूपक है। नाट्य का सारा वातावरण संगीतमय है। गीत भारतेन्दु जी की कलाकृति की अमूल्य देन हैं। गीत आंतरिक भावना को साकार रूप में प्रस्तुत करने की क्षमता रखता है। अभिनय के समय जहाँ वाह्य स्थूल क्रिया व्यापारों की अभिव्यक्ति होती है. वहीं मन की स्थिति की भी अभिव्यक्ति अभिनय की मुद्राओं में प्रकट होती है, अन्तर्निहित भावों के प्रकाश में संगीत अभिनेय मुद्राओं का अधिक सहायक होता है। मनोदशा के प्रकाश में प्रायः पात्र गीतों का आश्रय लेकर हाव-भाव प्रदर्शन करते हैं। पात्रों के गद्यमय सम्वादों में जब नीरसता का भान होने लगता है, संगीतमय कलकल नादिनी रस-धारा का आस्वादन करने के लिये दर्शकों का हृदय विकल हो उठता है। मानव हृदय में उद्गारों की अभिव्यन्जना आदि काल से कविता में ही मुखरित होती चली आई है। अभिनय विशेष के अनुकूल गाये हुये गीत न केवल रसानुभूति में सहायक होते हैं, प्रत्युत पात्रों के चरित्रों का भी उद्घाटन करने का भी सामर्थ्य रखते हैं। वीर

से वीर योद्धा युद्ध की कटुता से उकताकर शान्ति में कुछ गुनगुना लेने की इच्छा करता है, कठोर तथा बर्बर प्राणी संगीत को माधुरी का रसास्वादन करना चाहते हैं, और एक क्षण के लिये अपनी नैसर्गिक नृशंसता भूल जाते हैं। विरह के परिताप से तपित हृदय को दुख पूर्ण क्षणों में संगीत की भावुक धारा हिमवान सा शीतल तथा सुखद प्रतीत होती है। नाट्य में संगीत की उपयोगिता निर्विवाद है। अभिनय तथा भाव प्रदर्शन में संगीत निर्देशक का सा कार्य करता है।

नाट्यकार स्वयं गीतकार है, अभिनय के साथ गीतों का सामंजस्य नाटकीय व्यक्तित्व का सौन्दर्य वर्धन करता प्रतीत होता है। नीलदेवी गीत प्रधान-रूपक है, आरम्भ से अन्त तक गीत योजना का तारतम्य कथावस्तु के उपयुक्त तरल गति से चलता दिखाई देता है। आरम्भिक दृश्य में ही अप्सरागण का गान आर्यकुल राजपूत ललना की कीर्ति कौमुदी को समुज्जवल बनाता दिखाई देता है। अभिनेय प्रयोजन की दृष्टि से द्वितीय दृश्य में शरीफ द्वारा कही गई गजल राजपूतों से सजग रहने की प्रेरणा देती है।

"इस राजपूत से रहो हुशियार खबरदार।
गफलत न ज़रा भी हो, खबरदार खबरदार॥
ईमां की कसम दुश्मने जानी है हमारा।
काफिर हैय पंजाब का सरदार खबरदार।
अजदर है, भभूका है जहन्नुम है बला है।
बिजली है, गज़ब इसकी है तलवार खबरदार॥
दरबार में वह तेगे शररबार न चमके
घरबार से बाहर से भी हरबार खबरदार।
इस दुश्मने ईमां को है धोखे से फँसाना
लड़ना न मुकाबिल कभी जिनहार खबरदार॥

उपर्युक्त गज़ल के आशय से ही आगे की भूमिका का आंशिक ज्ञान प्राप्त हो जाता है। उसके विपरीत राजपूतों को निर्देश देते हुये राजपूत राजा सूर्यदेव के मनोभावों तथा शौर्य की सहज जानकारी प्राप्त होती है :—

"सावधान सब लोग रहहु सब भाँति सदा ही।
जागत ही सब रहैं रैन हूँ सोअहिं नाहीं।
कसे रहैं कटि रात-दिवस सब बीर हमारे।
अस्वपीठ सों होहिं चार जामें जिनि न्यारे॥

तोड़ा सुलगत चढ़े रहैं घोड़ा बन्दूकन।
रहैं खुली ही म्यान प्रतंचे नहिं उतरें छन ॥
देखि लेहिंगे कैसे पामर यवन बहादुर।
आवहिं तो चढ़ि सनमुख कायर कूर सबै जुर ॥"

यवनों के समान वाचालता तथा छल छद्म से परे रणभूमि में सदैव कर्तव्य परायण रहने के लिये राजा अपने सहयोगियों को ललकारता है।

चतुर्थ दृश्य में हास्य प्रधान वातावरण है, दोनों यवन विदूषक अपना परिचय देते हुये पद्यमय कथन में मनोरंजन की प्रचुर सामग्री प्रस्तुत करते हैं। रंग-मंचीय दृश्य अधिक रोचक और विनोदकारी प्रतीत होता है।

"पिक दानों चपरट्टू है बस नाम हमारा।
इक मुफ्त का खाना है, सदा काम हमारा ॥
उमरा जो कहैं रात तो हम चाँद दिखादें।
रहता है सिफारिश से भरा जाम हमारा ॥
कपड़ा किसी का खाना कहीं सोना किसी जाँ।
गैरों ही से है सारा सरंजाम हमारा ॥
हो रंज जहाँ पास न जायें कभी उसके।
आराम जहाँ हो है वहीं काम हमारा ॥
जर दीन है कुरआन है ईमां है नबी है।
जर ही मेरा अल्लाह है जर राम हमारा" ॥

संसार में ऐसी मनोवृत्ति के मनुष्यों की कमी नहीं है, यवन सैनिकों के नैतिक पतन का स्वरूप उपस्थित कर नाट्यकार ने उनकी अकर्मण्यता पर कटाक्ष किया है।

पांचवें दृश्य में प्रहरी देवीसिंह के निम्न संगीत में आत्माभिव्यक्ति का सुन्दर सामंजस्य उपस्थित किया गया है—

"प्यारी बिन कटत न कारी रैन।
पल छिन न परत जिय हाय चैन ॥
तन पीर बढ़ी सब छुट्यो धीर।
कहि आवत नहिं कछु मुखहु बैन ॥
जिय तड़फड़ात सब जरत गात।
टप टप टपकत दुख भरे नैन ॥
परदेश परे तजि देश हाय।
दुख मेटन हारो कोउ है न ॥"

दूर देश में लड़ने के लिये आये हुए राजपूत सैनिक के हृदय के उद्गार कितने सत्य और स्वाभाविक हैं, और साथ ही समीचीन भी प्रतीत होते हैं। मानव हृदय के उद्गार संगीत के प्रवाह में उमड़े से पड़ते हैं, नाट्यकार को इसके बाद न तो कोई भूमिका देने की आवश्यकता रह जाती है, और न संवादों के द्वारा कथा विस्तार की ही योजना देनी पड़ती है। वीर सैनिक की दशा तथा चरित्र का विश्लेषण एक ही गीत में सम्पूर्ण एकत्र मिलता है।

रात्रि के समय मातृ-स्नेहानुरंजित सुमधुर लोरी की मृदुलता बरबस आकृष्ट कर लेती है।

"सोओ सुख निंदिया प्यारे ललन।
नैनन के तारे दुलारे मेरे वारे,
सोओ सुख निंदिया प्यारे ललन।
भई आधी रात बन सन सनात,
पथ पंछी कोउ आवत न जात।
जग प्रकृति भई मनु थिर लखात।
पातहु नहिं पावत तरुन हलन ॥

\+ + +

सोए जग के सब नींद घोर,
जागत कामी चिन्तित चकोर,
बिरहिन बिरही पाहरू चोर,
इन कहुँ छन रैनहुँ हाय कल न,

करुणा विगलित संगीत के स्वरों में मानवीय हृदय हिला देने की क्षमता है। शब्द योजना और भावों का सुन्दर संगठन है, बिरहिन, बिरही, पाहरू तथा चोर के जागरण में प्रथम तीन के विकल जीवन का दयनीय चित्र प्रस्तुत किया गया है। पात्र देवीसिंह की अन्तर की भावना का यह चित्र हृदय के कारुण्य को साकार करता हुआ दिखाई देता है।

सातवें दृश्य में भारत की भावी पतनोन्मुख दशा को रूपरेखा का वर्णन अदृश्य देवता द्वारा कराया गया है। कलाकार का हृदय पीड़ा और क्षोभ से आन्दोलित हो उठता है, और बरबस वर्तमान लक्षण देखकर पतन और विनाश की भूमिका उसे स्पष्ट दृष्टिगोचर होने लगती है। जब मानव कर्तव्यच्युत होता है, उसकी औनति अवश्यम्भावी है।

हरि-विमुख, धरम बिनु, धन-बलहीन दुखारी।
आलसी मन्द तन छीन छुधित संसारी ॥

सुख सों सहिं हैं सिर यवन पादुका त्रासा।
अब तजहु बीरवर भारत की सब आसा॥

देश की हीनावस्था देख नाट्यकार की करुणा पुनः साकार हो उठती है, और आठवें दृश्य में वह फिर कह उठता है।

कहाँ गए सब शास्त्र कही जिन भारी महिमा गाई।
भक्त बछल करुनानिधि तुम कहं गायो बहुत बनाई॥
हाय सुनत नहिं निठुर भए क्यों परम दयाल कहाई।
सब बिधि बूड़त लखि निज देसहि लेहु न अबहु बचाई॥

पति के विरह में नीलदेवी की विकल वेदना साकार उमड़ती सी प्रतीत होती है।

प्यारे क्यों सुधि हाय बिसारी ?
दीन भई बिड़री हम डोलत हा हा होय तुमारी॥
कबहुँ कियो आदर जातन को तुम निज हाथ पियारे।
ताही की अब दीन दसा यह कैसे लखत दुलारे॥
आदर के धन सम जा तन कहँ निज अंकम तुम धार्‌यौ।
ताही कहँ अब परयो धूर में कैसे नाथ निहार्‌यौ॥

इसी दृश्य में राजकुमार सोमदेव अपने सहयोगियों को एकत्र कर यवनों से युद्ध का आमंत्रण देता है।

चलहु बीर उठि तुरत सबै जय-ध्वजहि उड़ाओ।
लेहु म्यान सों खड्ग खींचि रन रंग जमाओ।
परिकर कसि कटि उठो धनुष पै धरि सर साधौ॥
जौ आरजगन एक होइ निज रूप सम्हारैं।
तजि गृह कलहहिं अपनी कुल-मरजाद विचारैं॥

सैनिकों का सामूहिक गान तथा रण ललकार रंगमंचीय विधान को सौंदर्य प्रदान करता है। दसवें दृश्य का प्रारम्भ ही कसीदा (एक प्रकार का छंद) से किया गया है, गवैए अमीर के दरबार में मुबारकबाद गाते हैं।

आज यह फतह का दरबार मुबारक होए।
मुल्क यह तुझको शहरयार मुबारक होए॥
शुक्र सद शुक्र कि पकड़ा गया वह दुश्मने दीन।
फतह अब हमको हरेक बार मुबारक होए॥

हमको दिन रात मुबारक हो फतह ऐशोउरूज।
काफिरों को सदा फिटकार मुबारक होए॥
फतह पञ्जाब से अब हिन्द की उम्मीद हुई।
मोमिनों नेक य आसार मुबारक होए॥

नर्तकी के वेष में नीलदेवी के गान में छिछलापन अवश्य है, परन्तु सामयिक वातावरण के लिए यह उपयुक्त प्रतीत होता है। गायिका ठुमरी गाती है। संगीत की लहरी में सारा वातारण उन्मत्त हो जाता है।

"हाँ मोसे सेजिया चढ़लि नहिं जाई हो।
पिय बिनु सांपिन सी डसै बिरह रैन॥
छिन छिन बढ़त बिथा तन सजनी,
कटत न कठिन वियोग की रजनी॥
बिनु हरि अति अकुलाई हो।"

संगीत की मादक स्वर लहरियों ने नाट्याकर्षण को द्विगुणित कर दिया है। गीत रंगमंचीय अभिनय के प्राण हैं, गीतों में निहित भाव प्रदर्शन की गरिमा अति ही उत्कृष्ट तथा हृदयग्राही प्रतीत होती है।

त्रियोदश अध्याय

भारतेन्दु की नाट्यकला का चर्मोत्कर्ष
(सामाजिक तथा राजनीतिक नाटक)

भारत-जननी

भारत जननी नाट्यकार भारतेन्दु जी की प्रतीक रचना है। कल्पित पात्रों के आधार पर राष्ट्रीय जागरण का सन्देश दिया गया है। कथावस्तु का स्वरूप सुव्यवस्थित नहीं है। उसका विकास शिथिल सा दिखाई देता है। सम्पूर्ण कथावस्तु एक ही घटना विशेष में समाहित कही जा सकती है। जो नाटकीय दृष्टि से किसी नाटक विशेष का एक अंग बन सकती है। अतः इसे एकांकी दृश्यगत घटना के रूप में मानना उपयुक्त होगा। कथावस्तु निम्नप्रकार से विकसित होती है।

सर्व प्रथम नाट्यकार सूत्रधार द्वारा भारत की दयनीय अवस्था पर दयार्द्र हो उसके उद्धार के लिये ईश्वर का आवाहन करता है।

"जगत पिता जगजीवन जागो मंगल मुख दरसाओ।
तुव सोये सबही मनु सोए तिन कहं जागि जागाओ।
अब बिनु जागे काज सरत नहिं आलस दूरि बहाओ।
हे भारत भुवनाथ भूमि निज बूड़त आनि बचाओ॥"

सूत्रधार के वक्तव्य में नाट्यकार का सन्देश है, कि "यदि उक्त नाटक से आज एक भी भारत जन-सेवी प्रेरणा पाकर देश और समाज का हित करता है, तो मैं अपने उद्देश्य को सफल समझूँगा"।

भारत जननी एक विस्तृत भग्न खण्ड के टूटे देवालय में जीर्ण-शीर्ण और मलिन वस्त्रों में चिन्तित सी बैठी है। अर्ध निमीलित नेत्रों से निद्रितावस्था का आभास मिलता है। आस पास भारत सन्तान निद्रामग्न पड़े हैं। क्रमशः भारत के पूर्व वैभव में सम्मानित त्रिविध शक्तियां (विद्या, शक्ति और धन) सरस्वती, दुर्गा और लक्ष्मी के रूप में आती हैं। भारत जननी की मलिन दशा पर खेद प्रकट करती हैं, और पुनः चेतना प्रदान करने की चेष्टा करती हैं। विफलता और निराशा देखकर विवश हो जाती हैं, और भारत में अपना स्थान न देखकर विदेश के लिये प्रस्थान करने के लिए विदा होती हैं। लक्ष्मी के लोप होने के बाद भारत जननी की निद्रा भंग होती है, और भारत की विद्या, शक्ति और वैभव के क्षय पर पश्चात्ताप प्रकट करती हैं।

अज्ञान, विभ्रम तथा मोहनिद्रा में पड़े अपने पुत्रों को सजग करने का प्रयास करती है। भारत जननी को अपने पुत्रों की दयनीय दशा से बड़ा ही संताप होता है। क्षुधा प्रताड़ित पुत्र आर्त पुकार करते हैं। अपनी अकर्मण्यता पर क्षोभ प्रकट करते हुये किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाते हैं। वास्तविकता ज्ञात होते ही बड़ी ही ग्लानि तथा क्षोभ प्रदर्शित करते हैं। भारत जननी उन्हें भारत साम्राज्ञी महरानी विक्टोरिया से दया प्रार्थना करने को कहती है। सहसा एक गौरांग पुरुष आकर उन्हें प्रार्थना करने से रोकता है, और उनके इस कार्य पर क्रोध प्रकट करता है। भारतवासी कष्ट पाकर भी कुछ कहने का अधिकार नहीं रखते, भारत जननी के लिये यह अत्यन्त विषमतापूर्ण समस्या है। दूसरा गौरांग पुरुष आकर साधक सिद्धक का कार्य करता है। वह प्रथम अंग्रेज को फटकारता है, और भारतजननी के साथ संवेदना प्रकट करता है तथा भारत पुत्रों को पुनः दया याचना के लिए प्रोत्साहित करता है। सम्राज्ञी की उदारता तथा अन्य अंग्रेज शासकों की न्याय प्रियता की प्रशंसा करता है।

धैर्य आकर भारत जननी तथा पुत्रों को सांत्वना प्रदान करता है। भारत पुत्रों को सजग रह कर कर्मठ बनने का संदेश देता है। भारतमाता पुनः अपने पुत्रों को प्रोत्साहित करती है कि 'अब भी उठो और धैर्य के उत्साह और ऐक्य के उपदेशों को मन में रख इस दुखिया के दुख दूर करने में तन मन से तत्पर हो' ईश्वर से प्रार्थना कर भरत वाक्य कहती है—

"बहु कला कौशल अमित विद्या वत्स मेरे नित लहैं।
पुनि हृदय ज्ञान-प्रकाश तें अज्ञान-तम तुरतहिं दहैं।
तजि द्वेष ईर्षा द्रोह निन्दा देश-उन्नति सब चहैं।
अभिलाख यह जिय पूर्ववत् धन धन्य मोहि सबही कहैं।"

पात्रों के चरित्र चित्रण की दृष्टि से किसी भी पात्र के चरित्र का विश्लेषण करना दुष्कर प्रतीत होता है। नाटक के एकांकी होने के कारण चारित्रिक निर्माण का अभाव दिखाई देता है। प्रतीक पात्रों के चरित्र का विश्लेषण नाटकीय तत्वों के आधार पर सम्भव नहीं है। कल्पित पात्रों की प्रतीक भावना में भारत-जननी, भारत सरस्वती, भारत दुर्गा, भारत लक्ष्मी, भारत पुत्र, दोनों विदेशी तथा धैर्य में सन्देश वाहिनी संज्ञा दी गई है। इन्हीं कल्पित पात्रों के आधार पर नाट्यकार अपनी देश-प्रेम की भावना साकार करना चाहता है।

उक्त एकांकी में करुण रस का परिपाक है। नाटक में पात्रों का अस्तित्व भावना प्रधान है। प्रतीकों द्वारा मनोभावना को साकार स्वरूप दिया गया है। कार्य रूप से पात्रों का कोई व्यक्तित्व नहीं बन पाया है। अंतर्निहित भावना के उद्घाटन

में रूपक प्रक्रिया का व्यवहार किया गया है। कलाकार अपनी भावाभिव्यन्जना का रूपक खड़ा कर देता है।

नाट्यकार ने उक्त रूपक को औपेरा की संज्ञा दी है। औपेरा[1] मुक्त एकांकी रूपक है। संगीत की प्रधानता घटना विशेष से सम्बधित रहती है। गीतों के बाहुल्य में प्रयोजन स्थिर किया जा सकता है। औपेरा तथा गीति रूपक में न्यूनतम भेद दृष्टिगोचर होता है,गीति रूपक प्रणाली में गीतों का प्रयोग संवादों में स्वच्छंदता से होता है, परन्तु औपेरा के गीत संवादों का आधार लेकर उनके भावों की छाया के साथ चलते दृष्टिगत होते हैं। रंगमंचीय दृष्टि से औपेरा का विन्यास संकुचित नहीं रहता, इसका अभिनय मुक्त वातायन में भी प्रस्तुत किया जा सकता है। फिर भी रंगमंचीय योजना से विलग नहीं रहता। हर अवस्था में औपेरा में संगीत की संवादों के साथ प्रधानता रहती है।

भारत जननी, उपर्युक्त लक्षणों के आधार पर औपेरा नाट्य भेद के अन्तर्गत आती है। भारतेन्दु जी ने नवीन शैली का अनुकरण कर हिन्दी नाट्य साहित्य को नवीन पथ-प्रदर्शन किया है। इस रूपक में गीति रूपक के लक्षण भी समाहित पाये जाते हैं। भारतेन्दु जी के अन्य गीति रूपकों में तथा उक्त औपेरा में कोई अधिक भेद नहीं दृष्टिगत होता। गद्यमय संवादों का बड़ा ही उन्मुक्त प्रयोग हुआ है। भारत सरस्वती तथा भारत दुर्गा भारत जननी से विदा लेते समय अपनी व्यथा पूर्ण भावाभिव्यक्ति गेय पदों द्वारा करती हैं। उपर्युक्त रूपक गीति रूपक की शैली का अनुकरण लिये हुये चलता है। परन्तु रंगमंचीय परिवर्तन तथा उन्मुक्त वातावरण और एकांकी रूपक के आधार पर ही नाट्यकार ने इसे औपेरा की संज्ञा दी है। नाट्यकार ने नाट्य वातावरण को रंगमंचीय योजना दी है। स्थान स्थान पर पात्रों के लिए सूचक संकेतों द्वारा उनके अभिनय को रंगमंच के उपयुक्त बनाया है। समसामयिक विचारधारा से साम्य रहने के कारण यह नाटक अधिक लोकप्रिय बन गया। यह कई बार रंगमंचों पर अभिनीत किया गया। भारतेन्दु की मौलिक रचनाओं में जिन्हें जन-समाज में आदर प्राप्त है, भारत जननी प्रमुख स्थान रखती है। राष्ट्रीय भावों का प्रवाह तथा जन-जागरण के संदेश की नवीन प्रेरणा समाज में उक्त नाट्याभिनय द्वारा प्रदान की गई है। यद्यपि प्रतीक एकांकी रूपक होने के कारण न तो कथावस्तु में गतिशीलता है, और न पात्रों का चरित्र-संगठन हो पाया है। भाषा में यत्र तत्र आलंकारिकता तथा दुरूहता आ गई है। परन्तु बहुत थोड़े परिवर्तनों से यह रंगमंचीय संवादों के लिये अत्यन्त उपयुक्त नाटक बनाया जा सकता है। संगीत प्रधान

---

[1] Opera :— A drama set to music as distinguished from plays in which music is merely incidental.

(Encyclopedia Britannica)

होने के कारण भावों की छटा संगीत की स्वर लहरी में बह उठती है। कलात्मक विकास की दृष्टि गौण रूप धारण करती है, परन्तु नाटक के भावों में नाट्यकार का राष्ट्रवादी व्यक्तित्व प्रधान रूप में दृष्टिगत होता है।

नाटककार स्वयमेव कुशल अभिनेता था, उसने रंगमंच के निर्देशों में अधिक सतर्कता से काम लिया है। भारत जननी में नाट्यकार की उपर्युक्त प्रवृत्ति का यथेष्ट परिच्चय मिलता है।

भाषागत दुरूहता ने रूपक में अरोचकता का समावेश कर दिया है। महारानी विक्टोरिया की स्तुति में आलंकारिक विशेषणों का तांता सा बँधा दिखाई देता है। भाषा यहाँ अनैसर्गिक तथा बोझिल सी प्रतीत होती है, यद्यपि सम्पूर्ण नाट्य-सम्वादों में भाषा नाटकीय प्रयोजन के अनुकूल ही दृष्टिगत होती है। परन्तु कहीं-कहीं खटकने वाले स्थल भी दिखाई देते हैं।

भारत जननी संगीत प्रधान रूपक है। नाट्यकार की भावनायें विभिन्न राग-रागनियों में मुखरित स्पष्ट दृष्टिगोचर होती हैं, समाज की अधोगति देखकर नाट्यकार का हृदय करुणा से कराह उठता है। भारत सरस्वती के रूप में नाट्यकार की वाणी विद्या-बुद्धि ह्रास तथा मान प्रतिष्ठा भंग होने पर क्षोभ प्रकट करती है, तथा भारत जननी की हीन अवस्था पर करुणा विगलित दुःख प्रकट करती है।

"क्यों बोलत नहिं मुख माय बचन,
जिय व्याकुल बिन तुव अमृत बचन।
क्यों रूस रही अपराध बिना,
नहिं खोलत क्यों तुम जुगल नयन।

नाटककार दुर्भाग्य और राष्ट्र के पराभव के कारण असीम वेदना का ज्वार असन्तोष की गरिमा अन्तस्तल में छिपाये सहसा उमड़ पड़ता है। जब उसकी करुणा तिलमिलाहट से मचल उठती है, और उसे जान पड़ता है कि भारत का पतन और विनाश की दावा में सर्वस्व भस्मीभूत हुआ जा रहा है। ऐसा प्रतीत होता है कि भाग्य और अभाग्य दोनों ही होड़ लगाकर चिर विजय चाहते हैं। निम्न होली गीत में नाट्यकार की साकार भावनाओं का सम्यक चित्रण उपस्थित है।

"भारत में मची है होरी।
इक ओर भाग अभाग एक दिसि होय रही झकझोरी।
अपनी अपनी जय सब चाहत होड़ परी दुहुँ ओरी॥
दुंद सखि बहुत बढ़ोरी॥१॥

संदेश वाहिनी संगीतमाला में राष्ट्रचेतना का मूलमन्त्र फूँकता हुआ कलाकार युग नायक के समान निर्देशक बना दृष्टिगोचर होता है। सदियों से दासता के पंक

में पड़े व्यथित समाज को पुनः ललकार कर सचेष्ट होने को प्रेरित करता है। निम्न भावों में प्राचीन गौरव का स्मरण कर देशवासियों को राम, युधिष्ठिर तथा विक्रम के समान पराक्रमी बनने का संदेश देता है।

"उठौ उठौ भैया क्यों हारौ अपुन रूप सुमिरोरी।
राम, युधिष्ठिर, विक्रम की तुम झटपट सुरत करोरी॥
दीनता दूर धरोरी॥"

भारतीय समाज के पतन की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि जयचन्द्र तथा पृथ्वीराज की गृह-कलह के कारण बनी, जयचन्द्र ने भारत में विभीषण का कार्य कर देश को शताब्दियों तक दासता में पद्‌दलित होने का कलंक अपने सर लिया। इतिहास के काले पृष्ठों में गुलामी के उत्तरदायी तथा आपसी वैमनस्य के कारण सारे देश को उसका फलोपभोग कराने का कलंक आज तक जयचन्द पर पड़ रहा है। ऐतिहासिक साक्ष्य के आधार पर बारबार उक्त भूलों की पुनरावृत्ति न करने के लिये आपसी बैर छोड़कर एकमत स्वतन्त्रता संग्राम के लिये प्रयत्नशील होना और देश का जागरण की ओर ध्यान आकृष्ट करना कलाकार का उद्देश्य रहा है।

"पृथ्वीराज, जैचन्द कलह करि जवन बुलायो।
तिमिर लंग, चंगेज आदि बहु नरन मरायो॥
अलादीन, औरंगजेब मिलि धरम नसायो।
विषय वासनादुसह मुहम्मद सह फैलायो॥
तब लों सोए बहु वत्स तुम, जागे नहीं कोऊ जतन।
अब तौ रानी विक्टोरिया, जागहु सुत भय छांड़िमन॥

\+ \+ \+ \+

"कहँ गये विक्रम भोज, राम, बलि, कर्ण युधिष्ठिर।
चन्द्रगुप्त, चाणक्य कहाँ नासे करिकै थिर॥
कहँ क्षत्री सब मरे विनसि सब गए कितै गिर।
कहाँ राज को तौन साज जोहि जानत है चिर॥
कहँ दुर्ग सेन धन बल गयी, घूरहि घूर दिखात जग।
उठि अजौं न मेरे वत्सगन रक्षहिं अपुनो आर्य मग॥"

भारत जननी के रूप में नाट्यकार उद्‌बोध देता दृष्टिगत होता है। इस संगीत प्रधान ओपेरा में नाट्यकार ने विभिन्न गीति-प्रणाली का प्रयोग किया है। राग बसन्त, होली, राग चैती, सोरठ तथा मलार आदि राष्ट्र-प्रेम

भावना प्रधान गीत हैं'। काव्य-मय वर्ण चित्रों में कवि की भावना का यथेष्ट चित्रण है।

यह रूपक नाट्यकार की मानसिक वेदना का करुण चित्रण है। समसामयिक राष्ट्र की हीन दशा पर नाट्यकार के मौलिक विचारों में अधःपतन से उठकर देश और समाज के परिष्कार के लिये उठ खड़े होने का आवाहन है। भारतेन्दु की विचारधारा में क्रान्तिकारी विस्फोट की क्षमता अवश्य थी, परन्तु उनकी भावना मध्म मार्ग का अनुसरण करती हुई चलती है। वह सुधारवादी मनोवृत्ति को लेकर आन्दोलनकारी के रूप में आये। उनका उद्देश्य भारतीय स्वतन्त्रता के लिये एकदम विद्रोह कर देने का नहीं था, प्रत्युत अंग्रेजों की छत्र छाया में रह कर अपने में खोई हुई क्षमता को पुनः प्राप्त कर लेने का था। देश का निर्माण उत्तरोत्तर अपनी कुरीतियों का समूल नाश कर देने के ही बाद ही सम्भव हो सकता था।

अभाव तथा अज्ञान के निविड़ अन्धकार में पड़े प्राणी विश्व के उन्नतिशील समुज्ज्वल धरातल पर आकर अपने सत्य को समझें, तथा गौरवमय अतीत के आधार पर अपने व्यक्तित्व का विकास करते रहें, यही भारतेन्दु जी की जन-जागरण की परिभाषा है। इसे नाट्यकार अपने अन्तिम भरतवाक्य में स्पष्ट रूप से कह देता है। नाट्यकार खोया हुआ गौरव पुनः प्राप्त करना चाहता है।

'बल कला कौशल अमित विद्या वत्स मेरे नित लहैं।
पुनि हृदय-ज्ञान-प्रकाश तें अज्ञान-तम तुरतहिं दहैं।
तजि द्वेष ईर्षा द्रोह निन्दा देश उन्नति सब चहैं।
अभिलाख यह जिय पूर्ववत् धन धन्य मोहि सब ही कहैं।

नाट्यकार ने उक्त नाटक में सामाजिक चेतना का शंखनाद किया है। उसकी विचारधारा में समाज के पुनर्निमाण की प्रेरणा निहित दिखाई देती है। मोह निद्रा और तमिश्रा दूर करने में सतत् प्रयत्नशील कलाकार का सन्देश जन-जागरण तथा समाज की खोई हुई मान प्रतिष्ठा को पुनः पूर्ववत लौटा लेना है। भारतेन्दु जी ने राष्ट्र प्रेम तथा समाज सेवा की भैरवी सुनाकर सामाजिक उत्थान आन्दोलन को चेतनता प्रदान की। संघर्ष का अंकुरित बीज समय का बल पाकर पुष्ट होता रहा, और वर्तमान युग की राष्ट्रीय स्वतन्त्रता उस युग में पोषित भावना का ही प्रतिफल कही जा सकती है। इस दृष्टि से भारतेन्दु भारतीय समाज के स्वातन्त्र्य संग्राम के प्रथम नायकों में से थे जिनके आवाहन तथा देश प्रेम की अलख जगाने के प्रयत्न के लिये साहित्य और समाज दोनों ही चिरऋणी हैं।

भारत दुर्दशा —:

भारत दुर्दशा नाट्यकार भारतेन्दु की राष्ट्रवादी विचारधारा से पूर्ण रूपक है। प्रतीक कल्पना के आधार पर समसामयिक सामाजिक स्थिति का दैन्य चित्रित किया गया है। भावनाओं का मानवीकरण कर कथावस्तु का निर्माण किया गया है। छः अंकों की कथा में समकालीन भारतीय सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक, और सांस्कृतिक जीवन का यथार्थ चित्रांकन मिलता है। प्रथम अंक में योगी द्वारा भारत की वर्तमान दैन्य अवस्था का उल्लेख है। वह अतीत के गौरव की तुलना में वर्तमान के दैन्य को देखकर आर्तरोदन करता हुआ दृष्टिगत होता है। पारस्परिक वैमनस्य द्वारा उत्पन्न सदियों की मुस्लिम शासन रूपी विपत्ति छूट न पाई थी, कि गौरांग महाप्रभुओं के आर्थिक शोषण का चक्र चल पड़ा।

द्वितीय अंक में सभ्यता और संस्कृति के भग्नावशेष में दीन हीन भारत असहाय आर्त पुकार करता है :—

"कोउ नहिं पकरत मेरो हाथ
बीस कोटि सुत होत फिरत मैं हा हा होय अनाथ।"

विपत्ति और संताप पीड़ित भारत मूर्छित गिर पड़ता है। निर्लज्जता, आशा की सहायता से उसे उठा ले जाती है।

तृतीय अंक में ईश्वरीय-कोप से उत्पन्न प्रतिनायक भारत-दुर्दैव आता है, वह भारत को दूषणों से घेर कर पतित करना चाहता है। अपने सहकारी सत्यानाश फौजदार को आदेश देकर विनाशक तत्वों की सेना भेज भारत पर आक्रमण करने को कहता है। सभी दुर्गुण क्रमशः भारत-भूमि में प्रवेश करके अपना कौशल दिखाते हैं, और भारत को पतित करने में सहायक होते हैं।

चतुर्थ अंक में अंग्रेजी ढंग से सज्जित कक्ष में प्रतिनायक भारत दुर्दैव बैठा है। क्रमशः रोग, आलस्य, मदिरा तथा अंधकार प्रवेश करते हैं, और एक एक करके भारतवासियों पर प्रसारित अपने प्रभाव का वर्णन करते हैं।

पाँचवें अंक में पुस्तकालय में बैठे कुछ संभ्रान्त नागरिक भारत दुर्दैव से मुक्ति पाने का विचार विनिमय करते हुये दिखाई देते हैं। उक्त नागरिकों की सभा में विभिन्न प्रान्त के लोग बंगाली, महाराष्ट्र, सम्पादक, कवि तथा दो अन्य देशी नागरिक और सभापति बैठे हैं। भारत दुर्दैव से बचने के उपायों पर बहस करते हुये कवि, बंगाली महाशय, सम्पादक तथा महाराष्ट्र नागरिक द्वारा जो सुझाव प्रस्तावित किये जाते हैं, उनसे क्रियात्मक शक्ति का परिचय नहीं मिलता। कल्पना की थोथी उड़ान में उड़ने वाले लोग केवल ख्याली पुलाव बनाकर रह जाते हैं। कार्य करने की क्षमता न होने के कारण कोई भी रचनात्मक कार्यक्रम नहीं प्रस्तुत कर पाते। सहसा पुलिस वेश में डिसलायलटी प्रवेश करती है, और सबको सरकार के विरुद्ध

मंत्रणा करने के आरोप में पकड़ लेती है। कुछ प्रतिवाद करने के बाद सब उसके साथ चल देते हैं।

अंतिम अंक में भारत भाग्य भारत में पुनः चेतना लाने का विफल प्रयास करता है। भारत मूर्छित मोहनिद्रा में निमग्न है। निराश भारत-भाग्य अन्त में आत्मघात कर लेता है। इसी प्रकार कथा का दुखान्त होना दिखाया गया है। कथा का अन्त यथार्थवाद की आधार शिला पर स्थिति है। तत्कालीन भारतीय जीवन के जर्जरित रूप का चित्रण करना ही नाट्यकार का उद्देश्य है, जो रचना के शीर्षक से स्पष्ट ध्वनित होता है। भावों के मानवीकरण से ही कथावस्तु का संगठित स्वरूप बनाया गया है। कथा प्रसंग में रोचकता तथा प्रभावोत्पादक ढंग का समावेश होने के कारण कथावस्तु में सजीवता आ गई है। प्रारम्भ से अन्त तक कथा में शिथिलता का कहीं भी आभास नहीं प्राप्त होता है। समानगति से चलती हुई कथा का प्रवाह चरमोत्कर्ष तक पहुँचता है। किन्तु अन्त में कथा की नैसर्गिक समाप्ति नहीं दृष्टिगत होती। ऐसा प्रतीत होता है कि कथा का विकास अवशेष होते हुये भी बलात् उसका अन्त कर दिया गया है। भारतेन्दु जी ने उपर्युक्त रूपक को नाट्यरासक की संज्ञा दी है, जो कि संदिग्ध प्रतीत होती है। मूलतः नाटक पाश्चात्य शैली के प्रभाव से प्रेरित दृष्टिगत होता है। यद्यपि रचना का प्रारम्भ मंगलाचरण से होता है, परन्तु बाद के सभी अवयवों में पाश्चात्य प्रभाव का समावेश पाया जाता है, विषय चयन, वस्तुसंगठन अन्त तथा उद्देश्य की पूर्ति सभी में पाश्चात्य शैली सन्निहित है।

भारत दुर्दशा के पात्र नाटककार की भावधारा के प्रतीक हैं। भारतेन्दु जी के समय में एक ओर तो भारतीय पतन के चिन्ह चारों ओर विद्यमान थे, दूसरी, ओर भारतीय नवोत्थान की भावना से प्रेरित नवशिक्षित भारतवासी जीवन के भावी प्रशस्त मार्ग का निर्माण करने में संलग्न थे। भारत में अंगरेजी साम्राज्यवादी और औपनिवेशिक शासन नीति के फल स्वरूप पश्चिम की जीवित जाति के साथ घनिष्ट सम्पर्क भी अनिवार्य था। एक ओर भारतीय प्राचीन संस्कृति तथा अतीत के गौरव का विनाश देखकर अत्यन्त दुख और निराशा हो रही थी, दूसरी ओर पाश्चात्य की चकाचौंध से आकृष्ट शिक्षित समाज पथभ्रष्ट हो रहा था।

भारत दुर्दशा में प्रस्तुत पात्रों में अपने समय के भारतीय जीवन की स्थिति का सजीव चित्रण है। भारत दुर्दैव के रूप में तथा उसके सहयोगियों के रूप में भारतीय समाज के पतन के समस्त कारणों की रूपरेखा प्रस्तुत की गई है। भारत भाग्याकाश उस समय कुंभ्फटिकाच्छन्न ही था। किन्तु भारत दुर्दैव से भारत का उद्धार कराने वाले नागरिकों के कथनों का अवलोकन करें तो आशा ज्योति की क्षीण रेखा के रूप में देश को उत्थान की ओर ले जाने की मनोवृत्ति का यथेष्ट परिचय प्राप्त होता है। स्वतन्त्रता संग्राम को प्रगति देने में बङ्गाल का अत्यधिक सहयोग रहा है।

सम्पादक भी तत्कालीन सामाजिक जीवन के प्रतिनिधि के रूप में थे, जिनसे समाज के उठाने में सहयोग की सम्भावना की जा सकती है। कवि समाज का निर्देशक तथा युग प्रवर्तक कहलाता है। इन सभी पात्रों से समाज सुधार की कल्पना करना सुसंगत है, परन्तु भारतेन्दु जी ने कथित समाज के ठेकेदारों की कल्पना की उड़ान पर व्यंग्योक्तियों से आलोचना की है। समकालीन सम्पादकों, कवियों तथा अन्य सुधारवादी नागरिकों की विशेषताओं का उद्घाटन करने में उन्होंने अपनी अभिव्यञ्जना-शक्ति का परिचय दिया है। प्रतीक चित्रों में व्यक्तित्वों की रूपरेखा देकर समसामयिक दशा का यथार्थ चित्र अंकित कर दिया है।

प्रतीक नाट्य होने के कारण पात्रों का चारित्रिक विकास नहीं हो सका है। कई पात्रों को तो एक से अधिक बार रंगमंच पर आने का अवकाश नहीं प्राप्त हुआ, भारत, भारत दुर्दैव, भारतभाग्य, मदिरा, आलस्य, रोग आदि के व्यक्तित्व का निरूपण करना असम्भव सा है। इनका छाया रूप देकर भावनाओं की अभिव्यक्ति तो अवश्य हो सकती है, परन्तु इन प्रतीक संज्ञाओं का चारित्रिक चित्रण सम्भव नहीं है।

नाटक दुखान्त होने के नाते इसमें करुणा रस का परिपाक है। भारतभाग्य भारत की दीन दशा तथा दैव की अकृपा देखकर आत्मघात कर लेता है, प्रारम्भ से ही भारत हीन अवस्था में रक्षा की आर्त पुकार करता है।

"नाट्य रासक में एक ही अंक होता है, नायक उद्दात और उपानयक पीठमर्द होता है। यह हास्य रस प्रधान होता है। शृङ्गार का भी इसमें समावेश पाया जाता है। नायिका वासकसज्जा होती है। इसमें मुख और निर्वहण सन्धियाँ तथा लास्य के दसों अंगो की योजना होती है। कहीं-कहीं इसमें प्रतिमुख-सन्धि को छोड़कर शेष चारों संधियों का होना मानते हैं।"[१]

उपयुक्त लक्षणों के आधार पर भारतदुर्दशा को नाट्यरासक की संज्ञा देना उपयुक्त नहीं प्रतीत होता। रूपक न तो एकांकी है, और न नायक ही उदात है, तथा न हास्य और शृङ्गार की व्यञ्जना उपस्थित की गई है। हास्य में व्यंग्य कटाक्ष का भाव केवल पाँचवें अंक में प्रदर्शित किया गया है। अन्यथा सर्वाङ्ग रूपक करुणा विगलित भावधारा से प्लावित है। नायिका दृष्टिगत नहीं होती। उक्त रूपक में पाश्चात्य परम्परा का अनुसरण भी दृष्टिगत होता है। सर्व प्रथम सम्मिलित गान की योजना उपस्थित है, तथा नाटक दुखान्त है। वस्तु निर्माण में भी द्वंद्वात्मक पश्चिमी शैली को ग्रहण किया गया है।

रूपक का नायक भारत तथा प्रतिनायक भारत दुर्दैव है। नान्दी में नाटकीय प्रसंग का आभास प्राप्त होता है।

१—रूपक रहस्य ब० श्यामसुन्दरदास पृ० १७६ ।

"जय सतयुग थापन करन, नासन म्लेच्छ अचार ।
कठिन धार तलवार कर, कृष्ण कल्कि अवतार ॥"

मंगलाचरण में नाट्य प्रसंग उपस्थित प्रतीत होता है, अतः इसमें प्रसंगोपात् नान्दी मानी जा सकती है। प्रथम अंक में बीथी स्थान में योगी का भारत की दुर्दशा का वर्णन है। प्रस्तुत गीत यहाँ कोरस (सम्मिलित गान) की शैली पर प्रयुक्त प्रस्तावना के रूप में प्रतीत होता है। प्रथम ही अंक में 'हा हा। भारत दुर्दशा न देखी जाई ?' यही वाक्य बीजोदय का द्योतक है। तीसरे अंक में भारत दुर्दैव अपने सहयोगियों के द्वारा भारत को पतन के गर्त में ढकेलना चाहता है। भारत दुर्दैव उसका पीछा करता हुआ आता है। और कहता है, "कहाँ गया मूर्ख ? जिसको अब भी परमेश्वर और राज राजेश्वरी का भरोसा है ? देखो तो अभी इसकी क्या क्या दुर्दशा होती है।" यहाँ कथा का विन्दु तथा बीज का विकास उपस्थित है। भारत दुर्दशा की योजना तथा उसकी दैन्य स्थिति दिखाना कार्य है।

दूसरे अंक में भारत प्रभु से प्रार्थना करता है। इस पर नेपथ्य से कठोर स्वर सुनाई पड़ता है—

"अब भी तुझको अपने नाथ का भरोसा है। खड़ा तो रह, अभी मैंने तेरी आशा की जड़ न खोद डाली तो मेरा नाम नहीं" इस स्थल से आरम्भ अंश माना जायगा। और बीज तथा आरम्भ के योग से इसी स्थल में मुखसन्धि होगी। तीसरे अंक में भारत दुर्दैव का प्रवेश होता है। इस स्थल से यत्न प्रारम्भ होता है, और यहीं प्रतिमुख सन्धि भी होगी। छठे अंक में भारत भाग्य का प्रवेश होता है। वह भारत के दुख से दुखी होकर आत्महत्या कर लेता है। यही फलागम तथा निर्वहण सन्धि का योग माना गया है।

भारत-जननी के समान भारत-दुर्दशा भी राष्ट्रप्रेम की भावना लेकर लिखा गया नाटक है। नाट्यकार ने सामाजिक दैन्य का नग्न चित्र दिखाकर जन समाज में एक राष्ट्रीय लहर उत्पन्न करना चाहता है। भारत दुर्दशा रंगमंचीय कसौटी पर कसी गई भावनाओं के आधार पर राष्ट्र उद्धार के लिये प्रस्तुत भारत सेवियों को तत्पर रहने की खुली चेतावनी थी। अभिनेय दृष्टिकोण से प्रौढ़ रचना है। प्रतीक पात्रों द्वारा सफलता पूर्वक अभिनय कराया जा सकता है। नाट्यकार ने स्थान-स्थान पर रंगमंचीय निर्देश भी दिये हैं। पात्रों की वेशभूषा तथा रंगमंच का पट निर्देश देकर अभिनय सम्बन्धी कठिनाइयों को दूर किया गया है। यद्यपि नाटक रंगमञ्च तथा अभिनय की दृष्टि से सर्वथा निर्दोष नहीं दृष्टिगत होता। काव्य का बाहुल्य होने के कारण नाटक में गतिशीलता की कमी हो गई है जो अभिनय में असफलता

का कारण होगा। लम्बे-लम्बे स्वगत कथनों की शैली में संवादों की प्रौढ़ता नहीं रह जाती है। वह संवाद न रह कर वक्तव्य का रूप धारण कर लेते हैं, और उनमें अभिनेय गरिमा का अभाव दृष्टिगत होने लगता है। लम्बे संवादों में काट-छांटकर उनसे कलेवर को रंगमञ्चीय प्रयोजन के उपयुक्त बनाया जा सकता है। कथोपकथन में घटनाओं के संघर्ष तथा घात-प्रतिघात की न्यूनता पाई जाती है। परन्तु मानसिक व्यापारों के संघर्ष की यथेष्ट अभिव्यक्ति मिलती है। कल्पित प्रतीक धरातल पर पात्रों का निर्माण तथा उनसे सफल अभिनय के निर्वाह की आशा करना कठिन है। प्रबोध-चन्द्रोदय की भाँति उक्त नाटक में भी पात्रों में अभिनेय क्षमता अधिक सफल नहीं दृष्टिगत होती है। भावप्रधान पात्र पाठकों की कल्पना का मनोरञ्जन अधिक सफलता से कर सकते हैं, दर्शकों की मौलिक रुचि के अनुकूल उनका विकास नहीं हो सका है।

भाषा पात्रोचित तथा बोधगम्य है। संवादों में भाषा का प्रवाह देश प्रेम की भावनाओं से प्रवाहित है। अतीत के गौरव की सहेतुक व्यञ्जना में विचारपूर्ण उक्तियाँ देना नाट्यकार की सजगता तथा भाषा सौष्ठव की परिचायक है। द्वितीय अंक में महाभारत काल का स्मरण करते हुये पूर्वजों की निर्भीकता तथा पौरुष की ओर इंगित करते हुये भारत द्वारा कहलाया गया है।

भारत :—"हाँ। यह वही भूमि है, जहाँ साक्षात् भगवान श्रीकृष्ण चन्द्र के दूतत्व करने पर भी वीरोत्तम दुर्योधन ने कहा था—सूच्यग्रं नैव दास्यामि विना युद्धेन केशवः और आज हम उसी भूमि को देखते हैं कि श्मशान हो रही है।"

नाटकीय नियोजन लिये हुये सांकेतिक व्यञ्जना का स्पष्ट भाव कलाकार की भाषा का गुण है। भाषा के प्रयोगों में देशज तथा बोल चाल में प्रयुक्त होने वाले मुहावरों की नैसर्गिक छटा यत्र तत्र दिखाई देती है। उक्त प्रयोग भाषा की गति को स्फूर्तिमयी बना देते हैं, और भाषा में अद्‌भुत सरलता विद्यमान दिखाई देती है।

निर्लज्जता—"मेरे आछत तुमको अपने प्राण की फिक्र। छिः छिः। जीओगे तो भीख माँग खाओगे। प्राण देना तो कायरों का काम है। क्या हुआ जो धन मान सब गया "एक जिंदगी हजार नेआमत है।"

उक्त प्रयोग में व्यंग्योक्ति की गरिमा लिये हुये भाषा का प्रवाह दृष्टिगत होता है। लोकोक्तियों और मुहावरों से भाषा में शक्ति और चमक उत्पन्न होती है, नाट्यकार ने इस प्रकार के प्रयोगों को बड़े सुन्दर ढंग से रखा है, इनका प्रयोग प्रचुर मात्रा में दृष्टिगत होता है, जो कि भाषा में संजीवनी का सा कार्य करते हैं, शाब्दिक प्रयोगों

में भाषा और भावों दोनों के ही स्थानीय मान बढ़ाने की महान् क्षमता है। उपर्युक्त चमत्कार का प्रदर्शन कलाकार ने सत्यानाश फौजदार ने कथोपकथन में बड़ी ही सुन्दरता से व्यक्त किया है। सत्यानाश फौजदार अपने सेनापति भारतदुर्दैव को अपनी कारगुजारी बताता है।

"सत्यानास फौजदार—फिर महाराज जो धन की सेना बची थी, उसको जीतने को भी मैंने बड़े बांके वीर भेजे। अपव्यय, अदालत, फैशन और सिफारिश इन चारों ने सारी दुश्मन की फौज तितिर-बितिर कर दी। अपव्यय ने खूब लूट मचाई। अदालत ने भी अच्छे हाथ साफ किये। फैशन ने तो बिल और टोटल के इतने गोले मारे कि बंटाधार कर दिया, और सिफारिश ने भी खूब छकाया। पूरब से पच्छिम और पच्छिम से पूरब तक पीछा करके खूब भगाया। तुहफे घूस और चन्दे के ऐसे बम के गोले चलाये कि 'बम बोल गई बाबा की चारों दिसा' धूम निकल पड़ी। मोटा भाई बना-बनाकर मूँड़ लिया। एक तो खुद ही सब पँड़िया के ताऊ, उस पर चुटकी बजी, खुशामद हुई, डर दिखाया गया, बराबरी का झगड़ा उठा, धांय धांय गिनी गई, वर्णमाला कंठ कराई बस हाथी के खाये कैथा हो गये। धन की सेना ऐसी भागी कि कब्रों में भी न बची, समुद्र के पार ही शरण मिली।"[1]

ऊपर के उद्धरण में लक्षण मूलक प्रयोगों द्वारा भाषा का तरल प्रवाह दिखाई पड़ता है। चटकीली भाषा में सहेतुक प्रयोगों में व्यंग्योक्तियों की छटा यत्र तत्र दिखाई देती है, 'धांय धांय गिनी गई', वर्णमाला कंठ कराई, सांकेतिक भाषा में लाक्षणिक प्रयोग है, जिनमें व्यक्तिगत कटाक्षों की भावना निहित दृष्टिगोचरमें होती है।

आलस्य के भावों में पलायनवादी मनोवृत्ति तथा अकर्मण्य विचारों का अच्छा समाहार है। देशज प्रयोगों की चपलता भाषा को स्फूर्ति प्रदान करती है। रंगमंच के अनुकूल शब्द विन्यास दर्शकों की रोचकता को बढ़ाता है। हास्यजन भाषा और भावों का प्रवाह सुन्दर प्रतीत होता है।

"काजी जी दुबले क्यों, कहैं शहर के अन्देशे से। अरे कोउ नृप होउ हमें का हानी, चेरि छांड़ि नहिं होउब रानी। आनन्द से जन्म बिताना। अजगर करै न चाकरी पंछी करै न काम। दास मलूका कहि गए सबके दाता राम। 'जो पढ़तव्यं सो मरतव्यं, जो न पढ़तव्यं सो भी मरतव्यं, तब फिर दन्त कटाकट किंकर्तव्यं ?'

यद्यपि उक्त प्रयोगों में पारस्परिक सूत्र नहीं प्राप्त होता फिर भी रंगमंचीय रोच-

१—तृतीय अङ्क—भारत दुर्दशा, पृष्ठ सं० ४६७

कता वर्धन करने में सहायक अवश्य हैं। भाषागत प्रयोगों में चमत्कारवादी मनोवृत्ति की चपलता दिखाई देती है।

अंधकार के व्यक्तित्व का परिचय परिभाषित रूप में बड़ा ही उपयुक्त तथा यथार्थ मनोवैज्ञानिक विश्लेषण उपस्थित किया गया है, कलाकार के शब्दचयन तथा परिमार्जित भाषा का सुन्दर वर्णमय चित्र है।

"हमारा सृष्टि-संहार-कारक भगवान तमोगुण जी से जन्म है। चोर, उलूक और लंपटों के मस्तिष्क और खलों के चित्त में हमारा निवास है। हृदय के और प्रत्यक्ष, चारों नेत्र हमारे, प्रताप से बेकाम हो जाते हैं। हमारे दो स्वरूप हैं, एक आध्यात्मिक और आधिभौतिक, जो लोक में अज्ञान और अँधेरे के नाम से प्रसिद्ध हैं।"

अंधकार शब्द की व्यापक मीमांसा देकर अंधकार के अव्यक्त स्वरूप को कलाकार ने उपस्थित किया है। भाषा में स्वाभाविकता लाने का कलाकार ने विशेष ध्यान रक्खा है। नाटकीय कथोपकथन में भाषागत नैसर्गिकता नाटकीय संवादों का प्राण है, और कृति को रोचक बनाने में सहायक होती है। पात्रों के अनुकूल भाषा का प्रयोग प्रायः सभी नाटकों में स्वच्छन्दता से हुआ है। पाँचवें अङ्क में बंगाली नागरिक द्वारा हिन्दी के उच्चारणों में बंगभाषी वातावरण का समावेश उपस्थित करना भाषागत स्वाभाविकता लाने का अच्छा प्रयास है।

बंगाली—"(खड़े होकर) सभापति साहब जो बात बोला सो बहुत ठीक है। इसका पेश्तर कि भारतदुर्दैव हम लोगों का सिर पर आ पड़े कोई उसके परिहार का उपाय शोचना अत्यन्त आवश्यक है। किन्तु प्रश्न एई है, जो हम लोग उसका दमन करने शाकता कि हमारा वोर्ज्जोवल के बाहर का बात है। क्यों नहीं शाकता ? अलबत्त शकैगा, परन्तु जो शब लोग एकमत होगा।"

नाट्यकार ने यत्र तत्र स्वभावोक्तियों का कम प्रयोग देकर प्रभावोत्पादक भाषा का निर्माण करने का सफल प्रयत्न किया है, जो कि नाटकीय संवादों के महत्व को बढ़ाती है, और दर्शकों की रुचि का वर्धन भी करती है।

भारतेन्दु जी के गीत नाटकों के प्राण हैं। कहीं कहीं सम्वादों से अधिक सजीवता गीतों में दृष्टिगत होती है। भारत दुर्दशा में राष्ट्रीय गीतों की आदि से अंत तक अधिकता दृष्टिगोचर होती है। प्रथम ही अंक में योगी द्वारा लावनी गीत में भारत की दुर्दशा का कारुण्य चित्रित है।

"रोअहु सब मिलि के आवहु भारत भाई।
हा हा भारत दुर्दशा न देखी जाई॥

सबके पहिले जेहि ईश्वर धनबल दीनो।
सबके पहिले जेहि समय विधाता कीनो।
सबके पहिले जो रूप रंग रस भीनो।
सबके पहिले विद्या फल जिन गहि लीनो।
अब सबके पीछे सोई परत लखाई। रो अहु० ॥

गीतों के सहारे ही नाट्य कथानक का विकास क्रमशः चलता है, परन्तु कहीं कहीं गीत नाट्य प्रसंगों से अलग नाट्यकार की व्यक्तिगत भावनाओं का प्रकाशन करते दिखाई देते हैं। सामान्यतः उनका उपयोग नाट्य कथानक में किया जा सकता है, फिर भी नाट्यकार की व्यक्तिगत अभिरुचि की अभिव्यक्ति अधिकता से दिखाई देती है।

"अंग्रेज राज सुख साज सजे सब भारी।
पै धन विदेस चलि जात इहै अति ख्वारी॥
ताहू पै महँगी काल, रोग विस्तारी।
दिन दिन दूने दुख ईस देत हा हा री॥
सबके ऊपर टिक्कस की आफत आई,
हा हा भारत दुर्दशा न देखी जाई॥"

१६ वीं शताब्दी का राजनीतिक वातावरण सरकार के प्रति खुले विद्रोह का वातावरण नहीं था। नाट्यकार देश के उत्थान के लिये अंग्रेजी राज्य की छत्रछाया में बने रहकर सुधारवादी नीति का अनुसरण करना चाहता है। अंग्रेजी राज्य के व्यवस्थित शासन की प्रशंसा किये बिना नहीं रहता, फिर भी उनके शोषण की नीत की आलोचना बड़ी ही निर्भीकता से की गई है।

द्वितीय अंक में विपत्ति से घिरे भारत की दीन गोहार का बड़ा ही मार्मिक चित्रण है। असहाय का कोई सहायक नहीं होता। देश की हीन अवस्था पर दुखित नाट्यकार का देशवासियों को सांकेतिक उलहना सा है।

"कोऊ नहिं पकरत मेरो हाथ।
बीस कोटि सुत होत फिरत मैं हा हा होय अनाथ॥
जाकी सरन गहत सोइ मारत सुनत न कोउ दुखगाथ।
दीन बन्यौ इत सों उत डोलत टकरावत निज माथ।
दिन दिन विपत बढ़त सुख छीजत देत कोऊ नहिं साथ।
सब विधि दुख सागर मैं डूबत धाइ उबारो नाथ॥"

विपत्ति में असहाय मानव की करुण भावनाओं का सापेक्षिक वर्णन है।

नाट्यकार के अन्तस से निकली वेदना भारतीय विपन्नता का प्रतीक मालूम देती है। उसने देश की वास्तविक अवस्था खुली तथा सजग आँखों से देखी है।

तृतीय अंक में भारतदुर्दैव का उल्लसित गीत अभिनेय गरिमा के आकर्षण को अत्यधिक रोचक बना देता है, रंगमंच के परिचय के लिये गाये गये निम्न प्रकार के गीतों की प्रणाली अभिनय को रोचक बनाती है। मुख्यतः मंचों में पात्रों के परिचय देने की प्रणाली इसी प्रकार की थी। जिसका प्रयोग नाट्यकार ने यहाँ पर किया है।

(भारतदुर्दैव नाचता और गाता हुआ आता है)

अरे—

"उपजा ईश्वर कोप से, औ आया भारत बीच।
छार-खार सब हिंद करूँ मैं, तो उत्तम नहिं नीच॥
मुझे तुम सहज न जानो जी, मुझे इक राक्षस मानो जी।
कौड़ी-कौड़ी को करूँ, मैं सबको मुहताज।
भूखे प्रान निकालूँ इनका, तो मैं सच्चा राज। मुझे०
काल भी लाऊँ महँगी लाऊँ और बुलाऊँ रोग।
पानी उलटा कर बरसाऊँ, छाऊँ जग में सोग। मुझे०
फूट बैर औ कलह बुलाऊँ, ल्याऊँ सुस्ती जोर।
घर घर में आलस फैलाऊँ, छाऊँ दुख घनघोर। मुझे०

प्रतिनायक की क्रूर भावनाओं तथा भारत पर आने वाली भावी विपत्तियों का संकेतात्मक विवरण है। नाट्यकार इतिहास के पृष्ठों को पलटता हुआ सहेतुक व्यंजना में देश की दासता के मूल कारणों का संकेत करता है। सत्यानाश फौजदार अपनी विजय का बड़े ही मनोयोग से वर्णन देता है, और अपने कुशल कार्यों से सबको भ्रष्ट करने का दम भरता है।

"हमारा नाम है सत्यानास। आये हैं राजा के हम पास।
धर के हम लाखों ही भेस। किया चौपट यह सारा देस॥
बहुत हमने फैलाए धर्म। बढ़ाया छुआ छूत का कर्म।
हो के जयचन्द हमने इकबार। खोलही दिया हिंद का द्वार॥
हलाकू चंगेजो तैमूर। हमारे अदना अदना सूर।
दुरानी अहमद नादिरसाह। फौज के मेरे तुच्छ सिपाह।
हैं हममें तीनों कल बल छल। इसी से कुछ नहिं सकती चल।
पिलावैंगे हम खूब शराब। करैंगे सबको आज खराब।

पतन के कारणों की क्रमिक ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का वर्णन प्रतिनायक के सहयोगी सत्यानाश फौजदार के कथोपकथन में मिलता है, नाट्यकार पुनः सामाजिक कुरीतियों द्वारा फैले भ्रष्टाचार का वर्णन उक्त पात्र के कथन में करता है। सामाजिक रूढ़िवादी परम्पराओं ने देश की प्रगति रोक दी, सत्यानाश की यह गर्वोक्ति, कि सामाजिक प्रतिबन्धों तथा रूढ़िवादी परम्पराओं द्वारा भारत के विनाश की रूपरेखा तैयार हुई है, तत्कालीन सामाजिक स्थिति के सिंहावलोकन से यथेष्ट परिचय प्राप्त होता था। निश्चय है जब तक निम्न कुरीतियाँ समाज और देश में विद्यमान रहेंगी, देश की अवस्था दयनीय बनी रहेगी।

"रचि बहु-विधि के वाक्य पुरानन मांहि घुसाए।
शैव शाक्त वैष्णव अनेक मत प्रगटि चलाए ॥
जाति अनेकन करी नीच अरु ऊँच बनायो।
खान पान सम्बन्ध सबन सों वरजि छुड़ायो ॥
जन्म-पत्र विधि मिले व्याह नहि होन देत अब।
बालक पन में व्याहि प्रीति-बल नास कियो सब।
करि कुलीन के बहुत व्याह बल वीरज मार्‌यो।
विधवा व्याह निषेध कियो विभिचार प्रचार्‌यो ॥
रोक विलायत-गमन कूप मण्डूक बनायो।
औरन को संसर्ग छुड़ाइ प्रचार घटायो ॥
बहु देवी देवता भूत प्रेतादि पुजाई।
ईश्वर से सब विमुख किए हिन्दू घबराई ॥"

सामाजिक दुर्व्यवस्थायें समाज को पतन की ओर ढकेलने में उत्तरदायी थीं। प्रगति और विकास का प्रवर्तक नाट्यकार रूढ़िगत विचारों में परिष्कार चाहता था अतः प्रगति के मार्ग में रोड़ा अटकाने वाली परम्पराओं के प्रति उसका विरोध प्रकाशन यहाँ प्रदर्शित किया गया है।

भारत के सर्वनाश की विभीषिका चतुर्थ अंक में वैतालिक के शब्दों में चित्रित की गई है। भारत दुर्दशा में भावों का मूलाधार भारत की दैन्य दशा का उल्लेख और भारतीय नवोत्थान के लिये समाज में शंखनाद करना है। राष्ट्रीय गीतों में भावों की पुनरावृत्ति अधिकता से दिखाई देती है। उन्नति-शील ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, पतन के कारण, वर्तमान दैन्यदशा तथा परम्परागत रूढ़िवादी सामाजिक कुरीतियों की अलोचना विभिन्न कलेवरों में बदल कर बार-बार गीतों के रूप में रखी गई है।

"निहचै भारत को अब नाश ।
जब महाराज विमुख उनसों तुम निज मति करी प्रकास ॥
अब कहुँ सरन तिन्हें नहिं मिलिहै ह्वै है सब बल पूर ।
बुधि-विद्या धन धान सबै अब तिनको मिलि है धूर ॥
अब नहिं राम धर्म अर्जुन नहिं शाक्यसिंह अरु व्यास ।
करि है कौन पराक्रम इनमें को दै है अब आस ॥
सेवाजी रनजीतसिंह हू अब नहिं बाकी जौन ॥
करिहैं कछू नाम भारत को अब तो सब नृप मौन ॥
वही उदयपुर, जैपुर, रीवां, पन्ना आदिक राज ।
परबस भए न सोंच सकहिं कछु करि निज बल बेकाज ॥
अंगरेजहु को राज पाइकै रहे कूढ़ के कूढ़ ।
स्वारथ पर विभिन्न-मति भूले हिन्दू सब ह्वै मूढ़ ॥"

नाट्यकार को भारत के पतन में "विनाश काले विपरीत बुद्धिः" का सा आभास मिलता है । कलाकार हतप्रभ और निराश सा प्रतीत होता है और भारत की सामाजिक दुर्व्यवस्था को चिरकाल के लिये आई हुई विपत्ति समझता है । उसे ऐसा भासित होता है कि देशवासियों में अपने को उत्थान की ओर अग्रसर करने की क्षमता नहीं रह गई । देशी राजाओं से कुछ आशा थी, वह भी विलासिता के वशीभूत हो रहे हैं और उन्हें इस ओर देखने का अवकाश भी नहीं मिल रहा है ।।

छठे अङ्क में भारत भाग्य भारत को जगाने का प्रयास करता है ।

"जागो जागो रे भाई ।
सोअत निसि वैस गँवाई, जागो जागो रे भाई ॥
निसि की कौन कहै दिन बीत्यो काल राति चलि आई ।
देखि परत नहिं हित-अनहित कुछ परे बैरि-वश जाई ॥
निज उद्धार पंथ नहिं सूझत सीस धुनत पछिताई ।
अबहूँ चेति, पकरि राखो किन जो कछु बची बड़ाई ॥
फिर पछिताए कछु नहिं ह्वै है रहि जैहौ मुँह बाई ।
जागो जागो रे भाई ।"

भारत भाग्य अज्ञान तथा मोहनिद्रा में पड़े भारत को पुनः सचेत करने का असफल प्रयास करता है । यहाँ नाट्यकार की अन्तर वेदना देश को सजग होने के लिये पुकार रही है । भारत जो अपने गौरवमय अतीत में जगत गुरु होने का दावा करता था, अब अधो गति में पड़ा है । विश्व के प्रमुख सभ्यता और संस्कृति

के केन्द्रों का अग्रणी आज युग की सांस्कृतिक होड़ में सबसे पीछे पड़ा हुआ है। विधि की विडंबना है। भारत भाग्य भारत पर ईश्वरीय कोप का प्रभाव देखकर विगत गौरव का स्मरण करता है।

"फिनिक मिसिर सीरीय युनाना।
मे पंडित लहि भारत-दाना ॥
रह्यो रुधिर जब आरज सीसा।
ज्वलित अनल समान अवनीसा ॥
साहस बल इन सम कोउ नाहीं।
तबै रह्यो महि मण्डल माहीं ॥
कहा करी तकसीर तिहारी।
रे विधि रुष्ट याहि की बारी ॥
सबै सुखी जग के नर-नारी।
रे विधना भारतहि दुखारी ॥"

आत्म सम्मान की रक्षा हेतु स्वाभिमानी कलाकार इस प्रकार के दैन्य तथा दासता में व्यतीत होने वाले जीवन से अस्तित्वहीन रहकर सारे कलंक के पंक को धो देना श्रेष्ठतर समझता है। वह कामना करता है जिस दिन इस भारतभूमि का वैभव तथा पौरुष लुट गया था, दासता के उपेक्षित अपमान से अधिक श्रेयस्कार था कि भारत का अस्तित्व ही लुप्त हो गया होता। तब यह उपेक्षापूर्ण जीवन न व्यतीत करने को मिलता। निम्नांकित पंक्तियों में कलाकार का स्वाभिमान उमड़ पड़ा है। भारतीय वैभव के ऐतिहासिक प्रतीकों को वह बार-बार धिक्कार कर अपने क्षोभ की परितुष्टि करता है।

"हाय पन्चनद हा पानीपत।
आजहुँ रहे तुम धरनि विराजत ॥
हाय चितौर निलज तू भारी।
आजहुँ खरो भारतहिं मँझारी ॥
जादिन तुव अधिकार नसोया।
सो दिन क्यों नहिं धरनि समायो ॥"

नाट्यान्तरगत गीतों का महत्व राष्ट्रवादी विचार धारा की प्रचारात्मक मनोवृत्ति से पूर्ण दृष्टिगत होता है, गीतों की योजना अभिनय तथा रंगमञ्च की दृष्टि से पूर्णतः सफल नहीं कही जा सकती। गीतों की शृङ्खला नाटकीय प्रयोजन से कहीं-कहीं बाहर आकर नाट्यकार के राष्ट्रीय संदेश और उसके प्रकाशन में प्रचारात्मक मनोवृत्ति लेकर चलती हुई प्रतीत होती है।

भारतीय स्वतन्त्रता की प्रथम क्रांति भारतेन्दु जी के शैशवकाल में ही (१८५७) हो चुकी थी। असन्तोष की लहर से उत्तेजित विभिन्न क्रान्तिकारी शक्तियों ने सबल अंग्रेजी साम्राज्य से मोर्चा लिया। यह विभिन्न शक्तियों के सामूहिक रूप का विदेशी साम्राज्य को पलट देने का प्रथम प्रयास था। यह विद्रोह तथा असंतोष की आग सम्भवतः कभी न बुझाई जा सकी। क्रान्तिकारी विद्रोह की योजना सफली-भूत न होने पर सिपाही विद्रोह से प्रेरणा पाये हुये राष्ट्रवादी कर्मठों ने देश और समाज के पुनर्निर्माण की ओर अपना ध्यान आकर्षित किया। खुला विद्रोह देश की परिस्थिति देखते हुये नितान्त असम्भव था। इधर भारत का शासन ईस्ट इण्डिया कम्पनी के हाथ में न रहकर ब्रिटिश साम्राज्य का एक अङ्ग बन गया था। ब्रिटिश सम्राज्ञी महारानी विक्टोरिया ने कम्पनी के शासन की अपेक्षा उदारता और सहानु-भूति से कार्य लिया। अब ब्रिटिश शासन की छत्र-छाया में भारतीय जनता की नागरिकता रक्षित थी, किसी के धार्मिक तथा सामाजिक अधिकारों पर हस्तक्षेप न करने की घोषणा भारतीय शासन विधान का एक अङ्ग मान ली गई थी। अतः धार्मिक तथा सामाजिक स्वतन्त्रता का उपयोग देश प्रेम की लहर में डूब राष्ट्र-उन्नायकों ने किया।

राष्ट्रभावनाओं का बीजारोपण तात्कालिक प्रभाव ही नहीं था, शनैः शनैः पश्चिमी शिक्षा तथा योरोपीय साहित्य तथा इतिहास के स्वतन्त्र आन्दोलनों ने समाज को अत्यधिक प्रभावित किया। गत दो शताब्दियों से विदेशी मिशनरी दक्षिण भारत-वर्ष में ईसाई धर्म का प्रचार कर रहे थे। विक्टोरिया की घोषणा ने उन्हें अपने धार्मिक प्रचार के लिये स्वतन्त्रता दे दी। विभिन्न मतों तथा सम्प्रदायों के आक्रमण हिन्दू समाज पर ही केन्द्रित दृष्टिगत होते थे। इस संघर्ष युग में इसी विस्तृत समाज को ही हानि उठानी पड़ी। समाज तथा धर्म की इस हिलती हुई नींव को दृढ़ करने के लिये राजाराममोहन राय तथा स्वामी दयानन्द सरस्वती ने मुख्य रूप से सामाजिक आन्दोलन की रूपरेखा ब्रह्म-समाज तथा आर्य-समाज के रूप में दी। इस संक्रांतिकाल में केवल सामाजिक कुरीतियों का परिष्कार ही ध्येय था, तथा संकुचित समाज के बन्धन ढीले कर समाज को सुसंगठित रूप में निर्माण करने की आवश्यकता थी। १८६६ ई० में केशवचन्द्रसेन ने ब्रह्म-समाज की नवीन शाखा स्थापित की, तथा स्वामी दयानन्द के प्रयत्नों से १८७५ ई० में आर्य-समाज की स्थापना हुई। धार्मिक तथा सामाजिक आन्दोलनों की रूपरेखा पूर्णरूपेण बन चुकी थी, जिसका देशव्यापी प्रभाव पड़ा। शनैः शनैः धार्मिक तथा जागरूकता को एक प्रकार का बल सा मिला।

धार्मिक चेतना ने सामाजिक चेतना को आगे बढ़ाने में अधिक सहायता दी। भारतवर्ष में विभिन्न प्रान्तों में सामाजिक संगठन स्थापित होना प्रारम्भ हो चुका था।

सर्वप्रथम दादाभाई नौरोजी द्वारा सन् १८५२ ई० में "बाम्बे असोसियेशन" की स्थापना हुई। इसके पश्चात् बंगाल में ब्रिटिश-इण्डिया एसोसियेशन की नींव पड़ी। क्रमशः मद्रास में मद्रास नेटिव एसोसियेशन तथा पूना में डक्कन एसोसियेशन की स्थापना की गई। इस समय समग्र देश में जाग्रति की लहर फैल रही थी। जनता के सामने नवीन धार्मिक तथा सामाजिक समस्यायें उपस्थित थीं। आर्य-समाज आन्दोलन ने हिन्दुओं की सामाजिक तथा धार्मिक कुरीतियों की कटु आलोचना की, तथा नवीन प्रगतिशील विचारधारा के पोषकवर्ग ने इसे प्रोत्साहन दिया। क्रमशः यह परिवर्तन होना प्रारम्भ हुआ, धार्मिक परिष्कार के बाद सुधारवादियों का ध्यान समाज की स्थिति पर आकृष्ट हुआ, फिर शनैः शनैः यह सामाजिक विचार धारा राजनीतिक मनोवृत्ति में परिवर्तित हो गई।

भारतीय इतिहास की यह अत्यन्त आश्चर्यपूर्ण घटना है कि राजनीतिक आन्दोलन सदा धार्मिक तथा सामाजिक आन्दोलनों का अनुगामी रहा है। सामाजिक एवं धार्मिक पुनरुत्थान से ही भारत के विगत राष्ट्रीय आन्दोलनों का प्रादुर्भाव हुआ है। इस प्रकार के सामाजिक आन्दोलन ही जनता की राजनीतिक चेतना के अग्रदूत थे। सुधार और व्यवस्था की भावना एक बार जागृत होते ही अपने आप जीवन के सभी प्रश्नों पर छा गई। सामाजिक अभाव तथा दुरावस्था की चेतना ने आर्थिक कठिनाई की ओर बरबस ध्यान आकृष्ट किया तो आर्थिक परवशता ने विदेशी शासन की ओर संकेत किया।

उपर्युक्त सारी परिस्थितियों के फलस्वरूप देशव्यापी संगठन का जन्म हुआ, जो केवल एक ही वर्ग तथा समाज की समस्याओं का परिहार न कर प्रत्युत समस्त देश की समस्याओं को लेकर संगठित रूप में अपनी प्रगतिशील विचारधारा सम्पूर्ण देश के सामने रखने में सफल हुआ। प्रारम्भिककाल में उक्त संस्था का उद्देश्य समस्त भारतीय समाज की कठिनाइयों की ओर शासन का ध्यान आकृष्ट करना था, और यथाशक्ति सुधारवादी आन्दोलन को आगे बढ़ाने का प्रयत्न करना था। अतः सन् १८८५ ई० में इण्डियन नेशनल काँग्रेस के नाम से देशव्यापी सुदृढ़ संस्था की स्थापना की गई।

भारतेन्दु जी ने राजा राममोहन राय, स्वामी दयानन्द तथा केशवचन्द्र सेन की सामाजिक महत्ता स्वीकार की। जहाँ तक सामाजिक रूढ़िगत परम्परा के विरोध का प्रश्न उठता है, भारतेन्दु जी ने उनके स्वर में स्वर सबसे पहिले मिलाया। परन्तु जहाँ उनकी विभिन्न धार्मिक विचारधाराओं का प्रश्न उठता है, वे सदैव मौन रहे हैं। आर्यसमाज तथा ब्रह्मसमाज से मतभेद रखते हुये भी उन्होंने उनकी आलोचना नहीं की है। भारतेन्दु जी एक उदार और विकासोन्मुख धार्मिक परम्परा में सारी

जनता को संगठित करना चाहते थे। वे वैष्णव थे, पर उनके वैष्णव धर्म की रूपरेखा एक भिन्न प्रकार की थी। उनके व्यापक दृष्टिकोण में विश्वबन्धुत्व की प्रेरणा ध्वनित होती थी। सामाजिक संगठन, मतैक्य ही सबसे कल्याणकारी धर्म है।

अंग्रेजी पथप्रदर्शकों से प्रेरणा प्राप्त कर भारतेन्दु जी ने अपने युग की सामाजिक और धार्मिक क्रान्ति में बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य किया। उन्होंने समस्त सुधारवादी आन्दोलनों में सक्रिय भाग लेकर अपनी वाणी, लेखनी तथा कर्तृत्व के सहयोग से उक्त आन्दोलन को आगे बढ़ने में सहायता पहुँचाई। युगसन्धि पर खड़ा हुआ कलाकार इस नवीन युग का वैतालिक था। उसने प्राचीन युग की परिधि पारकर नये युग प्रांगण में प्रवेश किया और पुराने कलेवर को परिष्कृत कर नया आवरण ग्रहण किया था। परम्परा से संकुचित समाज की प्रचिलित रूढ़ियों के प्रति उनका विरोध था। उन्होंने वर्णाश्रम, अशिक्षा निवारण, बाल-विवाह निषेध, विधवा-विवाह, समुद्र-यात्रा, गोरक्षा आदि के आन्दोलनों में सम्पूर्ण सहयोग दिया, तथा साम्राज्यवादी अंग्रेजी शासन के शोषण की नीति का विरोध किया।

साहित्य समाज का दर्पण है, कलाकार की संदेशवाहिनी भावना कलाकृतिय के रूप में प्रस्तुत जन-समाज में शंखनाद करती है। भारतेन्दु जी की असन्तोषमय राष्ट्रीय विचारधारा उनके नाटकों में विशेषतः दृष्टिगत होती है। नाटकीय व्यंग्यात्मक चित्रों में नाट्यकार ने खुलकर सामाजिक दुर्व्यवस्थाओं की आलोचना की है। भारत दुर्दशा नाटक में राष्ट्रीय पतन के उत्पन्न वेदना की अभिव्यक्ति का कारुणिक समाहार मिलता है। इस वेदना में तत्कालीन भारतीय जीवन का यथार्थ स्वरूप चित्रित है। युगान्तकारी कलाकार भारतीय समाज की रूढ़िवादी परम्पराओं में आमूल परिवर्तन चाहता है, वह देश और समाज के स्तर को अपनी गौरवमय प्राचीन स्थिति पर पुनः देखना चाहता है।

नाट्यकार उपदेशक के रूप में सांस्कृतिक चेतना के नवनिर्माण की योजना प्रस्तुत करता है। स्पष्ट आलोचक की भाँति सामाजिक स्वतन्त्रता में बाधक शक्तियों का खुलकर विरोध करता हुआ दृष्टिगत होता है। नाट्यकार क्रान्तिकारी विचारों द्वारा देश और समाज में नया प्रवर्तन करना चाहता है। भारतेन्दु जी के विचार से सामाजिक पुनर्निर्माण के लिये सभी प्रकार के भेदभाव छोड़कर एक मत होना आवश्यक है। नवनिर्माण कार्य में कटिबद्ध होकर कार्य किया जाय, तो देश की स्थिति में परिवर्तन हो सकता है। नाट्यकार के विचारों में सामाजिक संगठन को सुदृढ़ बनाकर पारस्परिक सद्भावनायें अर्जित कर लोक रञ्जनकारी व्यापक समाज

की स्थापना की जा सकती है। मैत्री के क्रमिक सूत्र में बँधा समाज "बसुधैव कुटुम्बकम्" की कल्पना करे तो कोई आश्चर्य नहीं है। संगठित प्रयास पुनः अपनी खोई हुई शक्ति तथा आत्मगौरव सुगमता से हस्तगत कर सकता है। उस युग की समस्याओं ने कलाकार का व्यक्तित्व पूर्ण मानववादी (humanist) बना दिया है, और अपने सेवा कार्य में संपूर्ण मानव समाज का हित देखना चाहता है। नाट्यकार का सन्देश जनसमाज को सामूहिक रूप से प्रगति की ओर प्रेरित करने का है। संगठन में शक्ति होती है (संघे शक्तिः कलयुगे) और यह संचित शक्ति उत्थान की ओर समाज अथवा वर्ग विशेष को प्रेरित कर सकती है। इसी प्रकार के संगठन तथा सभी प्रकार के भेदभाव छोड़कर एकमत होने की प्रेरणा नाट्यकार भारतेन्दु ने अपनी कृतियों में दी है। भारत दुर्दशा नाट्यकार की उक्त भावनाओं का प्रतीक है।

द्वादस अध्याय

मौलिक नाटकों में भाषा, संवाद और गीत

भाषा

भारतेन्दु युग के पूर्व हिन्दी नाट्य साहित्य में भाषा का स्वरूप नितांत अव्यवस्थित था। संस्कृत नाट्य शैली के अनुरूप ही नाटकों की भाषा में पद्यमय संवादों तथा ब्रजभाषा का बाहुल्य चला आ रहा था। भारतेन्दु युग-सन्धि पर खड़े कलाकार थे। रीतिकाल का आलंकारिक प्रभाव तथा, ब्रजभाषा की लालित्यपूर्ण अभिव्यंजना अब भी अवशेष थी। हिन्दी गद्य में खड़ी बोली के परिष्कार में नवीन प्रयोग चल रहे थे। इसके पूर्व भी राजा लक्ष्मणसिंह तथा राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द' ने भाषा को भिन्न भिन्न दिशाओं में मोड़ा था। राजा लक्ष्मणसिंह जी हिन्दी का अस्तित्व उर्दू से अलग समझते थे, परन्तु राजा शिवप्रसाद जी की हिन्दी गद्य शैली में उर्दूवीपन था। इन दोनों विचारधाराओं में मतभेद रहा। भारतेन्दु युग में भी शिवप्रसाद जी तथा भारतेन्दु जी में भाषा की शुद्धता तथा गद्य के व्यवस्थित रूप के विषय में मत-भिन्नता थी।

लक्ष्मणसिंह और सितारेहिन्द की शैलियों के संयोग से भारतेन्दु ने भाषा का नवनिर्माण किया। दोनों ही विचारधाराओं के उपयोगी संस्कारों को मध्यस्थ शैली के रूप में रखकर एक सुदृढ़ गद्य भाषा की नींव डाली, जो कि सर्वमान्य भाषा के रूप में प्रस्तुत हुई। यह स्वीकार करना पड़ेगा कि भाषा का यह निखरा हुआ शिष्ट सामान्य रूप भारतेन्दु की ही कला के साथ प्रकट हुआ था। इसी मध्यम-मार्ग का सिद्धान्त उन्होंने अपनी सभी रचनाओं में रखा है। जिस कारण इन्हें आधुनिक हिन्दी गद्य शैली के आदि प्रवर्तक के रूप में प्रतिष्ठित किया जा सकता है। काशी से शिवप्रसाद जी का बनारस गजट निकल रहा था। उस पत्र की भाषा के विषय में अधिक असंतोष था।

"कवि वचन सुधा" नामक पत्र भारतेन्दु जी द्वारा प्रकाशित किया गया, जिसने गद्य शैली को नवीन रूपरेखा दी। बनारस-गजट तथा कवि-वचन सुधा में भाषागत विचारों पर अधिककाल तक संघर्ष चलता रहा, बनारस गजट की अपेक्षा कवि-वचन सुधा को अधिक लोक-प्रियता प्राप्त हुई।

वस्तुतः यह पूर्व ही कहा जा चुका है कि भारतेन्दु जी ने भाषा को बोधगम्य तथा लोकप्रिय बनाने का अधिक प्रयास किया। भाषा में व्यापक शब्द-विन्यास का

प्रयोग प्रचुरता से दृष्टिगत होता है। भाषागत देशज प्रयोग गद्य तथा पद्य दोनों ही भाषाओं को रोचक तथा आकर्षक स्वरूप प्रदान करते हैं। शब्दचयन समान रूप से सभी वर्ग के लोकप्रिय शब्दों का आकलन है। यह कहना नितान्त आवश्यक है कि भारतेन्दु दोनों ही शैली तथा भाषाओं के मर्मज्ञ थे। 'रसा' उपनाम से उर्दू कविता भी लिखा करते थे, तथा संस्कृत छंदों की भी रचना उन्होंने जीवनकाल में की थी।

भारतेन्दु जी के गद्य की भाषा का स्वरूप परम्परागत गद्य साहित्य से बिलकुल भिन्न है। स्फुट गद्य लेखों में भी नाटकीय अभिव्यंजना वर्णनात्मक शैली लिये हुये दृष्टिगोचर होती है। कलाकार भारतेन्दु कवि, नाट्यकार, गद्य-लेखक तथा वक्ता थे। उनके सम्पूर्ण साहित्य में परिष्कार की भावना की छाप दृष्टिगत होती है। तत्कालीन रंगमंच पारसीक व्यावसायिक कम्पनियों के हाथ में था। उस रंगमंच ने नाटकीय भाषा के क्षेत्र में अराजकता फैला रखी थी। अधिकांश फारसी मिश्रित उर्दू का प्रयोग नाट्याभिनयों में पाया जाता था। हिन्दी नाट्य भाषा के लिये संक्रान्ति काल था, भारतेन्दु जी ने स्वयम् अपने नाटक निबन्ध में इस प्रकार की स्थिति का उल्लेख किया है। काशी में अभिनीत पारसीक रंगमंच के शकुन्तला से उन्हें बड़ी निराशा हुई।

"इन्दर-सभा" को आदर्श प्रतीक मानने वाले शैदा, जौहर, आगा हश्रकाश्मीरी, जेबा, तथा बेताब आदि नाट्यकारों द्वारा तत्कालीन पारसीक रंगमंच आच्छादित था यह हिन्दी रंगमंच की भाषा को विकृत करने में तुले थे। शनैः शनैः भाषा में उर्दूवी-पन के साथ साथ अश्लीलत्व का आधिक्य बढ़ गया था। जन-समाज का नैतिक स्तर बड़े ही वेग से गिरता हुआ प्रतीत होता था। सारे कुसंस्कारों का दायित्व उक्त नाटकीय भाषा को था।

नाटकों की भाषा में असाहित्यिक प्रभाव देखकर असीम वेदना होती थी। भारतेन्दु जी के नाटक पारसीक रंगमंच की कुरुचि पूर्ण भाषा शैली के विरोध में अपना नवीन अस्तित्व स्थापित करते हुये दिखाई देते हैं। वर्तमान हिन्दी भाषा के जनक नाट्यकार ने हिन्दी नाट्य साहित्य को एक विशिष्ट प्रकार की भाषा प्रदान की जो कि आरम्भिक नाट्य परम्परा से अपना अलग अस्तित्व रखती है। पात्रगत कथोपकथनों में स्वाभाविकता लाने के प्रयोजन से भाषा में नैसर्गिकता का अत्यधिक ध्यान रखा गया है। भाषा में शब्दों का निर्भीक प्रयोग है। नाटकीय संवादों की भाषा में अरबी, फारसी, अंग्रेजी तथा तत्सम शब्दों का प्रयोग पात्रोचित कथनों में मिलता है। भाषा का सर्वसाधारण धरातल बोधगम्य है, तथा भाषागत प्रयोग जन-रुचि से दूर नहीं दृष्टिगत होते, भाषा को लोक प्रियता प्रदान करने के प्रयोजन से

देशज शब्दों का प्रयोग अधिकता से मिलता है। यदि शब्दों की तालिका तैयार की जाय तो अपभ्रंश देशज शब्द जो ग्रामीण उच्चारणों द्वारा विकृत कर दिये गये हैं, स्वच्छन्दता से प्रयुक्त पाये जाते हैं। जिस प्रकार उनकी भाषा में प्रयुक्त शब्दों की निम्न सूची में खुरमा, चासनी, खबगी, जादे, बरखास्त, अंधरी-मजिस्टर, कमेटी, किरिस्तानी, पतलून आदि शब्दों को बोधगम्य तथा व्यापक बने रहने के ही दृष्टिकोण से रखा है।

नाटकीय भाषा में प्रान्तीय तथा अन्तर प्रान्तीय भाषाओं के प्रयोगों को बड़ी ही स्वच्छंदता से लाकर रखा गया है। नैसर्गिक प्रयोगों में अस्वाभाविकता तथा खटकने वाली बातें नहीं दृष्टिगत होती हैं, ब्रज, अवधी, भोजपुरी, मराठी तथा अन्य प्रान्तीय नागरिकों का विकृत शब्द प्रयोग मनोरञ्जक प्रतीत होता है। मुहाविरों के प्रयोगों ने भाषा में सबलता ला दी है जिसके कारण लोकोक्तियों में भाव-व्यंजना बड़ी ही सुगम और चातुर्यपूर्ण प्रतीत होती है। कहीं कहीं यह लोकोक्तियाँ गागर में सागर भरने का सा काम करती हैं। कौशलपूर्ण उक्तियों में चापल्य और चमत्कार देखने को मिलता है। गम्भीरता की गहन और मन्थरगति भी भाषा में यत्र-तत्र दिखाई देती है, परन्तु ऐसे गम्भीर भावविनिमय के स्थल बहुत कम दृष्टिगत होते हैं। भारतेन्दु जी की नाटकीय भाषा नाट्य सफलता में प्रतिष्ठित मेरुदण्ड का कार्य करती है। भारतेन्दु जी ने नाट्य भाषा को नवीन आलोक देकर हिन्दी नाट्य साहित्य में चेतना प्रदान की, जिसका पथानुगमन युग के प्रतिनिधि कलाकारों ने किया।

विभिन्न नाटकों की भाषा को यदि समीक्षात्मक दृष्टि से देखा जाय तो भाषा यथास्थान अपना कलेवर बदलती दृष्टिगत होती है। सामान्यतः शब्द शास्त्रियों द्वारा शब्द शक्ति को तीन रूपों में विभक्त किया गया है। अविधा, लक्षणा और व्यंजना शक्तियों में क्रमशः शब्दों के मूल संकेत, आरोपित अर्थ और चमत्कारपूर्ण व्यंग्यार्थ का ग्रहण होता है। इनमें अविधा मूलक वक्तव्य अत्यधिक चमत्कार रहित और व्यंजना मूलक प्रयोग अत्यधिक चमत्कारपूर्ण और दुरूह होने के कारण नाटकीय प्रयोजन के अधिक उपयुक्त नहीं होते। अतएव प्रतिभाशाली नाटककार प्रायः लाक्षणिक शब्दावली का प्रयोग नाटकों में अधिकता से करते हैं। भारतेन्दु जी के भाषा प्रवाह में तीनों प्रकार की शब्द शक्तियों का प्रासंगिक समावेश पाया जाता है। परन्तु मूलतः नाटकों में भाषागत प्रवाह लाक्षणिक शब्दावली को लेकर चलता प्रतीत होता है। ऐसे प्रयोग शिष्ट और चमत्कारयुक्त शैली में सामाजिक नीति की कटु आलोचना करते दृष्टिगत होते हैं। अतः यह निर्विवाद रूप से माना जा सकता है कि तीनों शब्द शक्तियों में से भारतेन्दु जी की नाटकीय भाषा में लाक्षणिक प्रयोगों की अधिकता है।

विभिन्न स्थानों पर भाषा शैली का प्रयोग अनेक दृष्टिकोणों से हुआ है, स्थान स्थान पर यथातथ्य परिवर्तन दृष्टिगत होते हैं। मूलतः भाषा की मनोवृत्ति के निम्न विभाजन किये जा सकते हैं :—(१) भाव प्रधान, (२) विवेचना प्रधान तथा (३) व्यंग्य मूलक।

प्रथम कोटि की विचारधारा में भाषा चित्र प्रधान तथा प्रवाहमयी शैली लेकर चलती है। भाषा और भाव समानान्तर चलते प्रतीत होते हैं भावों के रागात्मक प्रवाह का क्रमिक विकास भारतेन्दु की नाट्यगत भाषा में यथेष्ट मिलता है। शैली का विशेषगुण भावानुकूल तथा विषयानुकूल परिवर्तन करना है। आवेश-पूर्ण स्थलों में भारतेन्दु की भाषा में अधिक सरलता दृष्टिगत होती है। यद्यपि भाषा बोलचाल के अति निकट है, परन्तु कहीं-कहीं सम्पूर्ण पद की गति क्षिप्र दृष्टिगत होती है। साधारण वर्णनात्मक भाषा में प्रश्नवाचक अथवा विस्मयादि-बोधक वाक्यों का प्रयोग अवश्य रहता है। जहाँ इस प्रकार के वाक्य नहीं भी होते, वहाँ प्रश्न सूचक अथवा विस्मयादि बोधक शब्दों का स्थान अवश्य रहता है। ऐसे स्थानों पर भारतेन्दु जी नवीन संबोधनों का निर्माण करते हैं, और मुहावरों एवं अलंकारों से काम लेते हैं। जहाँ लम्बे वाक्यों का प्रयोग पाया जाता है, वहाँ उनके सम्बोधन प्रयोग शिथिल से प्रतीत होते हैं, और वाक्यों में एक ही प्रकार की लय निकलती सी प्रतीत होती है। कुछ ऐसे विशेष शब्द अवश्य प्रयुक्त होते हैं; जो पात्रों के मनोभावों को सूक्ष्मता एवं सुन्दरता से प्रगट करते हैं।

भाषा की दृष्टि से भारतेन्दु जी ने अपने नाटकों में जहाँ-जहाँ भावात्मक अभिव्यञ्जना का प्रयोग किया है, वहाँ-वहाँ पूर्णरीति से मानव हृदय के रागात्मक प्रवाह और अन्तरिक संघर्ष को व्यञ्जित किया है। भावात्मक शैली का सफल प्रयोग निम्न उदाहरणों में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है।

चन्द्रावली—"(घबड़ाई हुई आती है, अंचल केश इत्यादि खुल जाते हैं) कहाँ गया, कहाँ गया ? बोल। उलटा रूसना, भला अपराध मैंने किया कि तुमने ? अच्छा मैंने किया सही, क्षमा करो आओ, प्रगट हो, मुंह दिखाओ भई, बहुत भई, गुदगुदाना वहाँ तक जहाँ तक रुलाई न आये। (कुछ सोचकर) हा ! भगवान किसी को किसी की कनौड़ी न करें, देखो मुझको इसकी कैसी बातें सहनी पड़ती हैं। आप ही नहीं भी आता, उलटा आप ही रूसता है, पर क्या करूँ, अब तो फँस गई, अच्छा यों ही सही (अहो अहो बन के रूख, इत्यादि गाती हुई वृक्षों से पूंछती है) हाय ! कोई नहीं बतलाता।[१]

+ + + +

१—द्वितीय अङ्क पृष्ठ सं० २१६।

"अहा !" इस समय जो मुझे आनन्द हुआ है, इसका अनुभव और कौन कर सकता है। जो आनन्द चन्द्रावली को हुआ है, वही अनुभव मुझे भी होता है। सच है, युगल के अनुग्रह बिना इस अकथ आनन्द का अनुभव और किसको है।"

× × ×

"प्यारे, अपने कनौड़े को जगत की कनौड़ी मत बनाओ। नाथ, जहाँ इतने गुन सीखे वहाँ प्रीति निवाहना क्यों न सीखा ? हाय मझधार में डुबाकर ऊपर से उतराई माँगते हो। प्यारे, सो भी दे चुकी, अब तो पार लगाओ। प्यारे, सबकी हद होती है। हाय ! हम तड़पें, और तुम तमाशा देखो। जन कुटुम्ब से छुड़ाकर यों छितर-बितरकर के बेकाम कर देना यह कौन सी बात है ? हाय सबकी आखों में हलकी हो गई। जहाँ जाओ; वहाँ दूर-दूर, उस पर यह गति। हाय ! "भामिनी ते भौंड़ी करी मानिनी ते मौड़ी करी, कौड़ी करी हीरा ते, कनौड़ी कर कुल तें।","

"क्या सारे संसार के लोग सुखी रहें, और हम लोगों का परम बन्धु, पिता, मित्र, पुत्र, सब भावनाओं से भक्ति, प्रेम की एक मात्र मूर्ति, सत्य का एक मात्र आश्रय, सौजन्य का एक मात्र पात्र, भारत का एक मात्र हित, हिन्दी का एक मात्र जनक भाषा नाटकों का एक मात्र जीवन दाता, हरिश्चन्द्र दुःखी हो। (नेत्रों में जल भरकर) हा सज्जन शिरोमणे ! कुछ चिन्ता नहीं, तेरा तो दाना है कि" कितना भी दुःख हो, उसे सुख मानना, लोभ के परित्याग के समय नाम और कीर्ति तक का परित्याग कर दिया, और जगत के विपरीत गति चल के तो प्रेम की टकसाल खड़ी की है—[1]

ऊपर के गद्यांशों में मानवीय हृदय व्यापारों का क्षोभ, हर्ष, रति तथा शोक, आदि पूर्ण आवेश के साथ व्यंजित हैं। काव्यात्मक एवं चित्रात्मक शैली में यह भाव व्यंजना प्रलाप दशा तक का सफल उद्घाटन करती है।

तथ्य निरूपण अथवा वस्तु वर्णन में भाषा के अन्तर्गत प्रांजलता तथा विशुद्ध भाषा का समावेश तो अवश्य रहता है, परन्तु दुरूहता नहीं आने पाती, नाट्यकार की भाषा का यही चमत्कार प्रतीत होता है। पद विन्यास आवश्यकता से अधिक लम्बा प्रतीत होता है। निम्न उदाहरण में उपर्युक्त लक्षणों का समावेश पाया जाता है—

सुधा० :—"सुनिए, काशी का नामांतर वाराणसी है, जहाँ भगवती जाह्नु-नन्दिनी उत्तर-वाहिनी होकर धनुषाकार तीन ओर से ऐसी लिपटी हैं, मानों इसको

१—प्रेम योगिनी पृ० ७१८।

शिव की प्यारी जानकर गोद में लेकर आलिंगन कर रही हैं, और अपने पवित्र जलकण के स्पर्श से ताप भय दूर करती हुई मनुष्य मात्र को पवित्र करती हैं। उसी गंगा के तट पर पुण्यात्माओं के बनाये बड़े-बड़े घाटों के ऊपर दो मंजिले, पञ्चमंजिले और सात मंजिले, ऊँचे-ऊँचे घर आकाश से बातें कर रहे हैं, मानो हिमालय के श्वेतशृङ्ग सब गंगा सेवन को एकत्र हुए हैं।"[१]

भाषा का चित्रयुक्त प्रवाह चन्द्रावली नाटिका के वर्षा वर्णन में अत्यन्त उत्कृष्ट प्रतीत होता है।

कामिनी—सखी देख बरसात भी अब की किस धूमधाम से आई है, मानों कामदेव ने अबलाओं को निर्बल जानकर इनके जीतने को अपनी सेना भिजवाई है। धूम से चारों ओर से घूम घूम कर बादल परे के परे जमाये वगपंगति का निशान उड़ाये लपलपाती नंगी तलवार सी बिजली चमकाते गरज गरज कर डराते, बान के समान पानी बरसा रहे हैं, और इन दुष्टों का जी बढ़ाने को मोर करखा सा कुछ अलग पुकार पुकार गा रहे हैं। कुल की मरजाद ही पर इन निगोड़ों की चढ़ाई है। मनोरथों से कलेजा उमगा आता है, और जो काम की उमंग जो अंग-अंग में भरी है, उनके निकले बिना जी तिलमिलाता है। ऐसे बादलों को देखकर कौन लाज की चद्दर रख सकती है, और कैसे पतिब्रत पाल सकती है।

भाषा के उपर्युक्त प्रयोग नाटकीय दृष्टि से अधिक सफल नहीं प्रतीत होते हैं, इनमें लम्बे कथोपकथनों की गरिमा है, जो उनके नाटकीय प्रयोजन को महत्व-हीन बनाकर उन्हें केवल वक्तव्य रूप में ही प्रस्तुत करती है, नाट्य अभिनेयता का का ह्रास सा दिखाई देता है, केवल वर्णनों की चित्रात्मक प्रज्ञा का विकास अवश्य दृष्टिगोचर होता है।

नाटकों में कुछ स्थल गम्भीर चिन्तन की धरा पर गवेषणापूर्ण प्रस्तुत किये गये हैं, जो नाटकीय भाषा को सांस्कृतिक व्यंजना प्रदान करते हैं। भाषा की सहेतुक भाव-व्यञ्जना के चित्र भारतेन्दु जी की नाटकीय भाषा में यत्र तत्र दृष्टिगत होते हैं। निम्न अवतरणों में उनकी अवतारणा की गई है, जिसमें भाषा की विश्लेषणा-त्मक दृष्टि का भली विधि अनुशीलन किया जा सकता है।

"हमारा सृष्टि-संहारकारक भगवान तमोगुण जी के जन्म है। चोर, उलूक और लंपटों के हम एक मात्र जीवन हैं। पर्वतों की गुहा, शोकितों के नेत्र, मूर्खों के मस्तिष्क और खलों के चित्त में हमारा निवास है। हृदय के और प्रत्यक्ष, चारों नेत्र हमारे प्रताप से बेकाम हो जाते हैं। हमारे दो स्वरूप हैं, अध्यात्मिक, और एक आधिभौतिक जो लोक में अज्ञान और अंधेर के नाम से प्रसिद्ध हैं।[२]

१—प्रेम योगिनी ७३६।

२—अन्धकार, चौथा अङ्क भारत दुर्दशा, पृ० सं० ४७६

× × × ×

"हमारी प्रवृत्ति के हेतु कुछ यत्न करने की आवश्यकता नहीं। मनु पुकारते हैं, 'प्रवृत्तिरेषा भूतानां,' और भागवत में कहा है, 'लोके व्यवायामिष मद्यसेवा नित्यास्ति जंतोः।' उस पर भी वर्तमान समय की सभ्यता की तो मैं मुख्य मूल सूत्र हूँ। पंच विषयेंद्रियों के सुखानुभव मेरे कारण द्विगुणित हो जाते हैं। संगीत साहित्य की तो एक मात्र जननी हूँ, फिर ऐसा कौन है, जो मुझसे विमुख है।"[1]

"भारत माता—वत्स! कब तक इस प्रकार से तुम सब निंद्रित रहोगे, अब सोने का समय नहीं, एक बेर आँख खोलकर भली भाँति पृथ्वी की दशा तो देखो। तुम्हें कुछ नहीं मालूम तुम्हारे चारों ओर क्या हो रहा है, यह तो तुम लोग देखो कि तुम्हारी अब क्या अवस्था हो रही है, क्या थे और क्या हो गये? एक बेर तो भला अपने मन में विचारो, निरवलंबा शोक-सागरमग्ना, अभागिनी अपनी जननी की दुरवस्था को एक बार तो आँखें खोलकर देखो। बेटा! हमारा धन, आभूषण, वसन इत्यादि लुटेरे बलात्कार हर लेगये, अब हम निराधार हो रही हैं।[2]

सहेतुक प्रज्ञा में विचारपूर्ण तथ्यों का निरूपण करने में भाषा का सांकेतिक नियोजन कलाकार की कलापटुता को लक्षित करता है।

भारतेन्दु जी ने नाटकों में व्यंग्यात्मक उक्तियों का प्रयोग किया है, व्यंग्यों तथा हास्ययुक्त कटाक्षों की भाषा अधिक मँजी हुई है। प्रहसनों की भाषा में व्यंग्य के पुट के साथ साथ कटाक्ष और आलोचनात्मक मनोवृत्ति का आधिक्य अधिक दृष्टिगत होता है। भारतेन्दु जी के नाटकीय व्यंग्यों की शैली का एक निज का व्यक्तित्व है, युग प्रतिनिधि कलाकार की भाषाशैली का अनुकरण समकालीन साहित्यकों में विद्यमान मिलता है। हास्यपूर्ण प्रहसनों में व्यंग्यात्मक भाषा की छटा निम्न गद्यांशों में दृष्टिगत होती है।

विदूषक—"हे भगवान, इस बकवादी राजा का नित्य कल्याण हो जिससे हमारा नित्य पेट भरता है। हे ब्राह्मण लोगों! तुम्हारे मुख में सरस्वती हंस सहित वास करे, और उसकी पूंछ मुख में न अटके।"[3]

उपर्युक्त गद्यांश में विनोदपूर्ण व्यञ्जना लिए हुये भाषा का तरल प्रवाह है। व्यंग्यात्मक व्यञ्जना में शाब्दिक चमत्कार योजना का अनुपम उदाहरण निम्न पंक्तियों में उपस्थित है।

"अपव्यय, अदालत, फैशन और सिफारिश इन चारों ने सारी दुश्मन की फौज तितर बितर करदी। अपव्यय ने खूब लूट मचाई। अदालत ने भी अच्छे हाथ साफ किये। फैशन ने तो बिल और टोटल के इतने गोले मारे कि बंटाधार कर

१—चतुर्थ अङ्क-मदिरा, भारत दुर्दशा। २—भारत जननी, पृष्ठ २३८ वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति, पृष्ठ ११२

दिया, और सिफारिश ने भी खूब ही छकाया। पूरब से पश्चिम और पश्चिम से पूरब तक पीछा करके खूब भगाया। तुहफे, घूस और चन्दे के ऐसे बम के गोले चलाये कि 'बम बोल गई, बाबा की चारों दिसा' धूम निकल पड़ी। मोटा भाई बना बनाकर मूड़ लिया। एक तो खुद ही सब पंड़िया के ताऊ, उस पर चुटकी बजी, खुशामद हुई, डर दिखाया गया, बराबरी का झगड़ा उठा, धांय धांय गिनी गई, वर्ण माला कंठ कराई, बस हाथी के खाये कैथा हो गए। धन की सेना ऐसी भागी कि कब्रों में भी न बची, समुद्र के पार ही शरण मिली।" [१]

बोधगम्य भाषा में देशज प्रयोगों का आकर्षक चयन भाषा की चटकीली शैली को तरलता प्रदान करता है, लोक-प्रिय मुहावरों में सांकेतिक व्यंग्य इङ्गित करना कलाकार की मँजी हुई भाषा का ही कार्य है। गतिवान मुहावरों के तारतम्य से युक्त शैली का वेग निम्न गद्यांश में नाट्यकार ने देकर अपनी भाषा सुष्ठुता का परिचय दिया है।

"और क्या। काज़ी जी दुबले क्यों, कहैं शहर के अन्देशे से। अरे कोउ नृप होउ हमें का हानी, चेरि छांड़ि नहिं होउब रानी।" आनन्द से जन्म बिताना। अजगर करै न चाकरी पंछी करे न काम। दास मलूका कह गए सबके दाता राम। 'जो पढ़तव्यं सो मरतव्यं, जो न पढ़तव्यं सो भी मरतव्यं, तब फिर दंत कटाकट किं कर्तव्यं? भई जात में ब्राह्मण, धर्म में वैरागी, रोज़गार में सूद और दिल्लगी में गप सबसे अच्छी।"

यहाँ भाषा का प्रयोजन केवल चमत्कार प्रदर्शन दिखाई देता है। भाषा में लोकोक्तियों का प्रयोग रखकर रोचक बनाने का प्रयास किया गया है। यह लाक्षणिक शैली का उत्कृष्ट उदाहरण है।

जहाँ भारतेन्दु जी ने प्रगतिशील नाट्य भाषा का निर्माण किया वहीं उन्होंने कुछ स्थानों में विशुद्ध तत्सम पदावली का प्रयोग कर चमत्कार प्रदर्शित करने का उद्योग किया है। महारानी विक्टोरिया के लिये प्रयुक्त अलंकृत सम्बोधनों में शब्द चमत्कार का अच्छा संयोग दृष्टिगत होता है।

भारत माता—"बेटा तुम लोग क्या कह रहे हो? हाय मैं ऐसी वज्रहृदया हूँ कि यह सब सुनकर भी सुखपूर्वक अपना प्राण धारण किये हूँ, अब तो यह दुसह दुख सहा नहीं जाता। (दीर्घ श्वास लेकर) बेटा तुम लोग अब क्या कर सकते हो, तुम्हारे पास अब है क्या? तुम लोग अब एक बेर जगत् विख्यात, ललनाकुलकमल-कलिकाप्रकाशिका, राजनिचयपूजितपादपीठा, सरलहृदया, आर्द्र-चित्ता, रंजन-कारिणी एवम् दयाशीला आर्य स्वामिनी राज राजेश्वरी महारानी विक्टोरिया के चरण-

१—भारत दुर्दशा, पृ० ४६७

कमलों में अपने इस दुःख का निवेदन करो, अतीव कारुण्यमय दयाशालिनी और प्रजा-शोकनाशिनी हैं, निस्सन्देह तुम लोगों की ओर कृपा कटाक्ष से देखेंगी, और अगस्त की भांति झटित हो तुम लोगों के शोक-सागर का शोषण कर लेंगी।'

भाषा में तत्सम शब्दों का क्लिष्ट वाक्यविन्यास प्रांजलता की सृष्टि करता है, जो प्रसंगानुकूल है। इसके पूर्व कहा जा चुका है, कि भारतेन्दु की भाषा ने यथा-स्थान विभिन्न रूप से अपने कलेवर बदले हैं, सम्भवतः भारतेन्दु युग गद्य भाषा शैली का निर्माण युग रहा है। युगप्रवर्तक कलाकार ने भाषागत विभिन्न शैलियों को भिन्न भिन्न प्रयोगों के रूप में लिया है और व्यापक तथा साहित्य समाज के लिये हितकर शैली का निर्माण इन्हीं सब प्रेरणाओं के संयोग से किया है।

नाट्यकार भारतेन्दु जी ने नाट्यगत भाषा का व्यापक तथा लोकप्रिय स्वरूप अपने नाटकों में रखा है, नाटकों में देशज, प्रान्तीय तथा अन्तर्प्रान्तीय भाषाओं के प्रयोग साधारण वाक्यविन्यास से गठित दिखाई देते हैं। ऐसी भाषा के रूप पात्र-गत संवादों की नैसर्गिकता पर आधारित हैं, निम्न उद्धरणों में विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं का प्रतिनिधित्व मिलता है।

झपटिया—"आज अभी तक कोई दरसनी-परसनी नाहीं आये, और कहाँ तक अभहिन तक मिसरो नहीं आए, अभहीं तक नींद न खुली होइ है। खुले कहाँ से ? आधी रात तक बाबू किहाँ बैठके ही-ही ठी-ठी करा चाहें, फिर सबेरे नींद कैसे खुलै"।

नाटकों में अधिकांश स्थानों पर भोजपुरी तथा मिर्जापुर के आस-पास बोली जाने वाली देशज भाषा का पात्रोचित प्रयोग किया गया है, प्रायः काशी की देशज भाषा का उक्त भाषा से अधिक साम्य है।

काशी में पण्डितों में दक्षिणी महाराष्ट्र वर्ग के लोगों का अधिकांश स्थान है, निमन्त्रण तथा अन्य कर्म-काण्डों में इन्हीं लोगों को प्रायः बुलाते थे, ऐसे व्यव-सायिक वृत्ति वालों का रहन-सहन का वर्णन उन्हीं की भाषा में है।

"बुभुक्षित—कोण आहे ? वाह महाशतु आदेश काय ? काय बाबा आज किती ब्रह्मण आमच्या तडांत देतोस ? सरदारांनी किसी सांगीतलेल ? कायरे ठोक्याच्या कर्मयांत सहस्र भोजन कुण्याच्या यजमानाचे चाल्लेआहे।

भारतेन्दु युग में अभी ब्रज भाषा की मान प्रतिष्ठा विद्यमान थी, यह युग संधिकाल था, यद्यपि ब्रज को छोड़कर गद्य की भाषा खड़ी बोली की ओर अधिक झुक रही थी, परन्तु भारतेन्दु जी की चन्द्रावली में ब्रज के कथोपकथन का प्रयोग मिलता है।

"भगवान—तौ प्यारी मैं तोहि छोड़ि के कहाँ जाऊँगो, तू तौ मेरी स्वरूप ही है। यह सब प्रेम की शिक्षा करिबे को तेरी लीला है।"

कलाकार में शब्द निर्माण की अलौकिक प्रतिभा है, निम्न गद्यांशों में प्रयुक्त कुकुर भौं-भौं, हुज्जते बंगाल, कुटीचर आदि शब्द निज का मौलिक व्यक्तित्व लिये हुये दृष्टिगत होते हैं।

"रामचन्द्र—जाते हैं, कभी-कभी जी नहीं लगता मुफत की बेगार-और फिर हमारा हरिदास बाबू के साथ कुकुर-भौं-भौं, हुज्जते बंगाल, माथा खाली कर डालते हैं।"

नाट्यकार के शब्दों के व्यक्तित्व में ही अर्थ की अभिव्यञ्जना निहित दृष्टिगत होती है, उनके प्रयोगों में न तो विचारों का गुंफन और न भाषा की दुरूहता ही होती है। बोधगम्य वाक्य-खण्ड भावों का मानचित्र उपस्थित कर देते हैं, इसीलिये भाषा और भाव साथ साथ चलते दृष्टि गत होते हैं।

नाटकों की भाषा में निज का व्यक्तित्व है, रंगमंच में प्रयुक्त होने वाली भाषा तत्कालीन पारसीक रंगमंच के संस्कारों के विरोध में प्रस्तुत की गई थी, परन्तु उक्त भाषा के मौलिक संस्कार अभिनेय उत्कृष्टता की दृष्टि से ग्रहण किये गये हैं। स्मरण रहे कि भाषा में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं दृष्टिगत होता जो कि कलाकार की देन के रूप में निज का अस्तित्व रखती है। नाटकीय प्रयोजन की दृष्टि से भारतेन्दु जी की भाषा में गतिशीलता अवश्य है, परन्तु किन्हीं स्थानों में नाटकीय संवादों के उपयुक्त संतुलित तथा संयमित भाषा नहीं प्रतीत होती।

नाटककार भारतेन्दु जी हिन्दी गद्य भाषा के जनक थे। उन्होंने हिन्दी नाट्य साहित्य में चली आने वाली अव्यवस्थित गद्य भाषा के ढांचे में आमूल परिवर्तन किया, तथा युग की भाषा को नवीन स्वरूप देकर नाट्य साहित्य में अपना व्यक्तित्व प्रतिष्ठित कर गये। १६ वीं शताब्दी के पूर्व गद्य भाषा का कोई निश्चित मानदण्ड नहीं दृष्टिगोचार होता था। ब्रज भाषा के गद्य प्रवाह की शिथिलता प्रायः खटकने वाली वस्तु थी। नाटकों को भाषा का नवीन कलेवर देकर अपने वर्ग के साहित्यकारों को नवीन पथ-प्रदर्शित किया, नाट्यकार की भाषा में अभिनयमूलक गुण विद्यमान थे। साधारण गद्य की भाषा से नाटकीय भाषा का स्वरूप कुछ अलग प्रतीत होता है। भारतेन्दु जी की अन्य गद्य कृतियों में भी नाटकीय भाषा का सा भाव-प्रवाह मिलता है।

नाट्यकार ने अपनी भाषा शैली को सबलता प्रदान करने के लिये वैदर्भी, गौणी, पांचाली आदि रीतियों, ओज, माधुर्य और प्रसाद आदि गुणों, अभिधा, लक्षणा

और व्यञ्जना आदि शब्द शक्तियों, उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, यमक, श्लेषादि अलंकारों, मुहावरों एवं लोकोक्तियों का यथास्थान प्रयोग किया है।

कहा गया है "शैली ही मनुष्य का व्यक्तित्व है" (Style is the man)। व्यक्तित्व की छाप शैली में निहित रहती है, इस सिद्धान्त के आधार पर हम नाट्यकार भारतेन्दु जी की भाषा में गवेषणात्मक, व्याख्यात्मक, विश्लेषणात्मक तथा भावात्मक प्रवृत्तियों के दर्शन पाते हैं। साथ ही साथ उनकी शब्द सम्बन्धी तत्सम-तद्भव-प्रियता एवं अन्य भाषाओं के शब्दों के प्रति अनुरक्ति-विरक्ति का भी यथेष्ट ज्ञान प्राप्त होता है, विषयानुसार शैली के स्वरूपों का परिवर्तित होना स्वाभाविक है। इसीलिये कहीं सरस शैली, कहीं अलंकृत शैली, कहीं गुम्फित वाक्य विन्यास, कहीं उक्ति प्रधान और कहीं गूढ़ विवेचन शैली के स्वरूप दिखाई देते हैं।

विषयानुसार भाषा का प्रयोग नाट्यकार की भाषा का विशेष गुण है। भाषा का सहज एवं अकृत्रिम रूप ही सर्वसाधारण के बीच प्रतिष्ठित हो सकता है। यह कहना नितांत उपयुक्त है कि आधुनिक हिन्दी साहित्य के विकास काल में भारतेन्दु जी का सर्वप्रथम ध्यान भाषा की ओर गया। उन्होंने सर्वत्र साधारण बोलचाल की भाषा को ही अपने भावाभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। वैसे यथास्थान कितने ही स्थल उपस्थित हैं, जहाँ आपकी भाषा में पण्डिताऊपन दृष्टिगत होता है। भाषा का पण्डिताऊपन इस काल की भाषा सम्बन्धी प्रमुख विशेषता थी। परन्तु भारतेन्दु जी ने उक्त शैली में परिष्कार किया तथा भाषा की जटिलता और दुरूहता से हटकर एक नवीन शब्दावली के साथ भाषा का निर्माण किया, नवीन निर्मित भाषा का यह अपरिपक्व स्वरूप था, प्रारम्भिक काल में रूप एवं व्याकरण सम्बन्धी भूलें अवश्य प्रतीत होती हैं, जिनसे कदापि विचलित होने की आवश्यकता नहीं है। भाषा सम्बन्धी उक्त भूलें प्रारम्भिक निर्माण काल में होना स्वाभाविक थीं।

संवाद—

नाटकों में कथावस्तु तथा पात्रों का समस्त कार्यव्यापार संवादों में निहित रहता है। संवादों की गतिविधि ही नाटकीय सफलता की निर्णायक होती है। संवादों के ही क्रमिक संगठन से नाटकीय कथावस्तु का निर्माण हो सकता है। संवाद नात्य कथा के मेरुदण्ड का कार्य करते हैं, जिनके आधार पर वर्णित कथा अथवा घटना का निर्माण सम्भव है। भाषा का कलेवर संवादों को चित्रमयता प्रदान करता है, इनकी सफलता का श्रेय मूलतः भाषा को ही प्राप्त होती है। संवादों में भाषा के अतिरिक्त चरित्र-चित्रण, अभिनय तथा रसानुभूति आदि तत्वों का समाहार रहता है। इन प्रमुख तत्वों में से एक भी तत्व का अभाव संवादों में खटकने की वस्तु है। सफल नायक के संवादों में बोधगम्य भाषा, स्पष्ट चरित्र विकास, अभिनय मूलक

व्यंजना तथा रस-परिपाक का होना नितान्त आवश्यक है। संवादों के संकेत स्पष्ट होने चाहिये, ध्वनि में अभिनेय गरिमा तथा भाषा विन्यास संतुलित होना चाहिये। नपा-तुला शब्दविन्यास, प्रासंगिक प्रयोग जिनमें कथोपकथन विस्तार का प्रयोजन मिलता है, कथावस्तु के आधार पर ही चलने वाले होना चाहिये। भाषा की दुरूहता संवादों के स्तर को न्यून कर देती है। अतः बोधगम्य भाषा नितांत आवश्यक है।

एरिस्टाटिल (Aristotle*) ने संवादों की गरिमा मूल-रूप से पात्रों तथा उनके भाव विकास में विभक्त की है। पात्रों का व्यक्तित्व संवादों में ही निहित दृष्टि-गत होता है, संवाद ही उनकी सफलता तथा विफलता के निर्णायक हैं। संवादों की अभिनयमूलक भावाभिव्यंजना के सफ़ल चित्रणों में उनकी श्रेष्ठता निर्भर है। संवादों में पात्रगत व्यक्तित्व तथा अभिनयमूलक भाव प्रदर्शन दोनों ही का भाव निहित रहता है। संवादों में उपर्युक्त गुणों का सामंजस्य सापेक्षिक प्रतीत होता है।

रूपक में संवादों का आवश्यकता से अधिक विन्यास बढ़ जाने से व्यावहारिक यथार्थता का ह्रास हो जाता है, तथा न्यूनतम सांकेतिक वाक्य भी अपने मन्तव्य को स्पष्ट प्रदर्शित नहीं कर पाता। संवादों की भाषा का स्वरूप न अधिक बड़ा होना चाहिये न बिलकुल छोटा ही, यदि किसी प्रकार संवाद में कथन की अधिकता है तो उसका प्रासंगिक तथा कथावस्तु से सम्बन्ध स्थिर रखना आवश्यक है।

वर्तमान समीक्षकों ने स्वगत-भाषण नाटकों के लिये अनुपयुक्त वस्तु सिद्ध की है। स्वगत भाषण नाटकीय घटना प्रवाह के विकास का पूर्व परिचय देता है, स्वगत कथन नाटकीय घटनाओं का सांकेतिक निर्देश है, जो भावी घटनाचक्र की रूप-रेखा बताता है। इस उद्देश्य से संवादों में स्वगत चित्रण को अपनाया जाता है पर

*—As they act the stories. it follows, that in the first place the spectacle (or stage appearance of the actor) must be some part of the whole and in the second Melody and Diction, these two being the means of their imitation. Here by 'Diction' I mean merely this, the composition of the verses , and by 'Melody', what is too completely understood to require explanation. But further the subject represented also is an action ; and the action involves agents; who must necessarily have their distinctive qualities both of character and thought, since it is from these that we ascribe certain qualities to their actions.

(*The Art of poetry—page 35. by Aristotle. Translated by Ingram Bywater.*)

स्मरण रहे स्वगत केवल संकेत मात्र ही रहे, इसके आकार की अधिकता संवादों की शिथिलता का द्योतक है।

संवाद कार्यगति प्रेरक तथा रोधक दोनों अवस्थाओं में प्रयुक्त होते हैं। संवादों में परिस्थिति का उद्घाटन करते हुये कार्य व्यापार में नियोजित करने की क्षमता होती है। किसी स्थल विशेष के संवाद से ही यह प्रकट हो जाता है कि विषय और परिस्थिति में गति है अथवा नहीं। समीप भविष्य का सम्भावित रूप भी उसके द्वारा समझ में आने लगता है, वस्तुस्थिति किस ओर अग्रसर है, और कहाँ तक बढ़ सकती है, इसका अनुमान संवाद के वर्तमान रूप को ही देखकर लगाया जा सकता है। किसी कार्य में प्रवृत्त करने वाले संवादों में नई नई बातों, नये नये भावों, सक्रियता के रूपों और परिणामों का निरन्तर प्रकाशन होता चलता है। इसी उपादेयता के कारण साधारणतः सब प्रकार की रचनाओं में और मुख्यतः नाटकों में संवादों के आधार पर कथा का प्रसार तथा चरित्रांकन होता है। कथा का प्रसार करने वाले संवाद गति प्रेरक कहलायेंगे जहाँ कथावस्तु के शैथिल्य में संवादों का हाथ रहता हैं, वहाँ वह गति प्रवाह में रोधक का कार्य करते दिखाई देते हैं।

रस तथा अभिनय मूलक अभिव्यंजना संवादों का प्रमुख अंग है। संवाद में रस विशेष का परिपाक नितान्त आवश्यक है। अभिनय में रस की निष्पत्ति होती है, दोनों ही संवादों में आलंबन और आश्रय का कार्य करते हैं। नाटकीय संवादों में रस और अभिनेय गरिमा की अतीव आवश्यकता है। विशेषतः रंगमंचीय नाटकों में संवादों के सभी मौलिक गुण विद्यमान होना चाहिये। यद्यपि अभिनेय तथा पठित दो विभिन्न नाट्य प्रकारों में संवादों की अवस्था में परिवर्तन आ सकता है।

उपर्युक्त लक्षणों के आधार पर भारतेन्दु जी के नाटकों में संवादों का समीक्षात्मक अध्ययन किया जा सकता है, नाटकों में संवाद पात्रोचित भाषा का कलेवर धारण किये हुये दिखाई देते हैं। संवादों की दृष्टि से नाटक अत्यधिक शिथिल प्रतीत होते हैं। कथावस्तु का लोप और अप्रासंगिक चर्चा दृष्टिगत होती है। जहाँ संवादों के ही आधार पर पात्रों का प्रौढ़ चारित्रिक विकास उपलब्ध है, वहाँ संवाद कथावस्तु के मेरुदण्ड का कार्य करते हैं, कथावस्तु का प्रवाह इन्हीं में सन्निहित दृष्टिगत होता है। परन्तु जहाँ स्वगत भाषण तथा आकाश-भाषित तथ्यों के बाहुल्य में अप्रासंगिकता का समावेश है, संवादों की प्रौढ़ता का ह्रास दिखाई देता है। गीति रूपकों में संवादगत गीतों का बाहुल्य पात्रों की अभिनेयता को स्पष्ट नहीं कर पाता है। अविकसित अभिनेयता के कारण संवाद शिथिल जान पड़ते हैं।

पात्रों के विभिन्न स्वरूपों के आधार पर संवादों की भाषा भिन्न भिन्न कलेवर में दृष्टिगत होती है। भाषा के वर्गिक विभाजन के आधार पर संवादों को विभिन्न

कोटि में रखा जा सकता है। कहीं संवाद भावात्मक प्रज्ञा को लेकर चलते हैं, तो कहीं उनमें संकेतात्मक प्रवृत्ति पाई जाती है, और कहीं पर व्यंग्यमूलक संवाद हैं।

रस के आधार पर संवादों की सफलता और विफलता का मानदंड आवश्यक है, नाटकों में जहाँ जहाँ करुणा, क्षोभ, प्रेमातिरेक, अमर्ष, उन्माद तथा प्रलाप आदि दृष्टिगत होता है, संवादों ने अपने मौलिक नियमों का उल्लंघन किया है। जब संवाद प्रतिपाद्य विषय को छोड़कर भावात्मक इतिवृत्ति के प्रवाह में बह जाते हैं, संवादों की गति में शिथिलता आ जाती है, संवादों के अप्रासंगिक तथ्य सामान्य घटना-सूत्र तथा कथोपकथन प्रणाली से असंबद्ध दिखाई देते हैं। ऐसे संवाद अरुचिकर तथा निरर्थक कहे जा सकते हैं। सम्बोधनों की पुनरावृत्ति तथा निरर्थक शब्दावली का तारतम्य भी संवादों में खटकने वाली वस्तु प्रतीत होती है।

संवादों का अभिनेय वातावरण पर तात्कालिक प्रभाव पड़ता है। इतिवृत्तात्मक प्रवाह के कथोपकथनों में प्रायः अभिनेयता का ह्रास पाया जाता है, ऐसे कथन कभी-कभी कथाप्रसंग से असंबद्ध भी हो जाते हैं। भारतेन्दु जी की चन्द्रावली नाटिका में प्रेम प्रधान भावधारा का बाहुल्य है। प्रेम और विरह की ऊहात्मक प्रज्ञा का प्रवाह अति वेगवान दृष्टिगत होता है। संवादों की दृष्टि से उक्त नाटिका को आर्थिक सफलता नहीं प्राप्त हुई है। भावुकता के आवेश में संवाद अपनी मर्यादा छोड़कर वक्तव्यों तथा प्रलापपूर्ण कथनों के रूप में दिखाई देते हैं। कथा-वस्तु की न्यूनता होते हुये भी अप्रासंगिक संवादों का बाहुल्य दृष्टिगत होता है। कभी-कभी घटनाक्रम और संवादों में कोई मूल प्रयोजन नहीं होता। उत्तर प्रत्युत्तर की भावना न रहते हुये भी संवादों का सिलसिला जारी रहता है, रस विशेष का परिपाक अवश्य रहता है, परन्तु कथोपकथन प्रणाली को सफलता नहीं प्राप्त होती है। [1] संवादों की यह प्रणाली हमें नाट्यकार के कई नाटकों में देखने को मिलती है। ऐसा जान पड़ता है कि जब नाट्यकार भावुक प्रज्ञा में बह जाता है, तो वह

१—चन्द्रावली :—(आप ही आप) 'हाय प्यारे हमारी यह दशा होती है......प्यारे क्षमा करो। मेरे अपराधों की ओर न देखो, अपनी ओर देखो'!

(चन्द्रावली नाटिका-तीसरा अङ्क, पृ० सं० २३३-२३७)

सुधाकर—"सुनिए काशी का नामांतर वाराणसी है......आप देखियेगा तभी जानियेगा, बहुत कहना व्यर्थ है" (प्रेमयोगिनी, तीसरा गर्भाङ्क, पृ० सं० १५५-१६४, भा० ना०)

भारतभाग्य :—'हाय भारत को आज क्या हो गया है?.........तो ऐसे अभागे जीवन ही से क्या बस यह लो।" (कटार का छाती में आघात) (भा० दु० छठा अङ्क, पृ० ४८६-४६८ भा० ना०)

भारतमाता—"(आँखें खोलकर) हाय क्या?...........अच्छा तो एक बार उद्योग करें।"

(भारत जननी, पृ० २३५-२३७, भा० ना०)

अपने भावों की शृङ्खला पर संयम नहीं रख पाता, उसकी मनोवृत्ति एक साथ एक ही पात्र द्वारा सब कुछ कहला देने की रहती है, ऐसे स्थल हमें यथास्थान चन्द्रावली, प्रेम योगिनी, भारत दुर्दशा, भारत-जननी आदि में मिलते हैं। यद्यपि सिद्धान्त की दृष्टि से नाट्यकार स्वयम् उक्त प्रणाली को नाट्यकला के उपयुक्त नहीं स्वीकार करता जैसा नाटक निबन्ध में आप संवादों के विषय में अपने विचार प्रकट करते हुये कहते हैं कि "पात्रगण आपस में जो वार्ता करें, उसको कवि निरे काव्य की भाँति न ग्रथित करें। यथा नायिका से नायक साधारण काव्य की भांति 'तुम्हारे नेत्र कमल हैं, कुच कलश हैं, इत्यादि न कहे'। परस्पर वार्ता हृदय के भाव बोधक वाक्य ही कहने योग्य हैं। किसी मनुष्य व स्थानादि के वर्णन में लम्बी-चौड़ी काव्य रचना नाटक के उपयोगी नहीं हैं"।[१]

संवादों में कलात्मक शिथिलता के स्थल वहीं दिखाई पड़ते हैं, जहाँ कलाकार भावमय प्रज्ञा का प्रयोग कर अपने निज के प्रचारात्मक विचारों का उद्घाटन करता है। जहाँ कहीं भी कलाकार ने किसी समस्या विशेष को लेकर निज के व्यक्तित्व को ढालने की कोशिश की है, वहीं संवादों का स्तर गिर जाता है, और वस्तु प्रसंग की सामान्य परिधि के बाहर दृष्टिगोचर होने लगते हैं। भारतेन्दु जी के प्रहसनों के संवाद सामान्यतः उत्कृष्ट हैं, प्रहसनों में संवादों की कलात्मक व्यंजना प्रौढ़ तथा हृदयग्राही है। सुन्दर शब्द चयन के साथ सहेतुक व्यंजना का सुन्दर सामंजस्य है।

भाषा की चपलता और संवादों को विनोदपूर्ण सहेतुक व्यंजना का चमत्कार निम्न कथोपकथनों में अति आकर्षक प्रतीत होता है।

"विदूषक :—बक बक किये ही जायगी तो तेरा दाहिना और बायां युधिष्ठिर का बड़ा भाई उखाड़ लेंगे"।

विचक्षणा :—"और तुम भी जो टें टें किये ही जाओगे तो तुम्हारी भी स्वर्ग काटकर के एक ओर के पोंछ की अनुप्रास मूंड़ देंगे, और लिखने की सामग्री मुँह में पोत के पान के मसाले का टीका लगा देंगे।"[२]

"विदूषक :—क्यों वेदान्ती जी, आप मांस खाते हैं कि नहीं ?

वेदान्ती :—तुमको इससे कुछ प्रयोजन है ?

विदूषक :—नहीं कुछ प्रयोजन तो नहीं है, हमने इस वास्ते पूँछा कि आप बे-दाँती हैं, अर्थात् बिना दाँत के हैं, सो आप भक्षण कैसे करते होंगे।"[३]

१—नाटक निबन्ध पृ० ४६२ परिशिष्ट भा० ना०

२—कर्पूर मंजरी—पृ० ९५४, भा० ना०

३—वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति, द्वितीय अङ्क, पृ० ११३ भा० ना०

संवादों में यथार्थ निरूपण का प्रयास किया गया है, नाटकों में पात्रोचित भाषा का ध्यान इतना रक्खा गया है, कि नाटकों की भाषा कहीं कहीं पाठकों तथा दर्शकों दोनों ही के लिए दुरूह हो गई है, ऐसे स्थल नीलदेवी तथा प्रेमयोगिनी में देखने को मिलते हैं। नीलदेवी में नाट्यकार यवन पात्रों के द्वारा फारसी मिश्रित उर्दू बोलवाता है, और प्रेमयोगिनी हिन्दी भाषा की नाटिका होते हुये भी उसमें मराठी भाषा का प्रयोग किया गया है। उन सम्वादों से रंगमंचीय प्रयोजन सिद्ध होता नहीं दृष्टिगत होता, कारण कि दर्शक अथवा पाठकों की बुद्धि के परे प्रतीत होते हैं। परन्तु देशज भाषा में बोलने वाले यथार्थवादी पात्रों के सम्वाद रोचक प्रतीत होते हैं, कहीं कहीं उनमें अश्लीलत्व दोष अवश्य विद्यमान है, परन्तु सम्वाद अत्यधिक स्फूर्तिवान प्रतीत होते हैं।

"झूरी—कहोई सरवा अपने शहर की एतनी निन्दा कर गवा तूं लोग बोल्यौ नाहीं ?

गंगा०—भैया, अपना तो जिजमान है, अपने न बोलैंगे, चाहे दस गारी दे ले।

भंडोरिया—अपनौ जिजमानै ठहरा।

दलाल—और अपना भी गाहकै है।

दुकानदार और भाई हमहूँ चार पैसा एके बदौलत पावा है।

झूरी०—"तू सब का बोलबो, तू सब निरे दब्बू चप्पू हो, हम बोलबै। (परदेशी से) ए चिड़िया बावली के परदेशी फरदेसी। कासी की बहुत निन्दा मत करो। मुँह बस्सैये, का कहें के साहिब मजिस्टर है, नाहीं तो निन्दा करना निकास देते।

परदेशी—निकास क्यों देते ? तुमने क्या किसी का ठीका लिया है ?

झूरी०—"हाँ हाँ ठीका लिया है मटियाबुर्ज।"

पर०—तो क्या हम झूठ कहते हैं ?

झूरी०—"राम राम तू भला कबौ झूठ बोलबो, तू तो निरे पोथी के बेठन हौ।"

पर०—बेठन क्या ?

झूरी०—"बे ते मत करो गप्पों के, नाहीं तो तोरी अरबी फारसी घुसेड़ देबै।"[1]

यहाँ संवादों में फुर्तीलापन तथा देशज चुहल का चमत्कार देखने को प्राप्त होता है। यद्यपि संवादों में अश्लीलत्व अवश्य विद्यमान है, यदि उस पर ध्यान न दिया

१—प्रेम योगिनी-दूसरा गर्भाङ्क-भा० ना०

जाय तो संवादों की शैली के गतिशील संस्कारों का यथेष्ट परिचय प्राप्त होता है। चंचल तथा फुर्तीले संवादों की दृष्टि से अन्धेर नगरी तथा वैदिकी हिन्सा हिन्सा न भवति दोनों ही प्रहसनों में गतिशीलता है। संवादों का तारतम्य कथावस्तु का प्रेरक प्रतीत होता है। नाटकों के कलात्मक निर्माण में संवादों का अधिक सहयोग है। संवाद कथावस्तु के विकास में सहायक का सा कार्य करते हुये प्रतीत होते हैं। नीलदेवी के संवाद पात्रोचित व्यक्तित्व लेकर चलते दृष्टिगत होते हैं, यद्यपि कहीं-कहीं भाषागत दुरूहता दिखाई देती है, परन्तु संवादों का संगठन सुव्यवस्थित है, संवादों का क्रम प्रवाह भावी घटनाओं का रहस्योद्घाटन करता चलता है। स्वगत कथनों में मानसिक अन्तर्द्वन्द्व का निदर्शन अत्यधिक उत्कृष्ट है, राजपूत सैनिक शिविर में पहरा देने वाले सैनिक की कल्पना तथा मानसिक व्यापारों का स्वगत-कथन तथा संवादों का प्रदर्शन कलात्मक दृष्टि से उच्च कोटि का है।

नाटकों का प्राण अभिनय है, जो पात्रों के बिना सम्भव नहीं होता। पात्र अपने कार्य कलाप एवं संवादों द्वारा नाटकीय आख्यान को आगे बढ़ाते तथा पारस्परिक चरित्रांकन करते चलते हैं। नाटकीय रचना प्रणाली में स्वाभाविकता की रक्षा के लिये इन पात्रों के संवादों में स्वाभाविक भाषा का होना नितान्त आवश्यक है। कतिपय नाटककारों ने पात्रोचित संवादों में नैसर्गिक भाषा का नियम पालन वांछनीय नहीं समझा है, परन्तु भारतेन्दु जी ने पात्रों के संवादों में भाषा की स्वाभाविकता का सदैव ध्यान रखा है। अपने नियम का पालन यथासाध्य किया है। भारत दुर्दशा में बंगाली के संवाद में हिन्दी भाषा के प्रयोग में उच्चारण भेद तथा व्याकरण सम्बन्धी त्रुटियाँ आना आवश्यक हैं, अन्यथा उक्त संवाद में पात्र के व्यक्तित्व की सार्थकता नहीं रहती। निम्न संवाद में नाट्यकार ने उपर्युक्त कथन की पुष्टि की है :—

"बंगाली :—(खड़े होकर) सभापति साहब जो बात बोला सो बहुत ठीक है। इसका पेशतर कि भारतदुर्दैव हम लोगों का शिर पर आ पड़े कोई उसके परिहार का उपाय सोचना अत्यन्त आवश्यक है। किन्तु प्रश्न एई है जे हम लोग उसका दमन करने शाकता कि हमारा वोर्ज्जोबल के बाहर का बात है। क्यों नहीं शाकता ? अलबत सकेगा, परन्तु जो सब लोग एक मत होगा।"[1]

संवादों की शैली में लोकोक्तियों, मुहावरों के भी प्रयोग विशिष्ट स्थान रखते हैं। कथन में विस्तार न करके लोकोक्ति प्रयोगों द्वारा संवादों में सजीवता लाई गई है। इस प्रकार के संवादों में भारतेन्दु जी की भाषा में फड़कते हुये प्रयोग पाये जाते हैं।

१—भारत दुर्दशा-पाँचवाँ अङ्क।

"विचक्षणा—तुम्हारे काव्य की उपमा तो ठीक ऐसी है, जैसे लम्बस्तनी के गले में मोती की माला, बड़े पेटवाली को कामदार कुरती, सिर मुण्डी को फूल की चोटी और कानी को काजल।

विदूषक—सच है, और तुम्हारी कविता ऐसी है, जैसे सफेद फर्श पर गोबर का छोथ, सोने की सिकड़ी में लोहे की घन्टी और दरियाई की अंगिया में मूँज की बखिया।"[1]

संवादों में यत्र तत्र खटकने वाले प्रयोग भी हैं, जो संवादों को शिथिल तथा अरोचक बना देते हैं। संबोधन की पुनरावृत्ति तथा अनावश्यक शाब्दिक प्रयोग संवादों के सौन्दर्य को बिगाड़ देता है, उक्त प्रयोगों द्वारा पात्रगत अभिनेयता की न्यूनता दृष्टिगत होती है।

संवादों की भाषा की दृष्टि से भारतेन्दु जी के नाटकों को सन्तोषजनक सफलता नहीं प्राप्त हुई है, भाषागत त्रुटियों ने संवादों के मानदण्ड को साधारण कोटि में रखा है। भारतेन्दु युग समस्त हिन्दी गद्य साहित्य का नवनिर्माण युग रहा है, नाटकीय भाषा में नवीन गद्य शैली के प्रयोग हुये, नाटकीय भाषा और संवाद भिन्न भिन्न आकार में अपने सामान्य रूप को बदलते दिखाई देते हैं। नवीन प्रयोगों का युग था, नाट्य विकास में भी नवीन शैलियों का अनुसरण किया गया।

इसके पूर्व का नाट्य साहित्य अधिकांश पद्यात्मक रूप में विद्यमान था। गद्य केवल टीकाकारों की भाषा समझी जाती थी, गद्यात्मक भाषा का स्वरूप भारतेन्दु जी द्वारा सुधारा गया। रीतिकालीन अलंकारप्रियता तथा चमत्कारवादी साहित्य का अधिक प्रचार था तथा गद्य की सुनिश्चित भाषा नहीं थी। नाटकों की भाषा पद्य मिश्रित ब्रज भाषा थी। खड़ी बोली में दो वर्गों[2] की परम्परा में संघर्ष था। भारतेन्दु जी ने मध्यवर्गीय मार्ग का अनुसरण किया। विशेष रूप से नाटकों की भाषा में बोधगम्यता का अत्यधिक ध्यान रखा गया है। उक्त नवीन भाषा के संस्कारों में त्रुटि अवशेष रह सकती है, सम्वादों में व्याकरण की भूलें जो यत्र तत्र दिखाई देती हैं, वह भाषा की आरम्भिक अवस्था ही के कारण हैं, तत्कालीन भाषा के अविकसित स्वरूप को देखते हुये नाटकीय संवादों की यह त्रुटियाँ स्वाभाविक हैं, और क्षम्य भी हैं। भारतेन्दु युग में गद्य भाषा के परिमार्जन का प्रथम प्रयास हुआ। भाषा की उसी प्रारम्भिक अवस्था के अनुरूप ही नाटकों की भाषा के संस्कार दृष्टिगत होते हैं।

१—कर्पूर मंजरी-प्रथम अङ्क।

२—राजा लक्ष्मणसिंह तथा राजा शिवप्रसाद की गद्य शैली।

समस्त युग के नाटकों की विचारधारा तथा शैली पर यदि एक विहंगम दृष्टि डाली जाय तो यह कहा जा सकता है कि उस युग में नाट्य लेखन की भाषा शैली तथा संवादों का जो स्वरूप भारतेन्दु जी द्वारा प्रस्तुत किया गया था, समसामयिक नाट्यकारों ने बड़े ही आदर से उसको अपनाया। वस्तुतः यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि नाट्यकार भारतेन्दु जी की भाषा शैली तथा संवादों के सुन्दर संघात ने नाटकीय अवयवों को निखार दिया है। नाटकों में संवादों का प्रमुख स्थान होता है, और भारतेन्दु जी के संवाद प्रारम्भिक युग की भाषा के वातावरण में रहकर भी उत्कृष्ट संवादों की कोटि में रखे जा सकते हैं।

गीत—

नाटक दृश्य काव्य है, प्राचीन भारतीय नाट्य परम्परा में छंदबद्ध नाटकों का उल्लेख मिलता है, तथा ग्रीक नाट्य की भी उत्पत्ति गेय अभिनय प्रणाली से है। संगीत की ध्वनि अभिनय तथा नाटकों में आदिकाल से विद्यमान है। गीत नाटकीय घटना विकास-क्रम को प्रगति देने में सहायक होते हैं। अभिनय में जहाँ बाह्य स्थूल क्रियाओं की अभिव्यक्ति होती है, वहाँ मानसिक द्वंद्व के भी व्यक्तीकरण की आवश्यकता पड़ती है, उस स्थान पर गीतों की उपयोगिता का अनुभव होता है। भावोद्रेक के परिणामस्वरूप जब हृदय में रस का संचार होता है, तब गीतात्मक भावना की सृष्टि होती है। मानव हृदय की अनुभूति भावमयी अभिव्यक्ति बनकर गेय प्रवाह में बरबस बाहर निकलना चाहती है। कलाकार की भावात्मक सत्ता राग और कल्पना का मनोरम योग पाकर मूर्तिमती-सी हो उठती है। गीतों में एक विशेष प्रकार की गत्यात्मकता एवं कोमलता विद्यमान रहती है जिसके प्रभाव से हृदय में व्याप्त समस्त भाव मुखरित हो उठते हैं। गीतों में संक्षिप्तता एवं क्षिप्रता के साथ-साथ उच्चकोटि की संगीतात्मकता का होना अनिवार्य माना गया है। शब्द और स्वर गीत के चरम अवयव माने जाते हैं। इसीलिए गीतों में शब्दों और स्वरों की ही साधना मुख्यतः पाई जाती है।

आचार्यों ने गीत रचना के लिये आवश्यक गुण संगीतात्मकता, संक्षिप्तता भाषान्तर्गत सरलता तथा सुकुमार व्यंजना के ही विचार से शृङ्गार, शान्त, वात्सल्य तथा करुण रस को उपयुक्त माना है। नाटकों में गीतों का समावेश कई प्रयोजनों से होना आवश्यक है। सर्वप्रथम गीत कथावस्तु के विकास में सहायक रहते हैं। गीत सांकेतिक निर्देशों का भी कार्य करते हैं, और घटना प्रवाह को आगे बढ़ाने में सहायक होते हैं, भावी घटनाओं पर प्रकाश डालते हुये संक्षिप्त टिप्पणी का सा कार्य करते हैं, कथोपकथन के बीच में प्रयुक्त गीत भाव व्यञ्जना में सहायक होता है। घटना संकुलता के बीच दर्शक का मस्तिष्क जब एक प्रकार की जटिलता एवं भार

का अनुभव करने लगता है, तब नाटकों की गीत योजना उस स्थिति में हृदयानुरंजन करके मानसिक स्फूर्ति प्रदान करती है।

कलाकार भारतेन्दु के नाटकों में गीतों का प्रमुख स्थान है, गीतों में मुखरित आत्माभिव्यक्ति नाटकों को गति प्रदान करती है।

नाटकों में गीतों की सार्थकता घटना प्रवाह के साथ-साथ चलने तथा प्रासंगिक भावनाओं को व्यक्त करने में है, जहाँ गीत नाटक की कथावस्तु तथा पात्रों के संवाद कथन से कोई सम्बन्ध नहीं रखते, वहाँ गीतों की यह महत्ता कम दिखाई पड़ती है। गीतों का प्रयोजन केवल नाटकीय कलेवर में विस्तार उपस्थित करने का नहीं है, प्रत्युत शुष्क प्रसंगों में सरस अभिव्यंजना का संचार करना है।

भारतेन्दु जी की चन्द्रावली, भारत दुर्दशा तथा भारत जननी में घटनाओं की अत्यधिक न्यूनता है, पर नाटक का आकार गीतों के संयोग से विस्तृत किया गया है। घटना क्रम के विकास में गीतों तथा अन्य कविताओं की कोई भी उपादेयता नहीं प्रतीत होती है। घटना संकुलता के अभाव से जटिलता एवं मानसिक श्लथता के दूर करने का प्रश्न नहीं उठ पाता कि स्थान-स्थान पर गीत योजना गीतों के प्रवाह को अरुचिकर बना देती है।

परन्तु चन्द्रावली की विरह-वेदना, भारत तथा भारतभाग्य की आर्तपुकार मुखरित हो उठी है। चन्द्रावली नाटिका के गीतों में तथा छन्दों में अभिव्यंजना शक्ति तीव्र है। विरह व्यंजक गीतों में अभिनेय व्यंजना है। निम्न छन्दों में करुण रस का अच्छा परिपाक है :—

मन की कासों पीर सुनाऊँ,
बकनो वृथा और पत खोनी सबै चबाई गाऊँ।
कठिन दरद कोऊ नहिं हरिहै धरिहै उलटो नाऊँ ॥[1]

× × ×

कोऊ नहिं पकरत मेरो हाथ।
बीस कोटि सुत होत फिरत मैं हा हा होय अनाथ ॥
जाकी सरन गहत सोइ मारत सुनत न कोउ दुखगाथ।
दीन बन्यो इत सों उत डोलत टकरावत निज माथ ॥
दिन दिन विपति बढ़त सुख छीजत देत कोउ नहिं साथ।
सब विधि दुख सागर में डूबत धाई उबारौ नाथ ॥[2]

× × ×

१—चन्द्रावली-चौथा अङ्क। २—भारत दुर्दशा-द्वितीय अङ्क

भारत में मची है होरी।
इक ओर भाग अभाग एक दिसि होय रही झकझोरी।
अपनी अपनी जय सब चाहत होड़ परी दुहुँ ओरी ॥
दुंद सखि बहुत बढ़ोरी ॥१॥[1]

भारत दुर्दशा तथा भारत जननी का अवसाद पूर्ण दैन्य कथावस्तु के संघात से प्रवाहित है, नाट्य प्रवाह में उपर्युक्त सांकेतिक प्रयोग दृष्टिगत होते हैं। प्रासंगिक उल्लेखों का यथास्थान प्रवाह मिलता है।

गीतों में खटकने वाला वर्णनात्मक शैली का काव्य दिखाई देता है, चंद्रावली में चौथे अंक में चौवन पंक्तियों में यमुना छवि का वर्णन नाटकीय गीत के आधार पर नाट्य सौन्दर्य विकृत कर देता है, यद्यपि कलाकार ने काव्यमय चमत्कार प्रदर्शन प्रचुर मात्रा में दिखाया है। कथा-प्रसंग से पृथक काव्यमय पंक्तियों के अबाध तारतम्य में नाटककार भारत दुर्दशा में सम्पूर्ण भारतीय इतिहास की रूपरेखा वर्णित कर देता है, यथार्थतः काव्यमय वर्णन संक्षेप में देने चाहिये, लेकिन भावुक प्रज्ञा के आवेश में अपने कथनों पर संतुलन नहीं रख पाता। ऐसे गीत तथा काव्य नाटकों में खटकने वाली वस्तु होती हैं।

पूर्व ही बताया जा चुका है कि गीत नाटकों के घटना प्रवाह को गति प्रदान करते हैं, तथा दर्शकों में गम्भीरता तथा नीरस वातावरण में रस का संचार करते हैं, नाटकों में कुछ गीतों की आवश्यकता होती है, जिनमें रंगमंचीय विशेषता होती है, रङ्गमंचीय गीतों का महत्व अभिनय मूलक स्वर और लय लिये हुये नाटक की रङ्ग-मंचीय प्रतिभा को बढ़ाना है। ऐसे गीत पाश्चात्य बैलेड के समान गति प्रवाह रखते हैं। भारतेन्दु ने इस प्रकार के गीतों का उपयोग अपने नाटकों में किया है, इन गीतों की परंपरा में पारसीक आभा विद्यमान जान पड़ती है। ऐसे गीत भारत दुर्दशा, वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति तथा सत्य हरिश्चन्द्र में दृष्टिगत होते हैं :—

(नाचता और गाता हुआ)

भारत दुर्दैव—अरे !
उपजा ईश्वर कोप से, और आया भारत बीच।
छार खार सब हिन्द करूँ, मैं, तो उत्तम नहिं नीच ॥
मुझे तुम सहज न जानो जी, मुझे इक राक्षस मानो जी।
कौड़ी-कौड़ी को करूँ, मैं सब को मुहताज।
भूखे प्रान निकालूँ इनका, तो मैं सच्चा राज ॥
मुझे इक राक्षस मानो जी ॥

१—भारत जननी—पृष्ठ २३० भा० ना० २—भारत दुर्दशा, तीसरा अङ्क

(मन्त्री उठकर राजा का हाथ पकड़कर गिरता पड़ता नाचता और गाता है)

"पीले अवधू के मतवाले प्याला प्रेम हरी रस कारे।
तननं तननं में गाने का है, चसका रे ॥
निनि धध पपमम गग रिरि सासा भरले सुर अपने बस का रे।
धिधिकर धिधिकर धिधिकर धाधा बजे मृदंग थाप कसकारे ॥
पीले अवधू के मतवारे—[१]

× × × ×

(पिशाच और डाकिनीगण परस्पर आमोद करते और गाते बजाते हुये आते हैं)

पि० और डा०— हैं भूत प्रेत हम, डाइन हैं, छमाछम,
हम सेवें मसान शिव को भजें बोलें बम बम बम।
पि०— हम कड़ कड़ कड़कड़ कड़ कड़ हड्डी को तोड़ेंगे।
हम भड़ भड़ धड़ धड़ पड़ पड़ सिर सबका फोड़ेंगे।
डा०— हम घुट घुट घुट घुट घुट घुट लहू पिलावेंगी।
हम चट चट चट चट चट चट ताली बजावेंगी।
सब०— हम नाचें मिलकर थेई थेई थेई थेई कूदें धम धम धम[२]

उपर्युक्त अवतरणों में रंगमंचीय गरिमा है। गीत अभिनयमूलक वातावरण उपस्थित करते प्रतीत होते हैं। प्रायः पारसीक रंगमंच में पात्र विशेष अथवा सामूहिक गान के रूप में हास्य व्यंजना उपस्थित करने के प्रयोजन से उक्त गीतों की अवतारणा प्रस्तुत की गई थी। नाट्यकार ने रंगमंचीय प्रयोजन के ही लिये उक्त गीतों का निर्माण किया है, यद्यपि गीतों में चुलबुलापन तथा अभिनेय उपादेयता के अतिरिक्त सार्थकता का अभाव है। परन्तु रंगमंच के दर्शकों को आनन्ददायक अवश्य प्रतीत होते हैं।

भारतेन्दु जी के नाटकीय गीतों में देशकाल समस्या, समसामयिक सामाजिक वातावरण का उल्लेख प्रचुरता से मिलता है। नाटकीय राजनीतिक तथा सामाजिक समस्याओं की अभिव्यक्ति काव्यमय चित्रों में अधिकता से दृष्टिगत होती है, यहाँ गति नाट्यकार की निज की विचारधारा का प्रतिनिधित्व करते हैं। भारत दुर्दशा के आरम्भ में ही नाट्यकार की करुणा भारतवासियों की दुर्दशा पर तड़प उठती है, भावुक कलाकार अपने को नहीं रोक पाता, और कह बैठता है।

"रोअहु सब मिलिकै आवहु भारत भाई।
हा हा भारत दुर्दशा न देखी जाई ॥
सबके पहिले जेहि ईश्वर धनबल दीनो।

१—वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति, पृ० १२७। २—सत्य हरिश्चन्द्र, पृ० ६८ भा० ना०

सबके पहिले जेहि सभ्य विधाता कीनो।
सबके पहिले जो रूप रंग रस भीनो।
सबके पहिले विद्याफल जिन गहि लीनो ॥
अब सबके पाछे सोई परत दिखाई।
हा हा ! भारत दुर्दशा न देखी जाई ॥[1]

भारतेन्दु युग-प्रवर्तक कलाकार थे। इस काल में राष्ट्रीयता का लोप सा हो गया था। युग-पुरुष अपनी विचार-धारा में जन-जागरण का शंखनाद करता दृष्टिगत होता है। सजग राष्ट्रवादी कलाकार यत्र तत्र अपने भावपूर्ण गीतों में सामाजिक-चेतना का संदेश फूँकता दिखाई देता है।

"जागो जागो रे भाई।
सोअत निसि बैस गँवाई, जागो जागो रे भाई।
निसि की कौन कहै दिन बीत्यो काल राति चलिआई।
देखि परत नहिं हित अनहित कछु परे बैरि-बस जाई।
निज उद्धार पंथ नहिं सूझत सीस धुनत पछिताई।
अबहू चेति, पकरि, राखो किन जो कछु बची बड़ाई।
फिर पछिताए कछु नहीं ह्वै है, रहि जैहौ मुँह बाई।"[2]

भारतीय पतन के मूल कारणों को इंगित करते हुये अत्यन्त क्षोभपूर्ण शब्दों में जनसमाज की उदासीनता, असंगठन, अंध-परम्परा आदि को देख बड़ी पीड़ा का अनुभव कलाकार को होता है। भारत के प्राचीन गौरव का स्मरण करते ही उन्हें अपने समय के भारत की दीन हीन अवस्था याद आ जाती है, और अपने उद्गारों को रोक न सकने के कारण वे विचलित और निराश से प्रतीत होते हैं। नीलदेवी के सातवें अंक में देवता द्वारा वर्णन किया गया भारत की सामान्य दशा का चित्र उनकी निराशाजन्य भावनाओं का प्रतीक मात्र है। निम्न लावनी-गीत में कलाकार के मर्म-स्पर्शी उद्गार स्पष्ट हैं। कलाकार के व्यक्तित्व की छाप का परिचय इसमें मिलता है, कि राष्ट्रचेतना की रणभेरी बजानेवाली कुशल सैनिक है, देश को जिस दिशा में वह ले जाना चाहता है, वातावरण अनुकूल न बनने के कारण नैराश्य की आभा झलकने लगती है, कलाकार का अदम्य उत्साह नैराश्य-पूर्ण भावों में भी निहित जान पड़ता है। भारतेन्दु के गीत उनकी अंतरात्मा की अभिव्यक्ति हैं, कलाकार चेतन-प्राणी है, देश और समाज को सजग करना उसके जीवन की साध जान पड़ती है।

१—भारत दुर्दशा
२—भारत दुर्दशा—छठा अङ्क

उसे अपने स्वप्नों में व्यवधान उपस्थित देखकर उसकी आत्मा कचोट उठती है, वह कह उठता है :—

"सब भाँति देव प्रतिकूल होइ एहि नासा ।
अब तजहु वीर-वर भारत की सब आशा ।।
अब सुख सूरज को उदय नहीं इत ह्वै है ।
सो दिन फिर इत अब सपनेहुँ नहिं ऐहै ।।
स्वाधीन-पनो बल धीरज सबहि नसैहै ।
मंगलमय भारत भुव मसान ह्वै जैहै ।।"

समस्त गीतों की विचारधारा राष्ट्रवादी समाज की चेतना प्रेरक तथा भावात्मक उहा को पोषित करने वाली है परन्तु कहीं-कहीं गीत नाटकों की कथावस्तु को साथ लेकर चलते हैं पर अधिकांश नाट्यकार के विचारों के व्यक्तित्व का प्रतिनिधित्व करते दृष्टिगत होते हैं ।

काव्य में दो पक्षों का निरूपण मिलता है, कलापक्ष तथा भावपक्ष । भारतेन्दु के गीतों में काव्य प्रतिभा प्रचुरता से पाई जाती है । कलात्मक अभिव्यंजन तथा काव्य चमत्कार प्रदर्शन भी उक्त गीतों में दृष्टिगत होता है । ऐसे गीतों को कलापक्ष के अन्तर्गत रखा गया है । गीतों में जहाँ भावात्मक उहा की परितुष्टि होती है, वह भावपक्ष के अन्तर्गत आते हैं ।

कलात्मक दृष्टि से नाट्यकार ने अधिकांश छंदों की योजना केवल चमत्कार तथा अलंकारिकता का प्रदर्शन करने के लिये दी है । रीतिकालीन छाया लिये हुये छन्दों का प्रयोग नाट्ययोजना में भी अधिकता से मिलता है । कहीं-कहीं पर सेनापति तथा देव के उत्कृष्ट छन्द उद्धृत किये गये हैं । कलात्मक चमत्कार में अनुप्रासों की मंजुल छटा पर विश्राम करने वाले वर्णन में काव्य-कौशल देखिये :—

"तरनि तनूजा-तट-तमाल तरुवर बहु छाये ।
झुके कूल सों जल-परसन-हित मनहुँ सुहाये ।।
किधों मुकुर मैं लखत उझकि सब निज निज सोभा ।
कै प्रनवत जल जानि परम पावन फल लोभा ।।"
मनु आतप वारन तीर को सिमिट-सबै छाये रहत ।
कै हरि-सेवा-हित नै रहे निरखि नैन मन सुख लहत ।।"[1]

निम्न अवतरण में रुपकालंकार की छटा बहुत ही लालित्यपूर्ण प्रतीत होती है :—

"पीरो तन पर्‌यो फूली सरसों सरस सोई,
मन मुरझान्यौ पतझार मनो लाई हैं ।

१—चन्द्रावली—पृ० २४४ भा० ना०

सीरी स्वास त्रिविध समीर सी बहति सदा,
अखियाँ बरसि मधुझरि सी लगाई है ॥
"हरीचन्द" फूले मन मैन के मसूसन सों,
ताहीं सों रसाल बाल बदिकै बौराई है।
तेरे बिछुरे तें प्रान कंत कै हिमन्त अन्त,
तेरी प्रेम-योगिनी बसन्त बनि आई है ॥[1]

रीतिकालीन युग की परम्परा इस काल तक समाप्त प्राय नहीं हुई थी। नाट्यकार अभिनय प्रसंग से अलग भी अपने काव्य-चमत्कार-प्रदर्शन की प्रबल इच्छा को नहीं रोक पाता है। ऐसे गीत काव्यछटा का आनन्द तो प्रदान कर सकते हैं, परन्तु नाट्य विकास में कोई सहयोग नहीं दे सकते।

इन गीतों की भावात्मक प्रज्ञा में कलाकार की भावमय धारा प्रस्फुटित होकर निकली है, भावपूर्ण सुन्दर गान दर्शकों की रसात्मकता की परितुष्टि करते हैं, रागात्मक भावधारा मानव हृदय पर तात्कालिक प्रभाव डालती है। अभिनय में विशेष प्रकार की रसनिष्पत्ति दर्शकों को चित्र-लिखित तथा स्तब्ध तक कर देती है। नाट्यकार ने उक्त प्रणाली के गीतों को अपने नाटकों में यत्र तत्र देने का प्रयास किया है।

"प्यारे क्यों सुधि हाय बिसारी ?
दीन भई बिछुरी हम डोलत हा हा होय तुम्हारी ॥
कबहुँ कियो आदर जा तन को तुम निज हाथ पियारे।
ताही की अब दीन दसा यह कैसे लखत दुलारे ॥
आदर के धन सम जा तन कहँ निज अंकम तुम धार्‌यो ॥
ताही कहँ अब पर्‌यौ धूर में कैसे नाथ निहार्‌यौ।"[2]

× × × ×

"पिय तोहि कैसे हिये राखौं छिपाय ?
सुन्दर रूप लखत सब कोऊ यहै कसक जिय आय ॥
नैनन में पुतरी करि राखौं पलकन ओट दुराय।
हियरे में मनहूँ के अन्तर कैसे लेउँ लुकाय ॥
मेरो भाग रूप पिय तुमरो छीनत सौतैं हाय।
"हरीचन्द" जीवनधन मेरे छिपत न क्यों इत धाय।"[3]

१—सती प्रताप—तीसरा दृश्य।
२—नीलदेवी—नवां दृश्य।
३—चन्द्रावली—पृ० २५८, भा० ना०

इन गीतों में करुण रस का सुन्दर परिपाक है और नाट्यकार की काव्य-कला का परिचय यथेष्ट प्राप्त होता है। भावात्मक वर्णमय-चित्रों में कलाकार का मार्मिक सन्देश निहित है।

भारतेन्दु जी ने उक्त गीतों में भाव-प्रदर्शन के लिये परम्परा से चले आने वाले छन्दों का ही उपयोग किया है। इनमें छन्द-सौन्दर्य का नवीन उपक्रम नहीं लक्षित होता। भक्ति तथा रीतिकाल के कवित्त, सवैया, रोला, दोहा आदि का प्रचुरता से प्रयोग दृष्टिगत होता है। सवैया तथा रोला अधिक प्रिय जान पड़ते हैं। प्रेम तथा शृङ्गार के अधिकांश भाव, सवैया छंद और कहीं कवित्त में लिखे गये हैं।

तत्कालीन लोक-साहित्य की भावधारा लिये हुये नाट्यकार ने भिन्न-भिन्न छन्दों में काव्य निर्माण किया है। इनके सर्वप्रिय लोक-साहित्य के छन्द लावनी तथा कज़ली दृष्टिगत होते है। नाट्य रचनाओं में उक्त छन्दों का बड़ी स्वतन्त्रता से प्रयोग पाया जाता है।

छन्द शैली में पद, मात्रिक छन्द, वार्णिक छन्द, और जन-गीतों की शैली के आधार पर लिखे गये हैं। पद-शैली और छन्द-विन्यास में सूर की छाप का आधिक्य मिलता है। पदों के छन्दों में विविध टेकों के साथ विष्णुपद (१६, १० मात्रायें) सरसी (१६, ११ मात्रायें और अन्त में ऽ।), सार (१६,१२ अन्त में सम) मरहठा माधवी (१६, १३ अन्त में ऽ।ऽ), ताटंक (१६, १४ अन्त में सम) वीर, (१६, १५ अन्त में ऽ।), और सवाई (१६, १६ मात्रा अन्त में सम) का प्रयोग हुआ है। छन्दों में सूर के पदों की पद्धति का अनुसरण करते प्रतीत होते हैं।

गीतों की भाषा यथास्थान परिवर्तित की गई है। युग-संधिकाल के कलाकार होने के नाते ब्रज और खड़ी बोली दोनों ही का पुट छन्द-योजना में मिलता है। ब्रजभाषा के परिपक्व तथा सफल प्रयोग सवैया और घनाक्षरी में स्पष्ट दृष्टिगत होते हैं।

संगीत शास्त्र के अनुसार पद-रचना पर यथेष्ट ध्यान दिया गया है। सूर तथा तुलसी की भाँति राग-रागनियों का भारतेन्दु जी को अच्छा ज्ञान प्रतीत होता है। पात्रों के सामयिक वातावरण के अनुसार गीत-योजना प्रस्तुत की गई है। नाटकों के प्रसंगानुकूल स्थान-स्थान पर ठुमरी, गजल, ध्रुवपद, विभिन्न राग-रागनियों में समाहित दिखाई देते हैं। नाट्य गीतों का संगीत-शास्त्रानुसार विश्लेषण भी भारतेन्दु जी ने दिया है। उनके गीतों के प्रयोगों में राग सोरठ, राग कलिंगड़ा, राग विहाग, राग काफी, राग झिंझौटी, राग पीलू, रागनी बहार, पीलू तथा धमार, मिश्रित रागिनी, चैती गौरी-तिताला, राग भैरव, राग मलार, होली, रागवसन्त आदि

पाये जाते हैं। नाट्यकार ने स्थान-स्थान पर उनके स्वरों के आरोह अवरोह की विधियों का भी उल्लेख किया है कि उक्त राग में आये हुये पद किस प्रकार गाये जा सकते हैं। विभिन्न राग-रागनियों का निम्न पदों में बड़ा ही सुन्दर सामञ्जस्य मिलता है, जो नाटकीय वातावरण में रस का परिपाक करते हैं। नाटकीय वातावरण के अनुसार गेय गीतों को यथास्थान रखने का चातुर्य कलाकार की कला-मर्मज्ञता का परिचायक है।

पदों में ताल-स्वर का निर्देश देकर गेयता के सौन्दर्य को बढ़ाने का प्रयास किया गया है। अभिनेयता के साथ संगीत की अभिव्यंजना दर्शकों में आनन्द-रस-संचरण में सहायक होता है। उत्कृष्ट पदों में संगीत निर्देशों की छटा यत्र तत्र मिलती है—

("राग काफी, धनाश्री का मेल, ताल धमार)
मदवा पीले पागल जीवन बीत्यौ जात ॥
बिनु मद जगत सार कछु नाहीं मान हमारी बात।
झूमत चल डगमगी चाल से मारि लाज को लात ॥[1]

× × × ×

(झिंझौटी जल्द तिताला)
धन धन भारत की छत्रानी।
वीर कन्यका वीर प्रसविनी वीर वधू जगजानी ॥
सती सिरोमनि धरम धुरन्धर बुधि-बल धीरज खानी।
इनके जस की तिहूँ लोक में अमल धुजा फहरानी ॥[2]

× × ×

संगीत की परम्परा में रंगमंचीय वातावरण का विशेष ध्यान रखा गया है। इनकी भावधारा पारसीक मंच की गीत-योजना से कहीं-कहीं साम्य स्थापित करती चलती है। नाटकीय गीतों के उपयुक्त प्रयोग निम्न गीतों में दृष्टिगत होते हैं, जिनसे रंगमंचीय वातावरण का संकेत मिलता है। विशेष परिस्थिति में उसी वातावरण के अनुकूल गीत गाये जायँ तो अधिक उपयोगी तथा रोचक प्रतीत होंगे, जिस प्रकार सती-प्रताप में सावित्री के साथ उद्यान में पुष्प चयन के समय सामूहिक गान रंगमंचीय घटना को योग प्रदान करता है, गीत भी वातावरण के रंग में रंगे प्रतीत होते हैं।

("सावित्री को घेरे हुए गाते-गाते मधुकरी, सुरबाला और लवंगी का फूल बीनना)

(राग गौरी)

सखीजन :—
भौंरा रे बौरान्यों लखि बौर।

---

१ भारत दुर्दशा २ नीलदेवी—पहला दृश्य

लुबध्यौ उतहि फिरत मंडरान्यौ जात कहूँ नहिं और—
भौंरा रे बौरान्यों .....।

× × × ×

फूलन लागे राम वन नवल गुलबवा ।
फूलन लागे राम—महुआ फले आम बौराने डारहिडार ।
भँवरवा झूलन लागे राम ।

× × ×

पवन लगि डोलत बन की पतियाँ ।
मानहुँ पथिकन निकट बुलावहि कहन प्रेम की बतियाँ ।।
अलक हिलत फहरत तन सारी होत हैं सीतल छतियाँ ।
यह छबि लखि ऐसी जिय आवत इतहि बितैये रतियाँ ।।[1]

गीतों की प्रक्रिया अभिनय के साथ-साथ चलती दृष्टिगत होती है। गान करती हुई सखीगण मंच पर प्रवेश करती हैं, ध्यानावस्थित सावित्री बैठी है ।

(ठुमरी)

सखीत्रय :—
"देखो मेरी नई जोगिनियाँ आई हो—जोगी पियमन भाई हो ।
खुले केस गोरे मुख सोहत जोहत दृग सुखदाई हो ।।
नव छाती गाती कसि बाँधी कर जयमाल सुहाई हो ।।
तन कंचन दुति वसन गेरुआ दूनी छबि उपजाई हो ।।
देखो मेरी नई जोगिनियाँ आई हो ।।

गीतों में मंचीय वातावरण की व्यंजना का उत्कृष्ट उदाहरण है । सम्भव है भारतेन्दु जी के उक्त गीतों में अश्लीलत्व दोष आ गया हो, परन्तु यथार्थ चित्रण की दृष्टि से सम्पूर्ण दृश्य का ज्ञान गीतों की गरिमा में निहित है । स्मरण रहे कि भारतेन्दु जी ने पारसीक मंच का विरोध किया था । पारसीक रंगमंच की युग पर छाप थी, भारतेन्दु जी रंगमंच के कुसंस्कारों का मूलोच्छेदन करना चाहते थे। जनता की रुचि को अपनी ओर आकृष्ट करने के लिये पारसीक नाट्य शैली में परिष्कार कर अपने रंगमंचीय नाटकों में अपनाया, फिर शनैः शनैः साहित्यिक तथा राष्ट्रीय गीतों को देकर जनता की रुचि में परिष्कार कर सके । समाज की बिगड़ी हुई रुचि को धीरे-धीरे ही बदलना सम्भव था ।

गीतों की भाषा में शब्दचयन व्यापक तथा लोकप्रिय शब्दावली को लेकर चलता है । वस्तुतः यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि गीतों की दृष्टि से भारतेन्दु जी के नाटक अधिक लोक-प्रिय सिद्ध हुये हैं, जिनके द्वारा सामाजिक उत्थान सम्भव हो सकता है ।

१—सती प्रताप

उपसंहार

भारतेन्दु का साहित्यिक-कृतित्व

भारतेन्दु का उदय समाज के एक विशेष संक्रान्तिकाल में हुआ था। सामाजिक संक्रान्ति की प्रतिच्छाया साहित्य पर भी पड़ी। हिन्दी गद्य-साहित्य का व्यवस्थित रूप निश्चित नहीं हो सका था। भाषा ने ब्रज का केंचुल छोड़कर खड़ी-बोली की ओर करवट बदली थी। हिन्दी गद्य-साहित्य को दिग्भ्रम सा हुआ प्रतीत होता था, एक ओर राजा शिवप्रसाद हिन्दी गद्य को फसीह उर्दू की ओर घसीट रहे थे, और दूसरी ओर राजा लक्ष्मणसिंह ने पूर्ण परिमार्जित हिन्दी को लोक-भाषा से अधिक दूर कर दिया था। ऐसी अवस्था में लोक-भाषा की अभिव्यक्ति का कोई निश्चित माध्यम नहीं दृष्टिगत हो रहा था। भारतेन्दु ने भाषामूलक दिग्भ्रम को एक निश्चित मार्ग-प्रदर्शन किया। भारतेन्दु ने दोनों शैलियों की सीमा के बीच से एक नवीन मार्ग का निर्माण किया। यह मध्यवर्ती मार्ग युग की भाषा और साहित्य के लिये नितांत उपयोगी सिद्ध हुआ। साहित्य को मुखरित वाणी वरदान स्वरूप प्राप्त हुई, जिसके माध्यम से विभिन्न निश्चित साहित्यिक आधारों का निर्माण हो सका।

भाषा के निर्माण-कार्य तथा गद्य के रूप को निश्चित आधार देने का कार्य भारतेन्दु के ही हाथों सम्पन्न हुआ है। इन्हें हिन्दी गद्यसाहित्य का प्रथम युग-निर्माता कहा गया है। भारतेन्दु जी साहित्यिक संगठनकर्ता के रूप में साहित्य-समाज में अवतरित हुए। निर्माण-युग में भारतेन्दु द्वारा सम्पादित कार्यों का औचित्यपूर्ण विवेचन डा० जगन्नाथ शर्मा ने निम्न शब्दों में किया है।

"आधुनिक गद्य-साहित्य के प्रवर्तन और उसकी अपनी परम्परा के संगठन में जो योग उन्होंने दिया है, वह सामान्यतः अलौकिक सा दिखाई पड़ता है। दलादली से पूर्ण हिन्दी-उर्दू का जो संघर्ष उनके समय तक बढ़ता चला आया था, उसकी ओर उनका ध्यान पहिले गया और उन्होंने अपने सक्रिय प्रयोगों से हिन्दी भाषा की एक रूपरेखा स्थिर की, साहित्य की विविध रचनाओं में स्वयम् प्रयोग करके उसके स्वरूप का पूरा परिष्कार कर दिया, तत्कालीन लेखकों का जो एक मंडल साहित्य सृजन में संलग्न था, वह हरिश्चन्द्र को आदर्श मानता है।"[1]

वस्तुतः यह कहना अत्युक्ति न होगी कि भारतेन्दु का साहित्य जगत को प्रथम देन के रूप में भाषा का निर्माण तथा गद्य शैली का परिमार्जन तथा परिष्कृत रूप प्रस्तुत करना है। जिसके आधार पर युग के प्रौढ़ निबन्धों की रचना सम्भव हो सकी। गद्य निर्माण तथा निबन्ध-रचना के साथ ही हिन्दी आलोचना का उदय हुआ।

१— हिन्दी गद्य साहित्य के युग निर्माता—डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा

समय-समय पर कवि-वचन सुधा तथा हरिश्चन्द्र चन्द्रिका में भारतेन्दु जी द्वारा प्रस्तुत समकालीन साहित्यकारों की रचनाओं की संक्षिप्त आलोचनायें टिप्पणियों के रूप में प्रकाशित की जाती थीं।

भारतेन्दु के निबन्धों का महत्व उनके काव्य अथवा नाटकों से कम नहीं है। उनकी रुचि, उनके विचार और उनके व्यक्तित्व के अध्ययन में ये निबन्ध विशेष रूप से सहायक होते हैं। इनमें काव्य की अति-रंजना की न्यूनता है, और यथार्थ के अति निकट दृष्टिगत होते हैं, लेखक को बन्धन-विहीन निबन्धों में भाव प्रकाशन, विचाराभिव्यक्ति और मन की तरंगों में बहने का पूरा-पूरा अवकाश मिलता है। ये निबन्ध उस युग की सर्वतोमुखी उन्नति और जन-जागृति के संवाहक थे। हिन्दी गद्य भी इन्हीं निबन्धों के द्वारा परिमार्जित और पुष्ट हुआ और उसमें भाव-वहन की क्षमता आई। इस प्रकार इन निबन्धों का भाषा-शैली के विकास की दृष्टि से भी अपना महत्वपूर्ण स्थान है। इन निबन्धों की विविधता और अनेक रूपता उनकी बहुमुखी प्रतिभा के अनुरूप ही है। इसी प्रकार उनके लिखने का प्रयोजन भी अनेक रूपात्मक है। कुछ निबन्ध उपादेयता को दृष्टि में रखकर लिखे गए हैं, कुछ ज्ञान-वर्धन और शिक्षा के लिए और कुछ शुद्ध अनुरञ्जन के लिए। इसके अतिरिक्त कुछ में धर्म, समाज और राजनीति की आलोचना तथा उन पर व्यंग्य दृष्टि है।

इन निबन्धों का वर्गीकरण कई दृष्टि से किया जा सकता है। वस्तु विषय की दृष्टि से ऐतिहासिक, गवेषणात्मक, चारित्रिक, धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक, यात्रा सम्बन्धी, प्रकृति सम्बन्धी, व्यंग्य तथा हास्य एवं आत्म-कथा प्रधान निबन्धों की कोटि में रखा जा सकता है। कथन की शैली तथा निरूपण की दृष्टि से इन्हीं निबन्धों को हम तथ्यातथ्य निरूपक, सूचनात्मक या शिक्षा-प्रद, वर्णनात्मक तथा कल्पना-तथ्य से पूर्ण कह सकते हैं। भाषा और शैली की दृष्टि से ये निबन्ध भारतेन्दु की प्रांजल शैली, अलंकारिक शैली, प्रदर्शन शैली, प्रवाह शैली तथा वार्तालाप शैली के द्योतक या दर्शक कहे जा सकते हैं। अधिकांश निबन्ध पत्र-पत्रिकाओं के लिए लिखे गए थे। समय की गति तथा सामयिक परिस्थिति और उद्देश्य का इन निबन्धों के वस्तु-चयन और शैली-निरूपण में बहुत बड़ा सहयोग है। उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर निबन्धों का विवेचन प्रस्तुत किया जा सकता है।

भारतेन्दु के ऐतिहासिक निबन्ध इतिहास-समुच्चय के नाम से खड्गविलास प्रेस से प्रकाशित हुये थे। जिनमें काश्मीर-कुसुम, उदयपुरोदय, बादशाह दर्पण, महाराष्ट्र का इतिहास, बूँदी का राजवंश, कालचक्र आदि लेख प्रमुख हैं। पुरावृत्त-संग्रह में भी प्रशस्ति, पुराने शिलालेख आदि की ऐतिहासिक सामग्री का विवेचन किया गया है। वास्तव में ये इतिहास-ग्रंथ न होकर इतिहास के ढाँचे हैं, जिनमें उनकी स्थूल रूपरेखा मात्र दी गई है।

ऐतिहासिक निबन्धों के साथ ही जीवन-चरित्र सम्बन्धी लेखों का संक्षिप्त विवेचन समीचीन होगा। क्योंकि दोनों के मूल में एक ही प्रकार की भावना काम कर रही है। चरितावली, पंचपवित्रात्मा में कुछ विशिष्ट व्यक्तियों के जीवन-चरित संग्रहीत हैं। इनके लेखन में भी उन्नीसवीं शती की व्यक्तिवादी भावना काम करती है। निबन्ध चरित प्रधान न होकर घटना प्रधान है, इन जीवन वृत्तों में सुनी-सुनाई बातों और घटनाओं का वर्णन अधिकता से प्राप्त होता है। और हृदय की वृत्तियों के दिग्दर्शन का प्रयास न्यूनता से दृष्टिगत होता है। जीवनियों के चयन का आधार उनका असाधारणत्व या असामान्यता है, चाहे वह असामान्यता आध्यात्मिक ही क्यों न हो। भारतेन्दु जी ने अपने चरित्र-नायकों का वर्णन करते हुये कहीं तो नैतिकता का पाठ पढ़ाया है, कहीं अलौकिक चमत्कार से चकित हुये हैं, और कहीं वे स्वयम् भावुक होकर संसार की क्षण-भंगुरता को दार्शनिक भावधारा में बह गये हैं। जीवन-चरित्र सम्बन्धी लेखों में पूरी-पूरी रोचकता और साहित्यिकता है। इनमें भावों की विदग्धता और मार्मिकता है। भारतेन्दु की विविध शैलियों के दर्शन इन लेखों में मिलते हैं।

भारतेन्दु के धर्म सम्बन्धी उद्‌गारों में अन्य धार्मिक सम्प्रदायों का यथेष्ट ज्ञान प्राप्त होता है। 'ईश खृष्ट और ईश कृष्ण' तथा हिन्दी कुरान शरीफ, उक्त भावनाओं का परिचय देते हैं। आर्य-सामाज तथा थियसोफिस्ट आन्दोलन और उनके प्रवर्तकों के संपर्क में आकर वे तत्कालीन धार्मिक आन्दोलनों से पूर्णतः अवगत हो गये थे। उनमें भाव-स्वातंत्र और धार्मिक उदारता दोनों ही गुण विद्यमान थे, परन्तु उपासना-पद्धति, रीति-नियम और परम्परा का पूरा-पूरा पालन करते थे। रूढ़िवादी परम्परा तथा अंधानुकरण के प्रबल विरोधी थे। "वैष्णवता और भारतवर्ष" शीर्षक निबन्ध में उनकी उपर्युक्त विचारधारा का सुन्दर निदर्शन मिलता है।

भारतेन्दु के शिक्षात्मक निबन्धों का उल्लेख करना अनुपयुक्त न होगा। संगीतसार, बलिया का व्याख्यान (भारत वर्ष की उन्नति कैसे हो सकती है), उत्सवावली, आदि लेखों को उपादेय निबन्धों की कोटि में रखा जा सकता है। इनका प्रधान उद्देश्य शिक्षा देना और ज्ञान-वर्धन है। संगीतसार में भारतीय संगीत का पूरा निरूपण हुआ है। उत्सवावली में कृष्ण-संप्रदाय के उत्सवों की गिनती गिनाई गई है, और 'बलिया व्याख्यान' में देशोन्नति के उपायों पर विचार प्रकट किये गये हैं। लेखक की प्रकृति के अनुरूप बीच-बीच में व्यंग्य के छींटे और चुटकुले हैं, जो व्याख्यान में रोचकता प्रस्तुत करते हैं।

भारतेन्दु के साहित्यिक कोटि में आने वाले निबन्ध पर्याप्त संख्या में मिलते हैं, इनमें वस्तु विषय, वर्णन तथा भाषा शैली की विविधता तथा अनेक रूपता

मिलती है। एक ही लेख में कई प्रकार के वर्णन और भाषा-शैली की छटा दिखाई पड़ती है। भारतेन्दु की विदग्धता, मार्मिकता, सजीवता और क्षमता का परिचय इन्हीं से मिलता है।

उन्हें जीवनकाल में कई यात्राओं का अवसर प्राप्त हुआ, उक्त यात्राओं का उन्होंने बड़ा ही सजीव वर्णन किया है। निबन्धों में अधिकांश वर्णनात्मक शैली है। हरिद्वार शीर्षक लेख के आरम्भ में भारतेन्दु कौतूहल पूर्ण कार्यों का वर्णन बड़े ही उल्लास के साथ करते प्रतीत होते हैं।

"इसमें दो तीन वस्तु देखने योग्य हैं, एक तो शिल्प-विद्या का बड़ा कारखाना जिसमें जल चक्की, पवन चक्की और भी कई बड़े-बड़े चक्र अनवर्त, खचक्र-में सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी, मंगल आदि ग्रहों की भाँति फिरा करते हैं, और बड़ी-बड़ी धरन ऐसी सहज में चिर जाती हैं कि देखकर आश्चर्य होता है। वहाँ सबसे बड़ा आश्चर्य श्री गंगाजी की नहर है। पुल के ऊपर से तो नहर बहती है, और नीचे नदी बहती है। यह एक बड़े आश्चर्य का स्थान है"[१]

लेखों में स्थिर शैली नहीं दृष्टिगोचर होती, कहीं वर्णनात्मक शैली का प्रयोग मिलता है, और उसी निबन्ध में निबन्धकार भावुकता में भी बह जाता है। इसी प्रकार उपर्युक्त निबन्ध में वे धार्मिक भावुकता में भी बह गये हैं।

"मेरा तो चित्त वहाँ जाते ही ऐसा प्रसन्न और निर्मल हुआ कि वर्णन के बाहर है, यह ऐसी पुण्यभूमि है कि यहाँ को घास भी ऐसी सुगंधमय है। निदान यहाँ जो कुछ है, अपूर्व है, और यह भूमि साक्षात् विरागमय साधुओं और विरक्तों के सेवन योग्य है, और सम्पादक महाशय मैं चित्त से तो अब तक वहीं निवास करता हूँ, और अपने वर्णन द्वारा आपके पाठकों को इस पुण्यभूमि का वृत्तान्त विदित करके मौनावलम्बन करता हूँ।"[२]

निबन्धों की भाषा में हास्य और व्यंग्य के पुट की सजीवता है, बीच बीच में धार्मिक चुटकुलों का समावेश भारतेन्दु की शैली की विशेषता है। अपनी यात्रा का वर्णन करते हुये ट्रेन के कष्ट तथा अंग्रेजों के अन्धेर का व्यंग्यात्मक वर्णन करते हैं।

"गाड़ी भी टूटी फूटी जैसे हिन्दुओं की किस्मत और हिम्मत......अब तो तपस्या करके गोरी गोरी कोख से जन्म लें तब संसार में सुख मिलेगा।"[३]

व्यंग्य-विनोद की छटा अधिकांश गद्य निबन्धों में मिलती है, परन्तु कुछ निबंधों में हास्य काल नियोजन मुख्य है। हास्य के विषय विभिन्न दृष्टिकोण से उपस्थित किये हैं। इन हास्य प्रधान लेखों का उद्देश्य शुद्ध हास्य का सर्जन, आलोचना, आक्षेप,

---

१—कवि बचनसुधा, ३० अप्रैल सन् १८७१ (खंड ३ नंबर २१) पृष्ठ १०।
२—कविवचनसुधा, १४ अक्टूबर, सन् १८७१, ख० ,३,४ पृष्ठ ३५।
३—हरिश्चन्द्र चंदिका, खंड ७, सं० ४ अषाढ़ शु० १, सं९१९३७।

व्यंग्य परिहास सभी कुछ है। व्यक्ति, समाज, राजनीति, सभी व्यंग्य के विषय बनाये गये हैं। भारतेन्दु में शुद्ध हास्य अपेक्षाकृत कम है, और उनका व्यंग्य बड़ा मार्मिक और प्रायः बड़ा कटु होता है। उनके इस प्रकार के लेखों में स्वर्ग में विचार-सभा का अधिवेशन, ज्ञाति विवेकिनी-सभा, लेवी प्राण लेवी, पाँचवें पैगम्बर, कंकड़-स्तोत्र, अंगरेज स्तोत्र, आदि मुख्य हैं। इसमें कंकड़ स्तोत्र शुद्ध हास्य सृजन करने वाला है। विशुद्ध हास्य की व्यजंना भारतेन्दु जी की कंकड-स्तुति में अतीव मनोरंजक है।

"कंकड़ देव को प्रणाम है, देव नहीं महादेव, क्योंकि काशी के कंकड़ शिव-शंकर समान हैं।

हे लीलाकारिन ! आप केशी, शकट, वृषभ, खरादि के नाशक हौ, इससे मानों पूर्वार्द्ध की कथा हौ अतएव व्यासों की जीविका हौ।

आप बानप्रस्थ हौ, क्योंकि जंगलों में लुढ़कते हौ, ब्रह्मचारी हौ, क्योंकि बटु हौ, गृहस्थ हौ चूना रूप से, सन्यासी हौ क्योंकि घुट्टमघुट्ट हौ। आप अंग्रेजी राज्य में गणेश चतुर्थी की रात को स्वच्छन्द रूप से नगर में भड़ाभड़ लोगों के सिर पर पड़ कर रुधिर धारा से नियम और शांति का अस्तित्व बहा देते हौ, अतएव अंग्रेजी राज्य में नवाबी स्थापक तुमको नमस्कार है।"[1]

स्वर्ग में विचार-सभा का अधिवेशन भी इस प्रकार का कल्पनात्मक लेख है। इसमें भी हास्य प्रधान है, और व्यंग्य दबा हुआ बड़ा सूक्ष्म तथा संकेतात्मक है। केशवचन्द्र और स्वामी दयानन्द के स्वर्ग जाने से बड़ा आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। दोनों के प्रति व्यक्त विचारों का सुन्दर सामंजस्य अति आकर्षक है।

"स्वर्ग में कंज़रवेटिव और लिबरल दो दल हैं, जो पुराने जमाने के ऋषी-मुनी यज्ञ कर-करके या कर्म में पच-पचकर स्वर्ग गये हैं, उनकी आत्मा का दल कंजरवेटिव है, और जो अपनी आत्मा ही की उन्नति से या अन्य किसी सार्वजनिक भाव से उच्चभाव सम्पादन करने स्वर्ग में गये हैं, ये लिबरल दल भक्त हैं। बिचारे बूढ़े व्यासदेव को दोनों दल के लोग पकड़ पकड़ कर ले जाते और अपनी-अपनी सभा का चेयरमैन बनाते, और बिचारे व्यास जी भी अपने प्राचीन अव्यवस्थित स्वभाव और शील के कारण जिसकी सभा में जाते थे वैसी ही वक्तृता कर देते थे"[2]

ज्ञाति विवेकिनी सभा में सामाजिक व्यंग्य है। "लेवी प्राण लेवी" राज-नीतिक आक्षेप है, और उन रईसों पर व्यंग्य है, जो लार्ड मेयो के दरबार में आये थे। उनकी अव्यवस्था और भीरुता पर कटाक्ष है।

"लार्ड साहब को 'लेवी' समझ कर कपड़े भी सब लोग अच्छे-अच्छे पहिन-कर आये थे, पर वे सब उस गरमी से बड़े दुखदाई हो गये। जामे वाले गरमी के

1—कंकड़ स्तोत्र पृष्ठ संख्या ८—११, 2—स्वर्ग में विचार सभा का अधिवेशन

मारे जामे के बाहर हुये जाते थे, पगड़ी वालों की पगड़ी सिर की बोझ सी हो रही थी, और दुशाले और कमखाब की चपकन वालों की गरमी ने अच्छी भाँति जीत रखा था......

सब लोग उस बन्दीगृह से छूट-छूट कर अपने घर आये, रईसों के नम्बर की यह दशा थी कि आगे के पीछे, पीछे के आगे, अंधेर नगरी हो रही थी, बनारस वालों को न इस बात का ध्यान कभी रहा है, और न रहेगा, ये बिचारे तो मोम की नाव हैं चाहे जिधर फेर दो। राम पश्चिमोत्तर देशवासी कब कायरपन छोड़ेंगे, और कब उनकी उन्नति होगी।"[1]

भारतेन्दु के व्यंग्य विनोदपूर्ण लेखों में एक प्रकार की सजीवता और जिन्दादिली है। शरीर और आत्मा के सम्बन्ध की तरह उनके सभी लेखों में तरल हास्य और पैना व्यंग्य व्याप्त है।

भारतेन्दु के आत्म-चरित्र सम्बन्धी लेख का उदाहरण उनकी आत्म-कथा का अपूर्ण अंश है। निज जीवन के घटना-चक्र लिखकर आत्म-कथा लेखन का अपूर्व परिचय दिया है, यदि उनकी आत्म-कथा "एक कहानी कुछ आप बीती कुछ जग बीती" पूरी हो जाती तो हिन्दी साहित्य में आत्म-कथा को सुन्दर निदर्शन प्राप्त हो जाता। इसका प्रथम लेख ही लिखा जा सका है। इनमें भारतेन्दु ने अपने निकट के वातावरण का बड़ा ही मार्मिक चित्रण किया है। और अपनी पैनी दृष्टि और परख का परिचय दिया है। मानव प्रकृति को पहचानने में वे कितने पटु थे, और उसकी अभिव्यक्ति में कितने कुशल थे, इसका उत्कृष्ट उदाहरण है। भावों की व्यंजना का अति प्रवाहपूर्ण वर्णन भारतेन्दु जी के निम्न कथन में है।

"सं० १६३० में जब मैं तेंईस वर्ष का था, एक दिन खिड़की पर बैठा था, वसन्त ऋतु, हवा ठंडी चलती थी। साँझ फूली हुई, आकाश में एक ओर चन्द्रमा दूसरी ओर सूर्य पर दोनों लाल, लाल अजब समां बँधा हुआ। कसेरू, गँडेरी और फूल बेचने वाले सड़क पर पुकार रहे थे। मैं भी जवानी के उमंगों में चूर, जमाने के ऊँच-नीच से बेखबर, अपनी रसकाई के नशे में मस्त, दुनिया के मुफ्तखोरे सिफारशियों से घिरा हुआ अपनी तारीफ सुन रहा था। पर इस छोटी अवस्था में भी प्रेम को भली-भाँति पहचानता था। यह तो दीवानखाने का हाल हुआ। अब सीढ़ी का तमाशा देखिये। हाय रुपया सबकी जबान पर, कोई रण्डी के भड़ुये से लड़ता है, रुपये में दो आना न दोगे तो सरकार से ऐसी बुराई करेंगे कि फिर बीबी का इस दरबार में दर्शन भी दुर्लभ हो जायगा। कोई बजाज से कहता है कि वह काली बनात हमें न ओढ़ाओगे तो बरसों पड़े झूलोगे रुपये के नाम खाक भी न मिलेगी।

१—कवि वचनसुधा, खंड, २ नं० ५ कार्तिक शुक्ल १५ सं० १६२७

कोई दलाल से अलग सट्टा बट्टा लगा रहा है, कोई इस बात में चूर है कि मालिक का हमसे बढ़कर कोई भेदी नहीं।"[१]

भारतेन्दु के जीवन का उक्त अधूरा पृष्ठ न जाने कितने रहस्यों का उद्घाटन करता प्रतीत होता है, उनके व्यक्तित्व, उनके अंतरंग जीवन और उनके चारों ओर के वातावरण की जो झाँकी इतने सहज और अकृत्रिम शब्दों में निरूपित की गई है, अन्य समसामयिक गद्यकारों में कम दृष्टिगत होती है। भाव और भाषा दोनों ही की दृष्टि से उत्कृष्ट प्रयास प्रतीत होता है।

विचारात्मक लेखों की भाषा का कलेवर सामान्य निबन्धों से भिन्न सा दृष्टिगत होता है। विचारात्मक निबन्धों में मनो-विश्लेषण का उत्कृष्ट रूप खुशी शीर्षक निबन्ध में है।

उर्दू भाषा के शब्दों का उपयुक्त चयन तथा गत्यात्मक प्रवाह का सुन्दर समाहार खुशी शीर्षक लेख में है। भाषा और भाव के परिचय के लिये छोटा सा उद्धरण देना उपयुक्त होगा।

"हर दिल ख्वाह आसूदगी को खुशी कह सकते हैं, याने जो हमारे दिल की ख्वाहिश हो वह कोशिश करने से या इत्तिफाकिया बगैर कोशिश किये बर आवे तो हमको खुशी हासिल होती है...।

अब हम इस बात पर गौर किया चाहते हैं कि वह असली खुशी हिन्दुओं को क्यों नहीं हासिल होती, क्योंकि जब हम इसी खुशी के अपनी पूरी बलन्दी की हद पर सूरत से कामिल देखना चाहते तो हमेशा गैर कौमों में पाते हैं।"[२]

भारतेन्दु के निबन्धों के भेद, स्वरूप और उनके भावपक्ष का विवेचन करने के बाद उनके निरूपण के ढंग और उनकी भाषा-शैली का संक्षिप्त पर्यालोचन भी आवश्यक है। पूर्व ही कहा जा चुका है कि निरूपण के ढंग के अनुसार उनके निबन्धों की तथ्यातथ्य निरूपक, शिक्षात्मक, विचारात्मक, वर्णनात्मक तथा कल्पनात्मक कोटियाँ बनाई जा सकती हैं। निरूपण के ढंग का निबन्धों की भाषा-शैली पर भी प्रभाव पड़ा है। तथ्यातथ्य निरूपक, शिक्षात्मक तथा उपादेय लेखों की भाषा-शैली में लेखक का ध्यान वस्तु-विषय के स्पष्टीकरण और प्रतिपादन की ओर अधिक है, और वाणी की वक्रता या वाणी के विलास की ओर कम है। इसी से भारतेन्दु के गवेषणात्मक लेखों में भाषा संस्कृत या तत्सम पदावली से समन्वित तो अवश्य है, किन्तु उसमें अतिरंजना या अलंकरण नहीं है। उक्त लेखों में हम भारतेन्दु की प्रांजल या प्रसादपूर्ण शैली पाते हैं। इतने अलंकरण या अतिरंजना अथवा

(एक कहानी, आपबीती, जगबीती-कविवचन सुधा, भा०, सं० २१ बैसाख कृष्ण ४ संवत १९३३ वि०)

१—खुशी-खड्गविलास प्रेस, बाँकीपुर, पटना।

भाषा की मार्मिकता उन्हीं स्थालों पर देखने को मिलती है, जहाँ कलाकार किसी प्रबल भाव से आक्रांत होकर भावुक बन जाता है।

भारतेन्दु की अनुपम साहित्यिक देन उनके पत्र तथा पत्रिकायें थीं। हिन्दी में सर्व प्रथम राजा शिवप्रसाद के संरक्षण में सन् १८४५ ई० में 'बनारस गजट' निकला, उर्दू और हिन्दी मिश्रित भाषा का बेजोड़ मेल जिसमें उर्दू का आधिक्य था, अपनी नीति के कारण लोक-प्रिय न हो सका। तदन्तर श्री तारामोहन मित्र द्वारा 'सुधाकर' का सन् १८५० में संचालन किया गया जो दीर्घजीवी न रह सका। भारतेन्दु जी ने भाद्रपद सं० १९२४ वि० में 'कविवचन-सुधा' नामक मासिक पत्र का संचालन कर हिन्दी को सानुप्राणित किया। यह पत्रिका भारतेन्दु की हिन्दी पत्रकारिता का प्रथम प्रयास था। प्रारम्भिक अवस्था में इसका कलेवर अति क्षीण था और इसका उद्देश्य केवल प्राचीन अप्रकाशित काव्य-कृतियों को जनता तक पहुँचाने में ही सीमित था। फिर इसमें राजनीतिक, सामाजिक लेखों के साथ समाचार भी प्रकाशित होने लगे। स्थानीय सामाचार उत्साह के साथ प्रकाशित किये जाते थे, तथा टिप्पणियों तथा लेखों द्वारा अधिकारियों का ध्यान आकृष्ट किया जाता था। सम्पादकीय टिप्पणियाँ कभी-कभी अंग्रेजी में दी जाती थीं, तथा गजेट से जनता के लाभार्थ सूचना उद्धृत की जाती थी। "पंच का प्रपंच" नाम से हास्य-प्रधान लेख प्रकाशित होने लगे थे। कालान्तर में इसे साप्ताहिक कर दिया गया। सरकारी शिक्षा-विभाग भी इसे समान आदर देता था, यथाशक्ति प्रतियाँ क्रय करता था। सरकारी कोप के कारण तथा अव्यवस्था के कारण इसे बन्द कर देना पड़ा।

कवि-वचन-सुधा के साप्ताहिक हो जाने से अन्य मासिक पत्रिकाओं का प्रकाशन भारतेन्दु जी ने कराया, हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका तथा मैगजीन के नाम से उनके काल तक चलती रहीं। हरिश्चन्द्र मैगजीन १८७२ ई० के अक्टूबर माह में प्रकाशित की गई। इसके सम्पादक स्वयं भारतेन्दु जी थे। उनका विचार इसमें साहित्यिक, वैज्ञानिक, राजनीतिक और धार्मिक विषयों पर तथा पुरातत्व सम्बन्धी लेख एवं ग्रन्थ-समीक्षा, नाटक, इतिहास, उपन्यास, काव्यचयन तथा गोष्ठी और विनोद वार्ता छापने का था। इसी उद्देश्य के अनुसार भारतेन्दु जी इसमें लेखों का संग्रह करते थे, और इसमें उन्हें सफलता भी प्राप्त हुई। इस मैगजीन के आठ अंक प्रकाशितहुये, बाद में यही 'हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका' के नाम से प्रकाशित होने लगी। इसमें कुछ पृष्ठ अंग्रेजी भाषा के लिये भी होते थे। अंग्रेजी माध्यम में सुन्दर लेखों की रचना प्रचारार्थ ही प्रस्तुत होती थी। छः वर्षों तक छपने के बाद यह पत्रिका मोहन-चन्द्रिका के नाम से छपना आरम्भ हुई, परन्तु पं० मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या उक्त कार्य में सफल न हो सके। उन्हें पत्र बन्द कर देना पड़ा तदन्तर

भारतेन्दु जी ने नवोदिता हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका के नाम से इसे पुनः निकाला परन्तु दो अङ्क प्रकाशित होने के बाद स्वयं स्वर्गवासी हो गये।

भारतेन्दु जी स्त्री-समाज का उत्थान चाहते थे, सन् १८७४ ई० के जनवरी मास में उन्होंने महिलोपयोगी एक पत्रिका 'बाला-बोधिनी" नाम से निकालना प्रारम्भ किया। हिन्दी साहित्य में पत्रों का अभाव देखकर 'कविवचन-सुधा' हरिश्चंद्र-मैगजीन, हरिश्चन्द्र चन्द्रिका, नवोदिता हरिश्चन्द्र चन्द्रिका और बाला-बोधिनी पत्रिकायें क्रमशः प्रकाशित की थीं। ये चारों एक ही परम्परा की हैं, जो बीच-बीच में बन्द होकर फिर प्रकाशित होती थीं। हिन्दी भाषा की जो स्थिति थी, उसका ध्यान रखते हुये कहा जा सकता है कि भारतेन्दु जी द्वारा प्रकाशित पत्र-पत्रिकायें उत्तम कोटि की थीं। हिन्दी भाषा के प्रचार के साथ ही उन्होंने बहुत से लेखकों को प्रोत्साहित किया, तथा हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं की एक परम्परा भी स्थापित कर गये।

हिन्दी काव्य के पुनरुत्थान का सारा श्रेय भारतेन्दु बाबू को है। भारतेन्दु जी की लेखनी के प्रभाव से कविता जनता की वाणी बनी, रीतिकालीन काव्य-साहित्य जीवन से दूर एकांगी वातावरण लिये हुये प्रतीत होता था। जीवन और साहित्य का सम्बन्ध शिथिल हो गया था। युग-प्रवर्तक की काव्यधारा ने समाज और साहित्य के मध्य गाँठ बाँध कर उनके सम्बन्ध को चिरस्थायी बनाया। भारतेन्दु की कविता में देशवासियों की समस्या, उनके विचार तथा उनकी भावना की पूर्ण अभिव्यक्ति हुई है। काव्य में प्रेम प्रगीतों के साथ-साथ जनता की सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक मनोदृष्टि एवं परिस्थिति की झलक दृष्टिगत होती है।

सामाजिक आन्दोलनों से यद्यपि जनता की चेतना जागृत हो गई थी, तथापि भारतेन्दु के पूर्व काव्य रीतिकालीन परम्परा का ही अनुसरण कर रहा था। काव्य-क्षेत्र में तब तक रीतिकाल के ऐकांतिक आदर्श की ही प्रतिष्ठा थी। शिक्षा ने देश-वासियों के विचारों को उदारता का वरदान दे दिया था, परन्तु साहित्य-क्षेत्र में अब तक रूढ़िवादिता की छाप थी। उस समय ऐसे प्रतिभाशाली और दृढ़ व्यक्तित्व की आवश्यकता थी, जो साहित्य में नव-जीवन का संचार कर सकता। युगान्तकारी राष्ट्र-कवि भारतेन्दु में ऐसी ही प्रतिभा के दर्शन हुये। अपनी उदार तथा सहानुभूति-पूर्ण विचारधारा के बल पर हिन्दी साहित्य को समृद्धिशाली बनाया। अपनी प्रतिभा द्वारा एक ओर तो परम्परा से चली आती हुई पुरानी कविता को अर्थहीन रूढ़ियों से मुक्त किया, और दूसरी ओर समयानुकूल नवीन काव्य-पद्धति की स्थापना की। काव्य का वर्ण्य-विषय ही बदलता दृष्टिगत होने लगा। जीवन से प्रेरणा और स्फूर्ति प्राप्त कर भारतेन्दु ने साहित्य में नव-जीवन का संचार किया। काव्य ने नवीन कलेवर बदला, और सम्पूर्ण युग के काव्य-साहित्य का पट परिवर्तन हो गया।

विषय की विविधता के साथ-साथ काव्यकला के विधान में भी भारतेन्दु को परिवर्तन करना पड़ा। अब तक कविता का संविधान मुक्तक या प्रबन्ध में होता था, और उसके प्रयोगों में शब्दों के साथ क्रीड़ा और शृंगार को साधारणतः अपेक्षित माना जाता था। भारतेन्दु ने इन विषयों के प्रतिपादन के लिए छोटे-छोटे पद्यात्मक निबन्धों की आवश्यकता का अनुभव किया, और विचारों की अभिव्यक्ति के लिए भाषा की सरल गति ही अपेक्षित माना। खड़ी बोली तथा ब्रजभाषा दोनों को ही अपने भावों का माध्यम बनाया, उसमें नैसर्गिकता और प्रभावोत्पादन की शक्ति प्राप्त होती है ।

अभिव्यंजना की दृष्टि से भारतेन्दु के जन-गीतों का उनके काव्य में विशिष्ट स्थान है। निर्गुण तथा सगुण भक्ति के गीतों के अतिरिक्त उन्होंने तत्कालीन समस्याओं पर कितनी ही अभिव्यञ्जक काव्य रचनायें प्रकाशित की हैं। उनके भावों में बड़ा प्रबल प्रवाह है। राष्ट्र-गीतों में विषाद और उद्बोधन के स्वर मिलते हैं, सामाजिक गीतों में अतीत के गौरव और वर्तमान की दुरवस्था का मान-चित्र खींचा गया है। प्रकृति-चित्रण का स्वतन्त्र रूप तथा वाह्यप्रकृति का अन्तःप्रकृति का तादात्म्य दिखाई देता है।

विषय की विविधता, काव्यकला के विधान में नवीनता और अभिव्यञ्जना की स्वच्छन्दता के साथ-साथ भारतेन्दु की कला में प्राचीनता के प्रति आसक्ति का भाव भी दृष्टिगोचर होता है। वह संधि-युग के कलाकार थे। उनके पास जहाँ एक राष्ट्रीय कवि की जाग्रति और एक लोक-गीतकार की सी चेतना थी, वहाँ एक भक्ति कवि की तन्मयता और अनन्यता तथा एक रीति कवि की रसिकता और रसज्ञता भी थी। उनकी राष्ट्रीयता यदि युग-धर्म की विभूति थी, तो वैष्णव भक्ति-प्रधान विचारधारा पैतृक सम्पत्ति और शृंगार भावना काव्य परम्परा की देन थी। भारतेन्दु ने हिन्दी कविता के प्राचीन उपादानों को स्वीकार किया, यह उनकी विशेषता थी कि वह नवीन उद्भावनाओं की भी सृष्टि कर सके। भक्ति और शृङ्गार की कविता के लिए उन्होंने कवित्त, सवैये, छप्पय, दोहे आदि छन्दों को अपनाया, और आधुनिक विचारों के लिये काव्य प्रसंग की पृष्ठ-भूमि रोला, लावनी, ख्याल, कजरी आदि ही रहे। उर्दू के बहार और बंगला के पयार छंद का भी हिन्दी में प्रयोग किया।

भारतेन्दु की भक्ति में निर्गुण-सगुण कवियों की तरह अपने उपास्य के प्रति आत्म-निवेदन के भाव यत्र-तत्र दिखाई देते हैं। तुलसी की भाँति अपने प्रभु के चरणों में अविचल श्रद्धा प्रकट करता कलाकार दिखाई देता है, तो सूर की भाँति कभी-कभी वह उसके साथ गहन आत्मीयता का बोध भी कर लेता है। रसखान की सी तन्मयता भी उसके भावों में परिलक्षित होती है। मीरा की सी प्रेम-विभोरता के भावों का सामञ्जस्य युग-पुरुष कलाकार के काव्य में दृष्टिगोचर होता है। कबीर के

समान निर्गुण भक्तिमार्गीय उद्‌गारों का विचार-विनिमय तथा जीवन और जगत की क्षण भंगुरता के भावों का समाहार अत्यन्त मार्मिक है।

भारतेन्दु जी की शृङ्गारिक कविता में रीतिकालीन काव्य के रागात्मक उपकरण मिलते हैं। नायक-नायिका की शृङ्गार-चेष्टायें, उनकी नखशिख छवि का मदिर आकर्षण, प्रकृति का आलंकारिक वर्णन, छन्दों और अलंकारों के साथ क्रीड़ा तथा राधिका-कन्हाई सुमिरन के बहाने प्रेमलीला की मृदुल व्यञ्जना व्रज के झुरमुट में काव्य-कानन सजाती दृष्टिगत होती है। इनकी रचनाओं में शब्द-विलास और भाव-विलास की अनुपम छटा है। परन्तु भावानुभूति में अन्तरतम के मार्मिक भाव सुन्दर अभिव्यञ्जना में व्यक्त करने की क्षमता कलाकार का काव्य-गुण है। उदाहरणार्थ छन्दों में भावानुभूति की मार्मिकता और तीव्रता की उत्कृष्ट अभिव्यक्ति व्यञ्जित है।

नहिं नेक दया उर आवत क्यों,
करिकै कहा ऐसे सुभाय रहे।
सुख कौन सों प्यारे दियो पहिले,
जेहिके बदले यों सताय रहे ॥[1]

× × ×

इन नैनन में वह सांवरी मूरति,
देखति आनि अरी सो अरी।
अब तो है निवाहिबो याको भलो,
हरिचन्द जू प्रीति करी सों करी ॥[2]

उपर्युक्त पंक्तियों में घनानन्द की सी भाव-प्रवणता तथा भाषा-शैली दोनों का सामञ्जस्य दिखाई देता है।

भारतेन्दु में शृङ्गार के रीतिकालीन प्रभाव से अलग भी स्वरूप दृष्टिगत होता है, नवीन युग में उर्दू की नाजुक खयाली से प्रभावित पारसीक रंगमंचीय गीतों की पद्धति का भी अनुसरण करता हुआ कलाकार दृष्टिगत होता है। उर्दू साहित्य की भावधारा की प्रगल्भता इनके साहित्य में यत्र-तत्र दृष्टिगत होती है।

रीतिकाल के कवियों को अलंकारों से विशेष मोह था। भारतेन्दु में यद्यपि अलंकारों के प्रति विशेष आसक्ति तो नहीं थी, परन्तु-चमत्कार प्रदर्शन के प्रयोजन से उनका ध्यान इस ओर भी आकृष्ट हुआ। काव्य को अनुप्रासों की छटा से सजाने का प्रयास भारतेन्दु जी ने भी किया है। रीति परम्परा की भाँति प्रकृति की अनन्त चेतना के सम्पर्क में मानवीय अनुभूतियों की क्रियाओं और प्रक्रियाओं की ओर

१—चन्द्रावली नाटिका

२—भारतेन्दु ग्रंथावली, भाग २

उनका ध्यान कम गया है। परन्तु भारतेन्दु जी की आलंकारिकता में अन्य रीतिकालीन साहित्यकारों की कला से भिन्नता है। भारतेन्दु के काव्य में शब्द-चित्रण की प्रचुरता पाई जाती है। चित्रोपमता उनकी काव्य-कला की अनुपम देन है। उत्प्रेक्षा के ही सहारे कलाकार अपने वर्ण्य विषय को आकार दिया करता है। भारतेन्दु ने अलंकारों का बड़ा मार्मिक प्रयोग किया है। परन्तु जहाँ वे शब्द-क्रीड़ा और चमत्कार प्रदर्शन पर उतर आये हैं, वहाँ अभिव्यञ्जना में भाव या शब्द-चित्र के स्थान पर वाक्-विदग्धता ही मिलती है। काव्य के क्षेत्र में कलाकार ने सर्वतोमुखी प्रतिभा का परिचय दिया है, भारतेन्दु के काव्य में युग साहित्य के नेतृत्व की प्रतिभा समाहित है। जिसने संधियुग कालीन काव्य को नवीन काव्य-धारा की ओर बढ़ने के लिए प्रोत्साहित किया।

भारतेन्दु का नाट्य साहित्य युगसन्धि काल का प्रकाश-स्तम्भ है। उनके पहिले हिन्दी का नाटक-साहित्य प्रायः नगण्य था। मौलिक नाटकों में रीवां नरेश महाराज विश्वनाथसिंह का 'आनन्द रघुनन्दन' और गिरधरदास जी का 'नहुष', अनुवादों में जसवन्तसिंह का 'प्रबोध चन्द्रोदय' एवं राजा लक्ष्मणसिंह जी का 'शकुन्तला' प्रमुख थे। शेष नाट्य-साहित्य अधिकतर नाटकीय कविता के रूप में आख्यान मात्र था। अतएव स्पष्ट है कि भारतेन्दु के सामने नाट्य-साहित्य संबंधी कोई आदर्श उनकी भाषा में प्रस्तुत नहीं था। जो कुछ नाट्य स्वरूप उपलब्ध था उसे प्रगति तथा प्रांजल गद्य का स्वरूप देना नितांत आवश्यक है, नाट्यसाहित्य को भारतेन्दु ने नवीन पथ-प्रदर्शन किया।

भारतेन्दु को नाट्य-साहित्य के बीहड़ बन में स्वयं अपना मार्ग प्रशस्त करना पड़ा। यह कार्य भारतेन्दु ने अनुवादों से रूपान्तरित नाटकों की रचना द्वारा तथा मौलिक नाटक लिखकर सम्पन्न किया। यदि विश्लेषण करके देखा जाय तो ज्ञात होगा कि भारतेन्दु ने छः मौलिक नाटक लिखे हैं। प्रेम-योगिनी (१८७५), चन्द्रावली (१८७६), भारत जननी (१८७७) भारत दुर्दशा (१८८०), नीलदेवी (१८८१), और सतीप्रताप (१८८३)। यदि जीवन का यथार्थ चित्रण नाटक में कुछ महत्व रखता है, तो वह इन नाटकों में वर्तमान है। प्रेमयोगिनी का विषय काशी की जीवनचर्या का एक रूप है। काशी के पण्डे, दलाल और दक्षिणी ब्राह्मण किस प्रकार अपने मन्तव्य को स्पष्ट कर कार्य कुशलता का परिचय देते हैं। यह सब जीते जागते चित्र प्रेमयोगिनी में हैं। यद्यपि यह अपूर्ण नाटिका है, परन्तु घटना-समन्वय और सजीवता की दृष्टि से किसी भाषा के नाटक से टक्कर ले सकती है। हिन्दी नाटकों में यथार्थवाद का उदय प्रेमयोगिनी से प्रारम्भ कहा जा सकता है। प्रेमयोगिनी, कार्य व्यापार की तीव्रता, कथोपकथन की सफलता और हिन्दी गद्य

की क्षमता का स्वतः प्रमाण है। चार दृश्यों का यह नाटक भारतेन्दु की नाट्यकला का सफल प्रमाण के रूप में प्रस्तुत है। भारत-दुर्दशा में भारतेन्दु ने राजनीतिक वातावरण को नाटकीय रूप देने का सफल प्रयास किया है। इसमें यथार्थ परिस्थिति का वर्णन है, कारणों की ओर संकेत है, और वर्तमान अवस्था पर व्यंग्य भी है तथा उसके द्वारा राष्ट्रीय चेतना की प्रेरणा भी प्राप्त होती है। इस नाटक की भाषा और शैली प्रतीकवादी नाट्य-परम्परा की ओर इङ्गित करती चलती है। भारत, भारत-दुर्दैव, सत्यानाश, निर्लज्जता, मदिरा, अन्धकार, रोग, आदि पात्रों के मानवीयकरण से नाटक प्रभावशाली और रुचिकर बन गया है। 'नीलदेवी' एक वियोगान्त नाटक है। यद्यपि भारतेन्दु सुखान्त और दुखान्त के पद की व्याख्या स्पष्ट रूप से नहीं कर पाये हैं, परन्तु शेक्सपियर युग की जो भावना सुखान्त तथा दुखान्त विषयक है, उसी भावना का समावेश इनकी कृतियों में मिलता है। नाट्य-कला की दृष्टि से नीलदेवी सामान्यतः अच्छी कृति है, तथा अपने सन्देश-वाहक उद्देश्य में सफल जान पड़ती है। अपनी अन्य मौलिक रचनाओं-प्रहसनों में भी भारतेन्दु जी को आशातीत सफलता मिली है। सफल व्यंग्यों की दृष्टि से अन्धेर नगरी तथा वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति सफल प्रहसन हैं। प्रहसन की परम्परा की स्थापना भारतेन्दु जी के ही नाट्य-प्रहसनों से मानी जानी चाहिये। भारतेन्दु के प्रहसन अपने युग के उच्चकोटि के प्रहसन हैं, युग के प्रहसनों को तुलनात्मक दृष्टि से विचार किया जाय तो उक्त प्रहसन अपने युग की सर्व-श्रेष्ठ नाट्य-कृतियों के रूप में प्रस्तुत हैं, भारतेन्दु द्वारा ही प्रहसन-प्रणाली का प्रवर्तन किया गया, और वह भारतेन्दु युग की वस्तु बनकर रह गई, आगे उक्त प्रणाली का विकास नहीं हो सका।

अपने नाटकों और प्रहसनों में भारतेन्दु ने प्राचीन नाट्यकला के सिद्धान्तों को पूर्ण रूपेण नहीं अपनाया। कथा और कथावस्तु की दृष्टि से उनकी रचनाओं में सामान्य कथानक हैं, अब तक नाटकों में आदर्श प्रतिपादन की भावना निहित थी। परन्तु भारतेन्दु-युग में भावनायें बदल गई थीं। नाटक का उद्देश्य अधिकारी के फलागम् की अवस्था पर लाना नहीं रह गया था। उनके अनुसार नवीन नाटकों की रचना के मुख्य उद्देश्य-श्रृङ्गार, हास्य, कौतुक, समाज-संस्कार और देश-वत्सलता थी। युग परिवर्तन के साथ-साथ नाटकों की धारा में परिवर्तन आवश्यक था। उन्होंने उक्त मत का स्पष्टीकरण अपने नाटक सम्बन्धी लेख में दिया है। "जिस समय में जैसे सहृदय जन्म ग्रहण करें, और देशीय रीति-नीति का प्रवाह जिस रूप से चलता रहे उस समय में उक्त सहृदयगण के अन्तःकरण की वृत्ति और सामाजिक रीति पद्धति इन दोनों विषयों की समीचीन समालोचना करके नाटकादि दृश्य काव्य प्रणयन करने योग्य हैं।"[1]

१—नाटक निबन्ध—भारतेन्दु नाट्कावली।

स्वयं भारतेन्दु ने अपने मत का पालन कहाँ तक किया है, इसके उदाहरण उनके मौलिक नाटक हैं। रूपान्तरित नाटकों में भी उन्होंने अपने मन्तव्य से काम लिया है। यद्यपि वह मानते थे कि नाट्यादि दृश्य-काव्य का प्रणयन करना हो तो प्राचीन समस्त रीति ही परित्याग करें, यह आवश्यक नहीं है, क्योंकि जो सब प्राचीन रीति वा पद्धति आधुनिक समाज की मत-पोषिका होंगी, वह सब ग्राह्य होंगी, परन्तु इतना होने पर भी उनका विचार था कि नाट्यकला-कौशल दिखलाने को देश, काल और पात्रगण के प्रति विशेष रूप से दृष्टि रखनी उचित है। पूर्व काल में लोकातीत असम्भव कार्य की अवतारणा हृदय-हारिणी मानी जाती थी, वर्तमान काल में नहीं मानी जाती है।

अति मानुषीयता (Use of the Super natural) के प्रति भारतेन्दु का यह कथन नितान्त उपयुक्त है, और इसी कारण अपने नाटकों में उन्होंने पात्रों का संग्रह वास्तविक जीवन के अनेक स्तरों से किया है। उनमें सत्यवादी, प्रजावत्सल राजा हरिश्चन्द्र भी हैं, और अंधेर नगरी के ज्ञानशून्य राजा भी, उनमें त्याग मूर्ति, प्रेमी सुन्दर का भी चरित्र चित्रण है, और पापात्मा मीर अब्दुश्शरीफ खाँ सूर भी, उनमें भगवत्-भक्त चन्द्रावली भी हैं, और धूर्त धनदास तथा वनितादास भी हैं। उनके नाटकों के अन्य पात्रों में मन्त्री, काजी, सिफारिशी, पंडे, गुंडे, लुच्चे आदि सब चरित्र प्रसंगानुकूल हैं, पात्रों में उपादेयता और यथार्थ दोनों ही का समाहार है। वस्तुतः यह कहना अनुचित न होगा कि समकालीन पारसी नाटकों के लिए उनका यह प्रयास एक सफल चुनौती थी।

भारतेन्दु ने अपने नाटकों में गीतों का समावेश करके नाटकों की महत्ता को बढ़ा दिया है। नाटकीय गीत साहित्यिक देन रूप में प्रस्तुत हैं। ये गीत केवल काव्य ही नहीं हैं, वरन् चरित्र-चित्रण के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। वैसे तो मानव-हृदय के उद्गारों की अभिव्यंजना का माध्यम सदा से ही काव्य रहा है, परन्तु स्थिति विशेष में उनका एक निश्चित पृष्ठभूमि में जब समावेश होता है, तो उनका स्थानीय मान बढ़ जाता है। भारतदुर्दशा और नीलदेवी के गीत उसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। गीत नाट्य साहित्य की दृष्टि से अपना समुचित स्थान रखते हैं। नाट्य परम्परा में भारतेन्दु के बाद साहित्यिक गीतों का महत्वपूर्ण निदर्शन आधुनिक धारा के प्रसिद्ध नाट्यकार 'प्रसाद जी' के नाटकों में मिलता है। वस्तुतः नाटकों में गीतों के समावेश की परम्परा भारतेन्दु की साहित्यिक देन के रूप में प्रस्तुत है। भारतेन्दु के नाट्य गीतों का ऐतिहासिक महत्त्व भी दृष्टिगत होता है। तत्कालीन पारसीक रंगमंच में रुचिहीन संगीत का प्रदर्शन होता था, उन्हें रोकने और जनता की रुचि को सुसंस्कृत करने में भी इन गीतों ने बड़ा काम किया है।

यथार्थतः भारतेन्दु ने पुरानी परिपाटी का विश्लेषण कर उसमें से देशकाल के उपयोगार्थ उपकरणों को लेकर तत्कालीन प्रभावों के साथ उनका अपूर्व समन्वय करके उपादेय नाट्य-साहित्य की सृष्टि की है। इसके द्वारा प्राचीनता की रक्षा भी हो गई और भविष्य के लिये प्रशस्त पथ निर्माण कर गये। भारतेन्दु जी के नाटक नाट्य-साहित्य के निर्माण युग की रचनायें हैं। इनका ऐतिहासिक महत्व साहित्य की नई दिशा की सृष्टि करना है। युग-सन्धि-कालीन साहित्य में नाटकों की परम्परा में युगान्तकारी परिवर्तन भारतेन्दु की ही कृतियों से प्रेरणा प्राप्त करता है।

नाटकों का साहित्यिक तथा सामाजिक महत्व और युग पर प्रभाव

भारतेन्दु ने नाट्य साहित्य में स्वतन्त्र परम्परा का प्रवर्तन किया। नाट्य विधान की रूढ़िवादी परम्परा के जटिल बन्धनों से उन्मुक्त नाट्य विधान की स्वतन्त्र सत्ता नाट्यकार की साहित्यिक देन है। भारतेन्दु जी ने नाट्य-विधान सम्बन्धी परम्परा में मध्यवर्ती मार्ग का अनुसरण किया, नाट्य शैली में, पूर्व और पश्चिम के नाट्य तत्वों का अपूर्व मेल दृष्टिगत होता है। साहित्य जगत को नाट्य तत्व सम्बन्धी देन नाट्यकार भारतेन्दु का नवीन प्रयोग था, जिस परम्परा का अनुसरण समकालीन नाट्यकारों ने किया।

इनके पूर्व का नाट्य-साहित्य अधिकांश पद्य में लिखा गया था। संस्कृत नाटकों के अनुवाद की परम्परा प्रचलित थी, अधिकांश पद्य-गद्य मिश्रित नाटकों के प्रचलन से नाट्य-साहित्य का प्रारम्भिक रूप निर्मित हुआ था। नाटकों की भाषा ब्रज थी। प्रबोध चन्द्रोदय, तथा आनन्द रघुनन्दन की शैली के नाटकों की भाषा में संकीर्णता थी। राजा लक्ष्मणसिंह कृत शकुन्तला तथा बा० गोपालचन्द्र कृत नहुष में क्रमशः नाट्य प्रगति का विकास दृष्टिगत होने लगा था। अनूदित तथा मौलिक रच-नाओं का आरम्भ हो चुका था, परन्तु नाटकों की भाषा का प्रश्न साहित्य की दृष्टि से खटकने वाली वस्तु थी। भारतेन्दु ने नाट्य साहित्य के बीहड़ बन के बीच में अपना मार्ग प्रशस्त किया। भाषागत दोषों में परिष्कार किया, नाट्य-भाषा को खड़ी बोली का कलेवर देकर नाटकों की रचना के लिये नवीन पथ-प्रदर्शन कार्य महत्व पूर्ण है।

अनूदित नाटकों का प्रचलन भारतेन्दु के पूर्व भी था, परन्तु भारतेन्दु द्वारा प्रदर्शित मार्ग समकालीन साहित्यकारों को अति आकर्षक प्रतीत हुआ। अंग्रेजी के नाटकों का अनुवाद भारतेन्दु युग की देन है। भारतेन्दु जी के दुर्लभ बन्धु के पूर्व ही 'वंशपुर का महाजन' (बा० बालेश्वर प्रसाद द्वारा) लिखा जा चुका था। भारतेन्दु ने अंग्रेजी नाट्यानुवाद की ओर सफल प्रयास किया। उक्त प्रेरणा से प्रेरित सम-कालीन नाट्यकारों ने अंग्रेजी नाट्य साहित्य की सुन्दर रचनाओं का भाषा में अनु-

वाद किया। वस्तुतः अनुवादों के क्षेत्र में भारतेन्दु-युग के साहित्य में नवीन प्रयोग हुये, संस्कृत, अंग्रेजी तथा बंगला साहित्य की उत्कृष्ट रचनाओं का नाट्य अनुवाद भारतेन्दु-युग की देन है, उक्त मनोवृत्ति का प्रेरक भारतेन्दु जी का अनूदित नाट्य साहित्य कहा जा सकता है।

रूपान्तरित नाट्य साहित्य की परम्परा युग प्रवर्तक नाट्यकार की देन है। बंगला तथा संस्कृत नाट्य आख्यायिकाओं से प्रेरणा प्राप्त (विद्यासुन्दर तथा सत्य हरिश्चन्द्र) नाटकों में कवि कल्पना प्रसूत कथा-वस्तु का समाहार तथा कथानकों का पुनर्निर्माण भारतेन्दु के छायानुवादों की अमोघ देन है। उक्त प्रणाली का प्रयोग अन्य तत्कालीन साहित्यकारों ने किया। छायानुवादों में मौलिक नाट्य साधना का समावेश रहता है, उक्त परम्परा ने मौलिक नाट्यकला को भी विकास की प्रेरणा प्रदान की।

भारतेन्दु के मौलिक नाटक युग के साहित्य की महत्वपूर्ण देन हैं। उक्त नाटकों से विभिन्न विचारधारा का समाहार दृष्टिगत होता है। भारतेन्दु द्वारा प्रतिष्ठित शैली तथा विचारधाराओं का सम्पूर्ण विकास निम्न प्रमुख धाराओं में समाहित है।

(१) पौराणिक धारा में प्राचीन पौराणिक आख्यानों को नाट्य रूप दिया गया है, उक्त धारा की प्रेरणा मूलक नाटक सती प्रताप है, यद्यपि यह नाटक अपूर्ण है, तथापि यह भारतेन्दु युग के पौराणिक नाट्य परम्परा का संस्थापक प्रतीत होता है। पौराणिक आख्यानों को लेकर बहुत से सुन्दर आदेश-प्रद और आचार विचार पूर्ण नाटकों की रचना हुई जो इसी धारा-प्रवाह से प्रेरित थी।

(२) ऐतिहासिक कथानकों का विकास नीलदेवी के आख्यान में मिलता है। ऐतिहासिक तथ्य निरूपण और घटनाओं में कल्पित पात्रों का संयोग भारतेन्दु की नीलदेवी में है, समीचीन नाट्यकारों ने ऐतिहासिक कथानकों को अपने नाटकों की पृष्ठभूमि बनाया और युग पुरुष की नाट्यकला को विकास दिया। उक्त विचारधारा का अनुसरण करने वाले समकालीन नाट्यकारों ने ऐतिहासिक कथा वृत्तों को साहित्यिक कलेवर देकर साहित्य और इतिहास के सम्बन्ध को निकटता प्रदान की।

(३) प्रेम-प्रधान आख्यायिकाओं के आधार पर नाट्य-रचना भारतेन्दु युग की देन है, भारतेन्दु की चन्द्रावली नाटिका उक्त परम्परा का प्रवर्तन करती प्रतीत होती है। भारतेन्दु युग में प्रेम प्रधान आख्यानों को लेकर उत्कृष्ट नाटकों की रचनायें हुई हैं, प्रेम के रूपों का समावेश इन नाटकों में नहीं मिलेगा, परन्तु फिर भी कुछ नाटक भारतेन्दु काल के गौरव स्वरूप हैं, और भावी हिन्दी नाटक-

कारों के पथ नियामक हैं। उपर्युक्त परम्परा में भारतेन्दु के समकालीन नाट्यकारों की की प्रधान रचनायें रणधीर-प्रेममोहिनी (१८७७) तथा तप्ता संवरण (१८८३) (श्री निवासदास कृत), चन्द्रकला (नानक चन्द्र कृत), मदन मजंरी (१८८४) (अमनसिंह गोतिया), रतिकुसुमायुध (१८८५) (खड्ग बहादुर मल्लकृत) आदि प्रतिनिधि कृतियाँ हैं।

वस्तुतः युग-पुरुष की शैली तथा विचारधारा का समुचित प्रभाव सम-सामयिक नाट्य साहित्य पर पड़ा।

(४) प्रेमयोगिनी यथार्थवादी सामाजिक चित्रण है। व्यंग्य शैली में सामाजिक परिष्कार की भावना लेकर यथार्थवादी चित्रण की परम्परा का विकास उक्त नाटिका में प्राप्त होता है। इसी शैली में सामाजिक नाटकों की परम्परा विकास युग के नाट्यकारों में मिलती हैं, भारतेन्दु के नाटकों की विचारधारा का युग के सामान्य नाट्य साहित्य पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा है। सामाजिक समस्याओं को लेकर नाटकों में उनकी आलोचना का रूप प्रस्तुत किया गया है। बाल-विवाह विरोधी मनोवृत्ति तथा विधवा विवाह के पोषक नाटकों का सृजन हुआ है। धार्मिक पाखण्डों का उद्‌घाटन करने वाले नाटकों का भी इसी विचारधारा के अन्तर्गत विकास हुआ है। सामाजिक कुरीतियों को प्रकाश में लाने के लिये नाट्य साहित्य को माध्यम बनाना भारतेन्दु-युग की देन है, यथार्थ चित्रण तथा सामाजिक परिष्कार की भावना प्रेरणा रूप में भारतेन्दु के नाटकों से प्राप्त हुई है।

(५) भारतेन्दु युग राजनीतिक चेतना का युग था। भारतेन्दु ने राष्ट्र-चेतना और उत्थान का सन्देश अपने नाटकों में दिया है। भारत-दुर्दशा तथा भारत जननी राजनीतिक उत्थान की प्रेरक रचनाओं के रूप में प्रस्तुत की गई हैं। समकालीन राजनीतिक आन्दोलनों की प्रतिक्रिया नाटकों में समाहित प्राप्त होती हैं। इन्हीं नाटकों की परम्परा पर चलने वाले देश-प्रेम-प्रधान नाटक भारतोद्धार (शरतकुमार मुकर्जी-१८८३), भारत आरत (खड्गबहादुर मल्ल-१८८५) भारत सौभाग्य (अम्बिकादत्त व्यास-१८८७), भारत सौभाग्य (प्रेमघन-१८८८) भारत-दुर्दशा (प्रतापनारायण मिश्र-१९०२) युग के प्रतिनिधि नाटक हैं, जिनमें भारतेन्दु की कृतियों की उपर्युक्त विचारधारा की छाप समाहित प्रतीत होती है।

(६) भारतेन्दु के नाट्य-साहित्य की विशेष सम्पत्ति उनके प्रहसन हैं, प्रहसन नाटकों में व्यंग्य रूपकों की शैली का प्रयोग है। अन्धेरनगरी, वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति, तथा विषस्य विषमौषधम् देशकाल तथा समाज के व्यंग्य रेखाचित्र हैं, व्यंग्य पद्धति के हास्य-प्रधान नाटकों के लिखने का प्रयोग भारतेंदु द्वारा किया गया था, और उपर्युक्त विचारधारा को युग के नाट्यकारों ने प्राथमिक स्थान दिया था।

भारतेन्दु द्वारा प्रचलित व्यंग्य शैली का बहुत ही व्यापक प्रयोग किया गया था, सम्भवतः व्यंग्य और प्रहसन-प्रणाली इस युग की महान् देन थी। भारतेन्दु युग में अधिकांश मौलिक प्रहसनों की रचना हुई, सम्भवतः प्रहसनों की पद्धति भारतेन्दु युग में विकसित हुई, पर इस युग के बाद इस भावधारा को कोई कलात्मक विकास नहीं प्राप्त हुआ; अतः प्रहसन इसी युग में विकसित होकर लुप्त हो गये, और अपनी परम्परा को नाट्य साहित्य में स्थायित्व नहीं प्रदान कर सके। तत्कालीन सामाजिक स्थिति के अनुरूप ही प्रहसनों में व्यंग्यों का लक्ष्य सामाजिक कुरीतियाँ, वेश्यावृत्ति के कुपरिणाम, समाज का असहाय नारी जीवन, पश्चिमी सभ्यता के अन्य उपासकों का सामाजिक दृष्टिकोण, धर्म के कथित ठेकेदारों का भ्रष्टाचार आदि व्यापक मनोवृत्तियाँ कार्य करती दृष्टिगत होती थीं। भारतेन्दु के प्रहसनों का साहित्यिक स्तर समकालीन रचनाकारों की कृतियों से अधिक उच्च था। युग के प्रमुख प्रहसनकार प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, राधाचरण गोस्वामी तथा किशोरी लाल गोस्वामी आदि भारतेन्दु के प्रहसनों की मौलिकता को न पा सके।

युग प्रवर्तक भारतेन्दु जी ने हिन्दी नाट्य-साहित्य को एक नवीन पथ प्रदर्शित किया। देशकाल की मनोवृत्ति के अनुकूल साहित्य के वातावरण को स्वस्थ बनाकर नये समाज तथा नवीन राष्ट्रीय विचारधारा के प्रचार से समसामयिक साहित्यिक मण्डल को प्रभावित किया। अपने अल्पकालीन जीवन में अपनी कृतियों को देशकाल के लिये उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत करके समकालीन साहित्यकार-मंडल का मार्ग निर्देशन कार्य किया है। भारतेन्दु ने युग के साहित्यकारों को नवनिर्माण की रूपरेखा दी, उसका यथानुगमन समकालीन कलाकारों ने किया। यथार्थतः युग निर्माणकर्ता की लेखन-प्रतिभा तथा विचारधारा का साहित्यिक-मण्डल पर व्यापक प्रभाव पड़ा। हिन्दी साहित्य के नवोत्थान काल में भारतेन्दु की विचारधारा ने साहित्यकारों को व्यापक प्रेरणा प्रदान की, जिसके आधार पर नाट्य-साहित्य को प्रशस्त और सुदृढ़ धरातल पर रखा गया।

साहित्य के सूने निर्जन में युग-प्रवर्तक कलाकार ने अपनी विचारधारा से सिंचित भावनाओं का उद्यान बनाने का प्रयास किया था। युग के सहयोगी कलाकारों ने उसे पुष्पित तथा पल्लवान्वित कर अपने इस गौरवमय साहित्यकार का अभिनन्दन किया। साहित्यिक आन्दोलन को बीच ही में छोड़कर भारतेन्दु जी असमय ही गोलोकवासी हुये, परन्तु इस गुरुतर कार्य-भार को सम-सामयिक साहित्यकारों ने अपने सबल कंधों पर लेकर अपने उत्तरदायित्व को पूर्णरूप से निभाने का प्रयत्न किया। युग के प्रमुख कलाकारों में भारतेन्दु की कला की छाप थी, उनसे प्राप्त प्रेरणा तथा अभिव्यञ्जना के लिए समसामयिक नाट्यकार चिरऋणी थे। यही भारतेन्दु के नाट्य साहित्य की ऐतिहासिक महत्ता है।

भारतेन्दु युग सामाजिक जागरण का युग था। राजनीतिक चेतना ने सामाजिक उत्थान की प्रेरणा प्रदान की, देश और समाज की वास्तविक स्थिति पर भारतेन्दु जी की कृतियों ने प्रकाश डाला है। ऐसा भासित होता है कि समकालीन भारतीय समाज को युग द्रष्टा ने अपने सजग नेत्रों से देखा था, तथा समाजगत दूषणों को स्पष्ट डंके की चोट पर कह देने में नाट्यकार भारतेन्दु को तनिक भी हिचकिचाहट का अनुभव नहीं हुआ।

भारतेन्दु का नाटक-साहित्य समकालीन समाज का दर्पण है। अधिकांश नाटकों में सामाजिक भ्रष्टाचार का नग्न रूप प्रदर्शित किया गया है। सामाजिक आलोचना की भावधारा पर चलने वाले नाटक प्रेम-योगिनी, वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति, अन्धेर-नगरी, विषस्य विषमौषधम्, नीलदेवी, भारत-दुर्दशा तथा भारत-जननी हैं। भारतेन्दु की नाट्यकृतियों की मूल विचारधारा सामाजिक व्यंग्यों में सामाजिक दूषणों को इंगित करने की थी। प्रेमयोगिनी समकालीन सामाजिक स्थिति का व्यंग्य चित्र है। नाटिका के चार गर्भाङ्कों में काशी के सामाजिक जीवन के चार भिन्न-भिन्न स्वरूप उपस्थित किये गये हैं। काशी के वर्णन में समाज के कथित ठेकेदारों के अधःपतन के चित्रण विशेष रूप से इंगित किये गये हैं। धार्मिक केन्द्रों में व्यभिचार, यात्रियों का पंडों, पुरोहितों द्वारा शोषण, निष्क्रिय नागरिकों में अकर्मण्यता का समावेश जिनके कार्यक्रम में केवल निमन्त्रणों को अपनी जीविका का आलंब बनाकर भाँग बूटी छानने के अलावा कोई कार्य नहीं रह जाता है का भारतेन्दु के "देखी तुम्हारी काशी" में काशी का सामाजिक चित्रण बड़ा ही सुन्दर व्यंग्य-चित्र है। यथार्थवादी चित्रणों को अपने नाटकों में देकर उन्होंने सामाजिक ढोंग का भंडाफोड़ किया है।

वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति धर्म के नाम पर पाखंड करने वाले लोगों के विरुद्ध प्रहसन रूपी आन्दोलन है। भारतीय समाज में धार्मिक व्यवस्थायें देकर धर्म की ही आड़ में नाना प्रकार के कुकृत्य किये गये, पर सभी धार्मिक दुहाई पर उक्त व्यवस्थाओं और व्यवस्थापकों के कुकर्मों का भंडाफोड़ प्रहसन के रूप में दिया गया है। अपने मन्तव्य में समाज के ऐसे संप्रदायों से दूर रहने का आदेश उसमें निहित प्रतीत होता है।

अंधेर नगरी में राजनीतिक अव्यवस्था देश में शासन सम्बन्धी मनमानी, प्रजा पर अन्याय और अत्याचार का रेखाचित्र है। अंग्रेजी शासन तथा हाकिमों के न्याय की व्यंग्यात्मक खिल्ली उड़ाई गई है। विषस्य विषमौषधम् तत्कालीन देशी राजाओं की अकर्मण्यता तथा दुश्चरित्र जीवन का एक रेखाचित्र है। भाण रूपकों में भण्डाचार द्वारा मल्हारराव होल्कर के दुश्चरित्र जीवन का भण्डाफोड़ किया है,

जिसके परिणाम स्वरूप उन्हें अपने अधिकार से वञ्चित कर दिया गया। ऐतिहासिक घटनाओं का उल्लेख करते हुये नाट्यकार राजनीतिक परिस्थितियों से उत्पन्न सामाजिक दुर्व्यवस्था पर मार्मिक व्यंग्य करता है। नाट्यकार के कथनानुसार समाज को दूषित करने वाले इस प्रकार के अधिकारियों का पतन आवश्यक तथा उचित है। भारतेन्दु के नाटकों की सदैव चेष्टा सामाजिक दुरवस्था को प्रकाश में लाने की रही है, जिससे समाज उक्त दूषणों से सावधान रहे।

समाज का नारी-जीवन अति दयनीय था। नीलदेवी की भूमिका में नाट्यकार ने भारतीय नारी-जीवन से विदेशी नारी-समाज की तुलना की है। प्राचीन भारत में नारी का सांस्कृतिक तथा सामाजिक स्थान और वर्तमान नारी समाज की दुरवस्था पर विचार व्यक्त किये हैं। भारतेन्दु समाज-सुधारक थे, वर्तमान नारी-जीवन की दयनीय दशा में परिष्कार देखना चाहते थे। नीलदेवी नाटक में नाट्यकार का सन्देश समाज के नारी-जीवन को ऐतिहासिक वीर-गाथाओं का स्मरण दिलाकर आर्यकुल ललनाओं के समान आचरण करने का निर्देश दिया है।

भारतेन्दु नारी-शिक्षा के हिमायती थे। सामाजिक जीवन में नारी का पुरुषों ही को भाँति समान सहयोग होना चाहिये, विदेशी समाज की इस उदारता के प्रति उनके हृदय में सम्मान है, परन्तु वह सांस्कृतिक मर्यादा की सीमा का उल्लंघन भारतीय नारी-समाज द्वारा नहीं करवाना चाहते हैं। परन्तु नारी वर्ग को अपने स्वत्व को समझने का संदेश उनके नाट्य भावों में आदर्श प्रतीक स्थापित करके इंगित किया गया है।

भारतेन्दु की भारत-जननी तथा भारत-दुर्दशा में देश के दयनीय जीवन का रेखा-चित्र है। भारत-भूमि और भारत सन्तान की दुर्दशा दिखाना ही इस भारत जननी का इति-कर्तव्य प्रतीत होता है। भारतमाता भग्नावशेष भू-खण्ड के बीच अवस्थित दिखायी गयी है, उसकी संतानें पूछती हैं, अँग्रेजी राज्य की व्यवस्था में भी वह क्यों मलिन है? सभी व्यक्तिगत सुख और स्वार्थपरता की ओर दौड़ रहे हैं, सारे समाज का कष्ट निवारण कोई नहीं करना चाहता। भारत जननी में उक्त विचारों की व्यंजना निम्न पदों से प्राप्त होती है।

"भारत में मची है होरी,
इक ओर भाग अभाग, एक दिसि होय रही झकझोरी,
अपनी अपनी जय सब चाहत, होड़ परी दुहुँ ओरी॥"

इस नाटक में नौकर-शाही को सामाजिक अव्यवस्था का मूल कारण बताया गया है। देश का यथार्थ चित्र नाटकों की मार्मिक भाषा में देकर भारतेन्दु जी ने साम्राज्यवादी शासन के प्रति असहयोग और घृणा की प्रवृत्ति प्रदान की, जिसका ही

फलोदय उन क्रान्तिकारी भावनाओं के परिणाम स्वरूप महान् युगान्तकारी संस्था भारतीय महासभा कांग्रेस का जन्म हुआ। भारतेन्दु जी साहित्यिक क्षेत्र के सर्व प्रथम समाज-सुधारक तथा राष्ट्रनायक थे। जिनकी विचारधारा का अनुसरण करके नवीन समाज की सृष्टि की जा सकी थी। देश और समाज के निर्माण के लिये उनके हृदय में प्रबल वेदना थी, भारत दुर्दशा के निम्न कथन से भासित होता है।

"रोवहु सब मिलि के आवहु भारत भाई।
हा हा भारत दुर्दशा न देखी जाई॥
सबके पहिले जेहि ईश्वर धन-बल दीनों।
सबके पहिले जेहि सभ्य विधाता कीनो॥
सबके पहिले जो रूप रंग रस भीनो।
सबके पहिले विद्याफल जिन गहि लीनों॥
अब सबके पीछे सोई परत दिखाई।
हा हा भारत दुर्दशा न देखी जाई॥"

अँग्रेजी राज्य में राजनीतिक तथा सामाजिक अभिशापों का उल्लेख बड़े ही मार्मिक शब्दों में किया है।

अंग्रेज राजसुख साज सजे सब भारी।
पै धन विदेश चलि जात इहै अति ख्वारी॥
ताहू पै महँगी काल, रोग विस्तारी।
दिन दिन दूने दुख ईस देत हा हा री॥
सबके ऊपर टिक्कस की आफत आई।

देश की सामाजिक तथा आर्थिक दशा पर राजनीति का अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। विदेशी शासन की आर्थिक शोषण नीति का देश और समाज पर समान प्रभाव पड़ा। समकालीन राजनीतिक दाँव-पेचों से देश के आर्थिक तथा सामाजिक ढाँचे को किस प्रकार हानि पहुँची है, भारतेन्दु ने उक्त रहस्य का उद्घाटन अपने नाटकों में यथेष्ट रूप से किया है। युग पुरुष के नाटकों का सामाजिक मूल्यांकन महत्वपूर्ण है, जो कि समाज की जन-जागरण की चेतना तथा उत्थान की ओर अग्रसर होने की प्रेरणा प्रदान करते हैं।

भारतेन्दु युग में कुछ ऐसी परिस्थितियाँ एकत्र हो गई थीं. जो सामाजिक तथा साहित्यिक दोनों दृष्टियों से महत्वपूर्ण थीं। सम्पूर्ण स्थितियों के विकास का प्रेरक भारतेन्दु का नाट्य साहित्य था। साहित्य समाज से अनुप्रेरित होकर चला था। साहित्य और समाज में शाश्वत सम्बन्ध है, वस्तुतः साहित्य समाज का दर्पण है,

और समाज का वायुमण्डल साहित्यिक सृजन का प्रेरक भी है। जैसा प्रतिबिम्ब देशकाल की समस्या का कलाकार की कृतियों में प्राप्त होता है, इस युग के साहित्य ने विशेषतः नाट्य-साहित्य ने नव्य समाज के सृजन की कल्पना का बीजारोपण किया था।

भारतेन्दु के नाटकों तथा समस्त साहित्य की युग पर एक विशिष्ट छाप कलाकार अपनी विचारधाराओं की परम्परा युग-साहित्य और समाज पर स्थापित कर गया। राष्ट्रीय तथा सामाजिक चेतना की ललकार से निद्रा और अंधकार में पड़ा हुआ समाज सजग हो उठा। राष्ट्रीय विचारों ने साहित्य और समाज दोनों में समान रूप से अपना व्यापक प्रभाव प्रदर्शित किया। १६वीं शताब्दी का समस्त हिन्दी साहित्य भारतेन्दु जी के विचारों की प्रेरणा का फल है। भारतेन्दु मण्डल के उदीयमान नाट्यकारों ने अपने युग-पुरुष की शैली तथा विचारधारा का अनुसरण किया। हिन्दी रंगमंच से समाज-सन्देश का शंखनाद इस युग की महान् देन है। जिसकी कार्य-साधना में युग पुरुष के पथानुगामियों ने प्रशंसनीय सहयोग दिया।

भारतेन्दु की बहुमुखी प्रतिभा में माइकेल मधुसूदन तथा हेमचन्द्र की ओजस्विनी शैली का प्रवाह देखते हैं। प्राचीन तथा नवीन साहित्य शैली का सुन्दर सामंजस्य भारतेन्दु की ही कला का विशेष माधुर्य है। नवीन युग के आदि साहित्य के प्रवर्तक के रूप में नाट्यकार ने साहित्य-जगत को इस बात का प्रमाण दे दिया कि किस प्रकार साहित्य के मञ्च से जन-जागरण का सन्देश प्रसारित करके देश में सामाजिक क्रान्ति प्रस्तुत की जा सकती है। भारतेन्दु की विचारधारा का स्पष्ट स्वरूप उनके नाटकों में मुखरित दृष्टिगत होता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि कलाकार की विचारधारा का व्यापक अंश नाटकों के द्वारा युग के सभी क्षेत्रों में व्याप्त है। क्या साहित्य, क्या धर्म, क्या राजनीति, क्या लोकहित सब पर समान रूप से उक्त विचार अपनी प्रतिष्ठा समान रूप से पा रहे हैं। भारतेन्दु अपनी साहित्यिक देन के सहारे युग-पुरुष की भाँति अकेले अपने व्यक्तित्व की आभा बिखेरते खड़े हैं, और उस काल के प्रतिभावान साहित्यकार उन्हीं को अपनी शक्ति का स्रोत मान रहे हैं।

भारतीय नवयुग के वैतालिक तथा भारतेन्दु

समस्त भारतीय साहित्य में एक न एक युग वैतालिक अवश्य रहा है, जिसने साहित्यिक ढाँचे का व्यवस्थित निर्माण किया है। युग सन्धि पर खड़े हुये उक्त साहित्यकार साहित्य तथा समाज को अन्धकार के गर्त से निकाल कर उसके निर्माण में प्रयत्नशील रहे। जिस प्रकार भारतेन्दु जी हिन्दी साहित्य तथा समाज के वैतालिक के रूप में अपनी बहुमुखी प्रतिभा द्वारा हिंदी साहित्य को आलोकित कर गये, ठीक

उसी प्रकार अन्य भारतीय साहित्यों में समसामयिक युग प्रवर्तकों तथा भारतीय नवयुग के वैतालिकों का उल्लेख नितान्त आवश्यक है।

बंकिमचन्द्र (१८३८ ई०) ने बंग साहित्य में देशप्रेम की अलख जगाई। बंग-साहित्य के विभिन्न क्षेत्रों में विकास की प्रेरणा बंकिम बाबू की लेखनी का प्रतिफल था। बंगला गद्य की भाषा का परिमार्जन इसी युग में हुआ। १६ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अंग्रेजी शिक्षित मनस्वी बंगवासियों के मुख्य प्रतिनिधि बंकिम बाबू ही थे। हिन्दू धर्म के प्रति विश्वासशील एवं हिन्दू समाज के मध्य में श्रद्धा सम्पन्न बने रहकर, कट्टर धर्मान्धता छोड़कर भी वैज्ञानिक चित्तवृत्ति द्वारा हिन्दू-शास्त्रों की सार्थक समालोचना की जा सकती है, यह बात बंकिम बाबू ने अपने कृष्ण-चरित्र, धर्म तत्व इत्यादि ग्रन्थों एवं अन्यान्य प्रबन्धों में सिद्ध कर दी है। सरस भाव में समाज तत्व के विषय में भी उन्होंने सार्थक समालोचना की है। भारतीय सभ्यता को संसार के सम्मुख श्रेष्ठ सिद्ध करने के लिए वह अत्यंत आग्रहशील थे। 'बंग-दर्शन' के प्रकाशन के समय से लेकर मृत्यु-पर्यन्त बंकिम बंगला साहित्य के सूक्ष्मदर्शी समालोचक के आसन पर बैठकर राज-दण्ड का परिचालन करते रहे।

आनन्द मठ के रचयिता ने बंग प्रदेश में प्रथम बार नव्य समाज के सृजन की चेतना प्रदान की। आज भी युगों बाद तक बन्देमातरम् की देश व्यापी गूँज प्रतिध्वनित हो रही है। बंग-साहित्य के समकालीन नाट्यकार गिरीशचंद्र ने भी रंगमंच के विकास में सहयोग प्रदान किया।

बंकिम के बाद कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ टैगोर प्रतिभाशाली कलाकार तथा साहित्य निर्माता के रूप में साहित्य क्षेत्र में आये। रवीन्द्र का युग उत्तरार्द्ध १६ वीं शताब्दी से प्रारम्भिक बीसवीं सदी तक था। उन्होंने समान रूप से नाटक, गल्प तथा उपन्यासों में अपनी मौलिक प्रतिभा का परिचय दिया है। कवि रवीन्द्र की भावधारा का देशव्यापी प्रभाव पड़ा।

१६ वीं शताब्दी में मराठी साहित्य के युग-प्रवर्तक श्रीकृष्ण जी प्रभाकर खांडीलकर (सं० १६२६-२००५) ने अपने पौराणिक तथा ऐतिहासिक नाटकों द्वारा नवीन मार्ग निर्देशन किया। अपनी रचनाओं में लोकाभिरुचि का सदैव ध्यान रखते रहे। श्री खांडीलकर जी ने मराठी रंगमंच का नवनिर्माण किया। अपने नाटकों में शेक्सपियर के कल्पना रम्य सुखान्तिकाओं (रोमेन्टिक कोमेडीज Romantic Comedies) के अनुरूप ही अभिनय मूलक नाटकों की रचना की, अधिकांश नाटक रंगमंच पर खेलने के लिए 'गंधर्व नाटक मण्डली' के लिए लिखा था। श्री खांडीलकर के नाटकों की यह विशेषता है कि उनका बाह्य स्वरूप पौराणिक अथवा ऐतिहासिक होते हुये सभी प्रेक्षकों को समकालीन राजनैतिक अथवा सामाजिक चित्र देखने का आभा

होता है। उनके कीचक-बध नाटक के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि कीचक को खलनायक बनाते हुये समकालीन अंग्रेजी गवर्नर जनरल लार्ड कर्जन का चित्रांकन कर रहे हैं। नाट्यकला की दृष्टि से उनके व्यवस्थित वस्तु-विन्यास और ध्येयवाद का जो कलात्मक सामंजस्य दिखाई देता है, उसके कारण उनके पौराणिक नाटकों में भी प्रेक्षकों को असामान्य आकर्षण प्रतीत होता है। मराठी रंगमञ्च एवं नाट्य-साहित्य के विकास के लिए आपका पथप्रदर्शन एवं उदाहरण अत्यन्त प्रभावशाली सिद्ध हुआ। अभिनयानुकूल वस्तु विन्यास का जो आदर्श श्री खांडीलकर ने उदयोन्मुख लेखकों के सम्मुख रखा, उसके कारण मराठी में उच्च श्रेणी के नाटकों का उत्पादन होने लगा। मराठी साहित्य में खांडीलकर जी युग वैतालिक के रूप में दृष्टिगत होते हैं।

भारतेन्दु जी की भाँति अपनी साहित्य-प्रतिभा द्वारा सामाजिक उत्थान की प्रेरणा अपने साहित्य में दे गये। आपके नाटकों में समकालीन समाज में परिष्कार और समसामयिक कुरीतियों पर आलोचनात्मक व्यंग्य था। नई पीढ़ी के कलाकारों का मार्ग निर्देशन करके साहित्य और समाज की हिलती हुई मीनारों को दृढ़ कर गये। साहित्य और समाज के निर्माण-युग में खांडीलकर जी की विचारधारा ने मराठी साहित्य को एक प्रकार का आलोक प्रदान किया इनके निर्मित पथ पर चलने वाले अन्य मराठी साहित्यकारों ने साहित्य-निर्माता के पथ को और अधिक प्रशस्त किया। अधिककाल तक अपने युग-निर्माता की मौलिक विचारधारा का अनुगमन करते रहे, और नवीन साहित्य तथा समाज का निर्माण किया।

सर सैयद अहमद खाँ ने उर्दू साहित्य में अपनी कृतियों द्वारा साहित्य और समाज दोनों ही को नवीन चेतना प्रदान की। इनकी रचनाओं में आसार उस्सनादीद, बिजनौर का इतिहास, असबाबे बगावते हिन्द, मुसलमानों की राज-भक्ति आदि उत्कृष्ट रचनायें हैं। सन् १८५५ ई० में आइने अकबरी तथा उसके पश्चात् बार्नी के तारीखे फीरोजशाही का सम्पादन भी कर चुके थे। सैयद अहमद खाँ साहब बड़े ही उदार तथा नवीन विचारधारा के पोषक थे। इनके बाइबिल पर तवैअनुलकलाम नामक टिप्पणी लिखने पर रुढ़िवादी मुसलमानों ने विरोध किया, परन्तु समाज-सुधारक युग-पुरुष की भाँति अपनी विचारधारा से विचलित न हुये। सर सैयद उच्च-कोटि के कवि थे, तथा 'आही' उपनाम से रचना करते थे। इनकी लेखन-शैली बड़ी सुगम, सरल तथा प्रभावोत्पादक थी। इनकी बोधगम्य भाषा बड़ी ही हृदयग्राही प्रतीत होती थी। आपके समस्त साहित्य की भाषा का माध्यम सरल और बोधगम्य भाषा ही थी। भाषा पर इनका पूर्ण अधिकार था, इनकी प्रभावोत्पादक शैली का प्रभाव तत्कालीन साहित्यकारों पर पड़ा। कुशल पत्रकार तथा आलोचक होने के नाते निर्भी-

कता तथा तीव्र और स्वतन्त्र आलोचना के पक्षपाती थे। उर्दू साहित्य में इनका महत्वपूर्ण स्थान युग वैतालिक के रूप में सुरक्षित है। इनके आकर्षक व्यक्तित्व ने अपने समकालीन साहित्यकारों को साहित्य तथा भाषा के परिष्कार तथा उत्थान की ओर पथ-प्रदर्शित किया। उर्दू साहित्य इनकी अभूतपूर्व सेवाओं के लिए ऋणी है।

उपर्युक्त युग वैतालिकों का भारतेन्दु के साथ उल्लेख करना वस्तुतः समीचीन प्रसंग है। बंकिम बाबू तथा अन्य बंगाल के उदीयमान कलाकारों की विचारधारा ने देश व्यापी प्रभाव स्थापित किया था। भारतेन्दु उसी समय हिन्दी साहित्य तथा समाज के सुधारक के रूप में कार्य कर रहे थे। उस युग में जनआंदोलनों की प्रेरणा बंगला साहित्य की अमूल देन कही जा सकती है, वस्तुतः भारतेन्दु की राष्ट्रीय चेतना की विचारधारा तथा नाट्य-रचनाओं में राजनीतिक समस्याओं का समावेश बंग साहित्य तथा युग के जन-आन्दोलनों से ग्राह्य विचारधारा का प्रभाव ही कहा जा सकता है। १६ वीं शताब्दी राजनीतिक, धार्मिक तथा सामाजिक आन्दोलनों का परिवर्तनकारी युग था। आर्य-समाज, ब्रह्मसमाज के संस्थापक युग-चेता के रूप में भारतीय समाज के सम्मुख उपस्थित हुये और समस्त उत्तरी भारत में अपनी छाप प्रस्तुत कर गये। यद्यपि उक्त विचारधारा ने भारतेन्दु को पूर्णतः प्रभावित नहीं किया, फिर भी उनके उद्देश्यों के ग्राह्य विचारों की छाया भारतेन्दु के विचारों में प्राप्त होती है। इसी प्रकार बंकिम बाबू ने समाज-सेवा और देश के जागरण की अलख बंगाल में जगाई, परन्तु उनकी भावधारा समस्त उत्तरी भारतवर्ष में अपना अलक्षित प्रभाव दिये बिना न रह सकी। वस्तुतः यह कहने का तात्पर्य नहीं है कि भारतेन्दु में युग साहित्य तथा समाज को उठाने की बलवती उत्कंठा का श्रोत नैसर्गिक नहीं था, परन्तु सम-सामयिक विभिन्न साम्प्रदायिक वातावरणों ने हिन्दी समाज और साहित्य को उठने की एक प्रेरणा अवश्य दी।

उर्दू के उदीयमान लेखक तथा समाज-सुधारक सर सैयद अहमद खाँ भारतेन्दु के समकालीन थे। भारतेन्दु के उदार-चरित्र तथा सत्य प्रियता से स्वयं प्रभावित हुये। बहुत समय तक बनारस के न्यायालय के सदरआला के पद पर कार्य करते रहे, इसी समय वह भारतेन्दु के सम्पर्क में आये। सैयद साहब स्वयं अपने समाज के युगान्तकारी नेता थे, इसीलिये भारतेन्दु की समाज-सुधारक भावनाओं का उनके हृदय में आदर था। समाज में शिक्षा तथा रूढ़िवादी संस्कारों में परिवर्तन के सैयद साहब भी हामी थे।

सर सैयद इनकी सत्य-प्रियता से प्रभावित थे। भारतेन्दु जी पर तीन सहस्र की एक डिग्री का मुकदमा इनके न्यायालय में आया। यद्यपि भारतेन्दु जी ने उतना

धन नहीं लिया था, परन्तु आवश्यकता वश उन्हें उतने धन की हुण्डी लिखनी पड़ी थी। सर सैयद उक्त डिग्री का वास्तविक धन ही ऋणदाता को दिलवाना चाहते थे, परन्तु भारतेन्दु सत्य पर टिके रहे, अपने लिखे हुये धन को स्वीकार किया।

भारतेन्दु प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से सामाजिक युग वैतालिकों के सम्पर्क में आये, और अपने व्यक्तित्व द्वारा समाज सुधारकों को प्रभावित कर सके।

भारतेन्दु युग में बंगला तथा मराठी रंग-मंच में परिवर्तन हो रहे थे। हिन्दी नाट्य-संसार में भारतेन्दु ने अपने निर्देश द्वारा हिन्दी रंगमंच को नवीन गति प्रदान की, उसी प्रकार बंगला साहित्य में गिरीशचन्द्र तथा मराठी साहित्य में श्रीकृष्ण प्रभाकर खांडीलकर ने अपने-अपने साहित्य की नाट्यधारा में युगान्तकारी परिवर्तन किया। बंग नाट्य प्रेरणा से कलाकार भारतेन्दु प्रभावित हुये थे। माइकेल मधुसूदन तथा डी० यल० राय के नाटकों ने समकालीन हिन्दी नाट्य-साहित्य को अत्यधिक प्रभावित किया। और हिन्दी नाट्य साहित्य की दिशा में परिवर्तन हुआ।

उपर्युक्त कथनों से यह पुष्टि होती है कि भारतवर्ष की प्रतिनिधि भाषाओं के साहित्य के लिये १९ वीं शताब्दी का युग बड़ा ही महत्वपूर्ण युग था। इस युग में न केवल हिन्दी साहित्य में युगान्तकारी परिवर्तन हुये, अपितु समस्त भारतीय साहित्यों में साहित्यिक तथा सामाजिक परिवर्तन की रूपरेखा उपस्थित दृष्टिगत होती है। इस युगान्तकारी परिवर्तन का सारा श्रेय विभिन्न साहित्यों के युग वैतालिकों को ही प्राप्त है, जो अपनी साहित्य-सेवा तथा विचारधारा से साहित्य और समाज में जाग्रति पैदा करते रहे।

पश्चिमी-युग-संधि के साहित्यकार तथा भारतेन्दु :—

युग विशेष के अवसान तथा नवीन-युग के उषाकाल के मध्य का समय युग सन्धिकाल कहलाता है। एक युग की समाप्ति और द्वितीय युग के उत्थान के मध्य अवकाश काल में परिवर्तन के चिन्ह दृष्टिगत होते हैं। नवीन युग के प्रारम्भ के पहिले परिवर्तन की रूपरेखा बनती है। ऐसा काल जहां देश की राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक स्थितियाँ करवट बदलती हैं, संक्रान्तिकाल होता है, जिसमें प्राचीन युग के भग्नावशेषों पर नव्ययुग के सांस्कृतिक, सामाजिक तथा राष्ट्रीयता सम्बन्धी विचारों का बीजारोपण दृष्टिगत होने लगता है। युग के उस पट-परिवर्तन को ही युग-संधि काल कहेंगे। एक युग की यवनिका गिरती दृष्टिगत होती है, और दूसरे युग के उत्थान का समारंभ प्रकट होता है।

वस्तुतः युग बदलता है, नवीन राजनीतिक स्थितियां नया समाज बनाती हैं। नये सांस्कृतिक आन्दोलन नया समाज स्थापित करने में सहायक होते हैं। विश्व में कई बार इन नये और पुराने परिवर्तनों का सन्धि-युग आया। प्रगति ही जीवन है,

और परिवर्तन अवश्यंभावी जड़ और चेतन समाज का नियम है। पुरानी केंचुल छोड़कर नवीन कलेवर धारण करने का सदैव से विधान रहा है। विश्व में कई बार युग बदले, अनेक राजनीतिक और सामाजिक भूकंप आये, जिन्होंने उसके मानचित्र में परिवर्तन कर दिया। ऐसे परिवर्तन संसार के सभी जाग्रत राष्ट्रों में हुये हैं।

यूरोप में विभिन्न कालों में ऐसी स्थितियाँ उत्पन्न हुईं, जब समाज और संस्कृति में समयानुकूल परिवर्तन हुये। इन निर्माण कालों में मौलिक विचारों की सृष्टि युगान्तकारी परिवर्तनों में सहायक हुआ करती थी। पुरानी सभ्यता की गिरती हुई मीनारों से अलग नवीन समाज तथा संस्कृति की नींव डालने का कार्य युग के साहित्यकारों ने किया है, जिनकी, विचारधाराओं ने युग को नवीन राष्ट्रीय सामाजिक तथा धार्मिक चेतना प्रदान की है। रूढ़िगत विचारधारा के बीच से अलग नवीन मार्ग निकालने वाले समाज तथा साहित्य प्रवर्तक युग सन्धिकाल के कलाकार हैं, जिन्होंने नये समाज की कल्पना युग के सामने प्रस्तुत की है।

यूरोपीय इतिहास में समय-समय पर नवीन विचारों की उत्पत्ति होती रही है। इस सांस्कृतिक तथा राजनीतिक उत्थान अथवा परिवर्तन के तीन मुख्य काल माने जाते हैं। प्रारम्भिक युग में ५ शताब्दी (४७६ ई०) के लगभग रोमन साम्राज्यवाद का अन्त तथा कैथलिक चर्च की स्थापना का युग था। क्रिश्चियन चर्च का पुनः संगठन प्रारम्भ हुआ, तथा पोप की सत्ता का प्रसार शनैः-शनैः सारे यूरोप में होने लगा। रोमन साम्राज्य के सांस्कृतिक ध्वंस रह गये थे। नवीन धार्मिक आन्दोलन तथा बुझती हुई पुरानी सभ्यता का युग सन्धिकाल था। चर्चों के निर्माण तथा संगठन की समस्त यूरोप में एक लहर सी व्याप्त थी।

मध्य युग के पूर्व सामन्तशाही का विकास हुआ। यूरोप में सामन्तवादी सभ्यता १६ वीं शताब्दी तक अपना प्रभुत्व जमाये रही। प्रथम बार जर्मनी में १५२० ई० में मार्टिन लूथर ने पोप की सत्ता के विरुद्ध आन्दोलन खड़ा किया। लूथर की विचारधारा पोप के धार्मिक एकाधिकार को स्वीकार करने को तैयार नहीं थी। धार्मिक अन्धविश्वास में चेतना और बुद्धि तर्क प्रयोग करने का प्रथम प्रयास लूथर द्वारा प्रस्तुत किया गया। जर्मनी से पोप के विरुद्ध विचारधारा का फैलना प्रारम्भ हुआ, और समस्त यूरोप में धार्मिक आन्दोलन दो सम्प्रदायों में विभक्त हो गया। कैथोलिक धर्मानुयायी पोप की सत्ता का अनुसरण करते थे, परन्तु प्रोटेस्टेंट सम्प्रदायवादियों ने नयी परम्परा का अनुसरण किया। दोनों सम्प्रदाय धार्मिक कलह का कारण बने। सामन्तों का प्रभुत्व साम्राज्यवादी रूपरेखा धारण कर चुका था, विभिन्न साम्राज्यों में सम्प्रदाय संघर्षों को लेकर काफी समय तक युद्ध होते रहे। धार्मिक नवीन परिवर्तन आपसी वैमनस्य का कारण बन गया। मध्ययुगीन समाज की मूल प्रवृत्ति दो मौलिक विचारधाराओं में दृष्टिगत होती थी। एक तो परम्परा से

चले आने वाले होली रोमन इम्पायर की छत्र-छाया से रहकर पोप को धार्मिक नेता मानते थे, तथा दूसरे धार्मिक स्वतन्त्र सत्ता का प्रवर्तन करने वाले थे। वैज्ञानिक अनुसन्धानों तथा आविष्कारों ने मानव-बुद्धि विकास तथा तर्क विवेचन को प्रौढ़ता प्रदान किया था। रूढ़िगत अन्धविश्वास के प्रति विरोध उसका स्वाभाविक कार्य हो गया था।

नवीन युग संधिकाल का प्रारम्भ १८ वीं शताब्दी से प्रारम्भ होता है। समस्त यूरोप में विकासवादी प्रयोग हो रहे थे। विभिन्न यूरोपीय देशों ने अपने उपनिवेशों का विस्तार प्रारम्भ कर दिया था। अमेरिका, भारतवर्ष तथा अफ्रीका में यूरोपीय जातियों का प्रभुत्व दृष्टिगत होता था। वैज्ञानिक आविष्कारों ने समस्त यूरोप के आर्थिक ढाँचे को बदल दिया था। साम्राज्यवादी युग के साथ-साथ पूँजीवादी मनोवृत्ति का आविर्भाव हो रहा था। शक्ति-संचय तथा व्यावसायिक प्रवृत्ति यूरोप के समस्त देशों में थी। उपनिवेशों पर विजय तथा साम्राज्यवादी संघर्ष ने प्रथमबार राष्ट्रीय विचारधारा को जन्म दिया। प्रारम्भिक राष्ट्रीयता अन्तर्राष्ट्रीय संघर्षों के सामने देश और जाति विशेष को सजग बनाये रखने का एक संगठन था। राष्ट्रीयता का अंकुरित बीज कालान्तर में आर्थिक शोषण तथा साम्राज्यवादी नीति के कुपरिणामों का विरोध करने में प्रयोग किया गया।

फ्रांस में जन-क्रान्ति की भूमिका प्रस्तुत की जा रही थी। १७ वीं तथा १८ वीं शताब्दी के अन्तर्गत कलात्मक विकास से देशव्यापी राष्ट्रीय चेतना का उदय हो चुका था। मानव बुद्धि अंधविश्वास छोड़ कर तर्क तथा चेतना प्रधान हो गई थी।

गिबन (Gibbon) की लेखन प्रतिभा ने तथ्यातथ्य विचारों को तर्क की कसौटी पर कसना सिखाया, वालटेयर (Voltaire) तथा रेनल (Raynal) ने अपनी विचारधारा से देश में जागरण की स्फूर्ति पैदा कर दी, वालटेयर की दार्शनिक विचारधारा का जन समाज पर व्यापक प्रभाव पड़ा।

थामस, हाब्स तथा जोनलाक की विचारधारा ने सामाजिक संगठन को दृढ़ता प्रदान की। सामाजिक क्रान्तिचेता रूसो। (Rousseaw १७१२-१७७८) ने समता सिद्धान्त का प्रवर्तन किया। समानाधिकार और नागरिकता ने मानव समाज की विचारधारा को कर्तव्य तथा अधिकार के विवेचन की ओर आकृष्ट किया।

रूसो की लोकप्रिय विचारधारा ने फ्रांस को राजनीतिक क्रांति की प्रेरणा प्रदान की। नवीन सन्धियुगीन साहित्य तथा विचारधारा न पाश्चात्य समाज को नवीन राष्ट्रीय चेतना प्रदान की। सांस्कृतिक उत्थान, शिक्षा-प्रसार के चेतन युग में सामाजिक स्वतन्त्रता का अभाव खटकना स्वाभाविक था। सामन्त-

वादी तथा साम्राज्यवादी परम्परा के विरुद्ध नागरिक अधिकारों की सुरक्षा के लिये देश को तैयार करना तथा अपने अधिकारों की सुरक्षा के लिये लड़ने को प्रोत्साहित करना युग के साहित्यकारों का कार्य था। उक्त संक्रान्तिकालीन परिवर्तनों में युग साहित्यिकों का यथेष्ट हाथ रहा है, बुद्धिवादी चेतना का विकास, कला कौशल की उन्नति की ओर जन-रुचि को प्रेरित करना उक्त युग के उन्नायक कलाकारों का कार्य था, वस्तुतः ऐसे संक्रान्ति युग में सर्वांगीण विकास क्रान्तिकारी पट-परिवर्तन की भूमिका का रूप कहा जा सकता है।

रूसी जन-क्रान्ति के पूर्व पुष्किन (Pushkin) तथा उसके पथानुगामी साहित्यकारों ने देश को राष्ट्रीय चेतना दी। गोगल (Gogal) (१८०६-१८५२) के आलोचनात्मक व्यंग्य विचारों ने समाज की चेतना को लहर प्रदान की। उनका स्मरणीय उपन्यास (Dead soul) डेडसोल रूसी समाज का यथार्थवादी चित्र है। टर्गनिव (Turgeniew) (१८१८-१८८३), डिकेंस तथा ह्यूगो समकालीन कलाकार थे, इनके सामाजिक चित्रों में निराशाजन्य भावधारा का प्रवाह रहता था। फादर्स एण्ड चिल्ड्रन (Fathers and children) मर्मस्पर्शी रेखाचित्र है, उद्विग्न भावनाओं के साहित्य ने उपेक्षा और तिरस्कार की भावनायें हृदय में भरकर क्रान्ति की चिनगारी का कार्य किया। डास्टोवस्की (Dostoievski) (१८११-१८८१) समाज उन्नायक उपन्यासकार थे। इनकी भावनाओं में राष्ट्रीय विचारधारा का समावेश निहित दिखाई देता है। पुअर पीपुल (Poor People) (१८८६) तथा Crime and Punishment (१८६६) सामाजिक उन्नयन के प्रेरक समाजवादी उपन्यास हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में गोरकी (Gorki) की कृतियों ने समाज और जीवन के सम्बन्ध को अति निकट ला दिया था। वस्तुतः उक्त साहित्य रूसी जन-आन्दोलन का युग सन्धिकालीन साहित्य था, नवीन उत्थान तथा क्रान्ति की भावनाओं का बीजारोपण उक्त साहित्य द्वारा हुआ, जिसका श्रेय समस्त युग सन्धिकालीन साहित्यकारों को है।

रोमेनटिक (Romantic) साहित्य के साथ-साथ राष्ट्रीय विचारधारा का उदय हुआ, प्रेम प्रधान साहित्य के साथ ही राष्ट्रीय भावनाओं से पूर्ण साहित्य की रचना हो रही थी। 'विक्टर Victre ह्यूगो (Hugo) तथा डिकेंस (Dickens) के भावपूर्ण सामाजिक उपन्यासों ने जनता को सहज ही अपनी ओर आकृष्ट कर लिया।

अस्तु युग-सन्धिकालीन परिस्थिति यूरोपीय इतिहास में तीन पट्-परिवर्तित करती दृष्टिगत होती है। सर्व प्रथम धार्मिक उत्थान युग में, द्वितीय सामन्तवादी परम्परा तथा साम्राज्यवादी युग की चेतना के रूप में और तृतीय नवीन युग सन्धि के रूप में जिसमें वर्तमान समाज के निर्माण की रूपरेखा प्रस्तुत है।

नवीन युग सन्धिकालीन यूरोपीय साहित्यकारों की कोटि में भारतीय नवीन युग सन्धि-काल के साहित्यकार भारतेन्दु को भी रक्खा जा सकता है, जिनके साहित्य ने समाज को राष्ट्र-चेतना, सामाजिक उत्थान की नई प्रेरणा प्रदान की।

हिन्दी साहित्य का रीतिकाल सामन्तवादी परम्परा का युग प्रतीक है। रीतिकालीन साहित्यकारों ने अपने आश्रयदाताओं की विलास-वृत्ति की परितुष्टि के लिये नायक-नायिकाओं का शृंगार-प्रधान वर्णन किया है। साहित्य का वर्ण्य विषय महलों में होने वाले केलि-विलास के प्रसंग को शृङ्गार के उपकरणों में नायिका सौन्दर्य, मान, अभिसार और प्रणय के अपरिष्कृत प्रसंगों से सारा साहित्य भरा हुआ था। साहित्यिक विचारधारा का दृष्टिकोण एकांगी प्रतीत होता था, पार्थिव तथा अपार्थिव दोनों ही प्रसंगों की व्यञ्जना में शृङ्गार का समावेश समाहित था। सेनापति, देव, बिहारी, मतिराम और पद्‌माकर आदि साहित्यकारों ने राधाकृष्ण को आधार मानकर अनेक शृंगारिक चित्र अंकित किये हैं। साहित्य में महलों की संस्कृति, उच्चवर्ग के जीवन की विरदावलि का अंकन ही उद्देश्य था। जन-समाज की ओर इन साहित्यकारों का ध्यान तक नहीं गया।

सामन्त युग के अन्त के साथ-साथ उक्त विचारधारा में परिवर्तन दृष्टिगत होने लगा। साहित्य और समाज का सीधा सम्बन्ध स्थापित हुआ। साहित्यिक भावधारा अब महलों तथा राजप्रासादों से उतरकर जन-समाज के निकट आने लगी। उसके सम्मुख झोपड़ी में रहने वाले पीड़ित प्राणी की आह कसक का भी मूल्य दृष्टिगत होने लगा। भारतेन्दु युग में प्रथम बार साहित्य और समाज एक धरातल पर उपस्थित दृष्टिगत होते हैं। देश में प्रथम बार सामाजिक चेतना के रूप में स्वदेशी उद्योग का प्रसार तथा विदेशों द्वारा शोषित धन की रोक थाम के लिये उपाय, समाज की हिलती हुई आर्थिक नींव को पुनः मजबूत बनाने का बीड़ा भारतेन्दु द्वारा उठाया गया। भारतेन्दु जी के "बलिया के व्याख्यान" में देश की बिगड़ती आर्थिक और सामाजिक दशा के सुधार के लिये स्वदेशी वस्तुओं के प्रयोग पर अधिक जोर दिया गया है।

"कल के कलबल छलन सों, छले इतै के लोग।
नित-नित धन सों घटत हैं, बाढ़त है दुख सोग।।
मारकीन मलमल बिना चलत कछू नहिं काम।
परदेशी जुलहान के मानहुँ भये गुलाम।।"[1]

देश की सम्पत्ति देश के बाहर जाने का भारतेन्दु को अत्यधिक पश्चात्ताप

१—बलिया का व्याख्यान।

होता था। भारतीय आर्थिक ढाँचे के सुधार के लिये प्रथम बार इसी काल में स्वदेशी उद्योगीकरण की आवश्यकता प्रतीत हुई। भारतेन्दु की विचारधारा में स्वदेशी उद्योगों की ओर ध्यान देने तथा यथाशक्ति व्यवहार में लाने का सन्देश मिलता है।

भारतवर्ष में विदेशी उद्योगों तथा व्यापारिक संस्थाओं का प्रसार हुआ था। यूरोपीय प्रवासियों ने व्यापारिक ध्येय से आकर भारत को अपने व्यापार का क्षेत्र बनाना प्रारम्भ किया था। इन विदेशी व्यापारियों से अधिकांश भारतीय उद्योग की हानियाँ हुईं। स्वदेशी उद्योग नष्टप्राय हो गया था, देश को साधारण उपयोग की वस्तुओं के लिये विदेशियों के आश्रित रहना पड़ता था। इन्हीं विदेशी व्यापारियों ने देश को आर्थिक शोषण के बाद इसे शक्ति-हीन कर दिया, व्यापार के हेतु आये हुये विदेशी भारतवर्ष के शासक बन बैठे।

विदेशी शासन के स्थापन के बाद देश में एक बार जन-जागरण की स्फूर्ति आई। १७५७ ई० में अंग्रेजों ने बंगाल में पूर्णरूपेण अपने पैर जमा लिये थे। ईस्ट इण्डिया कंपनी का उद्देश्य व्यापार के साथ-साथ साम्राज्य स्थापन भी प्रदर्शित होने लगा था। १०० वर्षों के अन्तर्गत सम्पूर्ण देश में अंग्रेजी साम्राज्य का आधिपत्य दिखाई देने लगा। सामन्तवादी युग के अन्त के बाद सम्पूर्ण देश साम्राज्यवादी सूत्र में गठित हो गया। १८५७ ई० में प्रथमबार विदेशी शासन के विरुद्ध एक सामूहिक विद्रोह उठ खड़ा हुआ, यद्यपि विद्रोह की रूपरेखा राष्ट्रीयता की परिचायक नहीं थी, वस्तुतः व्यक्तिगत कारणों से उत्पन्न सामूहिक असन्तोष का विस्फोट ही प्रतीत होता था, परन्तु उक्त प्रथम क्रान्ति ने राष्ट्रीय चेतना को मार्ग अवश्य प्रदर्शित किया।

विद्रोह की तात्कालिक सफलता और दमन के इतिहास ने भारतीय जन-समाज में विद्वेष की भावना अंकुरित कर दी। शासक-वर्ग तथा प्रजा का अन्तर दिन प्रतिदिन गहरा होता गया। इस विदेशी विपत्ति से मुक्ति पाने के लिये सामाजिक संगठन तथा सामाजिक चेतना की बात सोची जाने लगी। साहित्यकार का केवल कार्य ऐसी विचारधाराओं के प्रसार का था, जिससे देश की उन्नति, समाज में एकता और राष्ट्रीय चेतना का बीजारोपण हो। आर्थिक दृष्टि से भी शोषित भारतीय समाज को विदेशी शोषण से बचाने की विचारधारा का व्यापक प्रचार भारतेन्दु युग में हुआ।

देश को राष्ट्रीय चेतना की ओर प्रेरित करने का कार्य समाज के साहित्यकारों का ही रहा है। नवीन उत्थान की ओर प्रेरित करने वाले उन्नायकों का उल्लेख पूर्व ही किया जा चुका है। अधिकांश समाज सुधारक तथा राष्ट्रीय आन्दोलनकारियों के अग्रणी के रूप में मध्य वर्ग के बुद्धिवादी नागरिकों का ही सहयोग दृष्टिगत होता

है। सदा से ही जहाँ-जहाँ भी जन-क्रान्ति तथा सुधारवादी आन्दोलन उठे, उनमें बुद्धिवादी समाज का बहुत बड़ा हाथ रहा है, जिन्होंने समाज विशेष को अपनी विचारधारा से प्रभावित कर समाज अथवा देश के उत्थान के लिये प्रयास किया है। भारत में भी ऐसी ही स्थिति के सुधारवादी नेताओं का बाहुल्य रहा है। अधिकांश यह मध्यमवर्गीय नायक साहित्यकार, दार्शनिक तथा धर्म-प्रचारक थे, जिन्होंने अपनी विचारधारा को जन-समाज में फैलाकर लोकहित की कामना से देश के कल्याणार्थ कार्य किया था।

बुद्धिवादी सम्प्रदाय ही समाज का मार्ग प्रदर्शन कर रहा था। उच्च वर्ग के लोग अथवा पूँजीवादी परम्परा का सम्प्रदाय सत्ता के स्वर में स्वर मिलाकर अपनी चाटुकारिता के भाव से शासक वर्ग का कृपापात्र बना रहना चाहता था, उक्त समाज अपने को सदा से जन-समाज से अलग रखने की चेष्टा करता रहा है, ऐसे सामाजिक प्राणी अल्पसंख्यक ही थे, परन्तु अपने को सत्ता के साथ जानकर अपने को भी शासन का एक अंग समझ बैठे थे। स्वार्थ साधना तथा चाटुकारिता में वह जन-समाज का अहित करने में भी संकोच नहीं करते थे। ऐसी अवस्था में ऐसा वर्ग सर्वसाधारण जनता की आलोचना का विषय था। जहाँ भी जनता के कष्ट निवारणार्थ शासन तथा उसके पिट्ठुओं का विरोध करना होता तो बुद्धिवादी सम्प्रदाय जन-समाज का आन्दोलनों में मार्ग-प्रदर्शन करता।[1]

भारतीय समाज में सर्वदा से मध्यम वर्ग के नागरिकों ने ही मुख्यतः समाज

"The real impact of the West came to India in the nineteenth century through technical changes and their dynamic consequences. In the realm of ideas also there was shock and change a widening of the horizon which had so long been confined with in a narrow shell. The first reaction, limited to the small English-educated class, was one of admiration and acceptance of almost everything Western. Repelled by some of the social customs and practices of Hinduism, many Hindus were attracted towards Christianity and some notable conversions took place in Bengal. An attempt was therefore made by Raja Ram Mohan Ray to adopt Hinduism to the new environment and he started Brahmo-Samaj on a more or less rationalist and social reform basis. His successor Keshab Chand Sen gave it more christian out look. The Brahmo-Samaj influenced the rising middle-classes of Bengal but as a religious faith it remained confined to few among whom, however, some outstandig persons and families. But even these families, though ardently interested in social and religious reform, tended to go back to the old Indian philosophic ideals of the Vedanta." (Discovery of India—J. L. Nehru, page 398.)

के उत्थान तथा देश की हीन अवस्था के पुनर्निर्माण का कार्य किया है। शिक्षित समाज ही जन जागरण की चेतना का श्रोत रहा है। मध्यम वर्ग का प्राणी बुद्धिवादी होने के कारण पश्चिमी विचारधारा से अत्यधिक प्रभावित हुआ, और नवीन युग के निर्माण में उक्त विचारधारा का अधिक योग है।

युग-सन्धि कालीन सुधारवादी युग ने मुख्यतः मध्यवर्ग के लोगों को अपनी ओर आकृष्ट किया। कालान्तर में सुधार और नवीन युग के विकास का प्रचार भी मध्यम-वर्गीय समाज द्वारा प्रेरित किया गया। भारतेन्दु जी भी उच्च मध्यम-वर्ग के थे तथा उक्त विचारधाराओं की उन पर विशेष छाया है।

समाज प्राचीन युग से निकल कर अर्वाचीन युग में प्रवेश कर रहा था। भारतेन्दु दोनों युगों की छाया में तटस्थ खड़े थे। युग-सन्धि पर खड़े कलाकार होने के कारण दोनों ही युगों की विशेषतायें उनमें विद्यमान थीं। एक ओर रीतिकालीन परम्परा की रसिकता तो दूसरी ओर नवीन उत्थान का प्रेरक समाज-सुधार तथा राष्ट्रीयता की भावना उनमें वर्तमान दृष्टिगत होती थी। भारतेन्दु के व्यक्तित्व तथा कृतित्व का साहित्य और समाज पर व्यापक प्रभाव पड़ा। उनकी शुभ्र और शीतल चन्द्रिका साहित्य के समस्त अंगों पर पड़ी, वस्तुतः आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी के शब्दों में "प्राचीन और नवीन का यही सुन्दर सामंजस्य भारतेन्दु की कला का विशेष माधुर्य है। साहित्य के एक नवीन युग के आदि में प्रवर्तक के रूप में खड़े होकर उन्होंने यह प्रदर्शित कर दिया कि नये या बाहरी भावों को पचाकर इस प्रकार मिलाना चाहिये कि अपने ही साहित्य के विकसित अंग से लगें। प्राचीन और नवीन के उस सन्धि-काल में जैसी शीतल कला के साथ भारतेन्दु का उदय हुआ, इसमें सन्देह नहीं।"[1]

भारतेन्दु की विचारधारा युग सन्धि-कालीन समय के उपयुक्त थी। साहित्य के सभी अंगों में सामाजिक चेतना का आधार नव्य-समाज के निर्माण की रूपरेखा दृष्टिगत होती थी। प्राचीन संस्कारों को नवीनता का कलेवर देकर साहित्यकार समाज को नवीन प्रेरणा दे रहा था। युग पुरुष अपनी अदम्य प्रतिभा के बल पर युग सन्धि पर खड़ा नवीन समाज का पथ-प्रदर्शन कर रहा था। महान् साहित्यकार की प्रतिभा का लोहा अवश्य मानना पड़ेगा।

अतीत के ऐतिहासिक पृष्ठ चाहे युग-पुरुष की कीर्ति से न रँगे गये हों, जिसकी कदाचित् आवश्यकता भी नहीं थी, परन्तु यह तो अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा कि युग नायक की अमर लेखनी स्वयम् एक निज का इतिहास बना गई है।

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास पृष्ठ ४६२ आ० रामचन्द्र शुक्ल

जिसकी छाप सम्भवतः प्रत्येक साहित्यसेवी के हृदय पर अमिट रहेगी। यथार्थतः भारतेन्दु जी साहित्य-जगत के प्रकाश स्तम्भ की भाँति अचल खड़े हिन्दी हिन्दी भाषा और साहित्य रूपी जलयान का मार्ग निर्देशन कर रहे हैं।

भारत के इन्दु की शुभ्र ज्योत्स्ना से आज का साहित्य-संसार आलोकित है, जिसके चमत्कार-पूर्ण आलोक से साहित्याकाश के अगणित नक्षत्र साहित्य-प्रेरणा पाते रहे हैं। युग प्रवर्तक साहित्यकार भारतेन्दु जी ने युगान्तकारी परिवर्तन कर अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा से एक नवीन मार्ग का निर्देशन किया है। कलाकार की अमर वाणी युगों तक देश, समाज और साहित्य को नवयुग का सन्देश देती रहेगी।

सहायक पुस्तकों की सूची

हिन्दी की पुस्तकें

१—भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र का जीवन-चरित्र ... श्री बा० राधाकृष्णदास
२—भारतेन्दु बाबू चरिश्चन्द्र का जीवन चरित्र ... श्री बाबू शिवनन्दन सहाय
३—भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ... बाबू श्यामसुन्दर दास
४—भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ... आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल
५—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ... बा० बृजरत्नदास
६—जगतसेठ ... श्री पारस नाथ सिंह
७—चन्द्रास्त ... श्री रमाशंकर व्यास
८—रूपक रहस्य ... बा० श्यामसुन्दर दास
९—नाट्य निर्णय ... डा० रमाशंकर शुक्ल "रसाल"
१०—हिन्दी साहित्य का इतिहास ... आ० रामचन्द्र शुक्ल,
११—नाट्य विमर्ष ... बा० गुलाबराय
१२—हिन्दी गद्यशैली की विकास ... डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा
१३—हिन्दी गद्य के युग निर्माता ... " "
१४—हिन्दी नाट्य साहित्य का इतिहास ... बा० बृजरत्नदास
१५—हिन्दी नाट्य साहित्य का इतिहास ... डा० सोमनाथ गुप्त
१६—हिन्दी नाट्य साहित्य का विकास ... पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
१७—संस्कृत साहित्य का इतिहास ... श्री बल्देव प्रसाद उपाध्याय
१८—आधुनिक हिन्दी काव्य-धारा ... डा० केशरी नारायण शुक्ल
१९—भारतेन्दु युग ... डा० रामविलास शर्मा
२०—काव्यकला तथा अन्य निबन्ध ... बा० जयशंकर प्रसाद
२१—आधुनिक हिन्दी साहित्य ... डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय
२२—आधुनिक काव्य का सांस्कृतिक श्रोत ... डा० केशरी नारायण शुक्ल
२३—हिन्दी भाषा और उसके साहित्य का विकास श्री अयोध्या सिंह उपाध्याय
२४—हास्यरस ... श्री जी० पी० श्रीवास्तवा
२५—रस मीमांसा ... आ० पं० रामचन्द्र शुक्ल
२६—नाट्य-शास्त्र ... " महावीरप्रसाद द्विवेदी
२७—नाटक निबन्ध ... भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र
२८—उर्दू साहित्य का इतिहास ... श्री रामबाबू सक्सेना

२६—मराठी साहित्य का इतिहास ... नारायण वासुदेव गोडबोले
३०—बंगला साहित्य का इतिहास ... .
३१—वाङ्० मय विमर्श ... आ० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
३२—आधुनिक साहित्य ... आ० पं० नन्ददुलारे बाजपेयी
३३—भारतेन्दु की विचारधारा ... डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय
३४—भारतेन्दु मण्डल ... बा० बृजरत्नदास,
३५—हिन्दी नाटककार ... श्री जयनाथ नलिन
३६—भारतेन्दु नाटकावली भा० १,२ ... संपादक-बा० बृजरत्नदास
३७—नाट्यकला दर्शन ... चन्द्रराज भण्डारी
३८—नाट्य प्रबन्ध ... पं० बल्देव प्रसाद मिश्र
३६—हमारी नाट्य परम्परा ... श्री दिनेशनारायण उपाध्याय
४०—नाट्यकला एवं साहित्य की रूपरेखा ... श्री शिखरचन्द्र भण्डारी
४१—आधुनिक हिन्दी नाटक ... डा० नगेन्द्र
४२—नाट्यकला मीमांसा ... सेठ गोविन्ददास,
४३—जन-जागरण के अग्रदूत भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ... आ० चन्द्रबली पाण्डेय
४४—सत्य हरिश्चन्द्र (टीका) ... आ० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
४५—भारत में अंग्रेजी-राज्य ... श्री कर्मवीर सुन्दरलाल
४६—हास्य के सिद्धान्त तथा आधुनिक साहित्य ... श्री प्रेमनारायण दीक्षित

हिन्दी पत्र और पत्रिकायें

१—कवि-वचन-सुधा
२—हरिश्चन्द्र मैगजीन
३—हरिश्चन्द्र चन्द्रिका
४—मोहन चन्द्रिका
५—बालाबोधिनी
६—हिन्दी प्रदीप ... पं० बालकृष्ण भट्ट—प्रयाग
७—ब्राह्मण ... पं० प्रतापनारायण मिश्र—कानपुर
८—हंस (जनवरी १९३५ ई०—भारतेन्दु स्मृतिअंक)
९—नागरी प्रचारिणी-पत्रिका (सं० २००७, भारतेन्दु जन्म-सती अंक)
१०—साहित्य सन्देश (भारतेन्दु अंक, अक्टूबर तथा नवम्बर १९५०)
११—नवजीवन (जन्म शती पुष्प)
१२—संगम (रविवार, १७ सितम्बर १९५०)
१३—साप्ताहिक संसार (भाद्रपद शुक्ल २, सं० २००७)
१४—साप्ताहिक "समाज" (१४ सितम्बर १९५०)
१५—दैनिक आज (१३ सितम्बर १९५०)
१६—भारतेन्दु (जन्मशती महोत्सव-भाषण) (श्री वियोगीहरि) (भाद्रपद ऋषि पञ्चमी २००७)
१७—साहित्य सन्देश (मार्च तथा अप्रैल १९४८ ई०)
१८—नईधारा (रंगमंच विशेषांक अप्रैल, मई १९५२)

संस्कृत की पुस्तकें

१—नाट्यशास्त्र ... ... श्री भरत मुनि
२—साहित्य दर्पण ... ... आचार्य विश्वनाथ
३—दश-रूपक ... ... आचार्य धनञ्जय
४—मुद्रा-राक्षस ... ... श्री विशाखदत्त
५—रत्नावली नाटिका ... ... श्री हर्ष
६—कर्पूर-मंजरी ... ... श्री राजशेखर
७—प्रबोध चन्द्रोदय ... ... श्रीकृष्ण मिश्र
८—चण्ड-कौशिक ... ... आचार्य क्षेमेश्वर
९—धनञ्जय-विजय ... ... श्री कविकांचन
१०—महाभारत (बन-पर्व)
११—ऋग्वेद (१० वां मण्डल)

अंग्रेजी की पुस्तकें

(1) History of Sanskrit Drama ... A. B. Kieth.

(2) History of classical Sanskrit literature ... M. Krishnamcharya.

(3) The world Drama ... Allardyce Nicoll.

(4) Theory of Drama ... ” ”

(5) British Drama ... ” ”

(6) The Drama ... Ashley Dukes.

(7) Drama and Dramatic Dances of European Races ... Ridgeway.

(8) Theory of puppet Show ... Pischel.

(9) Greek Tragedy ... Gilbert Norwood.

(10) Types of Indian Drama ... Dr. R. Mankud.

(11) The Indian Stage ... Dr. Hemendra Nath Das Gupta.

(12) Political and cultural History of Europe ... Hays.

(13) Social background of Indian Nationalism ... Desai.

(14) The Indian Theatre ... Mulk Raj Anand.

(15) On Dramatic Method ... H. G. Barker.

(16) Cambridge History of English Literature ...

(17) Shakespeare as a Dramatic Artist ... Maulton.

(18) Shakespeare and his critics ... F. E. Halliday.

(19) English Dramatic Criticism ... A. C. ward,

(20) Political History of Ancient India ... Hamchandra Raychaudhuri.

(21) Encyclopedea Britainica

(22) History of Indian National Congress ... P. Sitaramiya

(23) Discovery of India ... Pt. J. L. Nehru

(24) Merchant of Venice ... W. Shakespeare.

(25) Medieval And Modern Times ... Robinson.

(26) Cambridge History of India Vol. 5th ...

(27) The crisis of Indian civilisation in the 18th & early 19th centuries ... Dr. H. Goetz.

(28) Cultural History of British India ... Ayusuf Ali.

(29) Hindu Civilisation Under British Rule ... P. N. Bose. Vol. First.

(30) History of Political Thought from Raja Ram Mohan Rai to Swami Dayanand ... B. Mazumdar.

(31) Indian Liberalism ... V. N. Naik.

(32) Outline Of World History ... H. G. wells.

(33) Outline of World Literature ... Drink water.

भारतेन्दु जी का वंश-वृक्ष

